1.1.9

श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला—१ पुष्प

श्रीशङ्करदिग्विजय

(माधवाचार्य-विरचित)

[हिन्दी अनुवाद, विस्तृत टिप्पणी तथा विवेचनात्मक भूमिका के साथ]

अनुवादक

पं० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य

प्रोफेसर, संस्कृत-पाली विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

प्रकाशक

महन्त शान्तानन्द नाथ,

श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर,

हरद्वार

सं० २०००

श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला—१ पुष्प

श्रीशङ्करदिग्विजय

(माधवाचार्य-विरचित)

[हिन्दी अनुवाद, विस्तृत टिप्पणी तथा विवेचनात्मक भूमिका के साथ]

अनुवादक
पं० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य
प्रोफ़ेसर, संस्कृत-पाली विभाग, हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

प्रकाशक
महन्त शान्तानन्द नाथ
श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर,
हरद्वार
सं० २०००

प्रकाशक—
महन्त शान्तानन्द नाथ
श्री भ्रमणनाथ ज्ञान-मन्दिर
हरद्वार

मुद्रक—
श्री अपूर्वकृष्ण बसु,
इंडियन प्रेस, लिमिटेड,
बनारस-ब्रांच।



श्रीमन्महाराजाधिराज क्षत्रियकुलभूषण श्री कर्नल हिज़
हाईनेस नरेन्द्रशिरोमणि श्रीशार्दूलसिंहजी
बहादुर, महाराज-बीकानेर

श्रीमन्महाराजाधिराज क्षत्रियकुलभूषण श्री कर्नल
हिज़ हाइनेस नरेन्द्रशिरोमणि श्री १०८
श्रीशार्दूलसिंहजी बहादुर
सी० वी० ओ० महाराज बीकानेर
की सेवा में—

राजन् !

आप अनादिकाल से चली आ रही भारतीय सभ्यता तथा हिन्दू-धर्म के संरक्षक हैं। प्राचीन आदर्श के अनुसार वैदिक सनातनधर्म का स्वयं पालन करते हैं, और आपकी प्रिय-प्रजा भी उसी प्रकार सन्मार्ग में चल रही है। आपके पूज्य स्वर्गीय पिताजी ने राज्य की उन्नति के लिये जो श्लाघनीय कार्य किये हैं वे देशी राज्यों के इतिहास में महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। यह जान कर अपार हर्ष होता है कि आप अपने पूज्य स्वर्गीय पिताजी के चरण-चिह्नों पर चलकर प्रजा की उन्नति के लिये सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

हमारे मठ श्री श्रवणनाथ जी का आपके राज्य के साथ धार्मिक सम्बन्ध कई पीढ़ियों से एक शताब्दी से भी अधिक काल से निरन्तर चला आ रहा है। आपकी धार्मिकता और प्रजावत्सलता सराहनीय है। आपके राज्य की धार्मिकता का प्रबल प्रमाण सुविस्तृत देवस्थान विभाग है।

यह बतलाते हुए मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है कि संवत् १९९६ में मैंने मठ के आदि-संस्थापक श्री श्रवणनाथजी महाराज के नाम से 'श्री श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर' पुस्तकालय की स्थापना की, जिसमें मठ की बहुत निधि व्यय हुई। पुस्तकालय का यह सौभाग्य है कि इसका उद्घाटन

वैशाख शुक्ल सप्तमी संवत् १९९७ (१५ मई १९४० ई०) को पूज्य महात्मा पं० मदनमोहन मालवीयजी के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। महामना मालवीयजी ने इसका उद्घाटन करते हुए इस तीर्थ-स्थान की एक बड़ी भारी कमी की पूर्ति होते देखकर अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की और सारगर्भित शब्दों में कहा कि इस पुस्तकालय की स्थापना होने से एक बड़ी भारी कमी दूर हो गई है। इसकी इस तीर्थ-स्थान में अत्यन्त आवश्यकता थी।

अब इस संस्था से हमने महत्त्वपूर्ण धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन भी प्रारम्भ कर दिया है। आज उसी श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर ग्रन्थमाला का सर्वप्रथम प्रकाशन उन श्री आद्य शङ्कराचार्य का पावन चरित्र है जिन्होंने सारे भारतवर्ष में वैदिक हिन्दू धर्म की विजय वैजयन्ती फहराई तथा जिन्हें वैदिक हिन्दू धर्म का वर्तमान रूप बनाये रखने का अधिकांश श्रेय है और जिन्हें धार्मिक हिन्दू भगवान् शङ्कर का साक्षात् अवतार मानते हैं। इन्हीं आचार्य शङ्कर का यह पावन जीवन-चरित्र श्री शङ्करदिग्विजय नामक ग्रन्थ हिन्दी भाषानुवाद सहित आपके करकमलों में आपके राज्य की श्रीवृद्धि की और सपरिवार आपके स्वास्थ्य तथा दीर्घायुष्य की भगवती भागीरथी से मङ्गल-कामना करता हुआ शुभाशीर्वाद के साथ सादर समर्पित करता हूँ।

मठ बाबा श्रवणनाथजी,
हरद्वार

महन्त शान्तानन्द नाथ

—

आचार्यस्तवः

श्रुतिस्मृतिपुराणानामालयं करुणालयम् ।
नमामि भगवत्पादं शङ्करं लोकशङ्करम् ॥
शङ्करं शङ्कराचार्यं केशवं बादरायणम् ।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः ॥

× × × ×

ओमिति दिविषत्प्रवराः शीर्षे कुर्वन्ति शासनं यस्य ।
ओंकारपद्मभृङ्गं तमहं प्रणमामि शङ्कराचार्यम् ॥
नत्वा यत्पदयुग्मं वाचस्पतिगर्वहारिवाक्ततयः ।
प्रभवन्ति हि भुवि मूकास्तमहं प्रणमामि शङ्कराचार्यम् ॥
अज्ञोऽप्यश्रुतशास्त्राण्याशु किल व्याकरोति यत्कृपया ।
निखिलकलाधिपमनिशं तमहं प्रणमामि शङ्कराचार्यम् ॥

—श्री सच्चिदानन्दस्वामिनः ।

हृद्या पद्यविनाकृता प्रशमिता विद्याऽमृषोद्या सुधा
स्वाद्या माद्यदरातिचोद्यभिदुराऽभेद्या निषद्यायिता ॥
विद्यानामनवोद्यमा सुचरिता साद्यापदुद्यापिनी
पद्या मुक्तिपदस्य साऽद्य मुनिवाङ्नुद्यादनाद्या रुजः ॥

—श्रीमाधवाचार्यस्य

प्रकाशकीय वक्तव्य

आज श्रीशङ्करदिग्विजय हिन्दी अनुवाद सहित पाठकों के सम्मुख रखते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। शङ्करदिग्विजय के प्रकाशित होने से मेरी चिरकाल की अभिलाषा पूर्ण हुई है। राष्ट्रभाषा हिन्दी में वैदिक हिन्दू धर्म के प्रतिष्ठापक आचार्य शङ्कर के जीवनचरित्र सम्बन्धो किसी प्रामाणिक पुस्तक का न होना मुझे बहुत ही खटकता था।

हिन्दू संस्कृति और वैदिक धर्म का जिस समय ह्रास हो रहा था और बौद्ध धर्म की व्यापकता सारे देश में फैली हुई थी, उस धर्म-सङ्कट-काल में आचार्य शङ्कर ने अवतीर्ण होकर वैदिक हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान किया और कन्याकुमारी से लेकर काश्मीर तक और द्वारका से जगन्नाथ पुरी तक वैदिक धर्म का झंडा फहराया। यह आचार्य-प्रवर के अनवरत परिश्रम का ही फल है कि आज तक वैदिक हिन्दू धर्म अनवच्छिन्न रूप से चला आ रहा है।

वैदिक हिन्दू धर्म के ऐसे महान् संरक्षक आचार्य के जीवनचरित्र से अधिकतर साधु-समाज का भी अपरिचित होना मुझे अत्यधिक क्लेश पहुँचाता था। अपने आचार्य के जीवनचरित्र तक से भी हम अपरिचित हों, इससे अधिक दुःख की बात क्या हो सकती है! हिन्दी भाषा में जब सुन्दर से सुन्दर साहित्य प्रकाशित हो रहा है और अन्य सभी श्रेष्ठ भाषाओं की पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में हो रहा है, तब आचार्य शङ्कर जैसे महान् आचार्य की प्रामाणिक जीवनी तक हिन्दी में दुर्लभ हो और यहाँ तक कि श्रीशङ्करदिग्विजय जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद करने का किसी ने कष्ट न उठाया हो। इस प्रकार के विचार मेरे मन में प्रादुर्भूत होते थे।

बहुत दिनों तक मैं इस कार्य के लिये अपने साधु समाज के मण्डलेश्वर महानुभावों की ओर आशा-भरी दृष्टि से देखता रहा कि यह कार्य विद्वान्

मण्डलेश्वरों के द्वारा हो परन्तु मेरी आशा की पूर्ति न हुई। गत मई मास में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर पं० बलदेव उपाध्यायजी एम० ए०, साहित्याचार्य हरद्वार आये। उन्हें इस वर्ष उनके "भारतीय दर्शन" पुस्तक पर 'मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक' मिला है। उपाध्यायजी सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। 'भारतीय दर्शन' पुस्तक लिखकर आपने अपनी अगाध विद्वत्ता का परिचय दिया है। आपकी सुजनता और सरलता ने आपकी विद्वत्ता को और भी प्रकाशित कर दिया है। उपाध्यायजी को देखकर मेरी चिरकाल की अभिलाषा जागृत हो गई। मैंने अपने सहयोगी महन्त श्री घनश्याम गिरिजी से, जिन्होंने सम्मेलन के अवसर पर मुझे यथेष्ट रूप से प्रत्येक कार्य में सहयोग दिया है, और अपने पुस्तकाध्यक्ष पं० रघुनाथ पंत शास्त्री से परामर्श किया। हम इसी निष्कष पर पहुँचे कि यदि शङ्करदिग्विजय का अनुवाद उपाध्यायजी की लेखनी द्वारा हो, तो बहुत ही अच्छा हो। हमने अपने विचार उपाध्यायजी से प्रकट किये तो उन्होंने सहर्ष अनुवाद करने की स्वीकृति दे दी। इससे मुझे विशेष प्रसन्नता हुई। उपाध्यायजी को अनुवाद का कार्य सौंपकर मैं निश्चिन्त हो गया।

उपाध्यायजी ने बनारस पहुँचते ही अनुवाद का कार्य प्रारम्भ कर दिया और अपने सब आवश्यक निजी कामों को छोड़कर भी अनुवाद के कार्य में परिश्रम के साथ जुट गये। यह उनके अत्यधिक परिश्रम का ही फल है कि इतने थोड़े समय में अनुवाद का कार्य पूर्ण हो गया।

अनुवाद का कार्य हो जाने पर पुस्तक के प्रकाशन करने का प्रश्न स्वभावतः उपस्थित हुआ। परन्तु काग़ज़ के इस महान् दुष्काल में इतनी बड़ी पुस्तक का प्रकाशित करना असम्भव नहीं, तो अत्यधिक कठिन तो था ही। काग़ज़ का किसी भी भाव मिलना कठिन था। ऐसी विषम परिस्थिति में भी आचार्य-चरणों के ऊपर श्रद्धा रखता हुआ मैं पुस्तक प्रकाशित करने का विचार बनाये रहा। अन्तर्यामी प्रभु की

प्रेरणा से यह समस्या हल हो गई। गीता प्रेस गोरखपुर के प्राण श्री सेठ जयदयाल गोयनकाजी गर्मियों में प्रतिवर्ष एकान्तवास और सत्संग के लिये ऋषिकेश आते हैं। इस साल भी वे ऋषिकेश आये और जब वापस आने का उनका विचार हुआ तो ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध संन्यासी-कुलभूषण श्री स्वामी जगदीश्वरानन्द भारतीजी ने मुझे ऋषिकेश से पत्र लिखा कि गोयनकाजी गोरखपुर जाते हुए एक दिन के लिये हरद्वार ठहरेंगे। अतः उनका श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर में प्रवचन कराने की व्यवस्था करें तो धार्मिक जनता का बड़ा कल्याण हो। मैं उस समय कार्यवश बाहर गया हुआ था इसलिये प्रवचन की व्यवस्था न हो सकी। संयोग से जिस दिन गोयनकाजी हरद्वार पधारे उसी रोज़ मैं भी बाहर से हरद्वार आ गया था। मैंने गोयनकाजी को श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर का अच्छे प्रकार निरीक्षण कराया। उन्होंने देखकर अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की। इसी सिलसिले में मैंने उनसे श्रीशङ्करदिग्विजय के प्रकाशित करने की बात कही और काग़ज़ की कठिनता उन्हें बतलाइ। गोयनकाजी ने काग़ज़ की व्यवस्था करा देने के लिये आश्वासन दिया। श्री गोयनकाजी ने काग़ज़ की व्यवस्था कर हमें एक बड़ी भारी चिन्ता से निर्मुक्त कर दिया। इस महान् कार्य के लिये मैं उन्हें सदैव सम्मान-पूर्वक स्मरण करता रहूँगा और श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर की ओर से उनका सहस्रशः धन्यवाद करता हूँ।

पुस्तक की छपाई का कार्य बनारस में उपाध्यायजी की देखरेख में इण्डियन प्रेस में हुआ। इतनी शीघ्रता से पुस्तक की छपाई सुन्दरता से पूरी कर देने के लिये इंडियन प्रेस के मैनेजर अपूर्वकृष्ण वसु धन्यवाद के पात्र हैं।

पुस्तक की भूमिका भी उपाध्यायजी ने बड़े परिश्रम और अन्वेषण के साथ लिखी है। भूमिका में आचार्य के सम्बन्ध में सभी महत्त्वपूर्ण बातों पर काफ़ी प्रकाश डाला गया है। श्री उपाध्यायजी ने जिस लगन और उत्साह के साथ, जिस परिश्रम से पुस्तक का पाण्डित्यपूर्ण अनुवाद

किया, उसके लिये उपाध्यायजी का जितना धन्यवाद किया जाय वह थोड़ा ही होगा। उपाध्यायजी के प्रति मेरे हृदय में सदा सम्मानपूर्ण स्थान बना रहेगा। श्री श्रवणनाथ ज्ञान मन्दिर की ओर से मैं आपका हार्दिक धन्यवाद करता हूँ और जगन्नियन्ता परमेश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आप शीघ्र ही महामहोपाध्याय की पदवी से विभूषित हों। आप से हमें अभी बहुत आशाएँ हैं। हिन्दी-प्रेमी जनता का कर्तव्य है कि वह उपाध्यायजी की विद्वत्ता से लाभ उठावे और उपाध्यायजी के द्वारा सुन्दर से सुन्दर पुस्तकें लिखवाकर हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि करे।

मैं यहाँ पर अपने समाज के सुप्रतिष्ठित अखाड़ों और विद्वान् मण्डलेश्वर महानुभावों से नम्र शब्दों में निवेदन करता हूँ कि वे आचार्य शङ्कर के समस्त ग्रन्थों का सरल सुबोध भाषा में अनुवाद करने का कार्य प्रारम्भ करने का प्रयत्न करें।

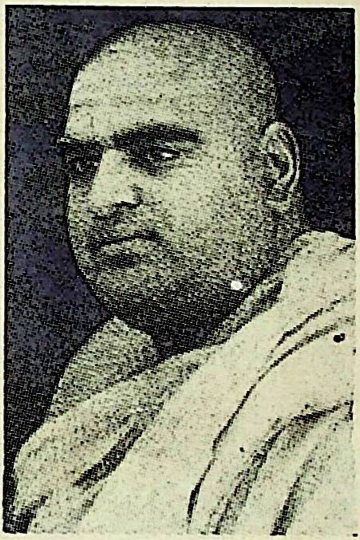
हमारे अखाड़े वर्तमान समय में सुसङ्घटित और सर्वसम्पन्न हैं और मण्डलेश्वर महानुभाव भी सभी शास्त्रों के पारङ्गत विद्वान् हैं। यदि अखाड़ों के सञ्चालक एवं मण्डलेश्वर महानुभाव मिलकर धार्मिक साहित्य का प्रकाशन-कार्य प्रारम्भ कर दें, तो उससे साधु-समाज का तो महान् उपकार होगा ही, साथ ही सर्वसाधारण जनता को भी लाभ होगा। यह निश्चित है कि किसी संस्था और समाज को चिरकाल तक जीवित बनाये रखने के लिये उस संस्था एवं समाज के साहित्य का निर्माण होना परमावश्यक है। जिस जाति एवं समाज का अपना साहित्य नहीं होता है, वह बहुत दिनों तक जीवित नहीं रह सकता है। पूर्वाचार्यों के सतत परिश्रम और विद्वत्ता के कारण हमारा साहित्य प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। इसका हमें गर्व होना चाहिए परन्तु इसके साथ ही समय की प्रगति और जनता की रुचि को देखते हुए उस साहित्य को आधुनिक रूप देना हमारा कर्तव्य होना चाहिए। आशा है कि अखाड़ों के सञ्चालक महानुभाव और सर्वशास्त्रविशारद मण्डलेश्वर महानुभाव मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर इस कार्य को शीघ्र ही प्रारम्भ कर देंगे।

मैं भी अपने मठ का ओर से यथाशक्ति आचार्य शङ्कर के अन्य किसो ग्रन्थ को सरल सुवोध भाषा में प्रकाशित करने का प्रयत्न काग़ज़ के सुलभ होने पर करूँगा, यह विश्वास दिलाता हूँ। मैं मण्डलेश्वर महानुभावों से निवेदन करता हूँ कि वे अपने जिज्ञासु सेवकों के इस पुस्तक के पढ़ने का आदेश करें।

श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला का यह सर्वप्रथम प्रकाशन श्रीशङ्करदिग्विजय पाठकों के हाथों में देते हुए आशा करता हूँ कि वे इसे अपनाकर हमारा उत्साह बढ़ायेंगे। आशा है कि इस पुस्तक से हिन्दी-संसार की एक बड़ी भारी कमी दूर होगी। यदि इससे पाठकों का कुछ भी लाभ हुआ ते हम अपने परिश्रम के सफल समझेंगे। यदि पाठकों ने इसे अपनाया ते हम भविष्य में और भी सुन्दर उपयोगी साहित्य प्रकाशित करने का प्रयत्न करेंगे।

मठ बाबा श्रवणनाथजी
हरद्वार

महन्त शान्तानन्द नाथ



श्री श्रवणनाथ ज्ञानमन्दिर हरद्वार के संस्थापक,
श्रीशंकर-दिग्विजय के प्रकाशक
महन्त शान्तानन्द नाथ

चार शब्द

आज आचार्य शङ्कर का जीवनचरित हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे अपार आनन्द हो रहा है। यह बड़े ही दुःख का विषय है कि आचार्य की प्रामाणिक जीवनी पर्याप्त अनुशीलन तथा अन्वेषण के बाद अभी तक हिन्दी में लिखी नहीं गई है। राजनीतिक आन्दोलन के इस युग में हम अपने धर्म के संरक्षक तथा प्रतिष्ठापकों को एक प्रकार से भूलते चले जा रहे हैं। परन्तु शङ्कराचार्य का पावन चरित भुलाने की वस्तु नहीं है, वह निरन्तर मनन करने की चीज़ है। आचार्य का हमारे ऊपर इतना अधिक उपकार है कि उनकी जयन्ती हमारे लिये राष्ट्रीय पर्व है, उनका चरित्र परमार्थ के मार्ग पर चलनेवालों के लिये एक बहुमूल्य सम्बल है। संस्कृत में माधवाचार्यकृत 'शङ्करदिग्विजय' की खूब प्रसिद्धि है। इसमें आचार्य के जीवन की घटनाओं का साङ्गोपाङ्ग वर्णन बड़ी ही रोचक भाषा में किया गया है। आचार्य के जीवनचरित के विषय में अन्य भी दिग्विजय-ग्रन्थ हैं, परन्तु शङ्कराचार्य के व्यापक प्रभाव, अलौकिक पाण्डित्य तथा कर्मठ जीवन का चित्र यहाँ इतनी सुन्दरता के साथ खींचा गया है कि पढ़नेवालों के नेत्रों के सामने आचार्य-चरण की सजीव मूर्ति झूलने लगती है। इसी अभिरामता के कारण यह ग्रन्थ अनुवाद के लिये चुना गया है।

अनुवाद पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इसे उपयोगी बनाने के लिये स्थान-स्थान पर टिप्पणियाँ जोड़ी गई हैं। ग्रन्थ में दर्शन के अनेक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है जो संस्कृत के विद्वानों के लिये भी

कठिन हैं, साधारण हिन्दी पाठकों की तो कथा ही न्यारी है। अतः इन कठिन दार्शनिक अंशों को बोधगम्य करने के लिये इन स्थलों पर पर्याप्त टिप्पणियाँ दी गई हैं। इतना ही नहीं, इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों तथा स्थानों का भी निर्देश मिलता है जिनकी जानकारी रखना आवश्यक है। इन जगहों पर भी ऐतिहासिक तथा भौगोलिक टिप्पणियों का देना उचित समझा गया है। आचार्य के जीवनचरित का समूहालम्बन रूप से एक स्थान में पाठकों को परिचय प्राप्त हो जाय, इसके लिये ग्रन्थ के आरम्भ में एक विस्तृत ऐतिहासिक भूमिका जोड़ दी गई है जिसमें आचार्य के जीवनचरित, ग्रन्थ, मठ-स्थापन आदि कार्यों की विस्तृत आलोचना की गई है। आचार्य के विषय में ज्ञातव्य समग्र विषयों का मैंने अनुशीलन कर यथासाध्य संग्रह किया है, परन्तु स्थान की कमी होने से मैंने इन सब विषयों का वर्णन यहाँ नहीं किया है। उपलब्ध दिग्विजयों के आधार पर आचार्य के तुलनात्मक जीवनवृत्त लिखने की तथा उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों के वर्णन की नितान्त आवश्यकता है, परन्तु इस लघुकाय भूमिका में इनका समावेश नहीं हो सका। जो कुछ लिखा है प्रमाणपुरःसर लिखा है और कारणवश जहाँ प्रमाणों के उल्लेख न भी हों, वहाँ उन उल्लेखों के लिये पर्याप्त प्रमाण मेरे पास हैं।

काग़ज़ की इस महँगी के ज़माने में इस पुस्तक को प्रकाशित करने का सारा श्रेय हरिद्वार के परोपकारी महन्त श्री शान्तानन्द नाथजी को है। आपकी जनोपकार-वृत्ति का ज्वलन्त दृष्टान्त अकेला श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर ही है। इस पुस्तकालय के द्वारा हरिद्वार की जनता का कितना अधिक लाभ हो रहा है, यह बतलाने की बात नहीं है। इस वर्ष हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को अपने यहाँ निमन्त्रित कर स्वामीजी ने जिस साहित्यिक उत्साह तथा लगन का परिचय दिया है वह सम्मेलन के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। अब आपने ज्ञान-मन्दिर की ओर से स्थायी साहित्य के प्रकाशन का भी कार्य आरम्भ कर दिया है।

इसके लिये आपकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी है। आशा है, इस कार्य से अन्य अधिकारी संन्यासियों के हृदय में भी उत्साह जागेगा और वे भी ऐसे ही कार्यों के करने में दत्तचित्त होंगे। मैं व्यक्तिगत रूप से स्वामीजी का आभार मानता हूँ जिन्होंने मुझे यह कार्य सौंपकर आचार्य के पावन चरित्र के अध्ययन तथा मनन करने का पर्याप्त अवसर प्रदान किया है। महन्तजी से हमें अभी बड़ी बड़ी बातों की आशाएँ हैं। तब तक श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला का यह प्रथम पुष्प अपने सौरभ से हिन्दी-साहित्य-वाटिका को सुगन्धित करे तथा रसिक भ्रमरों को अपनी ओर आकृष्ट करे, भगवान् से मेरी यही प्रार्थना है।

मैं उन सज्जनों को धन्यवाद देना चाहता हूँ जिनके सत्परामर्श से यह कार्य सुचारु रूप से निष्पन्न हुआ है। सर्वप्रथम, पूज्यपाद महामहोपाध्याय श्री गोपीनाथ कविराज जी को मैं धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने आचार्य के जीवन तथा सिद्धान्त की अनेक बातें मुझे बतलाईं। रामकृष्ण सेवाश्रम काशी के स्वामी चिद्घनानन्दजी (पूर्वनाम श्री राजेन्द्रनाथ घोष) धन्यवाद के पात्र हैं जिनकी नितान्त सुन्दर बंगला पुस्तक 'आचार्य शङ्कर ओ रामानुज' से मैंने अनेक ज्ञातव्य बातों का संग्रह किया है। नाना प्रकार की सहायताओं के निमित्त मैं सुहृद्वर्य साहित्याचार्य पण्डित बटुकनाथ शर्म्मा, एम० ए० का विशेष आभार मानता हूँ। ग्रन्थ को इतनी जल्दी तैयार करने में दो व्यक्तियों ने मेरी पर्याप्त सहायता की है—एक तो हैं मेरे अनुज पण्डित कृष्णदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्यशास्त्री, साहित्यरत्न तथा दूसरे हैं मेरे चिरञ्जीवी गौरीशंकर उपाध्याय, बी० ए०। इन दोनों सज्जनों ने यदि मेरे लिये लेखक बनना स्वीकार नहीं किया होता, तो मैं इतनी जल्दी इस अनुवाद को तैयार न कर सकता था। इसलिये ये मेरे आशीर्वाद के भाजन हैं।

अन्त में जिनकी नगरी में इस ग्रन्थ का अनुवाद किया गया है और इसकी छपाई हुई है उन आशुतोष बाबा विश्वनाथ से मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि आचार्य शङ्कर का यह पावन चरित-ग्रन्थ अपने उद्देश्यों में सफल हो और भारत के प्रत्येक घर में आचार्य का पवित्र सन्देश सुनाता रहे।

काशी
हिन्दू-विश्वविद्यालय
आश्विन शुक्ल प्रतिपद सं० २०००
३०।९।४३

बलदेव उपाध्याय

——



श्रद्धेय महामना मालवीयजी

माननीय सम्मतियाँ

(१)

हमारे सबसे वृद्ध राष्ट्रपति, भारतवर्ष में अद्वितीय और सर्वोच्च हिन्दू-विश्वविद्यालय की देन देनेवाले, वर्तमान भारत के महर्षि दधीचि, जो आज चारपाई पर पड़े रहने पर भी राष्ट्र और धर्म, हिन्दू सभ्यता और संस्कृति के कल्याण की चिन्ता में संलग्न हैं उन्हीं प्रातःस्मरणीय **महामना मालवीय जी** का श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर के लिये शुभाशीर्वाद और श्री-शङ्करदिग्विजय के सम्बन्ध में शुभ सम्मति—

मुझे बड़ा हर्ष है कि महन्त श्री शान्तानन्द नाथजी के उद्योग से श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर की ओर से श्रीशङ्करदिग्विजय नामक ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। इसका भाषानुवाद सरल, सुन्दर और सरस हुआ है जिसके लिये पंडित बलदेव उपाध्याय जी की मैं प्रशंसा करता हूँ। मुझे आशा है कि हिन्दी-भाषा-भाषी लोग इससे लाभ उठावेंगे। मेरी मंगल-कामना है कि यह संस्था निरन्तर इसी प्रकार धार्मिक ग्रन्थों का प्रकाशन करे, यश प्राप्त करे और महन्त शान्तानन्द नाथजी भी लोक में सुकीर्त्ति प्राप्त करें।

कार्तिक कृ०५, सं० २०००

मदन मोहन मालवीय

(२)

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापति, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी के वाइस चान्सलर पं० अमरनाथजी झा की शुभ सम्मति——

श्रीशङ्करदिग्विजय का हिन्दी अनुवाद पढ़ने का मुझे अवसर मिला। अनुवाद बहुत सुन्दर है। मैंने आठवाँ सर्ग विशेष ध्यान से पढ़ा जिसमें मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ का वर्णन है। दर्शन शास्त्र का विशिष्ट विद्वान् ही इसका ऐसा अच्छा अनुवाद कर सकता था। उपाध्यायजी ने इसकी रचना करके और महन्त शान्तानन्द नाथजी ने इसको प्रकाशित करके हिन्दी का बड़ा उपकार किया है।

अमरनाथ झा

(३)

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति माननीय पंडित माखनलालजी चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा) की शुभ सम्मति——

शङ्करदिग्विजय जैसे महान् ग्रन्थ का यह प्रामाणिक अनुवाद अध्ययनशीलों, भारतीय संस्कृति के विद्यार्थियों और हिन्दू-समाज के लिये गौरव की वस्तु है। महन्त शान्तानन्दजी ने पं० बलदेव जी उपाध्याय जैसे विद्वान् को इस कार्य के लिये खोजकर श्रेष्ठ कार्य किया है।

माखनलाल चतुर्वेदी
(सभापति हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन)
२२।९।४३

हमारे दशनाम संन्यासी सम्प्रदाय के सभी सुप्रसिद्ध मण्डलेश्वरों की शुभ सम्मतियाँ

(१)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री अटल पीठाधिपति श्री १००८ श्री स्वामी भागवतानन्दजी महाराज दार्शनिक मण्डलीश्वर, काव्य-सांख्य-योग-न्याय-वैशेषिक-वेद-वेदान्त-तीर्थ, वेदान्त-वागीश, मीमांसा-भूषण, वेद-रत्न, दर्शनाचार्य भारती विद्यालय कनखल (हरद्वार) की असूल्य सम्मति—

मैंने श्रीयुक्त महन्त शान्तानन्दजी नाथ द्वारा प्रकाशित पं० बलदेवजी उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य कर्तृक हिन्दी भाषानुवाद सहित श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प-स्वरूप 'श्रीशङ्कर-दिग्विजय' को मनोयोगपूर्वक आद्यन्त देखा। इस ग्रन्थ में श्रीमच्छ-ङ्कराचार्य का जीवनचरित्र-चित्रण बड़ी ही मार्मिक भावपूर्ण शैली से किया गया है। इसकी कविता उच्च कोटि की है तथा वेदान्तदर्शन आदि के अनेक दार्शनिक प्रौढ़ दुरूह विचारों से परिपूर्ण है। भाषा-पाठी सर्वसाधारण अभी तक इस आचार्यचरितामृत के पान से वञ्चित ही थे। इस अनुवाद से एक बड़े अभाव की वाञ्छनीय पूर्ति हुई है। इसका भाषानुवाद हो जाने से हिन्दी-साहित्य-जगत् को एक अनुपम ग्रन्थरत्न प्राप्त हो गया है। अनुवाद सरस, सुबोध, हृदयङ्गम भाषा में

सर्वाङ्गीण सुन्दर हुआ है। इसके अनुवादक अनेक भाषाओं के प्रौढ़ विद्वान् , सिद्धहस्त लेखक हैं।

फलतः ८–९ सर्ग में आचार्य और मण्डन मिश्र का शास्त्रार्थ, १०वें के अमरुक राजा के शरीर में प्रविष्ट आचार्य को स्मरण कराने के निमित्त आचार्य के शिष्यों द्वारा गाये गये आध्यात्मिक गायन, मण्डन मिश्र को संन्यास दीक्षाप्रदानानन्तर आचार्य-कृत उपदेश, १२वें में दशावतार हरि और शङ्कर की एक ही श्लोक से हरिहर उभय-परक आचार्यकृत श्लेषालङ्कारमयी स्तुति, १५वें में शैव नीलकण्ठ और भट्टभास्कर से आचार्य का शास्त्रार्थ, जैनमतखण्डन, १६वें में वैशेषिक आदि दार्शनिकों के मत का खण्डन—इस ग्रन्थ के इन दुरूह जटिल शास्त्रार्थपूर्ण भागों का भी बहुत ही अच्छी रीति से अनुवाद किया है, जिससे साधारण पुरुष भी गम्भीर तत्त्व यथावत् समझ सकता है। १२वें सर्ग में 'मूकाम्बिकास्तुति-प्रसङ्ग' में ३१वाँ श्लोक तान्त्रिक रहस्य से पूर्ण है, पण्डितों के लिये भी दुर्बोध है। इसमें ३८ कलाओं का वर्णन है सङ्केत रूप में। अनुवादक महोदय ने अनेक प्रसिद्ध-अप्रसिद्ध तन्त्रों के प्रमाणों द्वारा दिग्विजय की प्रसिद्ध संस्कृत टीका के कर्ता धनपति सूरि की त्रुटियों का प्रदर्शन करते हुए परिशिष्ट टिप्पणी में अति सुचारु रूप से विशद निरूपण किया है। इससे अनुवादक के गवेषणापूर्ण परिश्रम का अनुमान हो सकता है। अन्त में परिशिष्ट में अन्यान्य शङ्करदिग्विजयादि का भी सारसंग्रह कर इसे सर्वाङ्गसुन्दर बना दिया है।

आकार, विषय, भाषा आदि सब ही दृष्टि से यह उपादेय है। इसमें अत्युक्ति का लेश भी नहीं है किन्तु सत्योक्ति ही है। इस भयङ्कर समर-समय के कारण कागज़ आदि साधन-सामग्री के दौर्लभ्य-युग में इतनी शीघ्रता एवं उत्तमता के साथ ऐसे ग्रन्थरत्न को प्रकाशित कर देना हमारे आदर्श महन्त श्री शान्तानन्द जी नाथ जैसे सदुत्साही धर्मवीरों के लिये ही सम्भव है। श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर-ग्रन्थमाला का यह प्रथम पुष्प ही अपने अलौकिक सौरभ से विद्वद्भृङ्गों को मुग्ध कर देगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। अतः

श्रीमच्छङ्करपादीय-श्रव्यभव्यगुणावली।
प्राकाशि भवता तेन धन्यवादाः परःशताः।
इस अपने श्लोक से धन्यवाद देना ही पर्याप्त है।

(२)

श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्यवर्य श्री निरञ्जन पीठाधिपति श्री १००८ श्री स्वामी नृसिंह गिरि जी महाराज मण्डलेश्वर की अमूल्य सम्मति---

आपका प्रकाशित किया हुआ माधवीय श्रीशङ्करदिग्विजय काव्य का भाषानुवाद मिला, पुस्तक साद्यन्त अवलोकन किया। अनुवाद सरल एवं सुबोध है। भाषा सरस एवं मधुर है। स्थल-स्थल पर टिप्पणी ने अनुवाद को अत्यधिक प्रामाणिक और उपादेय बना दिया है। संसार में आप जैसे परोपकारी महापुरुषरत्न विरले हैं।

आज तक आचार्य-प्रवर की जीवनी संस्कृतबद्ध होने के कारण साधारण हिन्दी भाषा जाननेवाली सनातनधर्मी जनता आचार्यचरणों के इस पावन जीवन-चरित्र से अनभिज्ञ ही थी। आज इस अनुवाद के प्रकाशन से हिन्दीप्रेमी जन-समाज के महोपकार के साथ ही हिन्दी साहित्य में एक बड़े भारी अभाव की भी पूर्ति हुई है। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है---

श्री शान्तानन्द नाथ! त्रिभुवनजयिनः शङ्करस्यानुगाथां
हिन्दीभाषानिबद्धां सुमधुरसरलां संप्रकाश्योपनद्धः।
आचार्यौघलीलाचरितरसविजिज्ञासु-वर्गोपकारः
आ चन्द्रार्काद्वि विधत्तां सुमहदुपकृतिं प्राकृते लोकवर्गे॥

(३)

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी कृष्णानन्द गिरि जी मण्डलेश्वर महाराज आचार्य दशनाम संन्यास महानिर्वाणी अखाड़ा, गोविन्द मठ काशी, की श्रीशङ्करदिग्विजय के सम्बन्ध में शुभ सम्मति—

श्रीमन्माननीय ! प्रशंसनीयकर्मणा साधुसमाज-सम्मानं चिकीर्षो ! अनवरतं जनपदेषु व्याप्तकीर्ते ! महन्त श्री शान्तानन्द नाथ महोदय !

श्रीमन्माधवाचार्य-प्रणीत संक्षिप्त शङ्करदिग्विजय का हिन्दी अनुवाद पढ़ा। कलिकल्मषाच्छन्न मानवसमाज को भौतिकता के मायाजाल से मुक्त करने के लिये श्री महेश्वरावतार जगद्गुरु शङ्कर जैसे युगान्तर-प्रवर्तक महापुरुष के जीवन-चरित्र का पठन एवं मनन करना परमावश्यक है तथा आत्मोन्नतिकारक है।

भाष्यकार भगवान् शङ्कर की परम पावन जीवन-कथाएँ सन्तप्त मानव-हृदय में सतत पीयूष-वर्षण कर देती हैं। मृत्यु की विकराल विभीषिका में अमर आत्मा का सन्देश सुनाकर निर्भीक बना देती हैं।

अनादि काल से चले आते हुए पुनर्जन्म के प्रवाह को, संसारासक्ति, रागद्वेष तथा द्वन्द्वमय वातावरणों को मिटाकर विश्वप्रेम का भव्य उज्ज्वल आदर्श सामने रख देती हैं, जिससे सतत मनन करनेवालों के समस्त हृदयगत संशय सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं एवं निःश्रेयस का दुर्गम पथ भी सरल तथा सुस्पष्ट हो जाता है।

परन्तु अद्यावधि पर्यन्त संसार के सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक-सार्वभौम, विद्वत्समुपास्य आचार्यशिरोमणि शङ्कर भगवान् के अलौकिक जीवन-रहस्य, उनके जगन्मान्य सिद्धान्त की गम्भीरता तथा उनके हृदयग्राही उपदेशों के माधुर्य का रसास्वादन संस्कृत-वाङ्मय के प्रौढ़ विद्वान् ही कर सकते थे; क्योंकि आचार्यपाद के व्यक्तिगत परिचय देनेवाले ग्रन्थों में सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ "शङ्करदिग्विजय" है जो संस्कृत भाषा में

लिखा गया है। प्रकृत भाषा-भाषी लोग इस रसास्वादन से वञ्चित रह जाते थे। आचार्यपाद के पावन-चरित्र एवं सिद्धान्तों से अनभिज्ञ होने के कारण उनके सम्बन्ध में नाना प्रकार की अनावश्यक कल्पनाएँ करने लगते थे।

अब तो श्री काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के प्रौढ़ विद्वान् तथा विशेष करके संस्कृत साहित्य के प्रोफ़ेसर श्रीमान् पं० बलदेव उपाध्यायजी, साहित्याचार्य, एम० ए० ने संक्षिप्त शङ्करदिग्विजय का सुन्दर, सरल, सुबोध हिन्दी अनुवाद लिखकर हिन्दी भाषा से परिचय रखनेवाले प्रायः सभी लोगों को श्रीशङ्करचरितामृत-पान करने का सौभाग्य तथा अमूल्य अवसर दे दिया है और प्रस्तुत अनुवाद लिखकर मातृभाषा हिन्दी का गौरव बढ़ाया है।

हरद्वार के स्वनामधन्य माननीय श्रीमान् महन्त शान्तानन्द नाथजी ने इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी भाषा में सफल प्रकाशन किया है। उससे अनेकों संसृतितापतप्त आत्माओं को शान्ति मिलेगी। उनका यह कार्य स्तुत्य है। भारत के घर घर में भाष्यकार भगवान् के पावन-चरित्र का, उनके सिद्धान्त एवं उपदेशों का प्रचार हो और आर्य सन्तान जड़वाद को तिलाञ्जलि देकर अपने जीवन का ध्येय निःश्रेयस की दिशा में अबाध रूप से अग्रसर करें, भगवान् आशुतोष से मेरी यही एक प्रार्थना है।

(४)

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य जूनापीठाधीश्वर श्री १०८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज महामण्डलेश्वर हरिहराश्रम कनखल हरद्वार की शुभ सम्मति—

आपका भेजा हुआ श्रीशङ्करदिग्विजय का भाषानुवाद देखकर बहुत ही आनन्द प्राप्त हुआ। आज तक इस सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद नहीं हुआ था। इसी कारण समस्त हिन्दू जनता में आचार्य की कीर्ति न फैल सकी। अब हिन्दी अनुवाद हो जाने से सब कोई पढ़ सकेंगे। ग्रन्थानुवाद बहुत सरल भाषा में है। आपने यह अभूतपूर्व

अलाकिक कार्य किया है। यह कार्य प्रशंसनीय है। इस सर्वश्रेष्ठ पुस्तक को प्रकाशित करने से आपकी अक्षय कीर्ति हिमालयगामिनी हो।

(५)

न्यायमार्तण्ड, वेदान्तवागीश, दार्शनिक-सार्वभौम, विद्यावारिधि श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ १०८ श्री स्वामी महेश्वरानन्दजी मण्डलेश्वर महाराज—स्वामी सुरतगिरिजी का बँगला—कनखल (हरद्वार) की शुभ सम्मति—

श्रीमान् विवेक-विचार-चातुरी-धुरीण, शमदमादिकल्याणगुणसम्पन्न परमप्रेमास्पद आदरणीय सिद्ध श्री १०८ महन्तजी महाराज !

आपका भेजा हुआ शङ्करदिग्विजय ग्रन्थ मिला। आपका यह प्रयत्न नितान्त स्तुत्य है। शङ्करदिग्विजय संस्कृत-ग्रन्थरूपी सूर्य संस्कृत के अनभिज्ञतारूप बादलों से बहुत समय तक हिन्दी-भाषा-भाषी जनों के लिये आच्छन्न रहा। आपके हिन्दी अनुवाद-विषयक प्रयत्न रूप प्रबल वायु से वह प्रचण्ड मार्तण्ड बादल से मुक्त होकर सर्वजन-दृष्टि-गोचर हुआ। दीर्घ काल तक छिपा हुआ वह भास्कर, अपने प्रशस्त दर्शन से किसके अत्याह्लाद का जनक न होगा।

अनेक शङ्करदिग्विजयों में यह माधवीय विद्यारण्यमुनि-प्रणीत प्रसन्न गम्भीर एवं ओजस्वी संस्कृत कविता में निबद्ध दिग्विजय अतीव रमणीय है। इसमें महेश्वरपादावतार जगद्गुरु भगवत्पाद आचार्य शङ्कर स्वामी का अच्छे ढङ्ग से किया हुआ समग्र वर्णन अतीव श्रद्धा-भक्ति का उत्पादक है। आचार्य स्वामी का अवतार अधर्म-नाश एवं धर्म-स्थापन के लिये ही हुआ था। उनका पवित्र यश, परोपकारमय, पुण्यचरित्र तथा सत्य सुन्दर भाष्यादि-रूप उपदेश श्रवणादि से अनेक पाप सन्तापों का नाशक है।

(५)

उस ग्रन्थ-रत्न का विख्यात विद्वान् उपाध्यायजी का किया हुआ यह हिन्दी अनुवाद भी आकर्षक एवं प्रशंसनीय हुआ है। विशद टिप्पणी से इसके वर्णनीय विषय को स्पष्ट कर दिया है। परिशिष्ट भी मनोरञ्जक हुआ है। इसके सन्निवेश से यद्यपि आचार्य के परस्पर विभिन्न चरित्र से श्रोता को सन्देह हो सकता है तथापि विचार करने पर संशय का अवकाश नहीं रह सकता, क्योंकि आचार्य स्वामी योगीश्वर थे। अपने योगबल से योगी एक शरीर को अनेक बनाकर एक ही समय में दक्षिण देश में, उत्तर देश में एवं अन्य भी भक्तों की प्रसन्नता के लिये आभास-मात्र शरीरों का परित्याग कर सकते हैं।

एक सदानन्द-प्रणीत शङ्करदिग्विजय भी है। यद्यपि उसका वर्णनीय चरित्र प्रायः इस माधवीय दिग्विजय के समान ही है तथापि वह कथाकार के लिये बड़ा अच्छा सुखद है। उसका भी निर्देश परिशिष्ट में होना चाहिए था। वह बृहदाकार संस्कृतपद्यबद्ध ग्रन्थ मेरे पास है।

भगवान् श्री विश्वनाथ से मैं प्रार्थना करता हूँ। कि वे आपकी सभी महत्त्वाकांक्षाएँ शीघ्र पूर्ण करें। शाङ्कर-अद्वैत सम्प्रदाय के उदारतम विपुल सिद्धान्तों के सर्वत्र प्रचार के लिये आपके उत्साह को, शक्ति को, विज्ञान को एवं श्री को विशेष रूप से बढ़ावें। आपके इस सानुवाद श्रीशङ्करदिग्विजय-प्रकाशन-रूप परोपकारमय कार्य में मेरी आपसे पूर्ण सहानुभूति है। बड़ा अच्छा यह विशिष्ट कार्य हुआ है। इससे हिन्दी-जनता आपकी चिरकाल ऋणी रहेगी।

(६)

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री मण्डलीश्वर स्वामी कृष्णानन्द जी महाराज श्रीकृष्णनिवास-कनखल (हरिद्वार) की शुभ सम्मति—

माधवाचार्य-प्रणीतस्य श्रीशङ्करदिग्विजयस्य हिन्दीभाषानुवादमिमं साद्यन्तमवलोक्य नितरां प्रीता वयम्। अपि चाशास्महे यन्नूनमनेन

भाषानुवादेनाऽधुना हिन्दीभाषाभाषिण्यपि जनताऽचार्यप्रवरस्य त्रिलोकी-पूज्यस्य भगवतः श्रीशङ्करस्य जीवनचरितमधिकृत्य कृतमिदं श्रीशङ्करदिग्वि-जयनामपुस्तकमधीत्याऽमन्दानन्दसन्दोहमवाप्स्यति।

अतः सर्वथा धन्यवादार्होऽस्यानुवादकः प्रकाशकश्च। ईश्वरो दीर्घा-युषावेतौ कुर्यादिति हार्दिकी मे स्पृहा। अस्यानुवादकस्य प्रकाशकस्य च प्रशंसावचनं दिवाकरस्य प्रदीपदर्शनमिव तथापि प्रकाशकानुरोधात् क्रियत इत्यलमतिपल्लवितेनेति।

(७)

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ लोक-संग्रही गीताव्यास श्री १०८ स्वामी विद्यानन्द जी मण्ड-लेश्वर महाराज की अमूल्य सम्मति—

आपका भेजा हुआ श्री शङ्करदिग्विजय भाषानुवाद सहित हमने आद्योपान्त देखा। भाषानुवाद होने से यह पुस्तक हिन्दीभाषाभाषा जनता के लिये बोधदायक और उपयोगी हो गई है। जनता में संस्कृत भाषा का प्रचार वहुत कम है। अतः धार्मिक संस्कृत साहित्य का लोक में प्रचार करने के लिये उसका सरल हिन्दी भाषा में अनुवाद करना अत्यावश्यक है। सरल भाषानुवाद होने से पुस्तक लोकोपयोगी हो सकेगी, ऐसा निश्चय है। वर्तमान समय में ऐसी पुस्तकों की विशेष आवश्यकता है।

श्री महन्त शान्तानन्द नाथ जी के सतत परिश्रम से हिन्दीभाषाभाषी जनता का वहुत उपकार हुआ है। प्रत्येक वैदिक धर्म के जिज्ञासु के लिये यह पुस्तक अध्ययन तथा मनन करने योग्य है। धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से यह पुस्तक वहुत ही उपयोगी है। श्री महन्त शान्ता-नन्द नाथ जी श्रीशङ्कराचार्य के अन्य ग्रन्थों का भी हिन्दी भाषा में अनुवाद करके लोक-संग्रह में और भी आगे वढ़ेंगे ऐसी हमें आशा है। जनता ऐसी पुस्तकों के लिये अपना सहयोग देकर धार्मिक साहित्य के

प्रचार में विशेष भाग लेंगी यह आशा है। श्रीहरिद्वारक्षेत्रस्थ श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर के ऐसे स्तुत्य कार्यों के साथ हमारी पूर्ण सहानुभूति है और परमात्मा उन्हें सहायता दे यह प्रार्थना है।

(८)

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ श्री १०८ स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज मण्डलेश्वर कैलास आश्रम हृषीकेश की शुभ सम्मति---

श्रीशंकरदिग्विजय (माधवाचार्य-विरचित) संक्षिप्त तथा सुस्पष्ट हिन्दी में श्रीमान् महन्त शान्तानन्द जी नाथ महोदय ने दार्शनिक पण्डित-प्रवर श्रीयुत बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य द्वारा अनुवाद करा कर मूल श्लोकों सहित जो छपवाया, उसे स्थालीपुलाक न्याय से देखा।

अनुवाद अत्युत्तम हुआ है। आशा है धार्मिक जनता भगवान् जगद्गुरु श्री शंकराचार्य की पवित्र चरित्र-गङ्गा में स्नान करके लोक-परलोक सुधारेगी। ऐसा अविकल शंकर-दिग्विजय का हिन्दी अनुवाद हमारी दृष्टि में पहिले ही आया है, यह विशेषतः संस्कृतानभिज्ञ आस्तिक जनता के लिए परम हितकारी है। इस लोकोत्तर पुण्य-पुञ्ज का सर्वश्रेय श्रीमान् महन्त शान्तानन्द जी को है। हम इस ग्रन्थ के चरित्रनायक जगद्गुरु भगवान् श्रीशंकराचार्य के पवित्र चरणों में प्रार्थना करते हैं कि वे उत्तरोत्तर महन्तजी को ऐसे ही पवित्र कार्यों में प्रेरित करें।

इति शिवम्

इसके अतिरिक्त श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी मङ्गलगिरि मण्डलेश्वर जी महाराज कनखल और श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ स्वामी महादेवानन्द गिरि जी मण्डले-

श्वर महाराज, श्री भोला गिरि संन्यास आश्रम हरिद्वार ने श्रीशंकर-दिग्विजय का हिन्दी अनुवाद देखकर अत्यधिक प्रसन्नता प्रकट की और एक बड़े अभाव की पूर्ति होते हुए देखकर पुस्तक के प्रकाशक श्री महन्त शान्तानन्द नाथ जी की अत्यधिक प्रशंसा की और इस कार्य के लिये महन्त जी महाराज को हार्दिक धन्यवाद दिया।

—

विषय-सूची

(संक्षिप्त)

भूमिका की विस्तृत सूची

मूलग्रन्थ की विषय-सूची

(विस्तृत)

पृष्ठ

पृष्ठ

आ चा र्य श ङ्क र

(विवेचनात्मक अध्ययन)

भूमिका

१—शङ्कर-पूर्व भारत

किसी धर्म का प्रवाह एक समान ही अविच्छिन्न गति से सदा प्रवाहित नहीं होता; उसकी गति को रोकनेवाले अनेक प्रतिबन्ध समय समय पर उत्पन्न हुआ करते हैं, परन्तु यदि उस धर्म में जीवनी शक्ति की कमी नहीं होती, तो इन विभिन्न रुकावटों को दूर कर देने में वह सर्वथा समर्थ होता है। इस कथन की सत्यता का प्रमाण वैदिक धर्म के विकाश के अनुशीलन से अच्छी तरह मिल जाता है। गौतम बुद्ध ने जिस आचार-प्रधान धर्म का उपदेश दिया वह उपनिषदों के ऊपर मूल सिद्धान्तों के लिये आश्रित है, परन्तु परिस्थिति की परिवृत्ति के कारण उन्होंने अनेक नवीन बातें उसमें घुसेड़ दीं जो सर्वथा वेद-विरुद्ध थीं। श्रुति की अप्रामाणिकता, यज्ञ-यागादि का सर्वथा तिरस्कार, आत्मवाद की अवहेलना आदि सिद्धान्त इसी कोटि में आते हैं। मौर्यकाल (विक्रमपूर्व चतुर्थ शतक) में बौद्धों को राजाश्रय भी प्राप्त हो गया। अशोक प्रियदर्शी ने अपनी सारी शक्तियों का उपयोग बौद्धधर्म के भीतरी तथा बाहरी प्रचार के लिये किया। उनकी दृष्टि समन्वयात्मक अवश्य थी, परन्तु उनके समय में भी बौद्धधर्म ने वैदिकधर्म को पैर तले कुचलने का उद्योग किया। इसका फल वही हुआ जो धार्मिक संघर्ष के समय हुआ करता है। मौर्यों के अनन्तर ब्राह्मण पुष्यमित्र ने सुंग-वंश की स्थापना की और वैदिक धर्म के अतीत गौरव को फिर जाग्रत् करने के लिये उसने अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये। उसने दो बार अश्वमेध यज्ञ को सम्पन्न किया। अश्वमेध वैदिक धर्म के पुनरुत्थान का प्रतीक मात्र था। मनुस्मृति की रचना का काल भी सुङ्गों का यही महत्त्वपूर्ण युग माना जाता है।

कुषाण-काल में प्रतिक्रिया रूप से बौद्धधर्म ने फिर उन्नति करना आरम्भ किया। कनिष्क की सुखद छत्रछाया में इस धर्म ने भारत के अतिरिक्त चीन, जापान जैसे पूरबी देशों में फैलना शुरू किया। इसकी प्रतिक्रिया गुप्त नरेशों के साम्राज्य-काल में दृष्टिगोचर होती है। गुप्त नरपति परम वैष्णव थे। अपने विरुदों में 'परम भागवत' विरुद का उल्लेख उन्होंने बड़े गौरव के साथ किया है। पुराणों के नवीन संस्करण तथा अनेक स्मृतियों की रचना का समय यही गुप्तयुग माना जाता है। गुप्त-नरेशों ने वैदिक धर्म की जागृति के निमित्त अश्वमेध की प्राचीन परिपाटी का भी उद्धार किया। इस प्रकार देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक वैदिक धर्म के पुनरुद्धार की लहर चारों ओर फैल गई। परन्तु बौद्धधर्म अपनी मर्यादा को पुष्ट रखने के निमित्त चुपचाप बैठ सुख की नींद नहीं सो रहा था। उसमें काफ़ी जीवट था; उसकी रगों में धार्मिक उन्माद था, बौद्ध विद्वानों के हृदय में अपना धर्म फैलाने की काफ़ी लगन थी। माधव ने इस काल के बौद्ध धर्म के प्रचारकों के विषय में एक पते की बात कही है। वे राजाओं का सहयोग पाने में समर्थ होते थे और उन्हीं के द्वारा उनकी प्रजाओं को भी प्रभावित कर अपने धर्म में लाने का सफल उद्योग करते थे—

सशिष्यसंघाः प्रविशन्ति राज्ञां गेहं तदादि स्ववशे विधातुम्।
राजा मदीयोऽजिरमस्मदीयं तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम्॥७।९१॥

गुप्त तथा वर्धन युग भारतीय तत्त्वज्ञान के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण माने जाते हैं। इस युग को वैदिक तथा बौद्ध-जैन तत्त्वज्ञानियों का 'संघर्षयुग' कहना चाहिए। इसी युग में नागार्जुन, वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति जैसे बौद्ध पण्डितों ने बौद्धन्याय को जन्म दिया तथा उसकी आश्चर्यजनक उन्नति कर दी। ब्राह्मण नैयायिक भी क्रियाहीन न थे। वात्स्यायन, उद्योतकर तथा प्रशस्तपाद ने न्याय के सिद्धान्तों के ऊपर किये गये आक्षेपों का उत्तर बड़ी तत्परता तथा युक्तियुक्तता के साथ दिया परन्तु बौद्धों ने वैदिक कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड के प्रति जो अव-

हेलना प्रदर्शित की थी उसके लिये ऐसे विज्ञ वैदिक की आवश्यकता थी जो वैदिक क्रियाकलापों तथा अध्यात्म-विषयक सिद्धान्तों की विशुद्धि उद्घोषित करता।

उधर जैनधर्म की ओर से भी विरोध कम न था। उसके अनु-यायी भी अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन में विशेष रूप से जागरूक थे। समन्तभद्र तथा सिद्धसेन दिवाकर की महत्त्वपूर्ण कृतियों ने जैनन्याय को अत्यन्त श्लाघनीय बना दिया था। वैदिक आचार के अनेकांश में ऋणी होने पर भी जैन लोग श्रुति की प्रामाणिकता नहीं मानते। अतः वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिये यह आवश्यक था कि श्रुति के सिद्धान्तों को यथार्थता भली भाँति जनता को समझाई जाय; श्रुति के कर्मकाण्ड में जो विरोध आपाततः दीख पड़ता है उसका भली भाँति परिहार कर श्रौत क्रिया-कलापों की उपादेयता तर्क की कसौटी पर कसकर विद्वानों के सामने प्रदर्शित की जाय। इस कार्य के सम्पादन का श्रेय आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शङ्कर को है। कुमारिल ने वेद का प्रामाण्य युक्तियों के सहारे सिद्ध कर वैदिक कर्मकाण्ड का महत्त्व प्रदर्शित किया और शङ्कर ने अवैदिक दर्शन तथा द्वैतवादियों के मत का भली भाँति खण्डन कर उपनिषदों के आध्यात्मिक रहस्य का प्रतिपादन प्रमाण-पुरःसर किया।

भूलना न चाहिए कि वैदिक तथा बौद्धधर्म की यह लड़ाई तलवार की लड़ाई न थी, बल्कि लेखनी की लड़ाई थी। दोनों पक्षों के तर्ककुशल पण्डित लोग लेखनी चलाकर अपने प्रतिपक्षियों के सिद्धान्त की असारता दिखलाते थे, किसी विशिष्ट नरपति को उत्तेजित कर उसके द्वारा किसी विशिष्ट मतावलम्बियों को मार डालने का उद्योग कभी नहीं करते थे। इसके विरुद्ध यदि एक-दो दृष्टान्त मिलते हों, तो भी उनसे विपरीत मत की पुष्टि नहीं होती।

इस समय की वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा बड़ी दृढ़ नींव पर हुई। इन आचार्यों के आक्षेपों को बौद्धधर्म अधिक न सह सका और धीरे धीरे वह भारतभूमि से हटकर तिब्बत, चीन, जापान, स्याम आदि देशों में

चला गया*। आचार्य शङ्कर के आविर्भाव का रहस्य इन धार्मिक घटनाओं के भीतर छिपा हुआ है।

२—आचार्य का समय

आचार्य शङ्कर का आविर्भाव कब सम्पन्न हुआ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना नितान्त कठिन है। संस्कृत के माननीय कविजनों ने भी जब अपने आश्रयदाताओं के नामोल्लेख करने तथा ग्रन्थ के रचना-काल के निर्देश करने की ओर अपना ध्यान नहीं दिया है, तब हमें शङ्कराचार्य जैसे विरक्त पुरुष को इन आवश्यक बातों के उल्लेख न करने पर आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वे सच्चे संन्यासी थे, विरक्त साधक थे। उन्हें इस बात की चिन्ता ही क्या हो सकती थी कि वे अपने समसामयिक राजा-महाराजा के नाम का कहीं उल्लेख करते। उनके शिष्यों की दशा इस विषय में उनसे भिन्न न थी। उन लोगों के ग्रन्थों में भी समय-निरूपण की ऐतिहासिक सामग्री का सर्वथा अभाव है। यही कारण है कि आचार्य के काल का इदमित्थं रूपेण निरूपण करना इतनी विषम समस्या है।

आचार्य के काल के विषय में इसी कारण विद्वानों में गहरा मतभेद है। विक्रम-पूर्व सप्तम शतक से लेकर विक्रम से अनन्तर नवम शतक तक किसी समय में इनका आविर्भाव हुआ, यह सब कोई मानते हैं, परन्तु

---

* सप्तम शताब्दी में जो धर्म-सम्प्रदाय प्रचलित थे उनका कुछ उल्लेख हर्षचरित (पृष्ठ ६३२, जीवानन्द) में मिलता है। वे हैं—भागवत, कापिल, जैन, लौकायतिक, काणाद, पौराणिक, ऐश्वरकारणिक, कारन्धमिन (धातुवादी), सप्ततान्तव (मीमांसक ?), शाब्दिक, बौद्ध, पाञ्चरात्रिक और औपनिषद। इनमें से औपनिषदों को छोड़कर शेष प्रायः सभी एक प्रकार से अवैदिक ही हैं। इसी ग्रन्थ के दूसरे प्रकरण (पृष्ठ ३९९) में औपनिषदों के विषय में कहा गया है—संसारासारत्वकथनकुशलाः ब्रह्मवादिनः।

किस वर्ष में इनकी उत्पत्ति हुई थी, इसके विषय में कोई सर्वमान्य मत नहीं है। (क) कामकोटि पीठ के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलिवर्ष में हुआ था तथा उनका तिरोधान २६२५ कलिवर्ष में सम्पन्न हुआ था। (ख) शारदा पीठ (द्वारका) की वंशानुमातृका के अनुसार शङ्कर ने कलिवर्ष २६३१ के वैशाख शुक्ल पञ्चमी को जन्म ग्रहण किया तथा २६६३ कलिवर्ष की कार्तिक पौर्णमासी को ३२ वर्ष की अवस्था में हिमालय में गुहाप्रवेश किया। (ग) 'केरलोत्पत्ति' के अनुसार शङ्कर का आविर्भावकाल विक्रम की पञ्चम शताब्दी है। इस मत में शङ्कर का जीवन-काल ३२ वर्ष के स्थान पर ३८ वर्ष माना जाता है। (घ) महाराष्ट्र में प्रसिद्ध महानुभाव पन्थ के विख्यात ग्रन्थ 'दर्शन-प्रकाश' में 'शङ्कर पद्धति' का एक वचन उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार आचार्य का जन्म ६१० शक तथा तिरोधान ६४२ शकाब्द में कुछ लोग मानते हैं। (ङ) एक मत यह भी है कि आचार्य का आविर्भाव ८४५ विक्रमी (७८८ ई०) तथा तिरोधान ८७७ वि० (८२० ई०) में ३२ वर्ष की उम्र में हुआ। ये तो प्रधान मत हैं। इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से मत हैं। यह विषय नितान्त दुरूह है और एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचने के लिये जिन विपुल साधनों को उपस्थित करने की आवश्यकता है वे थोड़े स्थान में उपस्थित नहीं किये जा सकते। हमारा विचार शीघ्र ही आचार्य के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में अन्वेषणपूर्वक पृथक् पुस्तक प्रकाशित करने का है। अतः इसका विवेचन यहाँ नहीं किया जाता।

३—जीवनचरित

(आधार-ग्रन्थ)

आचार्य शङ्कर का जीवनचरित लिखने की ओर विद्वानों की दृष्टि बहुत पहले ही आकृष्ट हुई। सुनते हैं कि पद्मपाद ने उनके दिग्विजय का वर्णन विस्तार के साथ अपने 'विजयडिण्डिम' ग्रन्थ में किया था,

परन्तु दैवविपाक से वह ग्रन्थ नष्ट हो गया। आजकल आचार्य के उपलब्ध जीवनचरित में (जिन्हें 'शङ्करविजय' के नाम से पुकारते हैं) कोई भी उनका समसामयिक नहीं है। सब ग्रन्थ पीछे की रचनाएँ हैं जिनमें सुनी सुनाई बातों का उल्लेख किया गया है। भिन्न भिन्न पीठों की अपनी महत्ता प्रदर्शित करने की लालसा अनेक दिग्विजयों की रचना के लिये उत्तरदायी है। शृङ्गेरी तथा कामकोटि पीठ का सङ्घर्ष नया नहीं प्रतीत होता है; इन शङ्करविजयों की छानबीन करने से अनेक ग्रन्थों में कामकोटि के प्रति कुछ पक्षपात सा दृष्टिगोचर होता है। जो कुछ भी हो, आचार्य के जीवन से सम्बद्ध अनेक ग्रन्थों की रचना समय समय पर होती आई है जिनमें दो-चार ही छपकर प्रकाशित हुए हैं। अन्य ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में ही हैं।

शङ्करविजय—डा० औफ्रेक्ट की सूची के अनुसार इन ग्रन्थों का नाम नीचे दिया जाता है—

(१) शङ्करविजय—रचयिता माधव (प्रकृत ग्रन्थ)
(२) ,, ,, आनन्दगिरि (मुद्रित, कलकत्ता)
(३) ,, ,, चिद्विलास (ग्रन्थाक्षर में मुद्रित)
(४) ,, ,, व्यासगिरि
(५) ,, ,, सदानन्द
(६) आचार्यचरित (केरलीय)
(७) शङ्कराभ्युदय—राजचूडामणि दीक्षित (श्रीवाणीविलास प्रेस, श्रीरङ्गम् में मुद्रित)
(८) शङ्करविजयविलास काव्य—शङ्करदेशिकेन्द्र
(९) शङ्करविजयकथा
(१०) शङ्कराचार्यचरित
(११) शङ्कराचार्यावतारकथा—आनन्दतीर्थ

(१२) शङ्करविलास चम्पू—जगन्नाथ

(१३) शङ्कराभ्युदय काव्य—रामकृष्ण

(१४) शङ्करदिग्विजयसार—व्रजराज

(१५) प्राचीनशङ्करविजय—मूकशङ्कर (कामकोटि के १८वें अध्यक्ष)

(१६) बृहत् शङ्करविजय—सर्वज्ञ चित्सुख

(१७) शङ्कराचार्योत्पत्ति

(१८) गुरुवंश काव्य लक्ष्मणाचार्य (मुद्रित. श्रीरङ्गम्)

इन ग्रन्थों में जो उपलब्ध हो सके, उनकी विशिष्ट बातें परिशिष्ट (क) में दी गई हैं। यह सूची अभी तक अधूरी ही है। अन्य भण्डारों की सूची देखने से भिन्न भिन्न नये ग्रन्थों का भी पता चल सकता है। अतः आचार्य की जीवनी लिखने के साधनों की कमी नहीं है, परन्तु दुःख है कि यह सामग्री अधिकतर अभी तक हस्तलिखित रूप में है। इसलिये उसका विशेष उपयोग नहीं हो सकता।

इन ग्रन्थों में से सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ माधवाचार्य-विरचित शङ्कर-दिग्विजय है जिसका सुबोध भावानुवाद यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का परिचय

यह ग्रन्थ नितान्त प्रख्यात तथा लोकप्रिय है। आचार्य की जीवन-घटनाओं को ठीक ठीक जानने के लिये हम इसी ग्रन्थरत्न के ऋणी हैं। इसके रचयिता माधवाचार्य का नाम वैदिक धर्म के संरक्षकों के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। इन्हीं की प्रेरणा से विधर्मी यवनों की शक्ति को दबाने के लिये तथा हिन्दुओं की शक्ति की प्रतिष्ठा के लिये महाराज हरिहर तथा महाराज बुक्क ने उस विशाल तथा विख्यात राज्य की स्थापना की जो 'विजयनगर साम्राज्य' के नाम से प्रसिद्ध है। वैदिक धर्म के उद्धार तथा मर्यादा के लिये इन्होंने स्वयं धर्मशास्त्र तथा मीमांसा के अनुपम ग्रन्थ लिखे जिनमें पराशर-माधव, कालमाधव तथा जैमिनिन्यायमालाविस्तर विशेष महत्त्वशाली हैं। आपके अनुज का नाम सायणाचार्य था। उन्हें

सहायता तथा स्फूर्ति देकर आपने वेदों के ऊपर भाष्य बनवाया। यदि ये भाष्य न होते तो वेद के अर्थ का समझना हमारे लिये कठिन कार्य हो गया होता। संन्यास ग्रहण करने पर आप शृंगेरी मठ की गद्दी पर 'विद्यारण्य' के नाम से आरूढ़ हुए और इस दशा में श्रीमान् ने वेदान्त के ऊँचे दर्जे के ग्रन्थों की रचना कर अद्वैतवाद का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया। वह पञ्चदशी जिसका अध्ययन कर हम वेदान्त के तत्त्वों को सरलता से सीख सकते हैं आप ही की अमर रचना है। इसके अतिरिक्त विवरणप्रमेय-संग्रह, बृहदारण्यभाष्यवार्तिक-सार आदि प्रौढ़ वेदान्त-ग्रन्थ आपकी कीर्ति-कौमुदी को इस जगतीतल पर सदा प्रकाशित करते रहेंगे।

इस शङ्करदिग्विजय पर आपकी विद्वत्ता की छाप पड़ी है। स्वामी विद्यारण्य ने बड़े ही सुन्दर शब्दों में आचार्य के व्यापक प्रभाव, अलौकिक पाण्डित्य और असामान्य विद्वत्ता का मनोहर चित्र खींचा है। ग्रन्थ-कार का पाण्डित्य बड़ी ही उच्च कोटि का है। इसकी दो टीकाएँ आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला में छपी हैं—पहली है धनपति सूरि की 'विजयडिण्डिम' टीका और दूसरी है अच्युतराय की 'अद्वैतराज्य-लक्ष्मी'। दोनों अच्छी हैं और इस अनुवाद में इनकी पर्याप्त सहा-यता ली है। अनुवाद में मैंने मूल संस्कृत के भावों का भली भाँति रक्षण करने का उद्योग किया है। केवल अक्षरानुवाद करने की ओर मेरा ध्यान नहीं रहा है। मुझे पूरा विश्वास है कि मूल के कठिन पद्यों का भाव, विशेषतः दार्शनिक शास्त्रार्थ के अवसर पर, भली भाँति सुरक्षित हो सका है।

४—जीवनवृत्त

जन्म तथा बाल्यकाल

भारतवर्ष के सुदूर दक्षिण में 'केरल' देश है। यह प्रदेश अपनी विचित्र सामाजिक व्यवस्था के लिये उतना ही प्रसिद्ध है जितना अपनी प्राकृतिक शोभा के लिये। प्रायः यह पूरा प्रान्त समुद्र के किनारे पर

बसा हुआ है। यहाँ की प्राकृतिक छटा इतनी मनोरम है कि उसे देखकर दर्शक का चित्त बरबस मुग्ध हो जाता है; मन में एक विचित्र शान्ति का उदय हो जाता है। इस देश में हरियाली इतनी अधिक है कि दर्शकों के नेत्रों के लिये अनुपम सुख का साधन उपस्थित हो जाता है। इस प्रान्त के 'कालटी' ग्राम में आचार्य शङ्कर का जन्म हुआ था। यह स्थान आज भी अपनी पवित्रता के लिये केरल ही में नहीं, प्रत्युत समग्र भारत में विख्यात है। कोचीन-शोरानूर रेलवे लाइन पर 'आलवाई' नामक एक छोटा स्टेशन है। वहीं से यह गाँव पाँच-छः मील की दूरी पर अवस्थित है। पास ही 'आलवाई' नदी बहती हुई इस गाँव की मनोरमता को और भी बढ़ाती है। यह गाँव आजकल कोचीन राज्य के अन्तर्गत है और राज्य की ओर से पाठशाला तथा अँगरेजी स्कूल की स्थापना छात्रों के विद्याभ्यास के लिये की गई है। शृङ्गेरी मठ की ओर से इस स्थान की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये अनेक उपाय किये गये हैं। आचार्य ने अपनी माता का दाह-संस्कार जिस स्थान पर किया था, वह स्थान आज भी दिखलाया जाता है। स्थान-स्थान पर शिवमन्दिर भी बनाये गये हैं। पास ही पर्वत की श्रेणियाँ हैं। 'कालटी' की प्राकृतिक स्थिति दर्शक के हृदय में सामञ्जस्य तथा शान्ति की उत्पत्ति करती है। आश्चर्य की यह बात नहीं कि इस स्थान के निवासी ने दुःख से सन्तप्त प्राणियों के सामने शान्ति तथा आत्यन्तिक सुख पाने का अनुपम उपदेश दिया था। शङ्कर के माता-पिता 'पन्नियूर' ग्राम के निवासी थे जिसका उल्लेख 'शशल' ग्राम के नाम से भी मिलता है। पीछे वे लोग कालटी में आकर बस गये थे।

जन्मस्थान

शङ्कर के जन्मस्थान के विषय में एक अन्य भी मत है। आनन्दगिरि के कथनानुसार इनका जन्म तामिल प्रान्त के सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र 'चिदम्बरम्' में हुआ था, परन्तु अनेक कारणों से हमें यह मत मान्य नहीं है। समग्र केरल प्रान्त की यह मान्यता है कि शङ्कर की माता 'पजुरपन्नै-

इल्लम्' नामक नम्बूदरी ब्राह्मण कुटुम्ब की थी और यह कुल सदा से 'त्रिचूर' के पास निवास कर रहा है। वह स्थान जहाँ शङ्कर ने अपनी माता का दाह-संस्कार किया था आज भी 'कालटी' के पास वर्तमान है। 'मणिमञ्जरी' माध्व मत के आचार्यों के जीवन-चरित के विषय में एक माननीय पुस्तक है। इसके भी रचयिता शङ्कर का जन्मस्थान कालटी में बतलाते हैं। मणिमञ्जरी के निर्माता के द्वैतवादी होने के कारण उनके ऊपर किसी प्रकार के पक्षपात का दोष आरोपित नहीं किया जा सकता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि बदरीनाथ-मन्दिर के प्रधान पुजारी नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते आये हैं ('रावल जी' नाम से इनकी विशेष ख्याति है)। वर्तमान मन्दिर की प्रतिष्ठा आचार्य शङ्कर ने की थी तथा इसकी पूजा वैदिक विधि से सम्पन्न करने के लिये उन्होंने अपने ही देश के वैदिक ब्राह्मण को इस पवित्र कार्य के लिये नियुक्त किया था। तब से लेकर आज तक इस मन्दिर के पुजारी केरलदेश के नम्बूदरी ब्राह्मण ही होते हैं। इन सब कारणों से यही प्रतीत होता है कि शङ्कर केरल देश के रहनेवाले थे तथा नम्बूदरी ब्राह्मण थे। इतने पोषक प्रमाण तथा शङ्कर-दिग्विजयों के निःसन्दिग्ध उल्लेखों के रहते कोई भी व्यक्ति 'कालटी' को छोड़कर 'चिदम्बरम्' को आचार्य के जन्मस्थान होने का गौरव प्रदान नहीं कर सकता।

माता-पिता

शङ्कर नम्बूदरी ब्राह्मण थे। ये लोग वेद के विशेष अध्ययन करने-वाले होते हैं और अपने दैनिक आचार में वैदिक कर्मकाण्ड को ओर विशेष आग्रह दिखलाते हैं। इनकी सामाजिक व्यवस्था भी अन्यदेशीय ब्राह्मणों की व्यवस्था से विशेषतः पृथक् दीख पड़ती है। ऐसे ही वेदाचार-सम्पन्न तपोनिष्ठ नम्बूदरी ब्राह्मण-कुल में शङ्कर का जन्म हुआ था। इनके पितामह का नाम था विद्याधिराज या विद्याधिप। पिता का नाम था 'शिवगुरु'। विद्याधिप ने अपने पुत्र शिवगुरु का विवाह वहीं के किसी 'मघपण्डित' की पुत्री के साथ कर दिया था जिसका नाम था सती (माधव) अथवा

विशिष्टा (आनन्दगिरि)। शिवगुरु एक अच्छे तपोनिष्ठ वैदिक थे। बड़े आनन्द से अपनी गृहस्थी चलाते थे। आधी उम्र इसी प्रकार बीत गई परन्तु पुत्र उत्पन्न न हुआ। उनके चित्त में पुत्र के मनोरम मुख देखने की और मनोहर तोतली बोली सुनने की लालसा लगी रही। अनेक ऋतुएँ आईं और चली गईं, परन्तु शिवगुरु के हृदय में पुत्र पाने की लालसा आई, पर गई नहीं। अन्ततोगत्वा द्विजदम्पती ने तपस्या को कल्याण का परम साधन मानकर उसी की साधना में चित्त लगाया।

आचार्य शङ्कर के जन्म के विषय में अनेक विचित्र बातें लिखी मिलती हैं। शङ्कर के माहात्म्य-प्रतिपादन करने की लालसा का इस विषय में जितना दोष है उतना ही दोष उनके गुणों की अवहेलना कर निर्मूल बातें गढ़ने की अभिलाषा का। आनन्दगिरि का कहना है कि शङ्कर का उदय चिदम्बरम् के क्षेत्र देवता भगवान् महादेव के परम अनुग्रह का सुखद परिणाम था। पुत्र न होने से जब शिवगुरु ने घर-गृहस्थी से नाता तोड़कर जङ्गल का रास्ता लिया, तब विशिष्टा देवी ने महादेव की आराधना को अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बनाया। वह रात-दिन शिव के अर्चा-पूजन में व्यस्त रहतीं। वहीं पर महादेव की महती कृपा से शङ्कर का शुभ जन्म हुआ। परन्तु इस विषय में द्वैतवादियों ने साम्प्रदायिकता के मोहजाल में पड़कर जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया है वह नितान्त हेय तथा जघन्य है। मणिमञ्जरी के अनुसार शङ्कर एक दरिद्र विधवा ब्राह्मणी के पुत्र थे!!! इसका पर्याप्त खण्डन शङ्कर के उत्तरकालीन चरित से ही हो जाता है। शङ्कर के हृदय में अपनी महनीया माता के लिये प्रगाढ़ ममता थी, विशुद्ध भक्ति थी—इतनी भक्ति कि उन्होंने संन्यासधर्म की अवहेलना करना स्वीकार किया, परन्तु अपनी माता के दाह संस्कार करने से विरत न हुए। यदि इस मणिमञ्जरी में उल्लिखित घटना में सत्य की एक कणिका भी होती, तो बहुत सम्भव था कि शङ्करदिग्विजय के रचयिता भक्त लेखक लोग इसे अलौकिकता के

रङ्ग में रँगकर छिपाने का उद्योग करते। अतः इस घटना की असत्यता स्पष्ट प्रतीत हो रही है।

कालटी के पास ही वृष नाम का पर्वत अपना सिर ऊपर उठाये खड़ा था। उस पर केरलाधिपति राजशेखर ने भगवान् चन्द्रमौलीश्वर महादेव का एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर तन्नामक शिवलिङ्ग की स्थापना की थी। शिवगुरु ने नदी में यथाविधि स्नान कर चन्द्रमौलीश्वर की एकाग्र मन से उपासना करना शुरू किया। भगवान् आशुतोष प्रसन्न हो गये और एक रात को उन्होंने भक्त के सामने ब्राह्मण के रूप में उपस्थित होकर पूछा—तुम क्या चाहते हो? भक्त का पुत्र के निमित्त लालायित हृदय बोल उठा—संसार की सारी सम्पत्ति मुझे न चाहिए; मुझे चाहिए केवल पुत्र। तब शङ्कर ने पूछा—सर्वगुणसम्पन्न सर्वज्ञ परन्तु अल्पायु एक पुत्र चाहते हो अथवा अल्पज्ञ, विपरीत आचरणवाले दीर्घायु अनेक पुत्र? शिवगुरु ने सर्वज्ञ पुत्र की कामना की। तदनुसार वैशाख की शुक्ल पञ्चमी तिथि को विशिष्टा के गर्भ से आचार्य शङ्कर का जन्म हुआ।

शैशव काल

शङ्कर एक प्रतिभासम्पन्न शिशु थे। शैशव काल से ही उनकी विलक्षण प्रतिभा का परिचय सब लोगों को होने लगा। तीन वर्ष के भीतर ही उन्होंने अपनी मातृभाषा मलयालम भली भाँति सीख ली। पिता की बड़ी अभिलाषा थी कि शङ्कर का शीघ्र उपनयन कर दिया जाय जिससे संस्कृत-भाषा के अध्ययन का शुभ अवसर उन्हें तुरन्त प्राप्त हो जाय, परन्तु दैव-दुर्विपाक से उनकी मृत्यु असमय में हो गई। तब इनकी माता ने अपने दिवंगत पति की इच्छा को कार्यरूप में परिणत करने का उद्योग किया। पाँचवें साल में शङ्कर का उपनयन विधिवत् किया गया तथा वेद-शास्त्र के अध्ययन के लिये वे गुरु के पास गये। अपनी अलौकिक प्रतिभा और सूक्ष्म अर्थ को ग्रहण करनेवाली बुद्धि से, गाढ़ अनुशीलन तथा विशुद्ध चरित्र से, उन्होंने अपने गुरु को चमत्कृत कर दिया। गुरुकुल में

रहते समय ही शङ्कर के कोमल हृदय का परिचय सब लोगों को मिल गया। एक दिन वे दरिद्र ब्राह्मणी विधवा के घर भिक्षा माँगने के लिये गये, परन्तु उसके पास अन्न का नितरां अभाव था। ब्रह्मचारी के हाथ में एक आँवले का फल रखकर ब्राह्मणी ने अपनी दरिद्रता की करुण कहानी कह सुनाई। इससे बालक शङ्कर का हृदय सहानुभूति से भर गया और उन्होंने भगवती लक्ष्मी की प्रशस्त स्तुति की जिससे वह घर सोने के आँवलों से दूसरे दिन भर गया। उस ब्राह्मणी का दुःख-दारिद्र्य तुरन्त दूर हो गया! दो साल के भीतर हीं सब शास्त्रों का अध्ययन कर बालक अपने घर लौट आया और घर पर ही विद्यार्थियों को पढ़ाना शुरू किया। शंकर की विद्वत्ता तथा अध्यापन-कुशलता की चर्चा केरल-नरेश राजशेखर के कानों तक पहुँची और इन्होंने शङ्कर को आदरपूर्वक अपने महल में बुलाने के लिये अपने मन्त्री को भेजा। परन्तु जिस व्यक्ति का हृदय त्याग तथा वैराग्य के रस में पगा हुआ है उसे भला राजसम्मान का क्षणिक सुख तनिक भी विचलित कर सकता है? अध्यापक शङ्कर ने मन्त्री महोदय के द्वारा दी गई सुवर्ण मुद्राओं को न तो स्पर्श किया और न राजमहल में जाने का निमन्त्रण ही स्वीकार किया। अन्ततोगत्वा गुणग्राही राजा दर्शन के लिये स्वयं कालटी में आये। वे स्वयं कवि तथा नाटककार थे। उन्होंने अपने तीनों नाटक शङ्कर को सुनाये तथा उनकी आलोचना सुनकर विशेष प्रसन्न हुए।

शङ्कर बड़े भारी मातृभक्त थे। माता के लिये भी यदि इस संसार में कोई स्नेह का आधार था तो वह थे स्वयं शङ्कर। एक दिन माता स्नान करने के लिये नदी तीर पर गई। नदी का घाट था घर से दूर। वार्धक्य के कारण दुर्बलता, दोपहर की कड़ी धूप। गर्मी के मारे बेचारी रास्ते में बेहोश होकर गिर पड़ी। शङ्कर उसे उठाकर घर लाये। उनका हृदय माता के इस क्लेश से विदीर्ण होने लगा और उन्होंने अपने कुलदेवता भगवान् श्रीकृष्ण से रात भर प्रार्थना की। प्रातःकाल लोगों ने

मातृभक्ति

आश्चर्य-भरे नेत्रों से देखा। नदी अपना किनारा काटकर कालटी के बिल्कुल पास चली आई थी। श्रीकृष्ण ने मातृभक्त बालक की प्रार्थना सुन ली। आलवाई नदी की धारा परिवर्तित हो गई। पुत्रवत्सला जननी ने अपने एकमात्र पुत्र की कुण्डली दधीचि, त्रितल आदि अनेक दैवज्ञों को दिखलाई और उसके कोमल हृदय को गहरी ठेस लगी जब उसने जाना कि उसका प्यारा शङ्कर नितान्त अल्पायु है और आठवें तथा सोलहवें वर्ष उसकी मृत्यु का विषम योग है। माता की बड़ी अभिलाषा थी पुत्र के विवाह कर देने की तथा पुत्रवधू के मुँह देखने की, परन्तु पुत्र की भावना बिल्कुल दूसरी ओर थी। माता उन्हें प्रवृत्ति-मार्ग में लाकर गृहस्थ बनाने के लिये व्यग्र थी, उधर शङ्कर निवृत्तिमार्ग का अवलम्बन कर संन्यास लेने की चिन्ता में थे। अल्पायु होने की दैवज्ञ-वाणी ने उनके चित्त को और भी प्रोत्साहन दिया। उन्होंने संन्यास लेने का दृढ़ सङ्कल्प किया।

संन्यास

शङ्कर ने संकल्प तो कर लिया, परन्तु माता के सामने तुरन्त प्रकट करने से कुछ विरत हुए। धीरे-धीरे माता से अपना प्रस्ताव कह सुनाया। उस विधवा वृद्धा के हृदय पर गहरी चोट पड़ी। एक तो तापस पति से अकाल में वियोग, दूसरे एकमात्र यशस्वी पुत्र के वियोग की आशङ्का! उसका हृदय टूक टूक हो गया और शङ्कर के हजार समझाने पर भी उसने इस प्रस्ताव पर अपनी सम्मति नहीं दी। परन्तु 'मेरे मन कुछ और है, कर्ता के कछु और'। एक विचित्र घटना ने शङ्कर के प्रस्ताव को सफल बना दिया। एक दिन माता-पुत्र दोनों स्नान करने के लिये आलवाई नदी में गये थे। माता स्नान कर घाट पर खड़ी कपड़े बदल रही थी, इतने में उसके पुत्र के करुण चीत्कार ने उसका ध्यान बलात् खींच लिया और उसने दृष्टि फेरकर देखा तो क्या देखती है कि उसके प्यारे शङ्कर को एक भीमकाय मकर पकड़े हुए है और उसे लील जाने के लिए तैयार है। असहाय बालक आत्म-रक्षा करने में तत्पर है, परन्तु कहाँ वह कोमल

छोटा वालक और कहाँ वह भयानक ख़ूँख़ार घड़ियाल ! शङ्कर के सब प्रयत्न विफल हुए। माता के सब उद्योग व्यर्थ सिद्ध हुए। बड़ा करुणाजनक दृश्य था। असहाय माता घाट पर खड़ी फूट फूटकर विलख रही थी और उधर उसका एकमात्र पुत्र अपनी प्राण-रक्षा के लिये भयङ्कर मकर के पास छटपटा रहा था। शङ्कर ने अपना अन्त-काल आया जानकर माता से संन्यास लेने की अनुमति माँगी—"मैं तो अब मर ही रहा हूँ। आप संन्यास ग्रहण करने की मुझे आज्ञा दीजिए जिससे संन्यासी बनकर मैं मोक्ष का अधिकारी बन सकूँ।" वृद्धा जननी ने पुत्र की बातें सुनीं और अगत्या संन्यास लेने की अनुमति दे दी। उधर आसपास के मछुए तथा मल्लाह दौड़कर आये। बड़ा हो-हल्ला मचाया। संयोगवश मकर ने शङ्कर को छोड़ दिया। बालक के जीवन का यह अष्टम वर्ष था। भगवत्कृपा से वह काल के कराल गाल से किसी प्रकार बच गया। माता के हर्ष की सीमा न थी। उस आनन्दातिरेक में उसे इस बात की सुध न रही कि उसका ब्रह्मचारी शङ्कर अब संन्यासी शङ्कर बनकर घर लौट रहा है।

शङ्कर ने उस समय आठवें वर्ष में ही आपत्-संन्यास अवश्य ले लिया था, उन्हें परन्तु विधिवत् संन्यास की इच्छा बलवती थी। अतः किसी योग्य गुरु की खोज में वे अपना घर छोड़कर बाहर जाने के लिये उद्यत हुए। उन्होंने अपनी सम्पत्ति अपने कुटुम्बियों में बाँट दी और माता के पालन-पोषण का भार उन्हें सुपुर्द कर दिया। परन्तु उस बिदा के समय स्नेहमयी माता अपने पुत्र को किसी प्रकार जाने देने के लिये तैयार न थी। अन्त में शङ्कर ने माता की इच्छा के अनुसार यह दृढ़ प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारे अन्तकाल में अवश्य उपस्थित हूँगा और अपने हाथों तुम्हारा दाह-संस्कार करूँगा। माता की इच्छा रखने के लिये पुत्र ने संन्यास धर्म की तनिक अवहेलना स्वीकार कर ली, परन्तु माता के चित्त में क्लेश नहीं पहुँचाया। शङ्कर के गृह-त्याग के समय कुलदेवता श्रीकृष्ण ने स्वप्न दिया कि तुम्हारे चले जाने पर

यह नदी हमारे मन्दिर को गिरा देगी। अतः मुझे किसी निरापद स्थान पर पहुँचा दो। तदनुसार शङ्कर ने भगवान् की मूर्ति को तीरस्थित मन्दिर से उठाकर एक ऊँचे टीले पर रख दिया और दूसरे ही दिन प्रस्थान किया।

गुरु की खोज में

शङ्कर ब्रह्मवेत्ता गुरु की खोज में उत्तर भारत की ओर चले। पातञ्जल महाभाष्य के अध्ययन के समय इन्होंने अपने विद्यागुरु के मुख से सुन रक्खा था कि योगसूत्र के प्रणेता महाभाष्यकार पतञ्जलि इस भूतल पर गोविन्द भगवत्पाद के नाम से अवतीर्ण हुए हैं* तथा नर्मदा के तीर पर किसी अज्ञात गुहा में अखण्ड समाधि में बैठे हुए हैं†। उन्होंने शुकदेव के शिष्य गौडपादाचार्य से अद्वैत वेदान्त का यथार्थ अनुशीलन किया है। इन्हीं गोविन्दाचार्य से वेदान्त की शिक्षा लेने के लिये शङ्कर ने दूसरे ही दिन प्रातःकाल प्रस्थान किया। कई दिनों के अनन्तर शङ्कर कदम्ब या वनवासी राज्य से होकर उत्तर की ओर बढ़ते जा रहे थे।

शृङ्गेरी की विचित्र घटना

एक दिन की बात है। दोपहर का प्रचण्ड सूर्य आकाश में चमक रहा था। भयङ्कर गर्मी के कारण जीव-जन्तु विह्वल हो उठे थे। शङ्कर भी एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर मार्ग की थकावट दूर कर रहे थे। सामने जल से भरा एक सुन्दर तालाब था। उसमें से निकलकर मेढ़क के छोटे-छोटे बच्चे धूप में खेलते थे पर गर्मी से व्याकुल होकर फिर पानी में डुबकी लगाते थे। एक बार जब वे खेलते-खेलते बेचैन हो गये, तब कहीं से आकर एक

---

* एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्या-
नन्वग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम् ॥

—शं० दि० ५। ९५

† गोविन्द के निवासस्थान में कुछ मतभेद है। माधव का कथन (५।९०) है कि गोविन्द का आश्रम नर्मदा नदी के तीर पर था (गोविन्दनाथवनमिन्दु-भवातटस्थम्)। चिद्विलास के अनुसार वह कहीं हिमालय पर्वत में स्थित था।

कृष्ण सर्प उनके सिर पर फण पसारकर धूप से उनकी रक्षा करने लगा। शङ्कर इस दृश्य को देखकर विस्मय से चकित हो गये। स्वाभाविक वैर का त्याग! जन्तु-जगत् की इस विचित्र घटना ने उनके चित्त पर विचित्र प्रभाव डाला। उनके हृदय में स्थान की पवित्रता जम गई। सामने एक पहाड़ का टीला दीख पड़ा जिस पर चढ़ने के लिये सीढ़ियाँ बनी थीं। उन्हीं सीढ़ियों से वे ऊपर चढ़ गये और ऊपर शिखर पर निर्जन कुटिया में बैठकर तपस्या करनेवाले एक तापस को देखा और उनसे इस विचित्र घटना का रहस्य पूछा। तपस्वीजी ने बतलाया कि यह श्रृङ्गी ऋषि का पावन आश्रम है। इसी कारण यहाँ नैसर्गिक शान्ति का अखण्ड राज्य है। जीव-जन्तु अपने स्वाभाविक वैर-भाव को भुलाकर यहाँ सुखपूर्वक विचरण करते हैं। इन वचनों का प्रभाव शङ्कर के ऊपर ख़ासा पड़ा और उन्होंने दृढ़ सङ्कल्प किया कि मैं अपना पहला मठ इसी पावन तीर्थ में बनाऊँगा। आगे चलकर शङ्कराचार्य ने इसी स्थान पर अपने सङ्कल्प को जीवित रूप दिया। श्रृंगेरी मठ की स्थापना का यही सूत्रपात है।

यहाँ से चलकर शङ्कर अनेक पर्वतों तथा नदियों को पार करते हुए नर्मदा के किनारे ॐकारनाथ के पास पहुँचे। यह वही स्थान था जहाँ पर गोविन्द मुनि किसी गुफा में अखण्ड समाधि की साधना कर रहे थे। समाधि भङ्ग होने के बाद शङ्कर की उनसे भेंट हुई। शङ्कर की इतनी छोटी उम्र में विलक्षण प्रतिभा देखकर गोविन्दाचार्य चमत्कृत हो उठे और उन्होंने अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्त को बड़ी सुगमता के साथ शङ्कर को बतलाया। शङ्कर यहाँ लगभग तीन वर्ष तक अद्वैत-तत्त्व की साधना में लगे रहे। उपनिषद् तथा ब्रह्मसूत्रों का विशेष रूप से अध्ययन किया। गोविन्दाचार्य ने अपने गुरु गौड़पादाचार्य से ब्रह्मसूत्र की जो साम्प्रदायिक अद्वैत-परक व्याख्या सुन रक्खी थी उसे ही उन्होंने अपने इस विचक्षण शिष्य को कह सुनाया। आचार्य अद्वैत-तत्त्व में पारङ्गत हो गये। एक दिन

गोविन्द मुनि

की बात है कि नर्मदा नदी में इतनी बाढ़ आई कि पानी बढ़ते-बढ़ते उस गुफा के पास पहुँच गया जिसके भीतर गोविन्दाचार्य समाधि में निमग्न थे। इस घटना से शिष्य-मण्डली में खलबली मच गई। शङ्कर ने बड़ी शान्ति के साथ गुफा के द्वार पर एक कलश को अभिमंत्रित कर रख दिया। अब तो नर्मदा का भयङ्कर जल-प्रवाह उसी कलश में घुसकर विलीन होने लगा। जब गुरुजी समाधि से उठे तब इस आश्चर्य-भरी घटना का हाल सुनकर वे चमत्कृत हुए और उन्होंने शङ्कर से काशी में जाकर विश्वनाथ के दर्शन करने को कहा। साथ ही साथ उन्होंने पुरानी कथा भी कह सुनाई जो उन्होंने हिमालय में देवयज्ञ में पधारनेवाले व्यासजी से सुन रक्खी थी। व्यासजी ने उस समय कहा था कि जो पुरुष एक घड़े के भीतर नदी की विशाल जल-राशि को भर देगा वही मेरे सूत्रों की यथावत् व्याख्या करने में समर्थ होगा। यह घटना तुम्हारे विषय में चरितार्थ हो रही है। गोविन्द ने प्रसन्नता-पूर्वक शङ्कर को बिदा किया।

शङ्कर घूमते-घामते विश्वनाथपुरी काशी में आये और मणिकर्णिका घाट पर रहकर अद्वैत-तत्त्व का उपदेश देने लगे। इस बालक संन्यासी

काशी में शङ्कर

की इतनी विलक्षण बुद्धि देखकर काशी की विद्वन्मण्डली आनन्द से गद्गद हो उठी। यहीं पर शङ्कर के पहले शिष्य हुए 'सनन्दन' जो चोल देश के रहनेवाले थे। एक बार यहाँ एक विचित्र घटना घटी। दोपहर का समय था। शङ्कर अपने विद्यार्थियों के साथ मध्याह्न-कृत्य के निमित्त गङ्गा-तट पर जा रहे थे। रास्ते में चार भयानक कुत्तों से घिरे हुए एक भयङ्कर चाण्डाल को देखा। वह रास्ता रोककर खड़ा था। शङ्कर ने उसे दूर हट जाने के लिये कई बार कहा। इस पर वह चाण्डाल बोल उठा कि आप संन्यासी हैं, विद्यार्थियों को अद्वैत तत्त्व की शिक्षा देते हैं परन्तु आपके ये वचन सूचित कर रहे हैं कि आपने उस तत्त्व को कुछ भी नहीं समझा है। जब इस जगत् का कोना-

कोना उसी सच्चिदानन्द परम ब्रह्म से व्याप्त हो रहा है तब कौन किसे छोड़कर कहाँ जाय ? आप पवित्र ब्राह्मण हैं और मैं श्वपच हूँ। यह भी आपका दुराग्रह है। इन वचनों को सुनकर आचार्य के अचरज का ठिकाना न रहा और उन्होंने अपने हृदय की भावना को स्पष्ट करते हुए कहा कि जो चैतन्य विष्णु, शिव आदि देवताओं में स्फुरित होता है वही कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जानवरों में भी स्फुरित हो रहा है। उसी चैतन्य को जो अपना स्वरूप समझता हो ऐसा दृढ़ बुद्धिवाला पुरुष चाण्डाल भले ही हो, वह मेरा गुरु है। इस भावना को सुनते ही वह चाण्डाल ग़ायब हो गया और शङ्कर ने आश्चर्यमय लोचनों से उसके स्थान पर भगवान् अष्टमूर्ति विश्वनाथ को देखा। शङ्कर ने उनकी स्तुति की। विश्वनाथ ने उन्हें ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य लिखने की आज्ञा दी।

शङ्कर ने व्यासाश्रम में जाकर भाष्य लिखने का विचार किया और अपनी शिष्य-मण्डली के साथ गङ्गा के तीर से होते वे ऋषीकेश पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने चीन देश के डाकुओं के भय से गङ्गा-प्रवाह में डाली गई भगवान् यज्ञेश्वर विष्णु की मूर्ति का उद्धार किया। जब वे बदरीनाथ पहुँचे तब उन्होंने भगवान् की मूर्ति को वहाँ न पाया। पता चला कि पुजारी लोगों ने चीनदेशीय दस्युओं के भय से मूर्ति को नारद-कुण्ड में डाल दिया था। आचार्य ने स्वयं कुण्ड में जाकर उस प्राचीन मूर्ति को निकाला और उस मन्दिर में प्रतिष्ठित किया। इतना ही नहीं, उस देश के ब्राह्मणों में वेद के ज्ञान का अभाव देखकर उन्होंने स्वजातीय नम्बूदरी ब्राह्मण को भगवान् की यथावत् पूजा-अर्चा के लिये नियत किया। आचार्य की यह परम्परा अब तक वहाँ जारी है।

बदरीनाथ के उत्तर में स्थित व्यासगुहा में शङ्कर ने चार वर्षों तक निवास किया और ब्रह्मसूत्र, गीता, उपनिषद् तथा सनत्सुजातीय पर अपना प्रामाणिक भाष्य प्रणयन किया। आचार्य ने शिष्यों को अपना भाष्य पढ़ाना आरम्भ किया। सनन्दन की बुद्धि विलक्षण थी। शङ्कर ने इन्हें अपना शारीरक

भाष्य-रचना

भाष्य तीन बार पढ़ाया। अन्य शिष्यों के हृदय में इस पक्षपात से कुछ ईर्ष्या भी उत्पन्न हुई। तब सनन्दन ने अपनी गाढ़ गुरु-भक्ति का परिचय देकर अपने सहाध्यायियों को चकित कर दिया। गुरु के करुण आह्वान पर अलकनन्दा पार करते समय सनन्दन के पैर रखने की जगह पर नदी में कमल उग आये थे जिन पर पैर रखकर शिष्य, गुरु की सेवा के निमित्त, आकर उपस्थित हो गया। इस घटना के कारण शङ्कर ने सनन्दन का नाम 'पद्मपाद' रख दिया और इसी सार्थक नाम से इनकी ख्याति हो गई। व्यासाश्रम से होकर शङ्कर केदारजी आये और तप्त-कुण्ड का अनुसन्धान कर अपने शिष्यों को भयानक सरदी से बचाया। गङ्गोत्री के दर्शन के लिये भी वे गये थे। उत्तरकाशी में रहते समय आचार्य कुछ उन्मनस्क से थे। उनका १६वाँ वर्ष बीत रहा था। ज्योतिषियों के फलानुसार उन्हें उस साल मृत्युयोग की आशङ्का थी। परन्तु एक विचित्र घटना ने इस मृत्युयोग को भी नष्ट कर दिया।

व्यासजी का आशीर्वाद

उत्तर-काशी में एक दिन एक वृद्ध ब्राह्मण आकर शङ्कर के साथ ब्रह्मसूत्र के एक सूत्र (३।३।१) पर शास्त्रार्थ करने लगा। शास्त्रार्थ लगातार सात दिनों तक होता रहा। ब्राह्मण इस सूत्र के विषय में जितना सन्देह करता, उस सब का उतना ही खण्डन आचार्य करते जाते। इस तुमुल शास्त्रार्थ को देखकर शिष्य-मण्डली चकित हो उठी। ब्राह्मण की विलक्षण प्रतिभा देखकर पद्मपाद के हृदय में संशय उत्पन्न हुआ कि यह विचक्षण सम्भवतः स्वयं महर्षि वेदव्यास ही हैं। संशय निश्चय के रूप में परिणत हो गया जब दूसरे दिन आचार्य की प्रार्थना पर वेदव्यास ने अपना भव्य रूप दिखलाया। वेदव्यासजी ने शांकर भाष्य को स्वयं देखा और अपने मनोगत अभिप्राय को ठीक ठीक व्याख्या करने के कारण आशीर्वाद दिया। शङ्कर को अन्य १६ वर्ष की आयु देकर चिन्तामुक्त किया और अद्वैत-तत्त्व के प्रचुर प्रचार के लिये कुमारिल, मण्डन आदि विद्वानों को जीतकर अपने मत में ले आने का उपदेश देकर वे सहसा अन्तर्धान हो गये।

आचार्य सम्भवतः यमुना के किनारे किनारे होकर प्रयाग पहुँचे। उस युग के वेदमार्ग के उद्धारक तथा प्रतिष्ठापक दो महापुरुषों का अलौकिक समागम त्रिवेणी के पवित्र तट पर सम्पन्न हुआ। कुमारिल के जीवन-चरित तथा कार्य से परिचय हुए बिना इन दोनों के सम्मेलन की महत्ता भली भाँति समझ में नहीं आ सकती। अतः भट्ट कुमारिल का परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

भट्ट कुमारिल

कुमारिल भट्ट किस देश के निवासी थे ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर अभी तक नहीं दिया गया है। तिब्बत के ख्यातनामा विद्वान् तारानाथ का कहना है कि ये बौद्ध पण्डित धर्मकीर्ति के पितृव्य थे और ये धर्मकीर्ति दक्षिणभारत के चूडामणि राज्य (? चोल देश) में उत्पन्न हुए थे। 'त्रिमलय' नामक स्थान इनका जन्मस्थान था। 'त्रिमलय' की वर्तमान स्थिति के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, परन्तु बहुत सम्भव है कि यह 'चूडामणि' राज्य का अपर नाम है जिसके धर्मकीर्त्ति के जन्मस्थान होने का उल्लेख तिब्बती ग्रन्थों में है। यदि कुमारिल सचमुच धर्मकीर्ति के पितृव्य होते, तो उन्हें दक्षिण भारत का निवासी मानने में हमें आपत्ति नहीं होती, परन्तु इस विषय में भारतीय परम्परा बिल्कुल मौन है। आनन्दगिरि ने अपने 'शङ्करविजय' (पृष्ठ १८०) में लिखा है कि भट्टाचार्य (कुमारिल) ने उत्तर देश (उदग्देश) से आकर दुष्टमतावलम्बी जैनों तथा बौद्धों को अच्छी तरह परास्त किया (भट्टाचार्याख्यो द्विजवरः कश्चित् उदग्देशात् समागत्य दुष्टमतावलम्बिनो बौद्धान् जैनानसंख्यातान्...निर्जित्य...निर्भयो वर्तते)। 'उदग्देश' से अभिप्राय कश्मीर तथा पञ्जाब से समझा जाता है। प्रान्तों के विषय में हम कुछ नहीं कह सकते, परन्तु इस उल्लेख से कुमारिल उत्तर भारत के ही निवासी प्रतीत होते हैं। इतना ही नहीं, मीमांसक-श्रेष्ठ शालिकनाथ

कुमारिल की जन्मभूमि

न इनका उल्लेख 'वार्तिककार मिश्र' के नाम से किया है। 'मिश्र' की उपाधि उत्तरी ब्राह्मणों के नाम के साथ ही सम्बद्ध दिखाई पड़ती है। शालिकनाथ कुमारिल के बाद तीसरी या चौथी शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। उनका प्रामाण्य इस विषय में विशेष महत्त्व रखता है। अतः प्रतीत होता है कि ये उत्तर भारत के ही निवासी थे। मिथिला की जन-श्रुति है कि कुमारिल मैथिल ब्राह्मण थे। हो सकता है, परन्तु हमारे पास इसके लिये प्रमाण नहीं है।

कुमारिल गृहस्थ थे—साधारण गृहस्थ नहीं, बल्कि धनधान्य से सम्पन्न गृहस्थ। तारानाथ ने लिखा है कि उनके पास अनेक धान के खेत थे, ५०० दास थे तथा ५०० दासियाँ। राजा ने बहुत सी सम्पत्ति दी थी। इनके जीवन की अन्य बातों का पता नहीं चलता, परन्तु धर्मकीर्ति के साथ इनके शास्त्रार्थ करने तथा पराजित होकर बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने की घटना का वर्णन तारानाथ ने विस्तार के साथ किया है। धर्मकीर्ति थे त्रिमलय के निवासी ब्राह्मण। इनके पिता का नाम 'कोरुनन्द' था। स्वभाव से ये उद्धत थे तथा वैदिक आचार के प्रति नितान्त श्रद्धाहीन थे। बौद्धों के उपदेशों को सुनकर उनके हृदय में बौद्धधर्म के प्रति श्रद्धा जाग उठी। घर छोड़कर मध्यदेश (मगध) में आये, तथा नालन्दा के पीठस्थविर (अध्यक्ष) धर्मपाल के पास रहकर समस्त बौद्ध आगमों का विधिवत् अध्ययन किया। ब्राह्मण-दर्शन के रहस्य जानने की इच्छा से इन्होंने नौकर का वेश धारण किया और कुमारिल के पास दक्षिण में जा पहुँचे। धर्मकीर्ति कुमारिल के घर पर नौकरी करने लगे और पचास नौकरों का काम स्वयं अकेले करने लगे। कुमारिल तथा उनकी स्त्री का हृदय इस नये सेवक की सेवा से प्रसन्न हो गया। उन्होंने उसे धर्म तथा दर्शन के उन रहस्यों को सुनने का अवसर दे दिया जिन्हें कुमारिल अपने शिष्यों को समझाया करते थे। धर्मकीर्ति ने जब वैदिक धर्म के रहस्यों में पूरी प्रवीणता प्राप्त कर ली तब, 'कणादगुप्त' नामक एक वैशेषिक आचार्य तथा अन्य ब्राह्मण दार्शनिकों

कुमारिल और धर्मकीर्ति

के साथ शास्त्रार्थ किया और उन्हें परास्त किया। अन्त में कुमारिल ने अपने पाँच सौ शिष्यों के साथ मिलकर धर्मकीर्ति से शास्त्रार्थ किया। परास्त हो जाने पर, पूर्व प्रतिज्ञा के अनुसार, उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया।*

बौद्धधर्म का ग्रहण

इस घटना की पुष्टि भारतीय ग्रन्थों से नहीं होती, परन्तु इतना तो अवश्य जान पड़ता है कि कुमारिल ने बौद्ध दर्शन का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने के लिये कुछ दिनों तक बौद्ध भिक्षु बनकर किसी बौद्धाचार्य के पास शिक्षा ग्रहण की थी। आचार्य शङ्कर से अपनी आत्मकथा कहते समय कुमारिल ने स्वयं कहा था कि किसी भी शास्त्र का खण्डन तब तक नहीं हो सकता, जब तक उसके रहस्यों का गाढ परिचय नहीं होता। मुझे बौद्धधर्म की धज्जियाँ उड़ानी थीं, अतः मैंने बौद्धधर्म के खण्डन करने से पूर्व उसके गाढ अनुशीलन करने का उद्योग किया। माधवकृत शंकरदिग्विजय (सर्ग ७, श्लोक ९३) का कथन इस विषय में नितान्त स्पष्ट है—

अवादिषं वेदविघातदक्षैस्तान्नाशकं जेतुमबुध्यमानः।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः॥

कुमारिल ने बौद्धधर्म का अध्ययन किस बौद्धाचार्य के पास किया? यह कहना कठिन है। माधव ने सर्ग ७ श्लोक ९४ में बौद्धाचार्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु उस समय धर्मपाल (६०० ई०—६३५ ई०) की कीर्ति चारों ओर फैली थी। वे बौद्ध दर्शन के प्रधान पीठ नालन्दा विहार के अध्यक्ष थे। वे थे तो विज्ञानवादी परन्तु योगाचार और

---

* इस जनश्रुति का उल्लेख केवल तारानाथ ने ही अपने 'चोस-व्युङ्' नामक ग्रन्थ में नहीं किया है, बल्कि इसका पुनरुल्लेख अन्य तिब्बती ग्रन्थ में भी मिलता है। द्रष्टव्य डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण—हिस्ट्री आफ़ इंडियन लाजिक पृष्ठ ३०५.

शून्यवाद दोनों मतों के विख्यात सिद्धान्त-ग्रन्थों पर उन्होंने टीकाएँ लिखीं। 'विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि-व्याख्या' वसुबन्धु के विख्यात योगाचार-ग्रन्थ की व्याख्या है तथा 'शतशास्त्र-वैपुल्य भाष्य' आर्यदेव के प्रसिद्ध शून्यवादी ग्रन्थ का पाण्डित्यपूर्ण भाष्य है। यह अनुमान निराधार नहीं माना जा सकता कि कुमारिल भट्ट ने इन्हीं आचार्य धर्मपाल से बौद्ध दर्शन का अध्ययन किया।

एक दिन की बात है। धर्मपाल नालन्दा विहार के विशाल प्राङ्गण में बैठकर अपने शिष्यों के सामने बौद्ध धर्म को व्याख्या अभिनिवेश-पूर्वक कर रहे थे। प्रसङ्गतः उन्होंने वेदों की बड़ी निन्दा की। इस निन्दा को श्रवण कर कुमारिल की आँखों से आँसुओं की धारा लगातार बहने लगी—इतनी अधिक कि उनके उत्तरीय वस्त्र का अञ्चल जल से भींग गया। पास बैठनेवाले एक भिक्षु ने इस बात को देखा और धर्मपाल का ध्यान इधर आकृष्ट किया। धर्मपाल इस घटना को देखकर अवाक् रह गये। बौद्ध भिक्षु के नेत्रों से वेद-निन्दा सुनकर आँसुओं की झड़ी !!! आश्चर्य-भरे शब्दों में उन्होंने पूछा कि तुम्हारे नेत्रों से जल बहने का कारण क्या है? क्या मैंने वेदों की जो निन्दा की है वही तो हेतु नहीं है? कुमारिल ने कहा कि मेरे रोने का कारण यही है कि आप बिना वेदों के गूढ़ रहस्य को जाने उनका मनमाना खण्डन कर रहे हैं। इस घटना ने कुमारिल की वेद-श्रद्धा को सबके सामने अभिव्यक्त कर दिया। इस उत्तर से धर्मपाल नितान्त रुष्ट हुए और अहिंसावादी गुरु ने अपने शिष्यों से कहा—'इसे ऊपर ले जाओ और शिखर से नीचे ढकेल दो। देखें यह अपनी रक्षा कैसे करता है'। शिष्यों के लिये यह विपुल मनोरञ्जन का साधन था। वे उसे उठाकर विहार के ऊँचे शिखर पर ले गये और वहाँ से तुरन्त ढकेल दिया। आस्तिक कुमारिल ने अपने को नितान्त असहाय पाकर वेदों की शरण ली और गिरते समय ऊँचे स्वर से घोषित किया कि यदि वेद प्रमाण हैं, तो मेरे शरीर का बाल भी बाँका न होगा :—

पतन् पतन् सौधतलान्यरोहं यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति ।
जीवेयमस्मिन् पतितोऽसमस्थले मज्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः ॥

—शं० दि० ७।९८

उपस्थित जनता ने आश्चर्य से देखा। कुमारिल बाल बाल बच गये। वेद भगवान् ने उनकी रक्षा कर दी। केवल वेद की प्रामाणिकता में 'यदि' पद के द्वारा सन्देह प्रकट करने के कारण उनकी एक आँख फूट गई। इस बार कुमारिल ने वेद-प्रामाण्य के विषय में धर्मपाल को ललकारा। तुमुल वाग्युद्ध छिड़ गया। बौद्ध आचार्य परास्त हो गये और कहा जाता है कि पूर्वप्रतिज्ञानुसार उन्होंने अपने शरीर को तुषानल (भूसी की आग) में जला डाला। वैदिक धर्म के आगे बौद्ध धर्म ने पराजय स्वीकार कर लिया। वैदिक दर्शन ने बौद्ध दर्शन को परास्त कर दिया। कुमारिल की विजय-वैजयन्ती सर्वत्र फहराने लगी*।

कुमारिल और राजा सुधन्वा

राजा सुधन्वा उस समय के एक न्यायपरायण राजा थे। वे कर्नाटक देश के उज्जैनी नगर में राज्य कर रहे थे। वे थे वैदिक मार्ग के नितान्त श्रद्धालु, परन्तु जैनियों के पञ्जे में पड़कर वे जैन धर्म में आस्था करने लगे। दिग्विजय करते हुए कुमारिल कर्नाटक देश में आये और राजा सुधन्वा के दरबार में गये। राजा को वेदमार्ग के उत्थान के लिये चिन्तित देखकर उन्होंने बड़े गर्व के साथ कहा कि राजन्, आप धर्म के

---

* इस घटना के लिये हमारे पास प्रमाण है शङ्करदिग्विजय; विशेषतः माधव के शङ्करदिग्विजय का सप्तम सर्ग तथा मणिमञ्जरी (५ सर्ग, ३७-४१ श्लोक)। बौद्धग्रन्थों से भी इसकी पर्याप्त पुष्टि होती है। अतः कुमारिल के बौद्ध भिक्षु बनकर बौद्धधर्म सीखने की बात को हम यथार्थ तथा प्रामाणिक मान सकते हैं।

पुनरुत्थान के विषय में तनिक भी चिन्ता न करें। मेरा नाम कुमारिल भट्टाचार्य है। मैं आपके सामने दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूँ कि बौद्धों को पराजित कर मैं वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करूँगा।

राजा सुधन्वा था तो स्वयं परम आस्तिक, परन्तु उसके दरबार में था नास्तिक जैनियों का प्रभुत्व। उन्हीं को लक्ष्य कर कुमारिल ने कहा—

मलिनैश्चेन्न संगस्ते नीचैः काककुलैः पिक।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः॥

—शङ्करदिग्विजय १।६५

हे कोकिल! यदि मलिन, काले, नीच, श्रुति (वेद तथा कान) को दूषित शब्द करनेवाले कौवों से तुम्हारा संसर्ग नहीं होता तो तुम सचमुच श्लाघनीय होते। जैनियों ने इस बात से बड़ा बुरा माना। राजा भी दोनों की परीक्षा लेने का अवसर ढूँढ़ रहा था। राजा ने एक बार एक घड़े में एक विषैले साँप को बन्द कर जैनियों और ब्राह्मणों से इसके विषय में पूछा। दूसरे दिन का वादा कर जैन लोग घर लौट गये। परन्तु कुमारिल ने उसका उत्तर उसी समय लिखकर रख दिया। रात भर जैनियों ने अपने तीर्थंकरों की आराधना की; प्रातःकाल होते ही उन्होंने राजा से कह सुनाया कि घड़े के भीतर सर्प है। कुमारिल का पत्र खोला गया। दैवी प्रतिभा के बल पर लिखे गये पत्र में वही उत्तर विद्यमान था। समान उत्तर होने पर राजा ने पूछा कि सर्प के किसी विशिष्ट अंग में कोई चिह्न है क्या? जैनी लोगों ने समय के लिये प्रार्थना की परन्तु कुमारिल ने तुरन्त उत्तर दिया कि सर्प के सिर पर दो पैर के चिह्न बने हुए हैं। घड़ा खोला गया। कुमारिल का कथन अक्षरशः सत्य निकला। राजा ने वेदवाह्य जैनियों को निकाल बाहर किया और वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा की। अब कुमारिल का सामना करने की किसी को हिम्मत न हुई।

भट्ट कुमारिल ने शबर स्वामी के मीमांसा भाष्य पर सुप्रसिद्ध टीका लिखी है जो वार्तिक के नाम से विख्यात है। यह टीका तीन भागों में विभक्त है—(१) श्लोकवार्तिक—३०९९ अनुष्टुप् छन्दों का यह विशालकाय ग्रन्थ प्रथम अध्याय के प्रथम पाद (तर्कपाद) की व्याख्या है। (२) तन्त्र-वार्तिक—प्रथम अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तृतीय अध्याय के अन्त तक की गद्य में व्याख्या है। ये दोनों ग्रन्थ कुमारिल के व्यापक पाण्डित्य तथा असाधारण तर्क-कुशलता को प्रकट करने में पर्याप्त हैं। (३) तीसरा ग्रन्थ बहुत छोटा है। इसका नाम है टुप् टीका जिसमें चौथे अध्याय से लेकर १२वें अध्याय तक के शाबर भाष्य पर संक्षिप्त गद्यात्मक टिप्पणियाँ हैं। कृष्णदेव ने तन्त्रचूड़ामणि में कुमारिल की अन्य दो टीकाओं का उल्लेख किया है। एक का नाम था बृहट् टीका और दूसरी का नाम था 'मध्यम टीका'। तन्त्र-वार्तिक (या तन्त्रटीका) बृहट् टीका का संक्षेप माना जाता है। इन ग्रन्थों के सिवा "मानव कल्प-सूत्र" के ऊपर कुमारिल की लिखी हुई एक टीका भी उपलब्ध है जिसके कुछ अंश को १८६७ में डाक्टर गोल्डस्टूकर ने लण्डन से छपवाया था। शिव-महिम्न की रचना एक टीकाकार के अनुसार कुमारिल के द्वारा की गई थी। परन्तु इसमें कुछ सार नहीं मालूम पड़ता। सोमदेव के 'यशस्तिलक' चम्पू (९५९ ई०) में 'ग्रहिल' इस स्तोत्र के कर्ता माने गये हैं।

कुमारिल के ग्रन्थ

कुमारिल का ज्ञान शास्त्रों के साथ साथ भिन्न भिन्न भाषाओं के विषय में भी असामान्य प्रतीत हो रहा है। तन्त्रवार्तिक में भाषाओं के दो भेद किये हैं—(१) आर्यों की भाषा, (२) म्लेच्छों की भाषा। आर्यों का निवास-स्थान आर्यावर्त माना गया है। इस देश की भाषा आर्य थी और जो लोग आर्यावर्त के बाहर प्रदेशों में रहते थे वे म्लेच्छ माने गये हैं। उनकी भाषा म्लेच्छ मानी गई है। कुमारिल द्राविड़ी भाषा (तामिल) से परिचित जान

कुमारिल का भाषाज्ञान

पड़ते हैं। उन्होंने पाँच शब्दों को तन्त्र-वार्तिक में उद्धृत* किया है जो तामिल भाषा से सम्बद्ध हैं। चोर्=भात (तामिल चोरु), नडेर्=रास्ता (ता० नड़), पाम्प्=साँप (ता० पाम्पू), आल=मनुष्य (ता० आड़), वैर=पेट (ता० वायिरु)। इसके अनन्तर कुमारिल ने पारसी, बर्बर, यवन, रोमक भाषाओं का नाम उल्लिखित किया है—तद् यथा द्राविडादिभाषायामीदृशी स्वच्छन्दकल्पना, तदा पारसी-बर्बर-यवन-रौमकादिभाषासु किं विकल्प्य किं प्रतिपत्स्यन्ते इति न विद्मः। इन नामों में पारस से अभिप्राय फ़ारसी से तथा यवन भाषा से ग्रीकभाषा से है। रौमकभाषा=रोम की भाषा के विषय में निश्चय नहीं किया जा सकता। साधारणतया यह रोम की भाषा अर्थात् लैटिन को सूचित करता है, परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में 'रोम' शब्द से अभिप्राय इटली देश की राजधानी रोम का न होकर तुर्कों की राजधानी कुस्तुन-तुनियाँ से है। बोलचाल की हिन्दी में भी तुर्कों का देश 'रूम' के नाम से ही विख्यात है। बर्बर भाषा कौन सी है? सम्भवत: जङ्गल में रहनेवाले असभ्य लोगों की भाषा होगी। कुमारिल का परिचय लाटभाषा (गुजराती) से भी था। एक स्थान पर उन्होंने स्पष्ट रूप से लिखा है कि लाटभाषा को छोड़कर अन्य किसी भाषा में 'द्वार' को 'वार' नहीं बदलते (नहि द्वारशब्दस्य स्थाने लाटभाषातोऽन्यत्र 'वार' शब्दो दृश्यते)। जान पड़ता है, कुमारिल वैयाकरणों के द्वारा व्याकृत किसी प्राकृत भाषा का निर्देश नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत लाट देश (गुजरात) की किसी स्थानीय भाषा का उल्लेख उन्हें अभीष्ट सा प्रतीत होता है। प्राकृत तथा पाली से भी वे भली भाँति परिचित हैं।

---

* द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक १।३।१० तद् यथा द्राविडादिभाषायामेव तावद् व्यञ्जनान्तभाषापदेषु स्वरान्तविभक्ति-स्त्रीप्रत्ययादि-कल्पनाभिः स्वभाषानुरूपान् अर्थान् प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते।

कुमारिल के शास्त्रज्ञान की चर्चा करना अनावश्यक है। इतने व्यापक पाण्डित्य, विविध दर्शनों के सिद्धान्तों के गाढ़ अध्ययन का अन्यत्र मिलना दुर्लभ दीख रहा है। उनका 'तन्त्रवार्तिक' वैदिक धर्म तथा दर्शन के लिये एक प्रामाणिक विश्वकोष है। वैदिक आचार के तत्त्वों का प्रतिपादन शास्त्र तथा युक्ति के सहारे इतनी सुन्दरता के साथ किया गया है, कि उनकी अलौकिक वैदुषी को देखकर चकित होना पड़ता है। परन्तु सबसे विलक्षण तथा विचित्र बात है बौद्धदर्शन का गहरा अनुशीलन। आचार्य शंकर का बौद्धशास्त्र-विषयक ज्ञान कम नहीं था, परन्तु कुमारिल के साथ तुलना करने पर यही प्रतीत होता है कि कुमारिल का बौद्ध दर्शन का ज्ञान अधिक परिनिष्ठित, व्यापक तथा त्रुटिहीन था। यह भी इस बात का सबल प्रमाण है कि कुमारिल ने बौद्धधर्म का ज्ञान साक्षात् बौद्धाचार्यों से प्राप्त किया था, ग्रन्थों के अध्ययन से ही नहीं। ऊपर सप्रमाण दिखलाया गया है कि कुमारिल बौद्ध भिक्षु बनकर उस दर्शन के प्रचुर ज्ञान सम्पादन करने में समर्थ हुए थे। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्होंने मूल बौद्धधर्म की जानकारी के लिये पाली का अभ्यास किया था। अष्टम शताब्दी में पाली पठन-पाठन की भाषा न थी, उसकी परम्परा नष्ट हो चुकी थी। फिर भी उसी युग में कुमारिल ने उसका अध्ययन कर मूल पाली त्रिपिटकों का परिचय प्राप्त किया था। 'तन्त्रवार्तिक' में उन्होंने बौद्धों के एक विख्यात सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि 'संस्कृतधर्म—उत्पन्न पदार्थ—कारण से उत्पन्न होते हैं, परन्तु उनका विनाश बिना किसी कारण के ही सम्पन्न है (अणुभवे कारणं इमे संकडाधम्मा सम्भवन्ति सकारणा, अकारणा विणसन्ति अणुप्पति कारणम्)। यह कुमारिल के लिये बड़े गौरव की बात है कि उन्होंने अवैदिक धर्म का मूल पकड़कर उसका पर्याप्त खण्डन किया था। इसी लिये तो उनका काम इतना पुष्ट हुआ कि उनके तथा आचार्य शङ्कर के

कुमारिल का दार्शनिक पाण्डित्य

खण्डनों के अनन्तर बौद्ध धर्म अपना सिर उठाने में समर्थ नहीं हुआ, पूर्वी प्रान्तों के कोने में किसी प्रकार सिसकता हुआ अपने दिन गिनने लगा और अन्त में उसे भारत की पुण्यभूमि छोड़ देने पर ही चैन मिला। वैदिक धर्म के इस पुनरुत्थान तथा पुनःप्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल तथा आचार्य शङ्कर के ऋणी हैं। वह ऋण दुर्बल शब्दों के द्वारा चुकाया नहीं जा सकता। ऐसी दशा में यदि हम कुमारिल को स्वामी कार्तिकेय (कुमार) का अवतार मानें, तो आश्चर्य की बात नहीं है।

कुमारिल और शङ्कर

भट्ट कुमारिल का संक्षेप में यही जीवनचरित्र है। ऐसे विशिष्ट पुरुष की सहायता लेने के लिये आचार्य शङ्कर बड़े उत्सुक थे। ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य की रचना वे कर चुके थे। उनकी बड़ी इच्छा थी कि कोई विशिष्ट विद्वान् इस भाष्य के ऊपर विस्तृत वार्तिक बनाता। कुमारिल वार्तिक लिखने की कला में सिद्धहस्त थे। शाबरभाष्य पर विस्तृत वार्तिक लिखकर उन्होंने अपनी विद्वत्ता की धाक पण्डित-समाज के ऊपर जमा दी थी। आचार्य शङ्कर इसी उद्देश की पूर्ति के लिये अपनी शिष्य-मण्डली के साथ उत्तरकाशी से प्रयाग की ओर रवाना हुए। संभवतः यमुना के किनारे का रास्ता उन्होंने पकड़ा था। शिष्य-मण्डली के साथ वे त्रिवेणी के तट पर पहुँचे। उन्हें जानकर अत्यन्त खेद हुआ कि भट्ट कुमारिल त्रिवेणी के तट पर तुषानल में अपने शरीर को जला रहे हैं। इतने बड़े मीमांसक को इस प्रकार शरीर-पात करते देख आचार्य को विशेष आश्चर्य हुआ। वे तुरन्त मिलने के लिये गये। कुमारिल का निचला अंग आग में जल गया था परन्तु मुख के ऊपर वही एक विलक्षण शान्ति विराजमान थी। उनका चेहरा ब्रह्म-तेज से चमक रहा था। वैदिक धर्म के दो बड़े उद्धारकों का त्रिवेणी की पवित्र

तटी पर यह अपूर्व सम्मेलन हुआ। कुमारिल ने शङ्कर की कीर्ति पहले ही सुन रक्खी थी। शाङ्कर भाष्य के ऊपर वार्तिक रचने की उनकी बड़ी अभिलाषा थी। परन्तु वे अपने अङ्गीकृत व्रत को टाल न सके। आचार्य ने इसका कारण पूछा। कुमारिल ने उत्तर में कहा कि मैंने दो बड़े भारी पातक किये हैं। पहला पातक है अपने बौद्ध गुरु का तिरस्कार और दूसरा पातक है जगत् के कर्ता ईश्वर का खण्डन। जिससे मुझे बौद्धागमों के रहस्यों का पता चला उसी गुरु का मैंने, वैदिक धर्म के उत्थान के लिये, भरी सभा में पण्डितों के सामने परास्त कर तिरस्कार किया। लोगों की यह ग़लत धारणा है कि मीमांसा ईश्वर का तिरस्कार करती है। कर्म की प्रधानता दिखलाना मीमांसा को अभीष्ट है। इसी पवित्र उद्देश के लिये जगत् के कर्तारूपी ईश्वर का खण्डन मैंने अवश्य किया है। मेरे पहले भर्तृमित्र नामक मीमांसक* ने विचित्र व्याख्या कर मीमांसाशास्त्र को चार्वाक मत के समान नास्तिक बनाने का उद्योग अवश्य किया था, परन्तु मैंने ही अपने श्लोकवार्तिक और तन्त्र-वार्तिक के द्वारा मीमांसा को आस्तिक मार्ग में ले जाने का उद्योग किया (श्लोकवार्तिक १।१०)। अतः कर्म की प्रधानता सिद्ध करने के लिये कर्ता-रूपी ईश्वर के खण्डन करने का मैं अपराधी अवश्य हूँ। इन्हीं दोनों अपराधों से मुक्ति पाने के लिये मैं यह प्रायश्चित्त-विधान कर रहा हूँ। इस पर शङ्कर ने उन्हें बहुत कुछ कहा। अभिमन्त्रित जल छिड़ककर उन्हें नीरोग कर देने की बात सुनाई, परन्तु कुमारिल ने लोक-शिक्षा के

---

* इनके नाम का उल्लेख श्लोकवार्तिक की टीका में पार्थसारथि मिश्र ने किया है —

प्रायेणैव हि मीमांसा लोके लोकायतीकृता।
तामास्तिकपथे नेतुमयं यत्नः कृतो मया॥ १०॥

मीमांसा हि भर्तृमित्रादिभिरलोकायतैव सती लोकायतीकृता, नित्यनिषिद्धयोरिष्टानिष्टं फलं नास्तीत्यादि बह्वपसिद्धान्तपरिग्रहेणेति।

निमित्त इस प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं किया। आचार्य को अपने शिष्य मण्डन मिश्र को परास्त कर अपना प्रधान सहायक बनाने की सलाह देकर उन्होंने तुषानल में अपने को भस्म कर डाला। इस प्रकार कुमारिल और शङ्कर की बातचीत कुछ ही देर तक होती रही। यदि शङ्कर को कुमारिल का पर्याप्त सक्रिय सहयोग प्राप्त होता तो हम कह नहीं सकते कि आचार्य को अपने सिद्धान्तों के तुरन्त प्रचार करने में कितनी सफलता प्राप्त होती।

मण्डन मिश्र

कुमारिल के आदेशानुसार शङ्कर मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ कर उन्हें अद्वैतवाद के प्रचार में सहायक बनाने के लिये 'माहिष्मती' नगरी में पहुँचे। यह नगरी आजकल इन्दौर रियासत में नर्मदा के किनारे 'मान्धाता' के नाम से प्रसिद्ध है। माहिष्मती नाम की एक छोटी नदी नर्मदा से जिस स्थान पर मिलती थी उसी पवित्र सङ्गम पर ही मण्डन मिश्र का विशाल प्रासाद था। मण्डन मिश्र कुमारिलभट्ट के पट्टशिष्य थे और गुरु के समान ये भी कर्ममीमांसा के एक प्रकाण्ड आचार्य थे। इनके मीमांसाशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं—(१) विधिविवेक (विध्यर्थ का विचार), (२) भावना-विवेक (आर्थी भावना की मीमांसा), (३) विभ्रमविवेक (पाँचों सुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या), (४) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (मीमांसा-सूत्रों का श्लोकबद्ध संक्षेप)। इन्होंने (५) 'स्फोटसिद्धि' नामक ग्रन्थ लिखा है जिसमें भर्तृहरि सम्मत शब्दाद्वयवाद का वर्णन है। ये बड़ी उच्चकोटि के वेदान्ती भी थे। इनकी (६) "ब्रह्मसिद्धि" इस बात का सबसे प्रबल प्रामाण्य है। इनकी स्त्री बड़ी भारी विदुषी थीं। उनका नाम 'अम्बा' या 'उम्बा' था। शोण-तट के निवासी विष्णुमित्र नामक ब्राह्मण की वे कन्या थीं। परन्तु उनकी विद्वत्ता इतनी चढ़ी बढ़ी थी तथा दर्शन शास्त्र में उनका पाण्डित्य इतना प्रखर था कि लोक समाज में वे भारती, उभयभारती, शारदा के नामों से प्रसिद्ध थीं। मण्डन मिश्र ब्रह्मा के अवतार माने जाते थे तथा उनकी पत्नी सरस्वती का अवतार मानी-जाती थी। मण्डन का व्यक्तिगत नाम

'विश्वरूप' भी था। पण्डित-मण्डली के मण्डन-स्वरूप होने के कारण ये सम्भवतः मण्डन नाम से प्रसिद्ध थे। माधव ने इनके पिता का नाम 'हिममित्र' लिखा है (३ । ५७) तथा आनन्दगिरि ने इन्हें कुमारिलभट्ट का बहनोई लिखा है। परन्तु पता नहीं कि ये बातें कितनी सत्य हैं। प्रवाद है कि ये मिथिला के रहनेवाले थे और दरभंगे के पास किसी गाँव में वह स्थान भी बताया जाता है जहाँ उनकी पत्नी भारती के साथ शङ्कराचार्य का शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ था।

जिस समय शङ्कर अपने शिष्यों के साथ माहिष्मती पहुँचे, दोपहर का समय था। नर्मदा के तीर पर एक रमणीय शिवालय में उन्होंने अपने शिष्यों को विश्राम करने की अनुमति दी और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिये मण्डन से मिलने के लिये स्वयं चल पड़े। रास्ते में उन्होंने माथे पर कलशी रखकर पनघट की ओर आनेवाली दासियों को देखा। शङ्कर ने उन्हीं से मण्डन के घर का पता पूछा। वे अनायास झट बोल उठीं—आप आगन्तुक-से प्रतीत हो रहे हैं, अन्यथा कौन व्यक्ति होगा जो पण्डित-समाज के मण्डनभूत मण्डन मिश्र को न जानता हो। 'जिस दरवाजे पर पिंजड़ों में बैठी हुई मैनाएँ आपस में विचार करती हैं कि जगत् ध्रुव है या अध्रुव है, श्रुति प्रमाणभूत हैं या नहीं, वेद का तात्पर्य सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन में है या साध्य वस्तु के', उसे ही आप मण्डन मिश्र का घर जान लीजिए—

> स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
> द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन् मण्डनपण्डितौकः॥
> जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति।
> द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः॥
>
> शङ्करदिग्विजय ८।६, ८।

आचार्य इस वर्णन से चमत्कृत हो उठे। वे मण्डन के घर पर पहुँचे तो दरवाजा एकदम बन्द! द्वारपालों ने कहा कि अन्दर जाने की अनुमति नहीं है, क्योंकि आज हमारे स्वामी अपने पिता का श्राद्ध कर रहे हैं।

तब शङ्कर आकाश-मार्ग से आँगन में जा पहुँचे। मण्डन ने महर्षि जैमिनि और व्यास को भी निमन्त्रण देकर बुलाया था। बिना अनुमति के एक संन्यासी को श्राद्ध-काल में आया हुआ देखकर मण्डन नितान्त अप्रसन्न हुए और कुछ कुवचन भी बोले। जब शङ्कर ने अपना उद्देश्य कह सुनाया तब वे प्रसन्न होकर शास्त्रार्थ करने के लिये उद्यत हो गये। व्यासजी की अनुमति से मण्डन की विदुषी पत्नी श्री शारदा देवी ने इस शास्त्रार्थ का मध्यस्थ होना स्वीकार किया। दोनों ने अपनी प्रतिज्ञा कह सुनाई। बड़ा तुमुल शास्त्रार्थ छिड़ गया। एक थे मीमांसा के मूर्धन्य पण्डित और दूसरे थे अद्वैतमत के पारगामी, अलौकिक शेमुषी-सम्पन्न विद्वान्। शारदा को घर का कामधाम भी तो करना था; अपने पति के लिये भोजन तथा संन्यासी के लिये भिक्षा तैयार करनी थी। उन्होंने दोनों पण्डितों के गले में पुष्पमाला पहना दी और कह दिया कि जिसके गले की माला फीकी पड़ जायगी, वही शास्त्रार्थ में परास्त समझा जायगा*। अनेक दिनों तक देवताओं को भी आश्चर्य से चकित कर देनेवाला शास्त्रार्थ चलता रहा। मण्डन के गले की माला फीकी पड़ गई। शारदा ने अपने पति को विजित तथा शङ्कर को विजयी होने की अपनी सम्मति दे दी। पण्डित-समाज में खलबली मच गई।

पर शारदा ने शङ्कर से कहा कि जब तक आप मुझे नहीं जीत लेते तब तक आप पूर्ण विजयी नहीं माने जा सकते। आपने अभी तक आधा ही अङ्ग जीता है। मैं तो अभी आपसे शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार हूँ। बिना मुझे जीते आप पूर्ण विजयी कहलाने के अधिकारी नहीं हैं। शङ्कर ने इसे मान लिया। दोनों का शास्त्रार्थ छिड़ गया। शारदा ने बाल-ब्रह्मचारी से कामशास्त्र की बातें पूछीं। आचार्य ने इस प्रश्न के उत्तर देने के लिये कुछ दिनों की अवधि चाही। अपने शिष्यों की सलाह लेकर अपना शरीर एक गुफा में शिष्यों के रक्षण में छोड़कर

---

* माला यदा मलिनभावमुपैति कण्ठे,
यस्यापि तस्य विजयेतरनिश्चयः स्यात् —शङ्करदिग्विजय ८।६८

शङ्कर ने अमरुक राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया। राजा जी गया। परन्तु उसके व्यवहार में विलक्षण परिवर्तन दीख पड़ा। मन्त्रियों ने पहचान लिया कि हमारे स्वामी के शरीर में किसी दिव्यपुरुष के प्रवेश कर लेने से राज्य में सर्वत्र शान्ति विराज रही है। राजा का वेश धारण करनेवाले शङ्कर ने रमणियों के सङ्ग रहकर कामशास्त्र में विशेष निपुणता प्राप्त कर ली। लौटने की अवधि एक मास की नियत की गई थी; परन्तु उस अवधि के बीतने के साथ शिष्यों के हृदय से गुरु के स्वयं लौट आने की आशा भी हट गई। वे बड़े चिन्तित हुए। गुरु को खोज निकालना निश्चित किया गया। पद्मपाद की सम्मति से शिष्य लोग राजदरबारों में अपने गुरु को खोजने लगे। इसी यात्रा-प्रसङ्ग में

शङ्कर का परकाय-प्रवेश

वे लोग 'अमरुक' के राज्य में आये। राजा की प्रजावत्सलता तथा प्रजामण्डल की शान्ति देखकर उन्हें निश्चय हो गया कि इसी जगह शङ्कर का निवासस्थान है। कलावन्तों के वेश में वे लोग राजदरबार में गये। सङ्गीत-प्रेमी राजा ने उनका बड़ा आदर किया। इन गायकों ने आध्यात्मिक भाव से ओत-प्रोत इतना भावमय गायन सुनाया कि उसे सुनते ही शङ्कर के मानस-पटल पर अनुभूत की गई समग्र प्राचीन घटनाएँ एक के बाद एक अङ्कित होने लगीं। उनकी विस्मृति जाती रही और उन्होंने राजा का शरीर छोड़कर असली रूप धारण कर लिया।

तदनन्तर कामकला में अलौकिक प्रवीणता प्राप्त कर शङ्कर अपनी शिष्य-मण्डली के साथ मण्डन मिश्र के घर आये और उनकी पत्नी शारदा को शास्त्रार्थ के लिये आह्वान किया। शारदा शङ्कर के इस चमत्कार को देखकर चमत्कृत हो उठी और उपस्थित विद्वन्मण्डली के सामने अपना पराजय स्वीकार किया। पति तथा पत्नी दोनों को परास्त करने के बाद शङ्कर ने मण्डन मिश्र पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लिया और पूर्व-प्रतिज्ञा के अनुसार मण्डन ने शङ्कर से संन्यास की दीक्षा ली। वे सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए।

दक्षिणयात्रा

मण्डन मिश्र के परास्त करते ही आचार्य की कीर्ति चारों ओर फैल गई। मण्डन सचमुच उस युग की पण्डित-मण्डली के मण्डन थे; उनका परास्त करना बायें हाथ का खेल न था। परन्तु शङ्कर ने अपनी अलौकिक प्रतिभा के बल पर मण्डन के मत का ही खण्डन न किया प्रत्युत वाग्देवतारूपिणी उनकी पत्नी को भी परास्त कर दिया। सुरेश्वर को साथ लेकर आचार्य ने दक्षिण की यात्रा आरम्भ कर दी। महाराष्ट्र प्रान्त से होते हुए वे सुप्रसिद्ध श्रीपर्वत पर पहुँचे। मल्लिकार्जुन और भ्रमराम्बा की भक्ति-विनम्र हृदय से स्तुति की और अपनी शिष्य-मण्डली के साथ इस प्रसिद्ध तीर्थ-क्षेत्र में कुछ दिनों तक निवास किया। श्रीपर्वत कापालिकों का अड्डा था। यहीं रहते समय शङ्कर का उग्रभैरव नामक कापालिक के साथ संघर्ष हुआ। वह कापालिक आचार्य शङ्कर के विनाश का ही अभिलाषी था और इस कुत्सित उद्देश की पूर्ति के लिये पहिले तो वह आचार्य का शिष्य बन गया और अपने कार्य की सिद्धि के लिये अवसर ढूँढ़ने लगा। एक बार उन्हें अकेला पाकर वह तलवार से उनके सिर को धड़ से उड़ा देना ही चाहता था, परन्तु इसी बीच में पद्मपाद उसके इस दुरभिप्राय को समझकर उस स्थान पर स्वयं उपस्थित हो गये और नरसिंह रूप धारण कर उसे भयभीत ही न कर दिया बल्कि त्रिशूल चलाकर उसे वहीं मार डाला। पद्मपाद के इस विलक्षण प्रभाव को देखकर आचार्य तथा उनके शिष्य आश्चर्य से चकित हो गये।

कापालिक से सङ्घर्ष

यहाँ से आचार्य 'गोकर्ण' क्षेत्र गये जो बम्बई प्रान्त में पश्चिमी समुद्र के किनारे आज भी एक सुप्रसिद्ध शैव तीर्थ माना जाता है। यहाँ पर उन्होंने भगवान् महाबलेश्वर की स्तुति कर तीन रातें आनन्द से बिताईं। यहाँ से वे शिष्य-मण्डली के साथ हरिशङ्कर नामक तीर्थक्षेत्र में पहुँचे। इस तीर्थ के नाम के अनुरूप ही उन्होंने भगवान् हरि और शङ्कर की स्तुति श्लेषपूर्ण पद्यों में की। अनन्तर वे मूकाम्बिका के मन्दिर की

ओर चले। रास्ते में एक आश्चर्यजनक घटना घटी। एक ब्राह्मण-दम्पती अपने मृत-पुत्र को गोदी में लेकर विलाप कर रहे थे। आचार्य का हृदय उनके करुण-रोदन पर दया-भाव से आप्लुत हो गया। आचार्य ने उस मरे हुए लड़के को जिला दिया। इसके बाद वे मूकाम्बिका के मन्दिर में पहुँचे और रहस्यमय पद्यों के द्वारा भगवती की प्रशस्त स्तुति की।

अनन्तर वे श्रीवलि नामक अग्रहार में पहुँचे। वहाँ ब्राह्मणों की ही प्रधान बस्ती थी। ब्राह्मण-बालक को जिला देने की कीर्ति वहाँ पहले ही पहुँच चुकी थी। आचार्य के वहाँ पहुँचते ही एक ब्राह्मण देवता—'प्रभाकर'—अपने अर्ध-विक्षिप्त पुत्र के रोग का निदान जानने के लिये वहाँ पहुँचे। उन्होंने आचार्य से अपने पुत्र की दुःखद रामकहानी कह सुनाई। "यह न तो बोलता है, न हँसता है। खेल-कूद में सङ्गी-साथियों के चपत खाकर भी यह तनिक भी रुष्ट नहीं होता। इस रोग की चिकित्सा बताइए।" शङ्कर ने उस बालक से कुछ प्रश्न किये जिसके उत्तर में वह अस्खलित पद्यमयी वाणी के द्वारा गूढ़ आत्म-तत्त्व के साक्षात्कार का विशद वर्णन करने लगा। सुननेवाली जनता दङ्ग हो गई। हस्तामलक (स्तोत्र) के इन पद्यों का आदर आज भी पण्डित-समाज में अक्षुण्ण बना हुआ है। आचार्य ने उस बालक को अपने साथ रख लिया और हस्तामलक नाम से उसकी प्रसिद्धि हुई। ये आचार्य के पट्टशिष्य बने और द्वारका पीठ के प्रथम अध्यक्ष बनाये गये।

हस्तामलक का चरित्र

आचार्य 'श्रीवलि' के अनन्तर 'शृङ्गेरी' में पहुँचे। यह वही स्थान है जहाँ लगभग बारह वर्ष पहले शङ्कर ने एक विशालकाय सर्प को अपना फण फैलाकर भेक-शावकों की रक्षा करते देखा था। आज उन्हें अपने पुरातन स्वप्न को कार्यान्वित करने का अवसर आ गया था। उन्होंने अपने शिष्यों से इस स्थान की पवित्रता की कथा कह सुनाई और मठ-स्थापन करने की अभिलाषा भी प्रकट की। इस प्रस्ताव से शिष्य-मण्डली नितान्त

शृङ्गेरी में पीठ-स्थापन

प्रसन्न हो गई और ऋषिश्रृङ्ग के प्राचीन आश्रम में शिष्यों के अनुरोध से रहने लायक़ कुटियाँ तैयार की गईं। शङ्कर ने मन्दिर बनवाकर 'शारदा' की प्रतिष्ठा की और श्रीविद्या के सम्प्रदायानुसार तान्त्रिक पूजा-पद्धति की व्यवस्था कर दी जो उस समय से लेकर आज तक अनवच्छिन्न रूप से चल रही है। आचार्य शङ्कर ने शृङ्गेरी को अद्वैतवाद के प्रचुर प्रचार का प्रधान केन्द्र बनाया। यहीं रहकर उन्होंने अपने भाष्य-ग्रन्थों की व्याख्या कर अद्वैत के प्रचार करनेवाले पावनचरित शिष्यों को तैयार किया।

आचार्य का एक बड़ा ही भक्त सेवक था जिसका नाम था 'गिरि'। वह नाम से ही गिरि न था, प्रत्युत गुणतः भी गिरि था, पक्का जड़ था। पर था शङ्कर का एकान्त भक्त। भाष्यों की व्याख्या वह भी सुना करता था। एक दिन की घटना है। वह अपना कौपीन धोने के लिये तुङ्गभद्रा के किनारे गया था। उसके आने में विलम्ब हुआ। शङ्कर ने उसकी प्रतीक्षा की—उपस्थित शिष्यों को पाठ पढ़ाने में कुछ विलम्ब कर दिया। पद्मपाद आदि शिष्यों को यह बात बड़ी बुरी लगी। इस मृत्पिण्डबुद्धि शिष्य के लिये गुरुजी का इतना अनुरोध!! आचार्य ने यह बात ताड़ ली और अपनी अलौकिक शक्ति से उसमें समस्त विद्याओं का सञ्चार कर दिया। उसके मुख से अध्यात्मविषयक निरर्गल विशुद्ध पद्यमयी वाणी निकलने लगी। इससे शिष्यों के अचरज का ठिकाना न रहा। जिसे वे वज्रमूर्ख समझकर निरादर का पात्र समझते थे वही अध्यात्मविद्या का पारगामी पण्डित निकला। शिष्य के मुख से तोटक छन्दों में वाणी निकली थी अतः गुरुजी ने उसका नाम 'तोटकाचार्य' रख दिया। वे आचार्य के पट्टशिष्यों में एक थे और ज्योतिर्मठ की अध्यक्षता का भार इन्हीं के जिम्मे किया गया।

तोटकाचार्य की प्राप्ति

वार्तिक की रचना

शृङ्गेरी-निवास के समय आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों के प्रचार की ओर भी दृष्टि डाली। यह अभिलाषा बहुत दिन पहले उनके हृदय में

अङ्कुरित हो उठी थी कि विपुल प्रचार तथा बोधगम्य बनाने के निमित्त शारीरक भाष्य के ऊपर वार्तिकों की रचना नितान्त आवश्यक है। भट्ट कुमारिल से भेंट का प्रधान उद्देश्य इस कार्य की सिद्धि थी, पर उनसे यह कार्य हो न सका। शृङ्गेरी के शान्त वातावरण में वार्तिक-रचना का अच्छा अवसर था। शङ्कर ने सुरेश्वर से अपनी इच्छा प्रकट की। उन्होंने आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य कर वार्तिक बनाना स्वीकार कर लिया, परन्तु शिष्यों ने एक बड़ा झमेला खड़ा किया। आचार्य के अधिकांश शिष्य पद्मपादाचार्य के पक्षपाती थे। सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे तथा कर्म-मीमांसा के विशेष प्रचारक थे। उनका यह संस्कार अभी तक छूटा न होगा। उन्होंने सङ्कटापन्न होकर ही संन्यास ग्रहण किया है, समधिक वैराग्य से नहीं। इस प्रकार के अनेक निन्दात्मक वचन कहकर शिष्यों ने गुरु के प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। उनकी सम्मति में पद्मपाद ही इस कार्य के पूर्ण अधिकारी थे। पर स्वयं पद्मपाद की इच्छा थी कि हस्तामलक जी ही वार्तिक लिखें। आचार्य ने ये विरुद्ध बातें सुनीं और शिष्य-मण्डली के समधिक अनुरोध से पद्मपाद को भाष्य पर वृत्ति लिखने का काम सौंपा। सुरेश्वर को दो उपनिषद्-भाष्यों (बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय) के ऊपर वार्तिक लिखने का काम दिया गया। दोनों शिष्य अपने विषय के विशेष पारगामी थे। पद्मपाद को आचार्य ने शारीरक भाष्य तीन बार पढ़ाया था। ये नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे तथा ब्रह्मचर्य से संन्यास ग्रहण किया था। इन्होंने बड़े परिश्रम से 'पञ्चपादिका' की रचना की। सुरेश्वर ने पहले तो 'नैष्कर्म्यसिद्धि' का निर्माण कर अपनी प्रकृष्ट योग्यता का परिचय दिया। अनन्तर पूर्वोक्त भाष्यों पर विस्तीर्ण तथा विद्वत्तापूर्ण वार्तिकों की रचना की। आचार्य ने इन ग्रन्थों को सुनकर बड़ी प्रसन्नता अभिव्यक्त की।

बालकपन से ही पद्मपाद उत्तर भारत में रहते थे। शृंगेरी में 'पञ्चपादिका' की रचना के बाद उनके हृदय में दक्षिण के तीर्थों के देखने की बड़ी अभिलाषा जगी। शङ्कर से उन्होंने इस कार्य को

आज्ञा माँगी। पहले तो वे इस प्रस्ताव के विरुद्ध थे, परन्तु शिष्य के आग्रह करने पर गुरु ने तीर्थयात्रा को अनुमति दे दी। अपने अनेक सहपाठियों के सङ्ग में पद्मपाद ने दक्षिण के विशिष्ट तीर्थों का दर्शन किया। वे 'काल-

पद्मपाद की यात्रा

हस्तीश्वर' नामक शिवलिङ्ग की अर्चा कर काञ्ची क्षेत्र में पहुँचे और काम्राधीश्वर की पूजा कर वे 'शिवगङ्गा' नामक तीर्थ में पहुँचे। वहाँ से वे 'कावेरी' नदी को पार कर रामेश्वर की ओर जा रहे थे कि रास्ते में उनके मामा का गाँव मिला। पुरानी स्मृति नवीन हो उठी। मामा अपने भानजे को घर आया देख नितान्त प्रसन्न हुए। पद्मपाद ने अपने मीमांसा के रहस्यवेत्ता मातुल को अपनी कृति 'पञ्चपादिका' दिखलाई। मामा के हृदय में हर्ष तथा विषाद दोनों भावों का उदय हुआ—हर्ष अपने भानजे की अलौकिक विद्वत्ता तथा परमत-खण्डन-चातुरी पर, और विषाद अपने ही गुरुमत की विपुल निन्दा तथा खण्डन पर। पर उन्होंने चतुर अभिनेता की भाँति अपने हर्ष को ही प्रकट किया, विषाद को अपने हृदय की तह में दबा दिया। पञ्चपादिका पद्मपाद को प्राण के समान प्रिय थी। रास्ते में विघ्न की आशङ्का से उन्होंने इसे अपने मामा के घर में रखना निरापद समझा। इसकी महत्ता तथा रक्षा का भार अपने मामा के ऊपर रखकर पद्मपाद सेतुबन्ध की यात्रा के निमित्त निकल चले। यात्रा के लिये वे गये अवश्य, पर उनका चित्त किसी अतर्कित विघ्न की आशङ्का से नितान्त चिन्तित था। मामा के हृदय में विद्वेष की आग जल ही रही थी। अपने ही घर में अपने ही मत को तिरस्कृत करनेवाली पुस्तक रखना उन्हें असह्य हो उठा। घर जलाना उन्हें मञ्जूर था, पर पुस्तक रखना सह्य न था। बस, उन्होंने घर में आग लगा दी। अग्नि की लपटें आकाश में उठने लगीं। देखते देखते घर के साथ ही साथ पद्मपाद का वह ग्रन्थ-रत्न भस्म हो गया। उधर पद्मपाद रामेश्वर से लौटकर आये और इस अनर्थ की बात सुनी। मामा ने बना-वटी सहानुभूति दिखलाते हुए ग्रन्थ के नष्ट हो जाने पर खेद प्रकट किया।

पद्मपाद ने उत्तर दिया—कोई हर्ज की बात नहीं है; ग्रन्थ जरूर नष्ट हो गया, पर मेरी बुद्धि तो नष्ट नहीं हुई। फिर वह गढ़ लेगी। तब मामा ने विष देकर उनकी बुद्धि को भी विकृत करने का उद्योग किया। पद्मपाद की फिर वैसा ग्रन्थ बनाने की योग्यता जाती रही। इससे वे मर्माहत होकर अशान्त हो गये। मत-विद्वेष के कारण ऐसा अनर्थ कर बैठना एक अनहोनी सी घटना थी, परन्तु पद्मपाद की वृत्ति सचमुच मामा की विद्वेषाग्नि में जल भुनकर राख हो गई।

आचार्य की केरल-यात्रा

आचार्य शङ्कर ने शृङ्गेरी में शारदा की पूजा-अर्चा का भार अपने पट्टशिष्य आचार्य सुरेश्वर के ऊपर छोड़कर अपने स्वदेश केरल जाने का विचार किया। उन्हें अपनी माता के दर्शन करने की अभिलाषा उत्कट हो उठी। उन्होंने अकेले ही जाने का निश्चय किया। जब वे अपनी जन्मभूमि कालटी की ओर अपना पैर बढ़ाकर जा रहे थे, तब कितनी ही प्राचीन बातों की मधुर स्मृति उनके हृदय में जाग रही थी। उन्हें अपना बालकपन याद आ रहा था और उनके हृदय में सबसे अधिक चिन्ता थी उस तपस्विनी माता की जिसने लोक के उपकार के निमित्त अपने स्वार्थ को तिलाञ्जलि दी थी, जगत् के मङ्गल के लिये अपने एकलौते बेटे को संन्यास लेने की अनुमति दी थी। इतना विचार करते उनका हृदय भक्ति से गद्गद हो गया और चित्त लालायित हो रहा था कि कब अपनी वृद्ध माता का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य बनाऊँगा। शङ्कर आठ वर्ष की उम्र में इसी रास्ते से होकर आये, आज उसी रास्ते से लौट रहे थे। अन्तर इतना ही था कि उस समय वे अपने गुरु की खोज में निकले थे और आज वे अद्वैत वेदान्त के उद्भट प्रचारक तथा व्याख्याता और अनेक शिष्यों के गुरु बनकर लौट रहे थे।

माता से अन्तिम भेंट

कालटी पहुँचने पर ज्ञात हुआ कि माता मृत्युशय्या पर पड़ी है। पुत्र को देखकर माता का हृदय खिल गया, विशेषतः ऐसे अवसर पर जब

वह अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिन रही थी। शङ्कर ने अन्तिम समय पर माता के पास आने की अपनी प्रतिज्ञा को ख़ूब निभाया। माता ने कहा—बेटा, अब अपने इस जीर्ण शरीर को ढोने की क्षमता मुझमें नहीं है। अब ऐसा उपदेश मुझे दो जिससे मैं इस भवार्णव से पार हो जाऊँ। शङ्कर ने निर्गुण ब्रह्म का उपदेश अपनी माता को दिया, पर माता ने स्पष्ट कहा कि इस निर्गुण तत्त्व को मेरी बुद्धि ग्रहण नहीं कर रही है। अत: सगुण सुन्दर ईश्वर का मुझे उपदेश दो। शङ्कर ने शिव की स्तुति की। शिव के दूत हाथों में डमरू और त्रिशूल लेकर झट से उपस्थित हो गये। उन्हें देखकर माता डर गई। तब आचार्य ने विष्णु की स्तुति की। उस सौम्य रूप का ध्यान करते-करते माता ने अपने प्राण छोड़ दिये। शङ्कर ने अपने जाति-भाइयों से माता के दाह-कार्य में सहायता चाही, परन्तु एक तो वे उनकी कीर्ति-कथा सुनकर उद्विग्न थे और दूसरे संन्यासी के द्वारा मातृ-कृत्य की बात उन्हें शास्त्र-विरुद्ध जँची। उन लोगों ने सहायता देने से मुँह मोड़ लिया, तब शङ्कर ने अपनी माता का अकेले ही संस्कार अपने ही घर के दरवाजे पर किया। घर के समीप सूखी हुई लकड़ियाँ बटोरीं और माता की दाहिनी भुजा का मन्थन कर आग निकाली और उसी से दाह-संस्कार सम्पन्न किया। अपने दायादों को इस हृदय-हीन व्यवहार के लिये शाप दिया। तभी से इन ब्राह्मणों के घर के पास ही श्मशान भूमि हो गई। महापुरुष के तिरस्कार का विषम फल तुरन्त फलता है। क्या सत्पुरुषों का निरादर कभी व्यर्थ जाता है?

पञ्चपादिका का उद्धार

पद्मपाद को पहले ही ख़बर मिल चुकी थी कि आचार्य आजकल केरल देश में विराजमान हैं। अत: वे अपने सहपाठियों के साथ शङ्कर के दर्शन के निमित्त केरल देश में आये। गुरु के सामने शिष्यों ने मस्तक झुकाया। पद्मपाद को चिन्तित देखकर आचार्य ने इसका कारण पूछा। तब उन्होंने अपनी तीर्थयात्रा की कहानी सुनाई तथा मातुल के हाथों पञ्च-

पादिका के जला डालने की दुःखमयी घटना का उन्होंने उल्लेख किया। गुरु ने शिष्य को आश्वासन दिया कि घबड़ाने की कोई बात नहीं है। शृंगेरी में तुमने मुझे जितनी वृत्ति सुनाई थी वह मेरे स्मृति-पट पर अङ्कित है। उसे तुम लिख डालो। आचार्य के इन वचनों को सुनकर शिष्य का चित्त आश्वस्त हुआ और उन्होंने गुरुमुख से पञ्चपादिका लिख डाली। बस, पद्मपाद की वृत्ति का इतना ही अंश शेष है। आचार्य की अलौकिक स्मरण-शक्ति को देखकर शिष्य-मण्डली आश्चर्य-चकित हो गई। क्यों न हो ? अलौकिक पुरुषों की सब बातें अलौकिक हुआ करती हैं। केरल-नरेश राजशेखर ने शङ्कर से भेंट की। प्रसङ्ग-वश आचार्य ने उनके उन तीनों नाटकों के विषय में पूछा जिन्हें उन्होंने सुनाया था। राजा ने दुःख भरे शब्दों में उनके जल जाने की बात कही। शङ्कर ने सुने हुए इन नाटकों को सुनाकर राजा के हृदय को आनन्द-मग्न कर दिया। इन दोनों घटनाओं से आचार्य की अपूर्व मेधाशक्ति का अश्रुतपूर्व दृष्टान्त पाकर शिष्य-मण्डली कृतकृत्य हो गई।

दिग्विजय

अब आचार्य ने दिग्विजय कर अपने अद्वैत मत के प्रचार का सङ्कल्प किया। अपने मुख्य शिष्यों के साथ शङ्कर ने 'सेतुबन्ध' की यात्रा की और मद्य-मांस से देवी की पूजा करनेवाले वहाँ के शाक्तों को परास्त किया। अनन्तर वे 'काञ्ची' पधारे जहाँ श्रीविद्या के अनुसार उन्होंने मन्दिर बनवाकर भगवती कामाक्षी की प्रतिष्ठा की तथा तान्त्रिक विधि-विधानों के स्थान पर वैदिक पूजा का प्रचार किया। वे 'वेङ्कटाचल' में आये। भगवान् का पूजन कर वे विदर्भराज की नगरी में पहुँचे और भैरवतन्त्र के उपासकों के मत का खण्डन किया। कर्नाटक देश में कापालिकों का सरदार क्रकच रहता था जिसे परास्त करने के लिये शङ्कर वहाँ गये। उनके साथ में थे उसी देश के वैदिक-मार्ग-परायण राजा सुधन्वा। क्रकच ने आकर आचार्य को भला-बुरा कहना शुरू किया। राजा सुधन्वा ने भरी सभा में से निरादर के साथ उसे निकाल

बाहर किया। फिर क्या था ? उसके आयुधधारी कापालिकों की सेना निरीह ब्राह्मणों पर टूट पड़ी और उन्हें मार-पीटकर उस देश से खदेड़ना ही चाहती थी पर सुधन्वा की धन्वा ने ब्राह्मणों की पर्याप्त रक्षा की। अन्त में क्रकच ने अपनी ही शक्ति से भैरवनाथ को बुलाया परन्तु भैरव ने शङ्कर को अपना ही रूप बतलाकर उनसे द्रोह करनेवाले भक्त कापालिक को मार डाला।

अनन्तर आचार्य गोकर्णक्षेत्र गये। यहाँ पर नीलकण्ठ नामक द्वैतवादी शैव निवास करते थे। इनके साथ आचार्य का तुमुल शास्त्रार्थ हुआ जिसमें परास्त होकर उन्होंने अपना शैवभाष्य फेंककर अपनी भक्त-मण्डली के साथ शङ्कर से अद्वैत-मत की दीक्षा ली। इस स्थान से वे 'द्वारका' गये। यहाँ पाञ्चरात्रों का प्रधान अड्डा था। आचार्य के सामने इन्हें भी अपनी हार माननी पड़ी। यहाँ से वे 'उज्जयिनी' में आये जहाँ भेदाभेदवादी भट्टभास्कर रहते थे। शङ्कर ने पद्मपाद को भेजकर उन्हें भेंट करने के लिये अपने पास बुलाया। वे आये अवश्य, परन्तु अद्वैत की बात सुनकर उनकी शास्त्रार्थ-लिप्सा जाग उठी। अब इन दोनों विद्वानों में आश्चर्यजनक शास्त्रार्थ हुआ—ऐसा शास्त्रार्थ जिसमें भास्कर अपने पक्ष के समर्थन में प्रबल युक्तियाँ देते थे और शङ्कर अपनी सूक्ष्म बुद्धि से उसका खण्डन करते जाते थे। विपुल शास्त्रार्थ के बाद भास्कर की प्रभा क्षीण पड़ी और उन्हें भी अद्वैतवाद को ही उपनिषत्-प्रतिपाद्य सिद्धान्त मानना पड़ा।

उज्जयिनी के अनन्तर आचार्य ने पूर्व भारत को विजय करने की इच्छा की। बङ्गाल तथा आसाम विशेषकर कामाख्या में तान्त्रिक साधना का

अभिनवगुप्त

विशेष प्रचार प्राचीन काल से है। शङ्कर के समय में भी इन प्रदेशों की तान्त्रिकता अक्षुण्ण बनी थी। इस तान्त्रिक पद्धति के अशुद्ध रूप को तिरस्कृत करने के उद्देश्य से आचार्य ने उन देशों में जाना चाहा। वे भरत, शूरसेन (मथुरा), नैमिष आदि स्थानों से होकर आसाम पहुँचे। वहाँ अभिनवगुप्त

नामक एक प्रख्यात तन्त्राचार्य रहते थे जिन्होंने ब्रह्मसूत्र पर शक्तिभाष्य की रचना की थी। शङ्कर के साथ तन्त्रशास्त्र के ऊपर अभिनव का अभिनव शास्त्रार्थ हुआ जिसमें उन्होंने अपनी हार स्वीकार कर ली पर अपने विजेता को इस जगत् से ही बिदा करने की कुत्सित भावना ने इनके हृदय में घर कर लिया। प्रवाद है कि उस समय वङ्ग देश में ब्रह्मानन्द स्वामी नामक एक बड़े तान्त्रिक रहते थे। शङ्कर ने उनसे भी भेंट की। स्वामीजी वयोवृद्ध थे। शङ्कर की उम्र बहुत ही थोड़ी थी। उन्होंने इस बालक संन्यासी से कहा कि अभी तुम बालक हो, अवस्था में ही नहीं बल्कि विचार में भी। तुम अद्वैतवादी होने का दावा करते थे, परन्तु तुमने अभी तक अद्वैत को अपने जीवन की आधार-शिला नहीं बनाया है। देश-विदेश में भिन्न-भिन्न मतावलम्बियों के साथ शास्त्रार्थ करते फिरना भला किसी भी अद्वैती को शोभा दे सकता है? कथनी और करनी में महान् अन्तर है। अतः अभी अद्वैततत्त्व के ऊपर मनन करो, तब प्रचार के लिये उद्योग करना। कहा जाता है कि इन वचनों ने शङ्कर के ऊपर वड़ा प्रभाव डाला और उन्होंने वङ्ग देश में मठ स्थापित करने का विचार ही छोड़ दिया।

ब्रह्मानन्द स्वामी से भेंट

आचार्य इस प्रकार पूरे भारतवर्ष में दिग्विजय कर शृङ्गेरी लौट आये। नाना प्रकार के अवैदिक मतों का उन्होंने पर्याप्त खण्डन किया। अद्वैतवाद की दुन्दुभि चारों ओर बजने लगी, पर आसाम से लौटने पर आचार्य का शरीर अस्वस्थ था। अभिनवगुप्त ने आचार्य का काम हा तमाम कर देने के लिये भयानक अभिचार का प्रयोग किया। अभिचार का विषम फल भगन्दर रोग के रूप में प्रकट हुआ। इस रोग से शङ्कर का शरीर नितान्त अस्वस्थ हो गया, परन्तु उन्हें अपनी देह में तनिक भी ममता न थी। विदेह पुरुष की भाँति उन्होंने इसकी विषम वेदना को सह लिया, परन्तु शिष्यों से यह न देखा गया। उन्होंने अनेक लब्धप्रतिष्ठ प्राणाचार्यों को जुटाया, परन्तु पत्थर पर तीर के समान इन वैद्यों की रामबाण ओषधियाँ व्यर्थ सिद्ध

आचार्य—रोगशय्या पर

होने लगीं। दैवी सहायता भी ली गई और वह भी व्यर्थ हुई। आचार्य के सतत निषेध करने पर भी पद्मपाद ने इस समय एक विशेष मन्त्र का जप किया जिससे अभिनवगुप्त ही इस संसार से सदा के लिये स्वयं कूच कर गया। महाजनों पर किया गया अभिचार अपने ही नाश का कारण होता है।

आचार्य के स्वस्थ होने पर गौड़पादाचार्य ने एक दिन अपने दर्शन से उन्हें कृतार्थ कर दिया। शङ्कर ने उन्हें माण्डूक्य-कारिका का अपना भाष्य पढ़ सुनाया। वे अत्यन्त प्रसन्न हुए और आशीर्वाद दिया कि शङ्कर का भाष्य सर्वत्र प्रसिद्ध होगा क्योंकि इनमें अद्वैत के सिद्धान्तों का परिचय सम्प्रदाय के अनुकूल किया गया है। जिन रहस्यों को उन्होंने शुकदेवजी के मुख से सुनकर गोविन्द मुनि को उपदेश दिया था, उन रहस्यों का उद्घाटन इन भाष्यों में भली भाँति किया गया है। माण्डूक्य-कारिका लिखने में मेरा जो अभिप्राय था उसकी अभिव्यक्ति कर तुमने मेरे हृदय को अपने भाष्य में रख दिया है। मैं आशीर्वाद करता हूँ तुम्हारे भाष्य इस पृथ्वीतल पर अलौकिक प्रभासम्पन्न होकर जगत् का वास्तविक मङ्गल साधन करेंगे। इस प्रकार वेदव्यास तथा गौड़पाद इन उभय अद्वैताचार्यों की कृपा शङ्कर के प्रसन्न गम्भीर भाष्यों को प्राप्त हुई।

गौड़पाद का आशीर्वाद

आचार्य शङ्कर ने सुना कि काश्मीर के शारदा मन्दिर में चार दरवाज़े हैं, प्रत्येक एक दिशा की ओर। उन दरवाज़ों से होकर वही मनुष्य प्रवेश कर सकता है जो सकल शास्त्रों का पण्डित हो—सर्वज्ञ हो। पूरब, पश्चिम तथा उत्तर के द्वार तो खुले रहते हैं, परन्तु दक्षिण में किसी भी सर्वज्ञ के न होने से दक्षिणी दरवाज़ा सदा बन्द ही रहता है। आचार्य ने दाक्षिणात्यों के नाम से इस कलङ्क को धो डालने की इच्छा से काश्मीर की यात्रा की। शारदा-मन्दिर में पहुँचकर उन्होंने अपनी सुनी हुई बातों को सच्चा पाया।

सर्वज्ञ पीठ का अधिरोहण

दक्षिण-द्वार खोलकर ज्योंही उन्होंने प्रवेश करना शुरू किया कि चारों ओर पण्डितों की मण्डली उन पर टूट पड़ी और चिल्लाने लगी कि अपनी सर्वज्ञता की परीक्षा दीजिए तब मन्दिर में पैर रखने का साहस कीजिए। शङ्कर परीक्षा में खरे उतरे। विभिन्न दर्शनों के पेचीदे प्रश्नों का उत्तर देकर शङ्कर ने अपने सर्वज्ञ होने के दावे को सप्रमाण सिद्ध कर लिया। भीतर जाकर ज्योंही वे सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण करने लगे, शारदा की भावना आकाशवाणी के रूप में प्रकट हुई। आकाशवाणी ने कहा—इस पीठ पर अधिरोहण करने के लिये सर्वज्ञता ही एकमात्र साधन नहीं है, पवित्रता भी उसका प्रधान सहायक साधन है। संन्यासी होकर कामकला का सीखना, शरीर में प्रवेश कर कामिनियों के साथ रमण करना नितान्त निन्दनीय है। भला ऐसा व्यक्ति पावनचरित होने का अधिकारी कैसे हो सकता है? शङ्कर ने उत्तर दिया—क्या अन्य शरीर में किये गये पातक का फल तद्भिन्न शरीर को स्पर्श कर सकता है? इस शरीर से तो मैं निष्कलङ्क हूँ। शारदा ने आचार्य की युक्ति मान ली और उन्हें पीठ पर अधिरोहण करने की अनुमति देकर उनकी पवित्रता पर मुहर लगा दी। पण्डित-मण्डली के हृदय को आश्चर्य-सागर में डुबाते हुए सर्वज्ञ शङ्कर ने इस पवित्र शारदापीठ में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया।

आचार्य का तिरोधान

आचार्य शङ्कर ने अपना अन्तिम जीवन किस स्थान पर बिताया और सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किस स्थान पर किया? यह एक विचारणीय विषय है। शङ्करविजयों में इस विषय में ऐकमत्य नहीं प्रतीत होता। ऊपर काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण का वृत्तान्त माधव के शङ्करदिग्विजय के आधार पर है। अधिरोहण के अनन्तर आचार्य बदरीनाथ गये। वहाँ कुछ दिन बिताकर वे दत्तात्रेय के दर्शन के निमित्त उनके आश्रम में गये और उनकी गुहा में कुछ दिनों तक

निवास किया। दत्तात्रेय ने शङ्कर की उनके विशिष्ट कार्य के लिये प्रचुर प्रशंसा की। इसके बाद वे कैलास पर्वत पर गये और वहीं स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में लीन हो गये। यह वृत्तान्त शृङ्गेरी-पीठानुसारी ग्रन्थों में उपलब्ध होता है तथा अधिकांश संन्यासी लोग इसे ही प्रामाणिक तथा श्रद्धेय मानते हैं।

केरल तथा कामकोटि पीठ की परम्परा इससे नितान्त भिन्न है। केरलचरित के अनुसार (पृष्ठ ५८५) शङ्कर ने अपना भौतिक शरीर केरल देश में ही परित्याग दिया और त्रिचूर के शिवमन्दिर के समीप ही यह घटना घटी थी। इसी लिये केरल में इस शिवमन्दिर की विपुल ख्याति है। कामकोटि की परम्परा कुछ भिन्न सी है। उसके अनुसार शङ्कर ने अपने धर्म-रक्षण-कार्य को पूरा कर काञ्ची को अपने अन्तिम जीवन बिताने के लिये पसन्द किया। यहीं पर रहते समय उन्होंने शिवकाञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची का निर्माण किया। कामाक्षी के मन्दिर को बिन्दु स्थान पर रक्खा और श्रीचक्र के अनुसार समग्र नगरी की स्थापना की। यह विलक्षण घटना है कि काञ्ची के मन्दिर कामाक्षी के मन्दिर का सामना करते हुए खड़े हैं। उन सबका मुँह उसी मन्दिर की ओर लक्ष कर रहा है। भगवान् शङ्कर के द्वारा प्रदत्त पाँच शिवलिंगों में से श्रेष्ठ योगेश्वर लिङ्ग की पूजा-अर्चा करते हुए आचार्य ने सर्वज्ञ-पीठ का अधिरोहण इसी स्थान पर किया था। अनेक ग्रन्थों में इस घटना का संकेत भी मिलता है (द्रष्टव्य पृष्ठ ५८२–८३)

माधव के अनुसार जो वर्णन ऊपर किया है उसके लिये यह कहना है कि कामकोटि पीठ के अध्यक्ष 'धीरशङ्कर' नामक आचार्य हुए थे। उन्होंने आदिशङ्कर के समान समस्त भारत का विजय किया, काश्मीर में सर्वज्ञपीठ पर अधिरोहण किया और वे कैलास में ब्रह्मपद-लीन हो गये। उन्हीं के जीवन की घटनाएँ ग़लती से आदिशङ्कर के साथ सम्बद्ध कर दी गई हैं। शङ्कर काञ्ची में अपने स्थूल शरीर को छोड़कर सूक्ष्म शरीर में लीन हो गये थे।

ऐसी विषम स्थिति में किसी सिद्धान्त पर पहुँचना कठिन प्रतीत हो रहा है। जो कुछ हो, इतना तो बहुमत से निश्चित है कि शङ्कर ने ३२ वर्ष की उम्र में भारतभूमि पर वैदिक धर्म की रक्षा की सुन्दर व्यवस्था कर इस धराधाम को छोड़ा। उनके अवसान की तिथि भी भिन्न भिन्न दी गई है। कुछ लोग उनका अवसान वैशाख शुक्ल १० को, कुछ लोग वैशाख शुक्ल पूर्णिमा को और कुछ लोग कार्तिक मास की शुक्ल ११ तिथि को मानते हैं।

५—शङ्कर के ग्रन्थ

आदिशङ्कर के ग्रन्थों का निर्णय करना एक विषम पहेली है। यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उन्होंने कितने तथा किन किन ग्रन्थों की रचना की थी। शङ्कराचार्य की कृतिरूप से २०० से भी अधिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या इन समस्त ग्रन्थों का निर्माण गोविन्द भगवत्पूज्यपाद-शिष्य श्री शङ्कर भगवान् के द्वारा सम्पन्न हुआ था? आदिशङ्कराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठापित मठों के अधिपति भी शङ्कर की उपाधि धारण करते हैं। वर्तमान समय में भी यह पद्धति प्रचलित है। अतः शङ्करनामधारी अनेक व्यक्तियों ने समय समय पर निबन्ध निर्माण किया और यद्यपि आदिशङ्कर ही गोविन्द भगवत्पूज्यपाद के शिष्य थे, तथापि ग्रन्थान्त में पुष्पिका की गड़बड़ी के कारण इन विभिन्न शङ्करों की रचनाओं का यथावत् पार्थक्य करना नितान्त दुरूह व्यापार है। आचार्य शङ्कर की ग्रन्थावली मैसूर, पूना, कलकत्ता तथा श्रीरङ्गम् (श्रीवाणीविलास प्रेस) से प्रकाशित हुई है। इनमें श्री वाणीविलास-वाला संस्करण शृङ्गेरी के शङ्कराचार्य की अध्यक्षता में प्रकाशित होने से नितान्त प्रामाणिक माना जाता है। यह संस्करण २० जिल्दों में है और छपाई-सफाई की दृष्टि से विशेष कलापूर्ण है। इन विभिन्न संस्करणों में भी पारस्परिक भेद है। किसी संस्करण में कोई ग्रन्थ अधिक है, तो किसी संस्करण में कोई दूसरा। इस विषय में प्रत्येक ग्रन्थ के गाढ़

अध्ययन तथा छानबीन करने की ज़रूरत है। तभी किसी सर्वमान्य तथ्य का पता लगाया जा सकता है। आदिशङ्कर के ग्रन्थों को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं :—(१) भाष्य, (२) स्तोत्र, (३) प्रकरण-ग्रन्थ। आचार्य ने अद्वैत-मार्ग की प्रतिष्ठा के निमित्त प्रस्थानत्रयी—ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों—पर भाष्य बनाये थे, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। प्रस्थानत्रयी के भाष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) ब्रह्मसूत्र-भाष्य।

(२) गीताभाष्य।

(३) उपनिषद्भाष्य—(१) ईश, (२) केन-पदभाष्य, केन-वाक्यभाष्य, (३) कठ, (४) प्रश्न, (५) मुण्डक, (६) माण्डूक्य, (७) तैत्तिरीय, (८) ऐतरेय, (९) छान्दोग्य, (१०) बृहदारण्यक, (११) श्वेताश्वतर, (१२) नृसिंहतापनीय।

इन उपनिषद्-भाष्यों की रचना आदिशङ्कर के द्वारा निष्पन्न हुई है, इस विषय में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। प्रसिद्धि है कि केन उपनिषद् के दोनों भाष्य (पदभाष्य तथा वाक्यभाष्य) आचार्य-निर्मित हैं, परन्तु दोनों के अध्ययन से यह बात सिद्ध नहीं होती; इसलिये विद्वानों को इनके आचार्यकृत होने में सन्देह है। किसी किसी स्थल में मूल की व्याख्या दोनों भाष्यों में परस्पर पृथक् तथा विरुद्ध है। ४।७।३२ में 'ब्राह्मी' और 'अब्रूम' पदों को व्याख्या दोनों भाष्यों में विरुद्ध है। २।२ के मूल का पाठ पदभाष्य में 'नाहम्' है, परन्तु वाक्यभाष्य में 'नाह' है। किसी विद्वान् की सम्मति में वाक्यभाष्य आचार्य का न होकर 'विद्याशङ्कर' का है। श्वेताश्वतर के भाष्य की रचनापद्धति तथा व्याख्यापद्धति शारीरक भाष्य की अपेक्षा निम्न कोटि की है तथा भिन्न है। ब्र० सू० भाष्य में गौडपाद का उल्लेख बड़े आदर तथा सम्मान के साथ किया गया है। १।४।१४ में वे 'सम्प्रदायविद:' तथा २।१।९ में 'सम्प्रदायविद्भिराचार्यै:' कहे गये हैं, परन्तु श्वेताश्वतर-भाष्य में उनका निर्देश केवल 'शुकशिष्य:' शब्द के द्वारा किया गया है। माण्डूक्य उपनिषद् तथा

नृसिंह-तापनीय के भाष्य में व्याकरण की अशुद्धि, छन्दोभङ्ग आदि अनेक दोषों से दूषित होने के कारण आचार्य की यथार्थ रचना नहीं माने जाते[१]। इन पण्डितों को युक्तियों की छानबीन करने पर ही हम एक निश्चित सिद्धान्त पर पहुँच सकते हैं।

इतर ग्रन्थों के भाष्य

(१) माण्डूक्य-कारिकाभाष्य—माण्डूक्य उपनिषद् के ऊपर गौडपादाचार्य ने जो कारिकाएँ लिखी हैं उन्हीं पर यह भाष्य है। कतिपय विद्वान् लोग अनेक कारणों से इसे आचार्य कृत मानने में सन्देह प्रकट करते हैं।

(२) विष्णुसहस्रनाम भाष्य—प्रसिद्ध विष्णुसहस्रनाम पर भाष्य।

(३) सनत्सुजातीय भाष्य—धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के निमित्त सनत्सुजात ऋषि ने जो आध्यात्मिक उपदेश दिया था वह महाभारत उद्योगपर्व (अ० ४२ अ० ४६) में वर्णित है। उसे 'सनत्सुजातीयपर्व' कहते हैं। उसी पर यह भाष्य है।

(४) हस्तामलकभाष्य—आचार्य हस्तामलक के द्वारा विरचित द्वादश पद्यात्मक स्तोत्र का विस्तृत भाष्य। यह श्रीरङ्गम् से प्रकाशित आचार्य-ग्रन्थावली के १६वें खण्ड में (पृष्ठ १६३—१८६) प्रकाशित किया गया है। शिष्य के ग्रन्थ पर गुरु की व्याख्या लिखना असङ्गत मानकर कुछ विद्वान् इसे आचार्यकृत होने में सन्देह करते हैं।

(५) ललितात्रिशतीभाष्य—ललिता के तीन सौ नामों पर भाष्य। यह भी श्रीरङ्गम् से प्रकाशित हुआ है।

---

१ द्रष्टव्य Asutosh Silver jubilee Volume III Part 2, pp 103-110; विश्वभारती पत्रिका खण्ड २, अङ्क १ पृष्ठ ९-१७ ; इस मत के खण्डन के लिये द्रष्टव्य Proceedings of Fifth Oriental Conference, Part I पृष्ठ ६९१-७२०

(६) गायत्रीभाष्य—कहीं कहीं शङ्कर के नाम से गायत्रीभाष्य का उल्लेख मिलता है। पता नहीं यह आद्यशङ्कर कृत है या नहीं।

(७) जयमङ्गला टीका—सांख्यकारिका के ऊपर शङ्कराचार्य के द्वारा लिखित 'जयमङ्गला' नामक टीका उपलब्ध है। यह कलकत्ता ओरियन्टल सीरीज (नं० १९) में प्रकाशित हुई है। परन्तु ग्रन्थ की लेखन-शैली स्पष्टतः बतलाती है कि यह आचार्य की कृति नहीं है। शङ्करार्य नामक पण्डित-रचित 'जयमङ्गला' नामक दो वृत्तियाँ प्रकाशित हुई हैं—एक कामन्दक-नीतिसार की व्याख्या (अनन्तशयन ग्रन्थमाला नं० १४) और दूसरी वात्स्यायन-कामसूत्र की व्याख्या (चौखम्भा से प्रकाशित)। यह सांख्यटीका भी इन्हीं ग्रन्थों की शैली से मिलती है। अतः शङ्कराचार्य की रचना न होकर यह 'शङ्करार्य' (१४०० ई०) की रचना है*।

स्तोत्र-ग्रन्थ

आचार्य परमार्थतः अद्वैतवादी होने पर भी व्यवहारभूमि में नाना देवताओं की उपासना तथा सार्थकता को ख़ूब मानते थे। सगुण की उपासना निर्गुण की उपलब्धि का प्रधान साधन है। सगुण ब्रह्म की उपासना का इसी कारण विशेष महत्त्व है। आचार्य स्वयं लोकसंग्रह के निमित्त इसका आचरण करते थे। उनका हृदय विशाल था; उसमें साम्प्रदायिक क्षुद्रता के लिये कहीं स्थान न था। यही कारण है कि उन्होंने शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति आदि देवताओं की सुन्दर स्तुतियों की रचना की है। इन स्तोत्रों का साहित्यिक महत्त्व कम नहीं है। दर्शन-शास्त्र की उच्च कोटि में विचरण करनेवाले विद्वान् की रचना इतनी ललित, कोमल, रसभाव से सम्पन्न तथा अलङ्कारों की छटा से मण्डित होगी, यह देखकर आलोचक के आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहता।

---

* द्रष्टव्य गोपीनाथ कविराज की इस ग्रन्थ की भूमिका पृष्ठ ८-९।

शङ्कर के नाम से सम्बद्ध मुख्य स्तोत्रों की नामावली ही यहाँ दी जायगी। उनके ऊपर विस्तृत विवेचन अन्यत्र प्रस्तुत किया जावेगा।

(१) गणेश-स्तोत्र

(१) गणेश-पञ्चरत्न (६ श्लोक), (२) गणेशभुजङ्गप्रयात (९ श्लोक), (३) गणेशाष्टक (८ श्लोक), (४) वरदगणेशस्तोत्र।

(२) शिवस्तोत्र

(१) शिवभुजङ्ग (४० श्लोक), (२) शिवानन्दलहरी (१०० श्लोक), (३) शिवपादादि-केशान्त स्तोत्र (४१ श्लोक), (४) शिवकेशादिपादान्त स्तोत्र (२९ श्लोक), (५) वेदसार शिवस्तोत्र (११ श्लोक), (६) शिवापराध-क्षमापण स्तोत्र (१५ श्लोक), (७) सुवर्ण-मालास्तुति (५० श्लोक), (८) दक्षिणामूर्ति वर्णमाला (३५ श्लोक), (९) दक्षिणामूर्त्यष्टक (१० श्लोक), (१०) मृत्युञ्जय मानसिक पूजा (४६ श्लोक), (११) शिवनामावल्यष्टक (९ श्लोक), (१२) शिवपञ्चाक्षर (५ श्लोक), (१३) उमामहेश्वरस्तोत्र (१३ श्लोक), (१४) दक्षिणामूर्तिस्तोत्र (१९ श्लोक), (१५) कालभैरवाष्टक (८ श्लोक), (१६) शिवपञ्चाक्षर-नक्षत्रमाला (२८ श्लोक), (१७) द्वादशलिङ्गस्तोत्र (१३ श्लोक), (१८) दशश्लोकी स्तुति (१० श्लोक) ।

(३) देवीस्तोत्र

(१) सौन्दर्यलहरी (१०० श्लोक), (२) देवीभुजङ्गस्तोत्र (२८ श्लोक), (३) आनन्दलहरी (२० श्लोक), (४) त्रिपुरसुन्दरी-वेदपाद स्तोत्र (११० श्लोक), (५) त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजा (१२७ श्लोक), (६) देवीचतुःषष्ट्युपचारपूजा (७२ श्लोक), (७) त्रिपुरसुन्दर्यष्टक (८ श्लोक), (८) ललितापञ्चरत्न (६ श्लोक), (९) कल्याणवृष्टिस्तव (१६ श्लोक), (१०) नवरत्नमालिका (१० श्लोक), (११) मन्त्रमातृकापुष्पमालास्तव (१७ श्लोक), (१२)

गौरीदशक (११ श्लोक), (१३) भवानीभुजङ्ग (१७ श्लोक), (१४) कनकधारा स्तोत्र (१८ श्लोक), (१५) अन्नपूर्णाष्टक (१२ श्लोक), (१६) मीनाक्षीपञ्चरत्न (५ श्लोक), (१७) मीनाक्षीस्तोत्र (८ श्लोक), (१८) भ्रमराम्बाष्टकम् (८ श्लोक), (१९) शारदाभुजङ्गप्रयाताष्टक (८ श्लोक)।

(४) विष्णुस्तोत्र

(१) कामभुजङ्गप्रयात (१९ श्लोक), (२) विष्णुभुजङ्गप्रयात (१४ श्लोक), (३) विष्णुपादादिकेशान्त (५२ श्लोक), (४) पाण्डुरङ्गाष्टक (८ श्लोक), (५) अच्युताष्टक (८ श्लोक), (६) कृष्णाष्टक (८ श्लोक), (७) हरिमीडेस्तोत्र (४३ श्लोक), (८) गोविन्दाष्टक (८ श्लोक), (९) भगवन्मानसपूजा (१७ श्लोक), (१०) जगन्नाथाष्टक (८ श्लोक)।

(५) युगल देवता-स्तोत्र

(१) अर्धनारीश्वरस्तोत्र (९ श्लोक), (२) उमामहेश्वरस्तोत्र (१३ श्लोक), (३) लक्ष्मीनृसिंहपञ्चरत्न (५ श्लोक), (४) लक्ष्मी-नृसिंहकरुणारसस्तोत्र (१७ श्लोक)।

(६) नदीतीर्थ-विषयक स्तोत्र

(१) नर्मदाष्टक (८ श्लोक), (२) गङ्गाष्टक (८ श्लोक), (३) यमुनाष्टक दो प्रकार का (८ श्लोक), (४) मणिकर्णिकाष्टक (८ श्लोक), (५) काशीपञ्चक (५ श्लोक)।

(७) साधारण स्तोत्र

(१) हनुमत्-पञ्चरत्न (६ श्लोक), (२) सुब्रह्मण्यभुजङ्ग (३३ श्लोक), (३) प्रातःस्मरणस्तोत्र (४ श्लोक), (४) गुर्वष्टक (९ श्लोक)।

प्रकरण ग्रन्थ

आचार्य शङ्कर ने बहुसंख्यक छोटे-छोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें वेदान्त के साधनभूत वैराग्य, त्याग, शमदमादि साधन सम्पत्ति

का तथा वेदान्त के मूल सिद्धान्तों का बड़ा ही मार्मिक वर्णन है। आचार्य ने सर्वसाधारण जनता तक अद्वैत-तत्त्व के सन्देश को पहुँचाने के लिये यह मनोरम प्रयत्न किया है। भाष्य विशेष कर विद्वज्जनों के काम की चीज़ है। सर्वसाधारण को उनके परिनिष्ठित सिद्धान्तों तथा उपादेय उपदेशों से परिचित करने के लिये इन प्रकरण-ग्रन्थों की रचना की गई है। ऐसे प्रकरण-ग्रन्थों की संख्या अधिक है; इनके प्रामाण्य तथा कर्तृत्व के विषय में समीक्षा करना यहाँ असम्भव है। केवल मुख्य-मुख्य प्रकरण-ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। ग्रन्थों के नाम अक्षर-क्रम से दिये गये हैं—

(१) अद्वैत-पञ्चरत्न—अद्वैत के प्रतिपादक पाँच श्लोक। प्रत्येक श्लोक के अन्त में 'शिवोऽहम्' आता है। इस पुस्तक का नाम कहीं-कहीं पर 'आत्म-पञ्चक' अथवा 'अद्वैत-पञ्चक' भी है। पञ्चक नाम होने पर भी कहीं-कहीं एक श्लोक अधिक मिलता है।

(२) अद्वैतानुभूति—अद्वैत-तत्त्व का ८४ अनुष्टुपों में वर्णन।

(३) अनात्मश्री-विगर्हण प्रकरण—आत्मतत्त्व के साक्षात्कार न करनेवाले व्यक्ति की निन्दा प्रदर्शित की गई है। श्लोक-संख्या १८। प्रत्येक के अन्त में 'येन स्वात्मा नैव साक्षात्कृतोऽभूत्' चतुर्थ चरण के रूप में आता है।

(४) अपरोक्षानुभूति—'अपरोक्षानुभवामृत' नामक ग्रन्थ इससे भिन्न प्रतीत होता है। १४४ श्लोक। अपरोक्ष अनुभव के साधन तथा स्वरूप का वर्णन।

आत्मपञ्चक 'अद्वैत-पञ्चरत्न' का ही दूसरा नाम है। यह कोई भिन्न ग्रन्थ नहीं है।

(५) आत्मबोध—६८ श्लोकों में आत्मा के स्वरूप का विशद विवरण। नाना उदाहरणों के द्वारा आत्मा की सत्ता शरीरादि वस्तुओं से पृथक् सिद्ध की गई है। बोधेन्द्र (गीर्वाणेन्द्र के शिष्य) ने इस ग्रन्थ के ऊपर 'भावप्रकाशिका' टीका लिखी है। गुरु गीर्वाणेन्द्र किसी

अद्वैत-पाठ के अध्यक्ष थे तथा शिष्य बोधेन्द्र त्रिपुरसुन्दरी के उपासक थे (तञ्जोर की हस्तलिखित पुस्तक-सूची पृ० सं० ७१७४)।

आत्मषट्क—निर्वाणषट्क (नं० १९) का नामान्तर।

(६) उपदेशपञ्चक—पाँच पद्यों में वेदान्त के आचरण का सम्यक् उपदेश।

(७) उपदेश-साहस्री—इस ग्रन्थ का पूरा नाम है 'सकलवेदोपनिषत्सारोपदेशसाहस्री'। इस नाम की दो पुस्तकें हैं—(१) गद्य-प्रबन्ध—गुरु-शिष्य के संवाद रूप में वेदान्त के तत्त्व गद्य में वर्णित हैं। (२) पद्य-प्रबन्ध—इसमें नाना विषयों पर १९ प्रकरण हैं। श्लोकों की संख्या भी अधिक है। इसके अनेक श्लोकों को सुरेश्वर ने अपनी 'नैष्कर्म्यसिद्धि' में उद्धृत किया है। इसकी शङ्कर-रचित वृत्ति सम्भवतः आचार्य की नहीं है। आनन्दतीर्थ तथा बोधनिधि की टीकाएँ मिलती हैं। रामतीर्थ ने गद्य, पद्य दोनों पर टीका लिखी है। वेदान्तदेशिक (१३०० ई०) ने शतदूषणी में गद्य-प्रबन्ध का उल्लेख किया है।

(८) एकश्लोकी—सब ज्योतियों से विलक्षण परम ज्योति का एक श्लोक में वर्णन। इस नाम से दो श्लोक प्रसिद्ध हैं, जिनमें से एक के ऊपर गोपाल योगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश यति का 'स्वात्मदीपन' नामक व्याख्यान है।

(९) कौपीनपञ्चक—वेदान्त-तत्त्व में रमण करनेवाले ज्ञानियों का वर्णन। प्रत्येक श्लोक का चतुर्थ चरण है—'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः।' इसी का नामान्तर 'यतिपञ्चक' है।

(१०) चर्पटपञ्जरिका—१७ श्लोकों में गोविन्द भजन का रसमय उपदेश। प्रत्येक श्लोक का टेक पद है—'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते'। नितान्त सरस सुबोध तथा गीतिमय पद्य। इसी का प्रसिद्ध नाम 'मोहमुद्गर' है। कहीं कहीं यह ग्रन्थ 'द्वादशमञ्जरी' या 'द्वादशपञ्चरिका' के नाम से भी प्रसिद्ध है। 'मोहमुद्गर' एक भिन्न प्रकार का भी है।

(११) जीवन्मुक्तानन्दलहरी—शिखरिणी वृत्त के १७ पद्यों में 'जीवन्मुक्त' पुरुष के आनन्द का ललित वर्णन। प्रत्येक पद्य का अन्तिम चरण है—'मुनिर्न व्यामोहं भजति गुरुदीक्षाक्षततमाः'।

(१२) तत्त्वबोध—वेदान्त के तत्त्वों का प्रश्नोत्तर रूप से संक्षिप्त गद्यात्मक वर्णन।

(१३) तत्त्वोपदेश—'तत्' तथा 'त्वं' पदों का अर्थ-वर्णन तथा गुरूपदेश से आत्मतत्त्व की अनुभूति। ८७ अनुष्टुप्।

(१४) दशश्लोकी—दश श्लोकों में आत्मतत्त्व का विवरण। इसका दूसरा नाम 'निर्वाणदशक' है। प्रत्येक श्लोक का अन्तिम चरण है—'तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम्'। इन श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या मधुसूदन सरस्वती ने की है जिसका नाम 'सिद्धान्त-बिन्दु' है।

(१५) द्वादशपञ्जरिका—१२ पद्यों में वेदान्त का सरस उपदेश। ये पद्य अपने साहित्यिक सौन्दर्य के लिये नितान्त विख्यात हैं।

(१६) धन्याष्टक—ब्रह्मज्ञान से अपने जीवन को धन्य बनानेवाले पुरुषों का रमणीय वर्णन। अष्टक होने पर भी कहीं-कहीं इसके अन्त में दो श्लोक और भी मिलते हैं।

(१७) निर्गुणमानस पूजा—गुरु-शिष्य-संवाद के रूप में निर्गुण तत्त्व की मानसिक पूजा का विवरण। इसमें ३३ अनुष्टुप् हैं। सगुण की उपासना के लिये पुष्पानुलेपन आदि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता रहती है, परन्तु निर्गुण की उपासना के लिये नाना मानसिक भावनाएँ ही इनका काम करती हैं। इसी का विस्तृत वर्णन इस ग्रन्थ में है।

(१८) निर्वाणमञ्जरी—१२ श्लोकों में शिवतत्त्व के स्वरूप का विवेचन। अद्वैत, व्यापक, नित्य शुद्ध आत्मा का कमनीय वर्णन।

(१९) निर्वाणषट्क—६ श्लोकों में आत्मरूप का वर्णन। प्रत्येक श्लोक के चतुर्थ चरण के रूप में 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्'

आता है। 'नेति नेति' के सिद्धान्त का दृष्टान्तों के द्वारा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

(२०) पञ्चीकरण प्रकरण—पञ्चीकरण का गद्य में वर्णन। सुरेश्वराचार्य ने इसके ऊपर वार्तिक लिखा है जिस पर शिव-रामतीर्थ का 'विवरण' मिलता है। इस 'विवरण' पर 'आभरण' नाम की एक और भी टीका मिलती है। गोपाल योगीन्द्र के शिष्य स्वयंप्रकाश की 'विवरण' व्याख्या के अतिरिक्त आनन्द गिरि ने भी इस पर 'विवरण' नामक टीका लिखी जिस पर कृष्णतीर्थ के किसी शिष्य ने 'तत्त्वचन्द्रिका' नामक व्याख्या लिखी है। ये दोनों टीकाएँ प्रकाशित हो गई हैं।

(२१) परा पूजा—६ पद्यों में परमात्मा की परा पूजा का वर्णन

(२२) प्रबोधसुधाकर—वेदान्ततत्त्व का नितान्त मञ्जुल विवेचन। २५७ आर्याओं में विषय की निन्दा कर वैराग्य तथा ध्यान का मनोरम प्रतिपादन।

(२३) प्रश्नोत्तररत्नमालिका—प्रश्न-उत्तर के द्वारा वेदान्त का उपदेश। ६७ आर्याओं का नितान्त लोकप्रिय ग्रन्थ।

(२४) प्रौढानुभूति—आत्मतत्त्व का लम्बे लम्बे १७ पद्यों में प्रौढ़ वर्णन।

(२५) ब्रह्मज्ञानावलीमाला—२१ अनुष्टुप् श्लोकों में ब्रह्म का सरल वर्णन। इसके कतिपय श्लोकों के चतुर्थ चरण में 'इति वेदान्त-डिण्डिमः' पद आता है, जिसमें वेदान्त के मूल तथ्यों का वर्णन किया गया है।

(२६) ब्रह्मानुचिन्तन—२९ पद्यों में ब्रह्म-स्वरूप का वर्णन।

(२७) मनीषापञ्चक—चण्डाल-रूपी शिव का शङ्कराचार्य के साथ संवाद-रूप से तत्त्वोपदेश। प्रत्येक पद्य के अन्त में आता है—'एषा मनीषा मम'। इसी कारण इस पञ्चक का नाम 'मनीषापञ्चक' है। इसके ऊपर सदाशिवेन्द्र की टीका तथा गोपाल बालयति रचित 'मधुमञ्जरी' नामक व्याख्या मिलती है।

(२८) मायापञ्चक—पाँच पद्यों में माया के स्वरूप का वर्णन।

(२६) मुमुक्षुपञ्चक—पाँच पद्यों में संसार से अलग हटकर मुक्ति पाने के उपदेश का वर्णन।

(३०) योगतारावली—२९ पद्यों में हठयोग तथा राजयोग का प्रामाणिक वर्णन। इस ग्रन्थ की नाम-समतावाली एक दूसरी योगतारावली है जिसके निर्माता का नाम 'नन्दिकेश्वर' है।

(३१) लघुवाक्यवृत्ति—१८ अनुष्टुप् पद्यों में जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन। इस पर 'पुष्पाञ्जलि' नामक टीका है जो विद्यारण्य के नाम-निर्देश होने से १४वीं शताब्दी के पीछे की रचना है।

(३२) वाक्यवृत्ति—'तत्त्वमसि' वाक्य के पदार्थ तथा वाक्यार्थ का विशद विवेचन। इसमें ५३ श्लोक हैं जिनके द्वारा तत्, त्वं पदों के अर्थ का निरूपण भली भाँति किया गया है। इसके ऊपर महायोग माधव प्राज्ञ के शिष्य विश्वेश्वर पण्डित की 'प्रकाशिका' टीका है।

(३३) वाक्यसुधा—यह आचार्य की रचना नहीं है। यद्यपि टीकाकार मुनिदास भूपाल ने इसकी रचना शङ्कर-कर्तृक मानी है, तथापि ब्रह्मानन्द भारती के मत में भारतीतीर्थ तथा विद्यारण्य इन दोनों आचार्यों की एक सम्मिलित रचना है। वाक्यसुधा के दूसरे टीकाकार विश्वेश्वर मुनि के मतानुसार विद्यारण्य ही इसके रचयिता हैं।

(३४) विज्ञाननौका—१० पद्यों में अद्वैत का निरूपण। प्रत्येक पद्य का चतुर्थ चरण है—'परं ब्रह्म नित्यं तदेवाहमस्मि'।

(३५) विवेकचूड़ामणि—अद्वैत-प्रतिपादक नितान्त विख्यात ग्रन्थ। यह ग्रन्थ बहुत बड़ा है। इसमें ५८१ छोटे-बड़े पद्य हैं जिनमें वेदान्त के रहस्यों का प्रतिपादन नाना सुन्दर दृष्टान्तों के द्वारा किया गया है।

(३६) वैराग्यपञ्चक—५ श्लोकों में वैराग्य का नितान्त साहित्यिक रसमय वर्णन।

(३७) शतश्लोकी—सौ श्लोकों में वेदान्त का निरूपण।

(३८) षट्पदी—६ पद्यों का नितान्त प्रसिद्ध ग्रन्थ।

(३९) सदाचारानुसन्धान—५५ श्लोकों में चित्तत्त्व का प्रतिपादन।

(४०) सर्ववेदान्तसिद्धान्तसारसंग्रह—इस विपुलकाय ग्रन्थ में वेदान्त के सिद्धान्तों का निरूपण है। श्लोकों की संख्या एक हज़ार छः (१००६) है। गुरु-शिष्य के संवाद रूप से विषय का मनोरम प्रतिपादन किया गया है।

(४१) सर्वसिद्धान्तसारसंग्रह—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है जिसमें षड् दर्शनों तथा अवैदिक दर्शनों का श्लोकबद्ध वर्णन है। परन्तु यह शङ्कराचार्य की रचना नहीं प्रतीत होता। इस ग्रन्थ के अनुसार पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा तथा देवताकाण्ड (संकर्षणकाण्ड) एक ही अभिन्न शास्त्र हैं, परन्तु शङ्कर के मत में पूर्व और उत्तर मीमांसा भिन्न भिन्न शास्त्र स्वीकृत किये गये हैं (द्रष्टव्य ब्र० सू० १।१।१ पर शाङ्कर भाष्य)।

स्वरूपानुसन्धानाष्टक—कोई नई पुस्तक नहीं है। 'विज्ञाननौका' (नं० ३४) का ही नामान्तर है।

(४२) स्वात्मनिरूपण—१५६ पद्यों में आत्मतत्त्व का नितान्त विशद तथा विस्तृत विवेचन। गुरु-शिष्य-संवाद रूप से यह विवेचन है।

(४३) स्वात्मप्रकाशिका—आत्मस्वरूप का ६८ श्लोकों में सुबोध रुचिर निरूपण।

साधनपञ्चक—उपदेश-पञ्चक (नं० ६) का नामान्तर है। कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं।

सौन्दर्यलहरी आचार्य का बड़ा ही रमणीय तथा पाण्डित्यपूर्ण स्तोत्र-ग्रन्थ है। संस्कृत स्तोत्र-ग्रन्थों में ऐसा अनुपम ग्रन्थ मिलना कठिन है। प्रसिद्धि है कि स्वयं महादेवजी ने कैलास पर आचार्य को सौन्दर्यलहरी दी थी। काव्य की दृष्टि से यह जितना अभिराम तथा सरस है, पाण्डित्य की दृष्टि से यह उतना ही प्रौढ़ तथा महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में आचार्य ने तान्त्रिक सिद्धान्तों का सार-अंश उपस्थित कर दिया है। इसके ऊपर लक्ष्मीधर की टीका सबसे प्रसिद्ध है। यह स्तोत्र इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि आचार्य श्रीविद्या के उपासक थे।

प्रपञ्चसार—तान्त्रिक परम्परा से आदि-शङ्कर ही इस तन्त्र ग्रन्थ के रचयिता हैं, यद्यपि आधुनिक कतिपय आलोचकों की दृष्टि में यह बात सन्दिग्ध है। इसकी विवरण टीका के रचयिता पद्मपाद माने जाते हैं। उनकी सम्मति में इस ग्रन्थ के रचयिता शङ्कराचार्य ही हैं जिन्होंने 'प्रपञ्चागम' नामक किसी प्राचीन तन्त्र का सार इस ग्रन्थ में रक्खा है (इह खलु···भगवान् शङ्कराचार्यः ········ समस्तागमसारसंग्रहप्रपञ्चागमसारसंग्रहरूपं ग्रन्थं चिकीर्षुः)। इसकी पुष्टि अन्यत्र भी की गई है। अमरप्रकाश-शिष्य उत्तमबोधाचार्य ने प्रपञ्चसार-सम्बन्ध-दीपिका टीका में लिखा है कि प्रपञ्चसार प्रपञ्चागम नामक किसी प्राचीन ग्रन्थ का सार है, यह कोई शङ्कर का अभिनव ग्रन्थ नहीं है (मद्रास की सूची नं० ५२९९)। 'प्रपञ्चसार-विवरण' की टीका 'प्रयोगक्रमदीपिका' में स्पष्ट लिखा है कि पद्मपाद ने अपने गुरु के प्रति आदर-प्रदर्शन के निमित्त 'भगवान्' पद का प्रयोग किया है (भगवानिति पूजा स्वगुर्वनुस्मरणं ग्रन्थारम्भे क्रियते)। प्रपञ्चसार का मङ्गलश्लोक 'शारदा' की स्तुति में है। इसका रहस्य क्रमदीपिका के अनुसार यह है कि काश्मीर में रहते समय ही शङ्कराचार्य ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। अतः उन्होंने उस क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी 'शारदा' की स्तुति की है (काश्मीरमण्डले प्रसिद्धेयं देवता। तत्र निवसता आचार्येणायं ग्रन्थः कृत इति

तदनुस्मरणोपपत्तिः सकलागमानामधिदेवतेयमिति पृष्ठ ३८२*)। शारदा-तिलक के टीकाकार राघवभट्ट, षट्चक्र निरूपण के टीकाकार कालीचरण आदि तन्त्रवेत्ता टीकाकारों के मत में यह ग्रन्थ आदिशङ्कर का ही है। वेदान्त के पण्डितों ने भी इसे आदिशङ्कर की कृति माना है। अमलानन्द ने 'वेदान्तकल्पतरु' (१।३।३३) में इसे आचार्यकृत माना है—तथा चावोचन्नाचार्याः प्रपञ्चसारे—

अवनिजलानलमारुतविहायसां शक्तिभिश्च तद्बिम्बैः
सारूप्यमात्मनश्च प्रतिनीत्वा तत्तदाशु जयति सुधीः।

ब्र० सू० १।३।३३ के भाष्य के अन्त में आचार्य ने श्रुति द्वारा योग-माहात्म्य के प्रतिपादन करने के निमित्त 'पृथिव्यप्तेजोऽनिलखे समुत्थिते' (श्वेता० २।१४) को उद्धृत किया है। इसी मन्त्र के अर्थ को पुष्ट करने के लिये अमलानन्द ने प्रपञ्चसार का श्लोक उद्धृत किया है।† इतना ही नहीं, नृसिंहपूर्वतापनीय के भाष्य में भी शङ्कर ने प्रपञ्चसार से अनेक श्लोक ही नहीं उद्धृत किये हैं प्रत्युत प्रपञ्चागमशास्त्र को अपनी ही कृति बतलाया है—अतएव हृदयाद्यंगमंत्राणामर्थव्याचक्षणैर-स्माभिरुक्तं प्रपञ्चागमशास्त्रे हृदयं बुद्धिगम्यत्वात् (प्रपञ्चसार ६।७, पृष्ठ ८०)। इस उद्धरण में ग्रन्थ का नाम 'प्रपञ्चागम' दिया गया है, परन्तु इसी उपनिषद्-भाष्य में (४।२) इसे 'प्रपञ्चसार' ही कहा गया है। इन प्रमाणों के आधार पर आदिशङ्कर को ही 'प्रपञ्चसार' का रचयिता मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

---

* विवरण तथा प्रयोगक्रमदीपिका के साथ प्रपञ्चसार कलकत्ते से 'तान्त्रिक टेक्स्ट्स' नामक ग्रन्थमाला (नं० १८-१९) में दो भागों में प्रकाशित हुआ है।

† प्रपञ्चसार के १९वें पटल में यह ५७वाँ श्लोक है (पृष्ठ २३२)। अन्तर इतना है कि 'तद्बिम्बैः' के स्थान पर 'तद्बीजैः' पाठ है। विवरण में इस पद्य की व्याख्या नहीं है, पर अमलानन्द तथा अप्पयदीक्षित ने अर्थ किया है।

६—आचार्य का शिष्य-वर्ग

आचार्य शङ्कर जिस प्रकार अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न विद्वान् थे, दैवयोग से उन्हें वैसे शिष्यों की भी प्राप्ति हो गई थी। श्रीविद्यार्णवतन्त्र के अनुसार (प्रथम श्वास, श्लोक ५२-९७) उनके १४ शिष्य बतलाये जाते हैं जिनमें ५ शिष्य संन्यासी थे और ९ शिष्य गृहस्थ। यह तन्त्र श्रीविद्या की परम्परा के अनुकूल है और पर्याप्तरूपेण प्रामाणिक है, परन्तु इस शिष्य-परम्परा का कहीं अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता। प्रसिद्ध बात तो यह है कि आचार्य के चार पट्टशिष्य थे और ये चारों संन्यासी थे जिन्हें उन्होंने अपने स्थापित चारों पीठों पर अध्यक्ष बनाया। इनके नाम हैं—(१) सुरेश्वराचार्य, (२) पद्मपादाचार्य, (३) हस्तामलकाचार्य तथा (४) ते।(त्रो)टकाचार्य। इन शिष्यों में प्रथम दो—सुरेश्वर तथा पद्मपाद—अलौकिक विद्वान् थे और अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों की रचना कर इन्होंने गुरूपदिष्ट अद्वैत मत का विपुल प्रचार किया। परन्तु हस्तामलक तथा तोटक के विषय में हमारी जानकारी बहुत ही कम है।

(१) सुरेश्वराचार्य आचार्य के पट्टशिष्यों में से थे। पूर्वाश्रम में इनका नाम मण्डन मिश्र था तथा वे प्रथमतः कुमारिल के शिष्य थे और प्रौढ़ मीमांसक थे। आचार्य ने इन्हें शास्त्रार्थ में परास्त कर संन्यास की दीक्षा दी तब ये सुरेश्वराचार्य नाम से प्रसिद्ध हुए।* इन्होंने नैष्कर्म्य-सिद्धि, तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, बृहदारण्यकोपनिषद्भाष्य-

---

* शङ्करदिग्विजयों के आधार पर सुरेश्वर और मण्डन की अभिन्नता प्रमाण-सिद्ध है। सम्प्रदाय इसी की पुष्टि करता है। परन्तु दोनों के अद्वैत विषय में भी मतभेद के कारण नवीन विद्वान् लोग इस विषय में संशयालु हैं। मण्डन मिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' अभी हाल में मद्रास से प्रकाशित हुई है। इसमें निर्दिष्ट मत सुरेश्वर के मत से भिन्न पड़ता है। जिज्ञासु जनों को अधिक जानकारी के लिये 'ब्रह्मसिद्धि' की भूमिका देखनी चाहिए।

फा०

वार्तिक, दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक (अथवा मानसोल्लास), पञ्चीकरण-वार्तिक आदि नितान्त विद्वत्तामय प्रौढ़ ग्रन्थों को बनाया था। इन्हीं वार्तिकों की रचना के हेतु ये वेदान्त के इतिहास में 'वार्तिककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनका दूसरा नाम विश्वरूपाचार्य भी था और इस नाम से याज्ञवल्क्यस्मृति की जो 'बालक्रीडा' टीका उपलब्ध है वह सुरेश्वर ही की कृति मानी जाती है। बालक्रीडा के अतिरिक्त 'श्राद्धकलिका' नामक श्राद्ध-विषयक कोई ग्रन्थ इनका बनाया हुआ था जिसका उल्लेख इसी टीका में है। धर्मशास्त्र में इनका एक अन्य गद्यपद्यात्मक ग्रन्थ है जिसमें आचार का प्रतिपादन है। इस प्रकार सुरेश्वर ने धर्मशास्त्र तथा अद्वैत-वेदान्त उभय शास्त्रों पर प्रौढ़ और उपादेय ग्रन्थों का निर्माण कर वैदिक धर्म के मार्ग को विशेष रूप से परिष्कृत कर दिया।

(२) पद्मपाद—इनका यथार्थ नाम 'सनन्दन' था। ये चोल देश के निवासी थे। बाल्यकाल में ही अध्ययन के निमित्त ये काशी आये और यहीं पर आचार्य से इनकी भेंट हुई तथा आचार्य ने इन्हें संन्यास-दीक्षा देकर अपना शिष्य बना लिया। ये बड़े भक्त शिष्य थे। इनकी गुरु-भक्ति की परीक्षा आचार्य ने शिष्य-मण्डली के द्वेषभाव को दूर करने के लिये ली थी। इसका उल्लेख पीछे किया गया है। इनकी सर्वप्रसिद्ध रचना है—पञ्चपादिका जो ब्रह्मसूत्र-भाष्य के प्रथमांश की वृत्ति है। इसके जलाये जाने तथा उद्धार किये जाने की बात पीछे दी गई है। इस ग्रन्थ के ऊपर प्रकाशात्म यति ने 'विवरण' नामक टीका लिखी है और इस विवरण की विशेष दो व्याख्याएँ प्रसिद्ध हैं—विद्यारण्य स्वामी का 'विवरण-प्रमेयसंग्रह' तथा अखण्डानन्द का 'तत्त्वदीपन'। अद्वैत वेदान्त के 'विवरण प्रस्थान' का मूल ग्रन्थ यही पञ्चपादिका है। इनका दूसरा ग्रन्थ है—विज्ञानदीपिका (प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशित) जिसमें 'कर्म' का सांगोपांग विवेचन है। प्रपञ्चसार की विवरण-टीका पद्मपाद की ही कृति मानी जाती है। यह कलकत्ते से प्रकाशित हुई है। इनके अतिरिक्त इन्होंने शिव के पञ्चाक्षर मन्त्र की विशद व्याख्या लिखी है।

नाम है—पञ्चापदीभाष्य। इस भाष्य की काशी के ख्यातनामा रामनिरञ्जन स्वामी ने बड़ी विद्वत्तापूर्ण व्याख्या लिखी है जो 'पञ्चापदी-भाष्यतत्त्वप्रकाशिका' के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार पद्मपादाचार्य अद्वैत के अतिरिक्त तन्त्रशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित प्रतीत होते हैं।

(३) हस्तामलक—इनका दूसरा नाम पृथ्वीधराचार्य था। इनके आचार्य के शिष्य होने की कथा विस्तार के साथ शङ्करदिग्विजय में दी गई है, जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये जन्म से ही विरक्त थे। इतने अलौकिक थे कि संसार के किसी भी प्रपञ्च में ये बँधे न थे। ये जीवन्मुक्त थे, उन्मत्त की भाँति रहते थे। आचार्य ने जब इनका परिचय पूछा तब इन्होंने अपने स्वरूप का जो आध्यात्मिक परिचय दिया वही 'हस्तामलक' स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें केवल १२ पद्य हैं। इसके ऊपर एक भाष्य भी मिलता है जो श्रीरङ्गम् की शङ्कर ग्रन्थावली में छापा गया है और आचार्य की कृति माना जाता है। कुछ लोगों को इस विषय में सन्देह भी है। इस स्तोत्र की 'वेदान्तसिद्धान्तदीपिका' नामक एक टीका भी प्रसिद्ध है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इनकी किसी अन्य रचना का पता नहीं चलता।

(४) तोटकाचार्य (त्रोटकाचार्य)—इनका प्रसिद्ध नाम आनन्द गिरि था। मठाम्नाय में लिखा है—'तोटकं चानन्दगिरिं प्रणमामि जगद्-गुरुम्।' माधव के शङ्करविजय में उनके संक्षिप्त नाम 'गिरि' का ही उल्लेख मिलता है। परन्तु शङ्कर के भाष्यों पर वृत्ति लिखनेवाले विख्यातनामा 'आनन्दगिरि' इनसे बहुत पीछे हुए हैं। दोनों भिन्न-भिन्न समय के आचार्य हैं। गिरि की गुरुभक्ति का उज्ज्वल निदर्शन इसी ग्रन्थ में दिया गया है। गिरिजो एक बार अपना कौपीन धोने के लिये तुङ्गभद्रा के किनारे गये थे, तब इनकी प्रतीक्षा में शङ्कर ने पाठ बन्द कर रखा। शिष्यों को यह बहुत बुरा लगा कि गुरुजी ऐसे वज्रमूर्ख शिष्य पर इतनी अनुकम्पा रखते हैं। आचार्य ने शिष्यों की भावना समझ ली और

अपनी अलौकिक शक्ति से चतुर्दश विद्याएँ इनमें संक्रमित कर दीं। आते ही ये तोटक वृत्तों में अध्यात्म का विवेचन करने लगे। आचार्य की अनुकम्पा का सद्यःफल देखकर शिष्य-मण्डली आश्चर्य से चकित हो गई। इनके नाम के साथ काल-निर्णय, तोटकव्याख्या, तोटक श्लोक, श्रुतिसारसमुद्धरण आदि ग्रन्थ सूची-ग्रन्थों में उल्लिखित किये गये हैं। काशी के एक विद्वान् के पास वेदान्त पर एक बड़ा गद्यात्मक ग्रन्थ इनका लिखा हुआ है। इसकी विशेष छान-बीन करने पर अनेक तथ्यों का पता चलेगा, ऐसी आशा है।

आनन्दगिरि तथा चिद्‌विलासयति के 'शङ्करविजय' में पूर्वोक्त विख्यात चार शिष्यों के अतिरिक्त अन्य शिष्यों के भी नाम दिये गये हैं। इनकी प्रामाणिकता कितनी है, ठीक ठीक कहा नहीं जा सकता, तथापि इन नामों का उल्लेख आवश्यक समझकर यहाँ किया जाता है। शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—चित्सुखाचार्य, समित्पाण्याचार्य, विष्णु-गुप्ताचार्य, शुद्धकीर्त्याचार्य, भानुमरीच्याचार्य, कृष्णदर्शनाचार्य, बुद्धि-वृद्ध्याचार्य, विरञ्चिपादाचार्य, शुद्धानन्दगिर्याचार्य, मुनीश्वराचार्य, धीमदाचार्य, लक्ष्मणाचार्य आदि, आदि।

७—वैदिक धर्म का प्रचार

आचार्य के जीवन का प्रधान लक्ष्य वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा प्रचार था। उनके समय से पूर्व अवैदिक धर्मों ने अपने वेद-विरुद्ध सिद्धान्तों का प्रचुर प्रचार कर वैदिक मार्ग के पालन में जनता के हृदय में अश्रद्धा पैदा कर दी थी। वेद के तथ्यों को अपसिद्धान्त का रूप देकर इनके अनुयायियों ने इस धर्म को जर्जरित करने का पर्याप्त प्रयत्न किया था। शङ्कर ने अपनी अलौकिक विद्वत्ता के बल पर इन समग्र अवैदिक या अर्धवैदिक सिद्धान्तों की धज्जियाँ उड़ा दीं, उनकी निःसारता प्रमाणित कर दी तथा वेद-प्रतिपाद्य अद्वैत मत का विपुल ऊहापोह कर श्रौत धर्म को निरापद बना दिया। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के निमित्त आचार्य ने अनेक व्यापक तथा उपादेय साधनों का अवलम्बन लिया।

शास्त्रीय विचार से तर्क पक्ष का अवलम्बन कर आचार्य ने विरुद्ध मतवादों के अपसिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन कर दिया। इन अवैदिकों ने भारत के अनेक पुण्यक्षेत्रों को अपने प्रभाव से प्रभावित कर वहाँ अपना अड्डा जमा लिया था। आचार्य ने इन पुण्यक्षेत्रों को इनके चङ्गुल से हटाकर उन स्थानों की महत्ता फिर से जागृत की। दृष्टान्त रूप से 'श्रीपर्वत' को लिया जा सकता है। यह स्थान नितान्त पवित्र है, द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से प्रधान लिङ्ग 'मल्लिकार्जुन' का यह स्थान है, परन्तु कापालिकों की काली करतूतों ने इसे विद्वानों की दृष्टि में काफ़ी बदनाम कर रक्खा था। कापालिकों की उग्रता इसी से समझी जा सकती है कि कर्नाटक की उज्जैनी नगरी में 'क्रकच' कापालिकों का एक प्रभावशाली सरदार था। उसके पास हथियारबन्द सेना रहती थी। जिसे वह चाहता झट अपने वश में कर लेता था। उग्र कापालिक तो आचार्य के ऊपर ही अपना हाथ साफ़ करने जा रहा था, परन्तु पद्मपाद के मन्त्र-बल ने उसके पापकृत्य का मज़ा उसे ही चखा दिया। पाप का विषमय फल तुरन्त फला। आचार्य ने इन पवित्र स्थानों को वैदिक मार्ग पर पुनः प्रतिष्ठित किया। आनन्दगिरि ने अपने ग्रन्थ में कापालिकों, शाक्तों तथा नाना प्रकार के सम्प्रदायभुक्त व्यक्तियों को परास्त कर पुण्य तीर्थों में वैदिक धर्म की उपासना को पुनः प्रचारित करने का पर्याप्त उल्लेख किया है।

(२) वैदिक ग्रन्थों के प्रति अश्रद्धा का कारण उनकी दुरूहता भी थी। उपनिषदों का रहस्य क्या है! इस प्रश्न के उत्तर में जब पण्डितों में ही ऐकमत्य नहीं है, तब साधारण जनता किस मत को अङ्गीकार करे। आचार्य ने इसी लिये श्रुति के मस्तकरूप उपनिषदों की विशद व्याख्या कर उनके गूढ़ अर्थ को प्रकट किया तथा ब्रह्मसूत्र और गीता पर अपने सुबोध, प्रसन्न गम्भीर भाष्य लिखे। साधारण लोगों के निमित्त उन्होंने प्रकरण ग्रन्थों की रचना कर अपने भाष्य के सिद्धान्त को बोधगम्य भाषा में, सरस श्लोकों के द्वारा, अभिव्यक्त किया। इतना ही नहीं,

अपने ग्रन्थों के विपुल प्रचार की अभिलाषा से इन्होंने अपने शिष्यों को भी वृत्ति तथा वार्तिक लिखने के लिये उत्साहित किया। शिष्यों के हृदय में आचार्य की प्रेरणा प्रभावशालिनी सिद्ध हुई। उन्होंने इस विषय में आचार्य के कार्य का अनुकरण किया और आज जो विपुल ग्रन्थ-राशि अद्वैत के प्रतिपादन के लिये प्रस्तुत की गई है उसकी रचना की प्रेरणा का मूल स्रोत आचार्य के ग्रन्थों से प्रवाहित हो रहा है। उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर दिया था जिससे समग्र देश की जनता उनके द्वारा प्रचारित धर्म का मर्म समझ सके और कोई भी अद्वैत मत के उपदेश से वञ्चित न रह जाय।

(३) धर्म-स्थापन के कार्य को स्थायी बनाने के लिये उन्होंने संन्यासियों को सङ्घबद्ध करने का उद्योग किया। गृहस्थ अपने ही कामों में चूर है, अपने जीवन के कार्यों को सुलझाने में व्यस्त है, उसे अवकाश कहाँ कि वह धर्म-प्रचार के लिये अपना समय दे सके, परन्तु वैदिक समाज का संन्यासीवर्ग इस कार्य के लिये सर्वथा उपयुक्त है। आचार्य की पैनी दृष्टि ने इसी लिये इस वर्ग की महत्ता पहचानी और उसे सङ्घ रूप में सङ्गठित करने का नितान्त श्लाघनीय उद्योग किया। विरक्त पुरुष धर्म का सच्चा उपदेष्टा हो सकता है तथा अपने जीवन को वैदिक धर्म के अभ्युत्थान, अभ्युदय तथा मङ्गल साधन में लगा सकता है। आचार्य ने इस विरक्त तापस वर्ग को एकत्र कर, एक सङ्घ के रूप में बाँधकर, वैदिक धर्म के भविष्य कल्याण के लिये महान् कार्य सम्पन्न कर दिया है।

(४) उन्होंने भारत भूमि की चारों दिशाओं में चार प्रधान मठ स्थापित कर दिये। इनमें ज्योतिर्मठ (प्रचलित नाम जोशी मठ) बदरिकाश्रम के पास है, शारदा मठ द्वारका पुरी में, शृङ्गेरी मठ रामेश्वरक्षेत्र में, तथा गोवर्धन मठ जगन्नाथ पुरी में विद्यमान है। इन मठों का अधिकार-क्षेत्र आचार्य ने निश्चित कर दिया। भारत का उत्तरी तथा मध्य का भूभाग—कुरु, काश्मीर, कम्बोज, पाञ्चाल आदि देश—ज्योतिर्मठ के शासन के अधिकार में रखा गया। सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र तथा महाराष्ट्र

प्रभृति देश अर्थात् भारत का पश्चिम भाग द्वारका-स्थित शारदा मठ के शासन में था; आन्ध्र, द्रविड़, कर्नाटक, केरल आदि प्रान्त अर्थात् भारत का दक्षिणी भाग शृंगेरी मठ के शासनाधीन हुआ। अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, उत्कल तथा बर्बर देश गोवर्धन मठ के शासनाधीन हुआ। इस प्रकार की व्यवस्था का उद्देश्य नितान्त महत्त्वपूर्ण है कि आचार्य के अनन्तर भी वर्णाश्रम धर्म समग्र देश में वेदान्त के दृढ़ आश्रय में सुरक्षित रहकर इन मठों तथा मठाधीशों की छत्रछाया में अपना प्रभाव फैलाता रहे। प्रत्येक मठ का कार्यक्षेत्र पृथक् पृथक् था। मठ के अध्यक्षों का प्रधान कार्य है अपने क्षेत्र के अन्तर्भुक्त वर्णाश्रम-धर्मावलम्बियों में धर्म की प्रतिष्ठा दृढ़ रखना तथा तदनुकूल उपदेश देना। ये अध्यक्ष आचार्य शङ्कर के प्रतिनिधि रूप हैं। इसी कारण वे भी 'शङ्कराचार्य' कहलाते हैं।

आचार्य ने इन चार मठों में अध्यक्ष के रूप में अपने चारों पट्ट शिष्यों को नियुक्त किया, परन्तु किस शिष्य को किस स्थान पर रखा?

मठ के आदि-आचार्यों का नाम-निर्णय

इस विषय में मठाम्नाय में हम ऐकमत्य नहीं पाते। किसी मत में गोवर्धन मठ का अध्यक्ष पद दिया गया पद्मपाद को, शृंगेरी का पृथ्वीधर (हस्तामलक) को और शारदा मठ का विश्वरूप (सुरेश्वर) को परन्तु मतान्तर में गोवर्धन मठ में हस्तामलक, द्वारका मठ में पद्मपाद, शृंगेरी मठ में विश्वरूप तथा ज्योतिर्मठ में तोटक के अध्यक्ष पद पर नियुक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार मठाम्नाय में पाठ-भेद होने से इस विषय में काफ़ी मतभेद है। इस विवाद के निर्णय की एक दिशा है जिधर विद्वानों का ध्यान यहाँ आकृष्ट किया जा रहा है।

वैदिक सम्प्रदाय में वेदों का सम्बन्ध भिन्न भिन्न दिशाओं के साथ माना जाता है—ऋग्वेद का सम्बन्ध पूर्व दिशा से है, यजुर्वेद का दक्षिण दिशा से, सामवेद का पश्चिम से तथा अथर्व वेद का उत्तर से। याग के अवसर पर यही पद्धति प्रचलित है। शङ्कराचार्य ने मनमाने ढङ्ग

से शिष्यों को मठों में नियुक्त नहीं किया, प्रत्युत उनके चुनाव में एक विशिष्ट नियम का पालन उन्होंने किया है। जिस आचार्य का जो वेद था उसकी नियुक्ति उसी वेद से सम्बद्ध दिशा में की गई। आचार्य पद्मपाद काश्यपगोत्री ऋग्वेदी ब्राह्मण थे। मठाम्नाय का प्रमाण इस विषय में अकाट्य है—

गोवर्धनमठे रम्ये विमलापीठसंज्ञके।
पूर्वाम्नाये भोगवारे श्रीमत् काश्यपगोत्रजः।
माधवस्य सुतः श्रीमान् सनन्दन इति श्रुतः।
प्रकाशब्रह्मचारी च ऋग्वेदी सर्वशास्त्रवित्।
श्रीपद्मपादः प्रथमाचार्यत्वेनाभ्यषिच्यत॥

अतः ऋग्वेदी पद्मपाद को आचार्य ने ऋग्वेद की दिशा—पूर्व दिशा—में नियुक्त किया। शृङ्गेरी मठ में विश्वरूप (सुरेश्वर) की नियुक्ति प्रमाणसम्मत प्रतीत होती है—इस कारण नहीं कि प्रधान पीठ पर सर्व-प्रधान शिष्य को रखना न्यायसङ्गत होता, प्रत्युत उनके वेद के कारण ही ऐसा किया गया था। सुरेश्वर शुक्लयजुर्वेद के अन्तर्गत काण्वशाखा-ध्यायी थे। इस विषय में माधव ने शङ्करदिग्विजय में लिखा है—

तद्वत् त्वदीया खलु काण्वशाखा
  ममापि तत्रास्ति तदन्तभाष्यम्।
तद्वार्तिकं चापि विधेयमिष्टं
  परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः॥ १३-६६॥

आचार्य शङ्कर ने सुरेश्वर को दो उपनिषद्-भाष्यों पर वार्तिक लिखने का आदेश दिया था—तैत्तिरीय उप० भाष्य पर, क्योंकि शङ्कर की अपनी शाखा तैत्तिरीय थी तथा बृहदारण्यक भाष्य पर, क्योंकि सुरेश्वर की शाखा शुक्ल यजुः की काण्व शाखा थी—

सत्यं यदात्थ विनयिन् मम याजुषी या
  शाखा तदन्तगतभाष्यनिबन्ध इष्टः।

तद्वार्तिकं मम कृते भवता विधेयं
सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम्॥ १३-६५॥

सुरेश्वराचार्य के इन्हीं दोनों उपनिषद्-भाष्यों पर वार्तिक-रचना का रहस्य इसी घटना में छिपा हुआ है। यजुर्वेद से सम्बद्ध दिशा दक्षिण है। अतः आचार्य ने इन्हें ही शृङ्गेरी मठ का अध्यक्ष बनाया था। तोटकाचार्य उत्तर दिशास्थ ज्योतिर्मठ के अध्यक्ष बनाये गये, इस विषय में किसी को विमति नहीं है। इनके अथर्ववेदी होने के कारण यह चुनाव किया गया होगा, इसका हम अनुमान कर सकते हैं। हस्तामलक की नियुक्ति परिशेषात् द्वारकामठ के अध्यक्ष-पद पर की गई थी। यही परम्परा न्यायानुमोदित प्रतीत होती है। अतः इन चारों मठों के आदि आचार्यों के नाम इस प्रकार होना चाहिए—

पद्मपाद	ऋग्वेदी	पूर्वदिशा	गोवर्धन मठ
सुरेश्वर	यजुर्वेदी	दक्षिण	शृङ्गेरी "
हस्तामलक	सामवेदी	पश्चिम	शारदा "
तोटक	अथर्ववेदी	उत्तर	ज्योतिर्मठ

पूर्वोक्त अनुशीलन की पुष्टि गोवर्धनमठ के प्रधान अधिकारी के द्वारा प्रकाशित मठाम्नाय से भली भाँति हो रही है जो पाठकों के सुभीते के लिये परिशिष्ट रूप में इस ग्रन्थ के साथ प्रकाशित किया जा रहा है।

'मठाम्नायसेतु' के अनुसार अद्वैतमत के ७ आम्नाय हैं तथा प्रत्येक आम्नाय के सम्प्रदाय, मठ, अङ्कित नाम, क्षेत्र, देव-देवी, आचार्य, तीर्थ, ब्रह्मचारी, वेद, महावाक्य, स्थान, गोत्र तथा शासनाधीन देश के नाम भिन्न भिन्न हैं। इस विषय की सुगमता के लिये यहाँ एक तालिका दी जा रही है जिस पर दृष्टिपात करते ही इन विभिन्न विषयों का परिचय अनायास ही हो जायगा। 'आम्नाय' का विषय नितान्त महत्त्वपूर्ण है, परन्तु इसकी समीक्षा समग्र उपलब्ध साधनों की सहायता से अपेक्षित है। कालान्तर में इसके प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायगी।

न

संख्या	आम्नाय	सम्प्रदाय	मठ-नाम	अङ्कितनाम	अद्वैत मठाम्नाय क्षेत्र-नाम	देव	देवी-शक्ति	आचार्य	तीर्थ	ब्रह्मचारी	वेद	महावाक्य	स्थान	गोत्र	शासनाधीश (आयत्त) देशों के नाम
१	पश्चिम	कीटवार	शारदामठ	तीर्थ, आश्रम	द्वारका	सिद्धेश्वर	भद्रकाली	विश्वरूप	गोमती	स्वरूप	सामवेद	तत्त्वमसि	द्वारका	अविगत	सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि
२	पूर्व	भोगवारः	गोवर्धन	वन, अरण्य	पुरुषोत्तम	जगन्नाथ	विमलादेवी	पद्मपाद	महोदधि	प्रकाशक	ऋग्वेद	प्रज्ञानं ब्रह्म	जगन्नाथ	काश्यप	अङ्ग, वङ्ग, कलिंग, उत्कल बर्बर आदि
३	उत्तर	आनन्दवार	ज्योतिर्मठ	गिरि, पर्वत सागर	बदरिकाश्रम	नारायण	पूर्णागिरि	तोटक	अलकनन्दा	आनन्द	अथर्व	अयमात्मा ब्रह्म	बदरी	भृगु	कुरु, काश्मीर पांचाल, कम्बोज आदि
४	दक्षिण	भूरिवार	शृङ्गेरी	सरस्वती भारती, पुरी	रामेश्वर	आदिवराह	कामाक्षी, (शारदा)	पृथ्वीधर (हस्तामलक)	तुंगभद्रा	चैतन्य	यजुर्वेद	अहं ब्रह्मास्मि	शृंगेरी	भूर्भुवः	आन्ध्र, द्रविड़, केरल, कर्णाट आदि
५	ऊर्ध्वाम्नाय	काशी	सुमेरु	सत्य ज्ञान	कैलास	निरञ्जन	माया	महेश्वर	मानसं ब्रह्म तत्त्वावगाहितम्		सामवेद				
६	आत्माम्नाय	सत्त्वतोषिः	परमात्ममठ	योग	नभस्सरोवर	परमहंस	मानसी-माया	चेतन	त्रिपुटी	संन्यास	वेदान्त-वाक्य				
७	निष्कलाम्नाय	सच्छिष्यः	सहस्रार्क-द्युतिमठ	गुरुपादुका	अनुभव	विश्वरूप	चिच्छक्ति	सद्गुरु	सत्शास्त्र श्रवणम्	संन्यास					

चारों आम्नायों से सम्बद्ध पीठों का विवेचन ऊपर किया गया है। ऊर्ध्वाम्नाय के अन्तर्गत काशी का सुमेरु मठ माना जाता है जहाँ आचार्य शङ्कर ने 'महेश्वर' नामक शिष्य को अध्यक्ष-पद पर नियुक्त किया। अन्तिम दोनों आम्नायों—आत्माम्नाय तथा निष्कलाम्नाय—का रहस्य गूढ़ है। इनका सम्बन्ध भौतिक जगत् से न होकर आध्यात्मिक जगत् से है। अतः इनका विवेचन यहाँ अनावश्यक है। चारों मठों के अतिरिक्त काञ्ची का कामकोटि पीठ भी आचार्य से स्थापित पीठों में अन्यतम माना जाता है। वहाँ के अध्यक्ष पदारूढ़ आचार्यों ने कामकोटि को सर्वप्रधान पीठ सिद्ध करने के लिये अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों को रखने की चेष्टा की है। उनका कथन है कि शङ्कर ने चारों मठों पर अपने शिष्यों को नियुक्त किया तथा अपने लिये काञ्ची को पसन्द किया। यहीं योगलिङ्ग तथा भगवती कामाक्षी की पूजा-अर्चा में अपना अन्तिम समय बिताकर आचार्य ने यहीं अपने भौतिक शरीर को छोड़ा था। काञ्चीस्थित आम्नाय का नाम है—मौलाम्नाय, पीठ—कामकोटि, मठ—शारदा, आचार्य—शङ्कर भगवत्पाद, क्षेत्र—सत्यव्रत काञ्ची, तीर्थ—कम्पासर, देव—एकाम्रनाथ, शक्ति—कामकोटि, वेद—ऋक्, सम्प्रदाय—मिथ्यावार, संन्यासी—इन्द्र सरस्वती, ब्रह्मचर्य—सत्य ब्रह्मचारी, महावाक्य—ओं तत् सत्। अपने मत को पुष्ट करने के लिये मठ से अनेक पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं।* इन ग्रन्थों में आचार्य का सम्बन्ध काञ्ची मठ के स्थान-परिनिष्ठित रूप से सिद्ध किया गया है। इस विषय की विशेष छानबीन नितान्त आवश्यक है।

काञ्ची का कामकोटि पीठ

---

* N. K. Venkatesan—Sri Sankaracharya and his Kamakoti Peetha; Venkat Ram—Sri Sankar and His successors at Kanchi; Sri Sankaracharya the great & his connexion with Kanchi (Bangiya Brahman Sabha, Calcutta).

इन प्रधान मठों से सम्बद्ध अनेक उपपीठ भी विद्यमान हैं जिनकी संख्या कम नहीं है। ऐसे कुछ उपपीठों के नाम हैं—कूडली मठ, सङ्केश्वर मठ, पुष्पगिरि मठ, विरूपाक्ष मठ, हव्यक मठ, शिवगङ्गा मठ, कोप्पाल मठ, श्रीशैल मठ, रामेश्वर मठ, आदि आदि। ये मठ प्रधान मठ के ही अन्तर्गत माने जाते हैं और किसी विशेष ऐतिहासिक घटना के कारण मूलभूत मठ से पृथक् हो गये हैं। जैसे कूडलो मठ, संकेश्वर मठ तथा करवीर मठ शृङ्गेरी मठ से पृथक् होने पर भी उसकी अध्यक्षता तथा प्रभुता स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार गुजरात में मूल बागळ मठ द्वारका के शारदा मठ से पृथक् अवश्य है, परन्तु उसी के अधिकारमुक्त माना जाता है। इन मठों की उत्पत्ति का इतिहास बड़ा ही रोचक तथा शिक्षाप्रद है, परन्तु साधनों की सत्ता रहने पर भी स्थानाभाव के कारण हमें इस विषय को यहीं समाप्त कर देना पड़ता है। अन्यत्र इसकी प्रमाणपुरःसर चर्चा विस्तार के साथ की जायगी।

उपमठ

आचार्य ने केवल मठों की स्थापना करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं कर दी बल्कि जिन चार मठों की स्थापना की उन चारों मठाधिशों के लिये एक ऐसी सुव्यवस्था भी बाँध दी कि जिसके अनुसार चलने से उनका महान् उद्देश अवश्य पूर्ण होगा। आचार्य के ये उपदेश महानुशासन के नाम से प्रसिद्ध हैं और पाठकों के सौकर्य के लिये वे परिशिष्ट में दे दिये गये हैं। आचार्य का यह कठोर नियम था कि मठ के अधीश्वर लोग अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिये सदा भ्रमण किया करें। उन्हें अपने मठ में नियत रूप से निवास न करना चाहिए। उन्हें अपने अपने भागों में विधिपूर्वक आचार्य-प्रतिपादित वर्णाश्रम तथा सदाचार की रक्षा करनी चाहिए। सदा उन्हें उत्साहित होकर धर्म की रक्षा में लगना चाहिए। आलस्य करने से धर्म के नष्ट हो जाने का भय है। एक मठ के अधीश्वर को दूसरे मठ के अधीश्वर

मठाधीशों को आचार्य-उपदेश

के विभाग में प्रवेश न करना चाहिए। सब आचार्यों को मिलकर एक सुव्यवस्था करनी चाहिए। मठ के अधीश्वरों के लिये आचार्य का यही उपदेश है।

मठ के आचार्यों में अनेक सद्गुण होना चाहिए। पवित्र, जितेन्द्रिय, वेद-वेदाङ्ग में विशारद, योग का ज्ञाता, सब शास्त्रों का पण्डित ही इन मठों की गद्दी पर बैठने का अधिकारी है। यदि मठाधिप इन सद्गुणों से युक्त न हो तो विद्वानों को चाहिए कि उसका निग्रह करें, चाहे वह अपने पद पर भले ही आरूढ़ हो गया हो :—

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग्भवेत्।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम्॥

यह नियम आचार्य के व्यावहारिक ज्ञान का परिचय भली भाँति दे रहा है। आचार्य ने मठों के अधीश्वरों की देख-रेख उस देश के प्रौढ़ विद्वानों के ऊपर रख छोड़ी है। विद्वानों को बड़ा अधिकार है। यदि गद्दी पर बैठनेवाला आचार्य उक्त सद्गुणों से नितान्त हीन हो तो विद्वानों को अधिकार है कि उसे दण्ड दें और पद से च्युत कर दें। आचार्य ने मठाधीशों को रहने के लिये राजसी ठाट-बाट का भी उपदेश दिया लेकिन यह धर्म के उद्देश से ही—उपकार-बुद्धि से होना चाहिए। उन्हें तो स्वयं पद्मपत्र की तरह निर्लेप ही रहना चाहिए। आचार्य का जीवन ही वर्णाश्रम-धर्म की प्रतिष्ठा के लिये है। उन्हें तन-मन लगाकर इस कार्य के सम्पादन के लिये प्रयत्न करना चाहिए। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ है तो वह उस महत्त्वपूर्ण पद का अधिकारी कभी भी नहीं हो सकता जिसकी स्थापना स्वयं आचार्य-चरणों ने वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा के लिये अपने हाथ से की है। आचार्य के ये उपदेश कितने उदात्त, कितने पवित्र तथा कितने उपादेय हैं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य का व्यवहार-ज्ञान शास्त्र-ज्ञान की अपेक्षा कथमपि घट कर नहीं था। यह महानुशासन सचमुच महान् अनुशासन है और यदि मठाधीश्वर लोग इसके अनुसार चलने का प्रयत्न करें

तो हमें पूरा विश्वास है कि विदेशी सभ्यता के सम्पर्क में आकर भारतीयों के हृदय में अपने धर्म के प्रति, धर्म-ग्रन्थों के प्रति, अपने देवी-देवताओं के प्रति जो अनादर-भाव धीरे-धीरे घर करता जा रहा है वह न जाने कब का समाप्त हो गया होता। और भारतीय जनता निःश्रेयस तथा अभ्युदय की सिद्धि करनेवाले वैदिक 'धर्म' की साधना में जी-जान से लग गई होती।

८—अद्वैत मत की मौलिकता

आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्यों में अद्वैत मत का प्रतिपादन किया है, यह तो सब कोई जानते हैं। यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन सिद्धान्त है। इस मत का प्रतिपादन केवल उपनिषदों में ही नहीं किया गया है, प्रत्युत संहिता के अनेक सूक्तों में अद्वैततत्त्व का आभास स्पष्टरूपेण उपलब्ध होता है। अद्वैतवाद वैदिक ऋषियों की आध्यात्मिक जगत् को नितान्त महत्त्वपूर्ण देन है। इन ऋषियों ने आर्ष चक्षु से नानात्मक जगत् के स्तर में विद्यमान होनेवाली एकता का दर्शन किया, उसे ढूँढ़ निकाला और जगत् के कल्याण के निमित्त प्रतिपादित किया। इसी श्रुति के आधार पर आचार्य ने अपने अद्वैततत्त्व को प्रतिष्ठित किया है। शङ्कर ने जगत् के काल्पनिक रूप को प्रमाणित करने के लिये 'माया' के सिद्धान्त को स्वीकार किया है और इसके लिये भी वे अपने दादागुरु आचार्य गौडपाद के ऋणी हैं। गौडपादाचार्य ने जिस अद्वैत सिद्धान्त को माण्डूक्यकारिकाओं में अभिव्यक्त किया है, उसी का विशदीकरण शङ्कर ने अपने भाष्यों में किया है। इतना ही क्यों? आचार्य की गुरुपरम्परा नारायण से आरम्भ होती है। शङ्कर की गुरुपरम्परा तथा शिष्यों का निर्देश इन प्रसिद्ध पद्यों में मिलता है—

> नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
> व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
> श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादं च हस्तामलकं च शिष्यम्।
> तत् तोटकं वार्तिककारमन्यान् अस्मद्गुरुं सन्ततमानतोऽस्मि॥

आचार्य की गुरुपरम्परा का प्रकार यह है—नारायण—> ब्रह्मा—> वसिष्ठ—> शक्ति—> पराशर—> वेदव्यास—> शुक—> गौडपाद—> गोविन्दभगवत्पाद—> शङ्कर। इसका स्पष्ट तात्पर्य है कि शङ्कर ने जिस मायावाद का विशद प्रतिपादन अपने ग्रन्थों में किया है उसका प्रथम उपदेश भगवान् नारायण के द्वारा किया गया। शिष्य लोग जिस उपदेश को गुरु से सुनते आये उसी की परम्परा जारी रखने के लिये अपने शिष्यों को भी उन्हीं तत्त्वों का आनुपूर्वी उपदेश दिया। इस प्रकार यह अद्वैतवाद नितान्त प्राचीन काल से इस भारतभूमि पर जिज्ञासुजनों की आध्यात्मिक पिपासा को शान्त करता हुआ चला आ रहा है। इसे शङ्कर के नाम से सम्बद्ध करना तथा शङ्कर को ही इस सिद्धान्त का उद्भावक मानना नितान्त अनुचित है।

कतिपय विद्वान् लोग इस प्राचीन परम्परा की अवहेलना कर 'मायावाद' को बौद्ध दर्शन का औपनिषद संस्करण मानते हैं और अपनी युक्तियों को पुष्ट करने के लिये पद्मपुराण में दिये गये "मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा" वाक्य को उद्धृत करते हैं। श्री विज्ञानभिक्षु ने 'सांख्यप्रवचन भाष्य' की भूमिका में इस वचन को उद्धृत किया है। अवान्तरकालीन अनेक द्वैतमतावलम्बी पण्डित इस वाक्य को प्रमाण मानकर शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध और उनके मायावाद को बौद्धदर्शन के सिद्धान्तों का ही एक नया रूप मानते हैं; परन्तु विचार करने पर यह समीक्षा युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होती।

इस विषय में मार्के की बात यह है कि शाङ्कर मत के खण्डन के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों ने कहीं पर भी शङ्कर को बौद्धों के प्रति ऋणी नहीं बतलाया है। बौद्ध पण्डितों की दृष्टि अद्वैतवाद और विज्ञानवाद बड़ी सूक्ष्म थी। यदि कहीं भी उन्हें अद्वैतवाद में बौद्ध तत्त्वों की सत्ता का आभास भी प्रतीयमान होता, तो वे पहले व्यक्ति होते जो इसकी घोषणा डङ्के की चोट करते, अद्वैतवाद को

विज्ञानवाद या शून्यवाद का आभास मानकर वे इसके खण्डन से सदा पराङ्मुख होते। परन्तु पराङ्मुख होने की कथा अलग रहे, उन्होंने तो बड़े अभिनिवेश के साथ इसके तत्त्वों की निःसारता दिखलाने की चेष्टा की है। बौद्ध ग्रन्थों ने अद्वैतवादी के औपनिषद मत को बौद्धमत से पृथक् कहा है और उसका खण्डन किया है। शान्तरक्षित नालन्दा विद्यापीठ के आचार्य थे और विख्यात बौद्ध दार्शनिक थे। उन्होंने अपने विपुलकाय 'तत्त्वसंग्रह' में अद्वैतमत का खण्डन किया है—

नित्यज्ञानविवर्तोऽयं क्षितितेजोजलादिकः।
आत्मा तदात्मकश्चेति संगिरन्तेऽपरे पुनः॥ ३२८॥
ग्राह्यग्राहकसंयुक्तं न किञ्चिदिह विद्यते।
विज्ञानपरिणामोऽयं तस्मात् सर्वः समीक्ष्यते॥ ३२९॥

'अपरे' का कमलशील ने इस ग्रन्थ की 'पञ्जिका' में अर्थ लिखा है 'औपनिषदिकाः'। यह तो हुआ शाङ्कर मत का अनुवाद। अब इसका खण्डन भी देखिए—

तेषामल्पापराधं तु दर्शनं नित्यतोक्तितः।
रूपशब्दादिविज्ञाने व्यक्तं भेदोपलक्षणात्॥ ३३०॥
एकज्ञानात्मकत्वे तु रूपशब्दरसादयः।
सकृद् वेद्याः प्रसज्यन्ते नित्येऽवस्थान्तरं न च॥ ३३१॥

इससे विज्ञानवाद तथा अद्वैतवाद का अन्तर स्पष्ट है। आचार्य शङ्कर 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६।२।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० ३।९।२८), इत्यादि श्रुतियों तथा युक्तियों के आधार पर विज्ञानरूप ब्रह्म को एक मानते हैं तथा उस ब्रह्म को सजातीय भेद, विजातीय भेद और स्वगत भेद से रहित मानते हैं (पञ्चदशी २।२०-२५) परन्तु विज्ञानवादी बौद्ध लोग विज्ञान को नाना—भिन्न-भिन्न—मानते हैं। अतः उनकी दृष्टि में विज्ञान सजातीय भेद से शून्य नहीं है। ब्रह्म तो नित्य पदार्थ है, परन्तु विज्ञान क्षणिक है। उनका 'आलयविज्ञान' क्षणिक है। अतः वह वासनाओं का अधिकरण भी नहीं माना जा सकता।

आचार्य शङ्कर ने अपने शारीरक भाष्य (२।२।३१) में स्पष्टतः लिखा है—

यदपि आलयविज्ञानं नाम वासनाश्रयत्वेन परिकल्पितं तदपि क्षणिकत्वाभ्युपगमाद् अनवस्थितस्वरूपं सत्प्रवृत्तिविज्ञानवत् न वासनाधिकरणं भवितुमर्हति।

इतने स्पष्ट विभेद के रहने पर ब्रह्माद्वैतवाद विज्ञानाद्वयवाद का ही रूपान्तर कैसे माना जा सकता है ?

इतना ही नहीं, दोनों की जगत्-विषयक समीक्षा नितान्त विरुद्ध है। विज्ञानवादियों का मत है कि विज्ञान या बुद्धि के अतिरिक्त इस जगत् में कोई पदार्थ ही नहीं है। जगत् के समग्र पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्यारूप हैं। जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि ज्ञान बाह्य अर्थ की सत्ता के बिना ही ग्राह्य-ग्राहक आकारवाले होते हैं उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी बाह्यार्थसत्ताशून्य हैं। परन्तु इसका खण्डन आचार्य ने किया है। उनका कहना है कि बाह्य अर्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप से हमें हो रही है। जब पदार्थों का अनुभव प्रतिक्षण हो रहा है, तब उन्हें उनकी ज्ञान के बाहर स्थिति न मानना उसी प्रकार उपहासास्पद है जिस प्रकार स्वादिष्ठ भोजन कर तृप्त होनेवाला पुरुष जो न तो अपनी तृप्ति को ही माने और न अपने भोजन की ही बात स्वीकार करे (शाङ्करभाष्य २।२।२८)। विज्ञानवादी की सम्मति में विज्ञान ही एकमात्र सत्य पदार्थ है तथा जगत् स्वप्नवत् अलीक है, इस मत का खण्डन आचार्य ने बड़े ही युक्तियुक्त शब्दों में किया है। स्वप्न तथा जागरित दशा में बड़ा ही अधिक अन्तर रहता है। स्वप्न में देखे गये पदार्थ जागने पर लुप्त हो जाते हैं। अतः अनुपलब्धि होने से स्वप्न का बाध होता है, परन्तु जाग्रत् अवस्था में अनुभूत पदार्थ (स्तम्भ, घट आदि) किसी अवस्था में बाधित नहीं होते। वे सदा एकरूप तथा एक स्वभाव से विद्यमान रहते हैं। एक और भी अन्तर होता है। स्वप्नज्ञान स्मृतिमात्र है, जागरित ज्ञान

उपलब्धि है—साक्षात् अनुभव रूप है। अतः जागृत दशा को स्वप्नवत् मिथ्या मानना उचित नहीं है। इसलिये विज्ञानवाद का जगद्विषयक सिद्धान्त नितान्त अनुपयुक्त है। आचार्य के शब्द कितने मार्मिक हैं—

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति। नैवं जागरितोपलब्धं वस्तुस्तम्भादिकं कस्यांचिदपि अवस्थायां बाध्यते। अपि च स्मृतिरेषा यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्।

—ब्र० सू० भा० (२।२।२९)

अद्वैतवाद का शून्यवाद से भेद

माध्यमिकों की कल्पना योगाचार के मत का भी खण्डन करता है। योगाचार विज्ञान की सत्ता मानते हैं, परन्तु शून्यवादी माध्यमिकों के मत में 'विज्ञान' का भी अभाव रहता है। केवल 'शून्य' ही एकमात्र तत्त्व है :—

बुद्धिमात्रं वदत्यत्र योगाचारो न चापरम्।
नास्ति बुद्धिरपीत्याह वादी माध्यमिकः किल॥

—सर्वसिद्धान्तसंग्रह।

शून्यवादी 'शून्य' को सत्, असत्, सदसत् तथा सदसदनुभय रूप—इन चार कोटियों से अलग मानते हैं :—

न सन्नासन्न सदसन्न चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिका जगुः॥

—शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०

परन्तु अद्वैत मत में ब्रह्म 'सत्'-स्वरूप है तथा ज्ञानस्वरूप है। शून्यवादियों की कल्पना में शून्य सत् स्वरूप नहीं है, यदि ऐसा होगा तो वह सत्कोटि में आ जायगा। वह कोटि-चतुष्टय से विनिर्मुक्त नहीं होगा। यह 'शून्य' ज्ञानरूप भी नहीं है। विज्ञान का अभाव मानकर ही तो माध्यमिक लोग अपने शून्य तत्त्व की उद्भावना करते हैं। उनकी दृष्टि में विज्ञान पारमार्थिक नहीं है :—

नेष्टं तदपि धीराणां विज्ञानं पारमार्थिकम्।
एकानेकस्वभावेन विरोधाद् वियदब्जवत् ॥

—शिवार्कमणिदीपिका २।२।३०

परन्तु अद्वैत मत में नित्य विज्ञान पारमार्थिक है। ऐसी दशा में अद्वैत-सम्मत ब्रह्म को माध्यमिकों का 'शून्य' तत्त्व बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है ? विद्वज्जन इस पर विचार करें।

खण्डनकार ने दोनों मतों में अन्तर दिखलाते समय स्पष्ट रूप से लिखा है कि बौद्ध मत में सब कुछ अनिर्वचनीय है, परन्तु अद्वैत मत में विज्ञान के अतिरिक्त यह विश्व ही सद् असद् दोनों से अनिर्वचनीय है—

एवं सति सौगतब्रह्मवादिनोरयं विशेषो यदादिमः सर्वमेवानिर्वचनीयं वर्णयति। तदुक्तं भगवता लङ्कावतारे—

बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च देशिताः॥

विज्ञानव्यतिरिक्तं पुनरिदं विश्वं सदसद्भ्यां विलक्षणं ब्रह्मवादिनः संगिरन्ते—खण्डन।

विज्ञानवाद तथा शून्यवाद में इन नितान्त स्पष्ट विभेदों के रहने पर भी यदि कोई विद्वान् अद्वैतवादी शङ्कर को प्रच्छन्न बौद्ध बतलावे, तो यह उसका साहसमात्र है। पुराण-वाक्य भी श्रुतिसम्मत होने पर ही ग्राह्य होते हैं, मीमांसा का यह माननीय मत है। अतः पद्मपुराण के पूर्वोक्त कथन को श्रुति से विरुद्ध होने के कारण कथमपि प्रामाणिकता प्राप्त नहीं हो सकती। ऐसी दशा में शङ्कर का सिद्धान्त नितान्त श्रुत्यनुमोदित, प्राचीन एवं प्रामाणिक है। अवैदिक-मतानुयायी बौद्धों तथा जैनों ने तथा वैदिक द्वैत विशिष्टाद्वैतवादियों आदि ने 'मायावाद' के सिद्धान्त का खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है, परन्तु वह तर्क के उस दृढ़ आधार पर अवलम्बित है। वह जितना विचार किया जाता है उतना ही सच्चा प्रतीत होता है। वेदान्तियों

का विवर्तवाद निपुण तर्क की भित्ति पर आश्रित है। कार्य-कारण भाव की यथार्थ व्याख्या के विषय में अद्वैतियों की यह नितान्त अनुपम देन है।

९—विशिष्ट समीक्षा

आचार्य शङ्कर के जीवनचरित्र, ग्रन्थ तथा मत का संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया गया है। इसकी सामूहिक रूप से आलोचना करने पर शङ्कर के महान् व्यक्तित्व, अलोकसामान्य पाण्डित्य तथा उदात्त चरित्र की झलक हमारे नेत्रों के सामने स्पष्ट रूप से चमकने लगती है। आचार्य का मानव जीवन आदर्श गुणों से सर्वथा परिपूर्ण था। उनके हृदय में माता के प्रति कितना आदर था, इसकी सूचना कतिपय घटनाओं से मिलती है। संन्यास आश्रम को अपने लिये नितान्त कल्याणकारी जानकर भी शङ्कर ने इसका तब तक ग्रहण नहीं किया, जब तक माता ने अपनी अनुज्ञा नहीं दी। उन्होंने संन्यासी होकर भी अपने हाथों माता का संस्कार किया, इस कार्य के लिये उन्हें अपने जातभाइयों का तिरस्कार सहना पड़ा, अवहेलना सिर पर लेनी पड़ी, परन्तु उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा तनिक भी टलने न दी। मातृभक्ति का इतना रमणीय आदर्श मिलना असम्भव नहीं तो दुःसम्भव जरूर है। गुरुभक्ति का परिचय आचार्य ने नर्मदा के बढ़ते हुए जल को अभिमन्त्रित कलश के भीतर पुञ्जीभूत करके दिया, नहीं तो वह गोविन्द भगवत्पाद की गुफा को जलमग्न करने पर उद्यत ही था। शिष्यों के लिये शङ्कर के हृदय में प्रगाढ़ अनुकम्पा थी। भक्त तोटक में उन्होंने अपनी अलौकिक शक्ति के द्वारा समग्र विद्याओं का संक्रमण कर दिया तथा भस्मसात् होनेवाली पञ्चपादिका का उद्धार कर आचार्य ने अपनी अलौकिक मेधा-शक्ति का ही परिचय नहीं दिया, प्रत्युत अपनी शिष्यानुकम्पा की भी पर्याप्त अभिव्यक्ति की। इस प्रकार आचार्य का जिस किसी के साथ सम्पर्क था उस सम्बन्ध को आपने इतने सुचारु रूप से निभाया कि आलोचक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता।

आचार्य का पाण्डित्य किस कोटि का था, इसका प्रमाण तो उनकी रचनावली ही दे रही है। उन्होंने प्रस्थान-त्रयी जैसे कठिन अथच दुरूह अध्यात्म-ग्रन्थों के अभिप्राय को अपने भाष्यों में इतनी सुगमता तथा सरलता से समझाया है कि इसका पता विज्ञ पाठकों को पद-पद पर होता है। इन भाष्यों की भाषा नितान्त रोचक, बोधगम्य तथा प्रौढ़ है। शैली प्रसन्न गम्भीर है। इन कठिन ग्रन्थों की व्याख्या इतनी प्रसादमयी वाणी में की गई है कि पाठक को पता ही नहीं चलता कि वह किसी दुरूह विषय का विवेचन पढ़ रहा है। विभिन्न मतों के सिद्धान्तों को जिस तार्किक निपुणता के बल पर आचार्य ने आमूल खण्डन किया है वह एक विस्मयनीय वस्तु है। मनोरम दृष्टान्तों के सहारे आचार्य ने अपने अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन इतने प्रकार से किया है कि उसके समझने में संशय नहीं रह जाता। इस विषय में आचार्य शङ्कर को हम भारतीय दार्शनिकों का शिरोमणि मानें तो कथमपि अत्युक्ति न होगी। जिस प्रकार कोई धनुर्धर अपना तीर चलाकर लक्ष्य के मर्मस्थल को विद्ध कर देता है, इसी प्रकार आचार्य ने अपना तर्करूपी तीर चलाकर विपक्षियों के मूल सिद्धान्त को छिन्न-भिन्न कर दिया है। मूल सिद्धान्त के खण्डन होते ही अन्य सिद्धान्त बालू की भीत के समान भूतलशायी हो जाते हैं। वीणा के तार की एक विशेषता होती है। उनसे एक ध्वनि निकलती है जिसे सर्वसाधारण सुनते हैं और पहचानते हैं, परन्तु उनके मधुर झंकार के भीतर से एक सूक्ष्म ध्वनि निकलती है जिसे कलाविदों के ही कान सुनते और पहचानते हैं। आचार्य के भाष्यों की भी ठीक ऐसी ही दशा है। उनके ऊपरी अर्थों का बोध तो सर्वसाधारण करते ही हैं, परन्तु इनके भीतर से एक सूक्ष्म, गम्भीर अर्थ की भी ध्वनि निकलती है जिसे विज्ञ पण्डित ही समझते-बूझते हैं। भाष्यों की गम्भीरता सर्वथा स्तुत्य तथा श्लाघनीय है।

पाण्डित्य

पाण्डित्य के अतिरिक्त आचार्य की कवित्व-शक्ति भी अनुपम है। कवित्व तथा पाण्डित्य का सम्मिलन नितान्त दुर्लभ होता है। आचार्य

की कविता पढ़कर सचमुच विश्वास नहीं होता कि यह किसी तर्क-कुशल पण्डित की रचना है। शङ्कर की कविता निःसन्देह रसभाव-निरन्तरा है,

कवित्व

आनन्द का अक्षय स्रोत है, उज्ज्वल अर्थरत्नों की मनोरम पेटिका है, कमनीय कल्पना की ऊँची उड़ान है। शङ्कराचार्य की कविता में एक विचित्र मोहकता है, अनुपम मादकता है, उसे पढ़ते ही मस्ती छा जाती है, चित्त अन्य विषयों को बरबस भूलकर उन भावों में बहने लगता है। कौन ऐसा भावुक होगा जिसका मनोमयूर 'भज गोविन्दं' स्तोत्र की भावभंगी पर नाच नहीं उठता ?

भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते,
प्राप्ते सन्निहिते ते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे
भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढ़मते।

की मधुर स्वर-लहरी हमारे कानों में जब सुधा बरसाने लगती है, तब श्रोता इस दुःखमय भौतिक जगत् से बहुत ऊँचे उठकर किसी अलौकिक लोक में पहुँच जाता है और सद्यः ब्रह्मानन्द का आस्वाद लेने लगता है। कल्पना की ऊँची उड़ान, अर्थों की नवीनता, भावों की रमणीयता देखने के लिये अकेले सौन्दर्य-लहरी का अध्ययन ही पर्याप्त होगा। भगवती कामाक्षी के सीमन्त तथा सिन्दूर-रेखा का यह वर्णन वस्तुतः साहित्य-संसार के लिये एक नई चीज है, कल्पना की कमनीयता का एक अभिराम उदाहरण है :—

तनोतु क्षेमं नस्तव वदनसौन्दर्यलहरी-
परीवाहः स्रोतःसरणिरिव सीमन्तसरणी।
वहन्ती सिन्दूरं प्रबलकबरीभारतिमिर-
द्विषां वृन्दैर्वन्दीकृतमिव नवीनार्ककिरणम् ॥

भगवती से दयादृष्टि डालने की प्रार्थना किन सुकुमार शब्दों में की गई है—

दृशा द्राघीयस्या दरदलितनीलोत्पलरुचा
दवीयांसं दीनं स्नपय कृपया मामपि शिवे !
अनेनायं धन्यो भवति न च ते हानिरियता
वने वा हर्म्ये वा समकरनिपातो हिमकरः ॥

विद्वान् लोग मायावाद के पुरस्कर्ता होने के नाते आचार्य शङ्कर के ऊपर जगत् को काल्पनिक बतलाने का दोषारोपण करते हैं। उनकी दृष्टि में इस देश में अकर्मण्यता तथा आलस्य के फैलने का सारा दोष 'मायावाद' के उपदेष्टा के ऊपर है। जब समग्र जगत् ही मायाजन्य, मायिक ठहरा तब इसके लिये उद्योग करने की आवश्यकता ही क्या ठहरी ? ऐसे तर्काभासों को दूर करने के लिये आचार्य के कर्मठ जीवन की समीक्षा पर्याप्त है। उन्होंने अपने भाष्यों में जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया, उन्हीं का व्यवहार-दृष्ट्या पालन अपने जीवन में किया। इस प्रकार आचार्य का जीवन उनके ग्रन्थों के ऊपर भाष्यस्वरूप है। शङ्कर के उपदेशों के प्रभावशाली होने का रहस्य इसी बात में छिपा है कि वे अनुभव की दृढ़ प्रतिष्ठा पर आश्रित हैं। अनुभूत सत्य का ही उपदेश सबसे अधिक प्रभावशाली होता है, और आचार्य के उपदेश स्वानुभूति की दृढ़ भित्ति पर अवलम्बित थे, यह तो प्रत्येक आलोचक को मान्य है। अद्वैत मत का प्रभाव भारतीय जनता पर ख़ूब गहरा पड़ा। रामानुज, मध्व तथा अन्य आलोचकों ने 'मायावाद' के खण्डन करने में जी-जान से उद्योग किया और अद्वैतवाद को वेद-विरुद्ध सिद्धान्त बतलाने का भी साहस किया, परन्तु शङ्कराचार्य की व्याख्या इतनी सारगर्भित है कि इन विरोधियों के होने पर भी हिन्दू जनता अद्वैतवाद में भरपूर श्रद्धा रखती है। वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा करने तथा पुनः जाग्रति प्रदान करने का समग्र श्रेय कुमारिलभट्ट के साथ-साथ आचार्य शङ्कर को है। बौद्धों के वैदिक कर्मकाण्ड के खण्डन को युक्तियों से निराकरण कर कुमारिल ने कर्मकाण्ड में लोगों की आस्था दृढ़ की थी। आचार्य शङ्कर ने

कर्मठ जीवन

बौद्धों के विशेषतः आध्यात्मिक सिद्धान्तों का जोरदार खण्डन कर उन्हें अपदस्थ कर दिया। उनका प्राचीन गौरव जाता रहा और धीरे-धीरे इस देश से वह धर्म ही लुप्तप्राय-सा हो गया। यह कार्य आचार्य के कर्मठ जीवन का एक अङ्ग था। इतनी छोटी उम्र में ऐसे व्यापक कार्य को देखकर वस्तुतः आलोचक की दृष्टि आश्चर्य से चकित हो उठती है। अष्टमवर्ष में चारों वेदों का अध्ययन, बारहवें वर्ष समग्र शास्त्रों की अभिज्ञता और षोडश वर्ष में भाष्य की रचना—यह सचमुच आश्चर्यपरम्परा है :—

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात्॥

आचार्य शङ्कर ने भाष्य की रचना करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री न कर दी, प्रत्युत उन्होंने अपने शिष्यों को प्रोत्साहित कर ग्रन्थों की रचना करवाई। संन्यासियों की संघ रूप में प्रतिष्ठा तथा मठों की स्थापना आचार्य के कर्मठ जीवन के सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। वर्णाश्रमधर्म की मर्यादा अक्षुण्ण रखने तथा उसकी प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिये आचार्य को अपना काम स्थायी बनाना नितान्त आवश्यक था और इसी महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन के निमित्त आचार्य ने पूर्वोक्त कार्यों की नींव डाली। इतिहास इस बात का साक्षी है कि आचार्य ने जिस वृक्ष का बीजारोपण किया था, वह फूला-फला; जिस उद्देश्य की पूर्ति की आकांक्षा से वह आरोपित किया गया था, वह सिद्ध हुआ। आज भारत-भूमि के ऊपर वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा तथा मर्यादा जो कुछ भी दीख पड़ती है उसके लिये अधिक अंश में आचार्य को श्रेय देना चाहिए। उनके स्थापित चारों मठों के अधीश्वरों ने भी यथासाध्य अपने उदात्त कर्तव्य के निभाने का विशेष उद्योग किया। अतः आचार्य का कर्मठ जीवन सचमुच सफल रहा, इस बात को अद्वैत मत के विरोधियों को भी मानना ही पड़ेगा।

आचार्य के जीवन की एक विशिष्ट दिशा की ओर विद्वज्जनों का ध्यान आकृष्ट करना नितान्त आवश्यक है। वह है उनकी विशिष्ट तान्त्रिक उपासना। शङ्कर ने अपने तान्त्रिक रूप को भाष्यों के पृष्ठों में कहीं भी अभिव्यक्त होने नहीं दिया है। इसमें एक रहस्य था। भाष्य की रचना तो सर्व-साधारण के लिये की गई थी। उनमें ज्ञान की महत्ता का प्रतिपादन है। इसके लिये उतनी विशिष्ट कोटि के अधिकार की आवश्यकता नहीं होती जितनी तान्त्रिक उपासना के लिये। उपासना एक नितान्त अन्तरङ्ग साधना है। उसके लिये उपयुक्त अधिकारी होना चाहिए। तभी उसका उपदेश दिया जा सकता है। यही कारण है कि शङ्कर ने इस विषय को अपने भाष्यों में न आने दिया। परन्तु उसका प्रतिपादन उन्होंने सौन्दर्य-लहरी तथा प्रपञ्चसार में पर्याप्त मात्रा में कर दिया है। वे साधना-साम्राज्य के सम्राट् थे, वे भगवती त्रिपुरा सुन्दरी के अनन्य उपासक थे; अपने मठों में आचार्य ने श्रीविद्यानुकूल देवी की पूजा-अर्चा का विधान प्रचलित किया है, यह छिपी हुई बात नहीं है। आचार्य का यह साधक रूप उनके जीवन-मन्दिर का कलश-स्थानीय है। उनका जीवन क्या था? परमार्थ-साधन की दीर्घव्यापिनी परम्परा था। वे उस स्थान पर पहुँच चुके थे जहाँ स्वार्थ का कोई भी चिह्न अवशिष्ट न था, सब कुछ परमार्थ ही था। उस महान् व्यक्ति के लिये हमारे हृदय में कितना आदर होगा जो स्वयं हिमालय के ऊँचे शिखर पर चढ़ गया हो और घाटी के विषम मार्ग में धीरे धीरे पैर रखकर आगे बढ़ने-वाले राहियों के ऊपर सहानुभूति दिखलाकर उनको राह बतलाता हो। आचार्य की दशा भी ठीक उसी व्यक्ति के समान है। वे स्वयं प्रज्ञा के प्रासाद पर आरूढ़ थे और उस पर चढ़ने की इच्छा करनेवाले व्यक्तियों के ऊपर सहानुभूति तथा अनुकम्पा दिखलाकर उनके मार्ग का निर्देश कर रहे थे। चढ़ने के अभिलाषी जनों के ऊपर कभी उन्होंने अनादर की दृष्टि न डाली, प्रत्युत उन पर दया दिखलाई, अनुकम्पा की जिससे

तान्त्रिक उपासना

वे भी उत्साहित होकर आगे बढ़ते जायँ और उस अनुपम आनन्द के लूटने का सौभाग्य उठावें।

प्रज्ञाप्रासादमारुह्य ह्यशोच्यान् शोचतो जनान्।
जगतीस्थानिवाद्रिस्थः प्रज्ञया प्रतिपद्यते॥

आचार्य शङ्कर का जो महान् उपकार हमारे ऊपर है उसके लिये हम किन शब्दों में अपनी कृतज्ञता प्रकट करें? वे भगवान् शङ्कर के साक्षात् अवतार थे, अन्यथा इतने दीर्घकालसाध्य कार्यों का सम्पादन इतने अल्प काल में करना एक प्रकार से असम्भव होता। हम लोग उनके जीवनचरित का अध्ययन कर अपने जीवन को पवित्र बनावें, उनके उपदेशों का अनुसरण कर अपने भौतिक जीवन को सफल बनावें— आचार्य के प्रति हमारी यही श्रद्धाञ्जलि होगी। इसी विचार से यह वाक्य-पुष्पाञ्जलि आचार्य शङ्कर के चरणारविन्द पर अर्पित की गई है।

सर्वेऽत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥
तथास्तु। ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

काशी
अनन्तचतुर्दशी सं० २००० } बलदेव उपाध्याय

—

एक प्रमाण

आचार्य शङ्कर भगवान् शङ्कर के अवतार थे तथा उन्हीं ने बदरिकाश्रम में भगवान् विष्णु की मूर्ति की स्थापना की थी, इसका निर्देश भूमिका के पृष्ठ २१ पर किया गया है। पुराणों में इस विषय के यथेष्ट प्रमाण मिलते हैं। उनमें से दो प्रमाण नीचे दिये जाते हैं—पहला है भविष्य पुराण से और दूसरा है स्कन्द पुराण के वैष्णव खण्ड से—

इति श्रुत्वा वीरभद्रो रुद्रः संहृष्टमानसः।
स्वांशं देहात् समुत्पाद्य द्विजगेहमचोदयत्॥
विप्रभैरवदत्तस्य गेहं गत्वा स वै शिवः।
तत्पुत्रोऽभूत् कलौ घोरे शङ्करो नाम विश्रुतः॥
स बालश्च गुणी वेत्ता ब्रह्मचारी बभूव ह।
कृत्वा शङ्करभाष्यं च शैवमार्गमदर्शयत्॥
त्रिपुण्ड्रश्चाक्षमाला च मन्त्रः पञ्चाक्षरः शुभः।
शैवानां मंगलकरः शङ्कराचार्यनिर्मितः॥

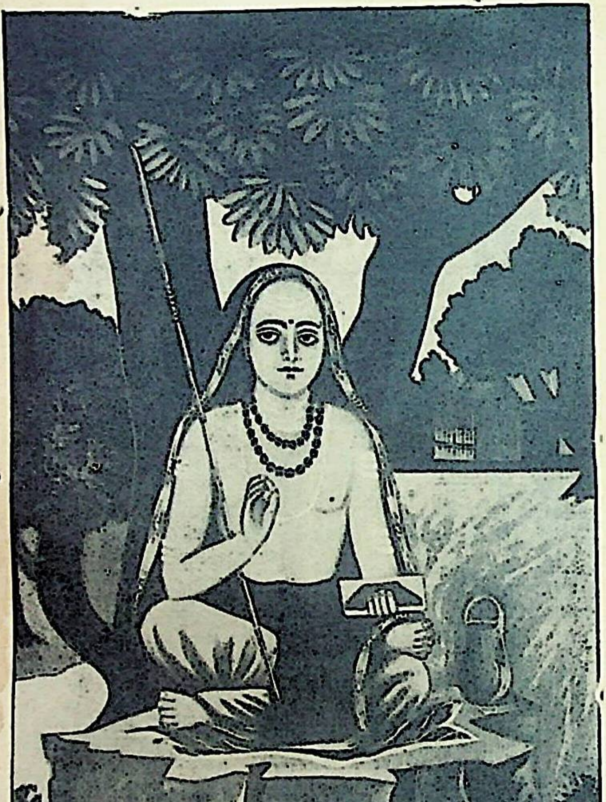
भविष्यपुराणे प्रतिसर्गपर्वणि कलियुगेतिहाससमुच्चये कृष्णचैतन्य शङ्कराचार्यसमुत्पत्तिवर्णनं नाम दशमोऽध्यायः।

ततोऽहं यतिरूपेण तीर्थान्नारदसंज्ञकात्।
उद्धृत्य स्थापयिष्यामि हरिं लोकहितेच्छया॥ २४॥

स्कन्दपुराणे वैष्णवखण्डान्तर्गत-बदरिकाश्रममाहात्म्ये पंचमेऽध्याये पृष्ठ १२८।

भविष्यपुराण के ऊपर उद्धृत वचन में शङ्कराचार्य के पिता का नाम भैरवदत्त दिया गया है। माधवाचार्य के ग्रन्थ में उनका नाम 'शिवगुरु' है। किंतु दोनों में विरोध मानना ठीक नहीं है। एक ही व्यक्ति के अनेक नाम होते हैं—जन्म के समय का दूसरा नाम होता है और प्रचलित नाम दूसरा होता है। अतः शिवगुरु को प्रचलित नाम तथा भैरवदत्त को जन्म-समय पर रखा गया नाम मानना उचित है।

——



श्रीशंकरावतार भगवान् श्रीआद्य-
शंकराचार्य महाराज

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीविद्यारण्यविरचित

श्रीशङ्करदिग्विजय

प्रथम सर्ग

प्रणम्य परमात्मानं श्रीविद्यातीर्थरूपिणम् ।
प्राचीनशंकरजये सारः संगृह्यते स्फुटम् ॥ १ ॥

मञ्जुलवञ्जुलकुञ्जे गुञ्जन्मिलदलिकेलिवल्लिसुमपुञ्जे ।
मरकतनिकरमनोज्ञं सकलमनोज्ञं कमप्यहं वन्दे ॥ १ ॥
दिनकरतनयातीरे प्रतिफलितात्मरूप इव नीरे ।
जयति हरन् भवतापं कोऽपि तमालश्चिदेकदृढमूलः ॥ २ ॥
वर्षति सुधां दयार्द्रां या सर्वदा समं स्वैरम् ।
सा कालिन्दीपुलिने काचित् कादम्बिनी जयति ॥ ३ ॥
यद्वचनामृतपानाज्जाता हृष्टा सरस्वती सद्यः ।
दुर्मतवादिनिरासकमाचार्यं तं शिवं वन्दे ॥ ४ ॥

ब्रह्मविद्या के उपायभूत परमात्मा को प्रणाम कर प्राचीन 'शङ्कर-विजय' का सारांश इस ग्रन्थ में स्पष्ट रूप से संग्रह किया जाता है ॥ १ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में परमात्मा और ग्रन्थकार के गुरु विद्यातीर्थ दोनों की स्तुति की गई है। इस ग्रन्थ के रचयिता स्वामी विद्यारण्य हैं जो शृङ्गेरी मठ की गद्दी पर बैठनेवाले शङ्कराचार्यों में विशेष माननीय थे। इनके गुरु

का नाम विद्यातीर्थ था जो उस समय के एक नितान्त प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी सिद्ध पुरुष थे। विद्यारण्य ने अपने अन्य ग्रन्थों में भी अपने गुरु विद्यातीर्थ का नामोल्लेख किया है। गुरु को परमात्मा का स्वरूप बतलाने से कवि की गुरुभक्ति का पूर्ण परिचय मिलता है।

यद्वद् घटानां पटलो विशालो विलोक्यतेऽल्पे किल दर्पणेऽपि।
तद्वन्मदीये लघुसंग्रहेऽस्मिन्नुद्वीक्ष्यतां शांकरवाक्यसारः॥ २॥

जिस प्रकार हाथियों का विशाल समुदाय लघुकाय दर्पण में भी दिखलाई पड़ता है, उसी प्रकार मेरे इस लघु संग्रह में 'शङ्करविजय' के वाक्यों का सार अच्छी तरह से देखा जा सकता है॥ २॥

यथाऽतिरुच्ये मधुरेऽपि रुच्युत्पादाय रुच्यान्तरयोजनाऽर्हा।
तथेष्यतां प्राक्कविहृद्यपद्येष्वेषाऽपि मत्पद्यनिवेशभङ्गी॥ ३॥

जिस प्रकार अत्यन्त रुचिर तथा मधुर पदार्थ में भी रुचि (स्वाद) उत्पन्न करने के लिये नीबू, चटनी आदि चटकीले पदार्थों की योजना की जाती है, उसी प्रकार प्राचीन कवि आनन्दगिरि के सुन्दर पद्यों में रुचि उत्पन्न करने के लिये मेरे पद्यों का यह रुचिर विन्यास है॥ ३॥

स्तुतोऽपि सम्यक्कविभिः पुराणैः कृत्याऽपि नस्तुष्यतु भाष्यकारः।
क्षीराब्धिवासी सरसीरुहाक्षः क्षीरं पुनः किं चकमे न गोष्ठे॥४॥

पुराने कवियों के द्वारा अच्छी तरह से प्रशंसित होने पर भी भाष्यकार श्री शङ्कराचार्य हमारी इस कृति से प्रसन्न हों, यही हमारी प्रार्थना है। क्या क्षीर-समुद्र में रहनेवाले कमल-नयन भगवान् कृष्ण ने व्रज में रहकर गोपियों से दूध की कामना नहीं की?॥ ४॥

पयोब्धिविवरीसुनिःसृतसुधाझरीमाधुरी-
धुरीणभणिताधरीकृतफणाधराधीशितुः ।
शिवंकरसुशंकराभिधजगद्गुरोः प्रायशो
यशो हृदयशोधकं कलयितुं समीहामहे ॥ ५ ॥

क्षीरसागर के विवरों (छिद्रों) से निकलनेवाले अमृत-प्रवाह की माधुरी से भी बढ़कर मधुर वचनों से सर्पों के स्वामी शेषनाग (पतञ्जलि) को भी तिरस्कृत करनेवाले, कल्याणकारक, जगद्गुरु श्री शङ्कराचार्य के, हृदय के मल को दूर करनेवाले यश के वर्णन करने की हमारी बड़ी अभिलाषा है ॥ ५ ॥

शङ्कर-गुण-गान

क्वेमे शंकरसद्गुरोर्गुणगणा दिग्जालकूलंकषाः
कालोन्मीलितमालतीपरिमलावष्टम्भमुष्टिंधयाः ।
क्वाहं हन्त तथाऽपि सद्गुरुकृपापीयूषपारम्परी-
मग्नोन्मग्नकटाक्षवीक्षणबलादस्ति प्रशस्ताऽर्हता ॥६॥

कहाँ शङ्कर जैसे सद्गुरु के गुण, जो दिशाओं के किनारे को तोड़ने-वले हैं अर्थात् चारों दिशाओं में फैलनेवाले हैं और जो वसन्त में खिलनेवाली मालती के गन्ध के समुदाय से अधिक सुगन्धित हैं और कहाँ मन्दमति मैं! दोनों में महान् अन्तर है। मुझमें ऐसी योग्यता नहीं है कि मैं शङ्कर के गुणों का ठीक ठीक वर्णन कर सकूँ; तथापि मुझमें वर्णन की जो प्रशस्त योग्यता दीख पड़ती है वह सद्गुरु के कृपा-रूपी अमृत के प्रवाह में मग्न और उन्मग्न होनेवाले कटाक्षों के द्वारा देखने का ही फल है ॥ ६ ॥

धन्यंमन्यविवेकशून्यसुजनंमन्याब्धिकन्यानटी-
नृत्योन्मत्तनराधमाधमकथासंमर्ददुष्कर्दमैः ।
दिग्धां मे गिरमद्य शंकरगुरुक्रीडासमुद्यद्यशः-
पारावारसमुच्चलज्जलभरैः संक्षालयामि स्फुटम् ॥७॥

मेरी वाणी अपने को धन्य माननेवाले, विवेक-शून्य, सज्जना-भिमानी और लक्ष्मीरूपी नटी के नृत्य से पागल होनेवाले, अधम मनुष्यों की कथा के संसर्गरूपी पंक से लिप्त है। उसको आज मैं आचार्य शङ्कर की लीला से उत्पन्न होनेवाले कीर्ति-समुद्र की जल-धारा से अच्छी तरह धो रहा हूँ। आशय है कि अब तक दुष्ट राजाओं के वर्णन से कलङ्कित होनेवाली अपनी वाणी को मैं शङ्कर के गुण-गान से पवित्र करना चाहता हूँ ॥ ७ ॥

वन्ध्यासूनुखरीविषाणसदृशक्षुद्रक्षितीन्द्रक्षमा-
शौर्यौदार्यदयादिवर्णनकलादुर्वासनावासिताम् ।
मद्वाणीमधिवासयामि यमिनस्त्रैलोक्यरङ्गस्थली-
नृत्यत्कीर्तिनटीपटीरपटलीचूर्णैर्विकीर्णैः क्षितौ ॥८॥

वन्ध्या के लड़के तथा गदही के सींग के समान क्षुद्र राजाओं के क्षमा, शूरता, उदारता, दया आदि गुणों के वर्णन के दुर्गन्ध से पूरित इस अपनी वाणी को आज मैं यतिराज शङ्कर की त्रैलोक्यरूपी रङ्गस्थली में नाचनेवाली कीर्ति रूपी नटी के शरीर से पृथ्वी पर गिरनेवाले चन्दन के चूर्णों से सुगन्धित बना रहा हूँ ॥ ८ ॥

पीयूषद्युतिखण्डमण्डनकृपारूपान्तरश्रीगुरु-
प्रेमस्थेमसमर्हणार्हमधुरव्याहारसूनोत्करः ।

प्रौढोऽयं नवकालिदासकवितासंतानसंतानको
दद्यादद्य समुद्यतः सुमनसामामोदपारम्परीम् ॥९॥

चन्द्रमा का टुकड़ा जिसके मस्तक का भूषण है, ऐसे महादेव की कृपा-लक्ष्मी से युक्त, प्रेम की स्थिरता से जगद्गुरु शङ्कर के पूजन में लगे हुए मधुर वचन जिसके फूलों के समुदाय हैं ऐसा, नव कालिदास का कविता-समूहरूपी, यह प्रौढ़ कल्पवृक्ष आज सुशोभित हो रहा है। यह विद्वानों के हृदय में हर्षरूपी गन्ध को प्रकट करे ॥ ९ ॥

सामोदैरनुमोदिता मृगमदैरामन्दिता चन्दनै-
र्मन्दारैरभिनन्दिता प्रियगिरा काश्मीरजैः स्मेरिता।
वागेषा नवकालिदासविदुषो दोषोज्झिता दुष्कवि-
व्रातैर्निष्करुणैः क्रियेत विकृता धेनुस्तुरुष्कैरिव॥१०॥

नवीन कालिदास (माधव) की निर्दोष कविता सुगन्ध से भरी, कस्तूरी से प्रशंसित, चन्दनों से आनन्दित, पारिजात के द्वारा मीठे वचनों से अभिनन्दित तथा केसर से प्रफुल्लित है। परन्तु मुझे इस बात का भय है कि विद्वानों का मनोरञ्जन करनेवाली ऐसी कविता को क्रूर दुर्जन कवि उसी प्रकार कहीं दूषित न कर दें जिस प्रकार तुर्क (यवन) लोग गाय को दूषित कर देते हैं ॥ १० ॥

यद्वा दीनदयालवः सहृदयाः सौजन्यकल्लोलिनी-
दोलान्दोलनखेलनैकरसिकस्वान्ताः समन्तादमी।
सन्तः सन्ति परोक्तिमौक्तिकजुषः किं चिन्तयाऽनन्तया
यद्वा तुष्यति शंकरः परगुरुः कारुण्यरत्नाकरः॥११॥

लेकिन इस प्रकार अनन्त चिन्ता की मुझे क्या आवश्यकता है जब दीनों पर दया करनेवाले, सुजनतारूपी नदी में नौ-क्रीड़ा में रसिक हृदय-वाले, दूसरों के उक्ति-रूपी मोती को चुननेवाले, सहृदय, सज्जन लोग चारों ओर विद्यमान हैं अथवा जब परम गुरु, करुणा के समुद्र शङ्कर सन्तुष्ट हैं ॥ ११ ॥

उपक्रम्य स्तोतुं कतिचन गुणान् शंकरगुरोः
प्रभग्नाः श्लोकार्धे कतिचन तदर्धार्धरचने ।
अहं तुष्टूषुस्तानहह कलये शीतकिरणं
कराभ्यामाहर्तुं व्यवसितमतेः साहसिकताम् ॥१२॥

कुछ लोग शङ्कर के गुणों की स्तुति का आरम्भ कर एक श्लोक के आधे में ही डूब जाते हैं। आधे श्लोक के बनाने में ही उनका उत्साह समाप्त हो जाता है । कुछ लोग श्लोक के एक पाद को बनाने में ही हतोत्साह हो जाते हैं । ऐसी परिस्थिति में मैं जब उनके समग्र गुणों की स्तुति करने जा रहा हूँ, तो मैं इस प्रयत्न को चन्द्रमा को अपने हाथों से पकड़ने का उद्योग करनेवाले बालक का दुःसाहस समझता हूँ। आशय है कि जिस प्रकार बालक अपने हाथों से चन्द्रमा के पकड़ने का उद्योग कर उपहासास्पद बनता है, उसी प्रकार शङ्कर के समग्र गुणों की स्तुति कर मैं विद्वानों के हास्य का पात्र बनूँगा ॥ १२ ॥

तथाऽप्युज्जृम्भन्ते मयि विपुलदुग्धाब्धिलहरी-
लसत्कल्लोलालीलसितपरिहासैकरसिकाः ।
अमी मूकान्वाचालयितुमपि शक्ता यतिपतेः
कटाक्षाः किं चित्रं भृशमघटिताभीष्टघटने ॥१३॥

तथापि क्षीरसागर के अत्यधिक प्रवाह में चमकनेवाली तरङ्गों के सुन्दर परिहास' में रसिक (क्षीरसागर की तरङ्गों से भी अत्यन्त स्वच्छ) वे कटाक्ष मेरे ऊपर विकसित हो रहे हैं जो गूँगों को भी वाचाल बनाने में सब तरह से समर्थ हैं। तो वे अचिन्तित वस्तु को भी सिद्ध कर देंगे, इस विषय में आश्चर्य करने का कौन सा स्थान है ? ॥ १३ ॥

अस्मज्जिह्वाग्रसिंहासनमुपनयतु स्वोक्तिधारामुदारा-
मद्वैताचार्यपादस्तुतिकृतसुकृतोदारता शारदाम्बा ।
नृत्यन्मृत्युंजयोच्चैर्मुकुटतटकुटीनिःस्रवत्स्वःस्रवन्ती-
कल्लोलोद्वेलकोलाहलमदलहरीखण्डिपाण्डित्यहृद्याम् ॥१४॥

शङ्कराचार्य के चरणों की स्तुति करने से उत्पन्न पुण्यों से उदारता प्राप्त करनेवाली शारदा अपनी वाग्धारा को मेरी जिह्वा के अग्रभाग के सिंहासन पर बिठलावे—उस वाग्धारा को, जो नाचनेवाले शङ्कर के मस्तकरूपी कुटी से बहनेवाली आकाशगङ्गा के कल्लोल के कोलाहल के गर्व को खण्डित करनेवाले पाण्डित्य से मण्डित है। आशय यह है कि सरस्वती अपने मधुर वचनों को कवि की जिह्वा पर रक्खे जिससे वह पण्डितों के गर्व को नष्ट करने में समर्थ बने ॥ १४ ॥

क्वेदं शंकरसद्गुरोः सुचरितं क्वाहं वराकी कथं
निर्वध्नासि चिरार्जितं मम यशः किं मज्जयस्यम्बुधौ ।
इत्युक्त्वा चपलां पलायितवतीं वाचं नियुङ्क्ते बलात्
प्रत्याहृत्य गुणस्तुतौ कविगणश्चित्रं गुरोर्गौरवम् ॥१५॥

"कहाँ तो यह शङ्कराचार्य का सुन्दर चरित्र और कहाँ मैं अभागिनी ! इसलिये बहुत दिनों तक अर्जित किये गये मेरे यश को क्यों नष्ट कर रहे

हो और मुझे समुद्र में क्यों डुबो रहे हो" यह कहकर सरस्वती शीघ्र भाग खड़ी हुईं। परन्तु कवि लोगों ने उनको फिर से लाकर शङ्कर के गुणों की स्तुति करने में लगाया है। गुरु शङ्कर की महिमा विचित्र है ॥ १५ ॥

रूक्षैकाक्षरवाङ्निघण्टुशरणैरौणादिकप्रत्यय-
प्रायैर्हन्त यङन्तदन्तुरतरैर्दुर्बोधदूरान्वयैः ।
क्रूराणां कवितावतां कतिपयैः कष्टेन कृष्टैः पदै-
र्हाहा स्याद्वशगा किरातविततेरेणीव वाणी मम ॥१६॥

मुझे इस बात का दुःख है कि जिस प्रकार मृगी किरातों के समूह के वश में होकर दुर्दशा को प्राप्त करती है उसी प्रकार मेरी कविता क्रूर कवियों के रूक्ष अक्षर से युक्त, निघण्टु (कोश) की सहायता से ही जिनका अर्थ लगाया जा सकता ऐसे उणादि प्रत्ययों से युक्त, यङन्त के प्रयोगों से विषमतर, दुर्बोध, दूरान्वयी, इधर-उधर से खींचकर लाये गये, पदों से समानता की जाने पर दुर्दशा को प्राप्त करेगी ॥ १६ ॥

नेता यत्रोल्लसति भगवत्पादसंज्ञो महेशः
शान्तिर्यत्र प्रकचति रसः शेषवानुज्ज्वलाद्यैः ।
यत्राविद्याक्षतिरपि फलं तस्य काव्यस्य कर्ता
धन्यो व्यासाचलकविवरस्तत्कृतिज्ञाश्च धन्याः ॥१७॥

ऐसा होने पर भी शङ्कर के गुण-वर्णन में मेरी प्रवृत्ति अपने को कृतकृत्य बनाने के लिये ही है। जिस काव्य में भगवत्पाद-नामधारी महादेव नेता हैं, शृङ्गार आदि अन्य रसों से संवलित शान्त रस हो जहाँ प्रकाशित हो रहा है, जिसमें अविद्या का नाश होना ही फल है। धन्य है उस काव्य का कर्ता कविवर जो व्यासदेव के समान अखण्डनीय है तथा धन्य हैं वे लोग भी जो इस काव्य के स्वाद को जाननेवाले हैं ॥१७॥

ग्रन्थ का विषय

तत्राऽऽदिम उपोद्घातो द्वितीये तु तदुद्भवः ।
तृतीये तत्तदमृतान्धोवतारनिरूपणम् ॥ १८ ॥
चतुर्थसर्गे तच्छुद्धाष्टमप्राक्चरितं स्थितम् ।
पञ्चमे तद्योग्यसुखाश्रमप्राप्तिनिरूपणम् ॥ १९ ॥
महताऽनेहसा यैषा संप्रदायागता गता ।
तस्याः शुद्धात्मविद्यायाः षष्ठे सर्गे प्रतिष्ठितिः ॥ २० ॥
तद्व्यासाचार्यसंदर्शविचित्रं सप्तमे स्थितम् ।
स्थितोऽष्टमे मण्डनार्यसंवादो नवमे मुनेः ॥ २१ ॥
वाणीसाक्षिकसार्वज्ञनिर्वाहोपायचिन्तनम् ।
दशमे योगशक्त्या भूपतिकायप्रवेशनम् ॥ २२ ॥
बुद्ध्वा मीनध्वजकलास्तत्प्रसङ्गप्रपञ्चनम् ।
सर्ग एकादशे तूग्रभैरवाभिधनिर्जयः ॥ २३ ॥
द्वादशे हस्तधात्र्यार्यतोटकोभयसंश्रयः ।
वार्तिकान्तब्रह्मविद्याचालनं तु त्रयोदशे ॥ २४ ॥
चतुर्दशे पद्मपादतीर्थयात्रानिरूपणम् ।
सर्गे पञ्चदशे तूक्तं तदाशाजयकौतुकम् ॥ २५ ॥
षोडशे शारदापीठवासस्तस्य महात्मनः ।
इति षोडशभिः सर्गैर्व्युत्पाद्या शांकरी कथा ॥ २६ ॥

पहिले सर्ग में उपोद्घात; दूसरे में शङ्कराचार्य की उत्पत्ति; तीसरे में भिन्न-भिन्न देवताओं के अवतार का वर्णन; चौथे में शङ्कराचार्य का आठ वर्ष की अवस्था के पूर्व का चरित्र; पञ्चम में जीवन्मुक्ति के साधनभूत संन्यास आश्रम की प्राप्ति का निरूपण; षष्ठ में अति प्राचीन काल से सम्प्रदाय से आई हुई शुद्ध आत्म-विद्या की स्थापना; सप्तम सर्ग में शङ्कर और व्यास का विचित्र दर्शन; अष्टम में मण्डन मिश्र तथा शङ्कराचार्य का परस्पर संवाद; नवम में सरस्वती को साक्षी देकर आचार्य शङ्कर की सर्वज्ञता सिद्ध करने के उपाय का चिन्तन; दशम में योगशक्ति के द्वारा अमरक नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश तथा काम की कलाओं को जानकर उनका प्रकटीकरण; एकादश सर्ग में उग्रभैरव नामक कापालिक पर विजय; द्वादश में हस्तामलक तथा आर्यतोटक नामक दो शिष्यों की प्राप्ति; त्रयोदश में वार्तिकान्त ब्रह्मविद्या का अखिल भारत में प्रचार; चतुर्दश में पद्मपाद नामक शिष्य की तीर्थ-यात्रा; पञ्चदश में शङ्कराचार्य की दिग्विजय-लीला का वर्णन; षोडश सर्ग में शङ्कराचार्य का शारदा मठ में निवास—इन षोडश सर्गों के द्वारा शङ्कराचार्य के जीवन-चरित्र का प्रतिपादन किया गया है ॥ १८–२६ ॥

सैषा कलिमलच्छेत्री सकृच्छ्रुत्याऽपि कामदा ।
नानाप्रश्नोत्तरै रम्या विदामारभ्यते मुदे ॥ २७ ॥

शङ्कराचार्य की यही जीवन-कथा, जो कलि-मल को दूर करनेवाली है, एक बार भी श्रवण करने से पुरुषार्थ को देनेवाली है और नाना प्रश्नोत्तरों से रमणीय है, विद्वानों के आनन्द के लिये आरम्भ की जाती है ॥ २७ ॥

कथारम्भ

एकदा देवता रूप्याचलस्थमुपतस्थिरे ।
देवदेवं तुषारांशुमिव पूर्वाचलस्थितम् ॥ २८ ॥

प्रसादानुमितस्वार्थसिद्धयः प्रणिपत्य तम् ।
मुकुलीकृतहस्ताब्जा विनयेन व्यजिज्ञपन् ॥ २९ ॥
विज्ञातमेव भगवन् विद्यते यद्धिताय नः ।
वञ्चयन्सुगतान्बुद्धवपुर्धारी जनार्दनः ॥ ३० ॥
तत्प्रणीतागमालम्बैर्बौद्धैर्दर्शनदूषकैः ।
व्याप्तेदानीं प्रभो धात्री रात्रिः संतमसैरिव ॥ ३१ ॥

[यहाँ कवि शङ्कराचार्य के अवतार की कथा का आरम्भ करता है। बौद्धों के उपद्रवों के कारण वैदिक धर्म की जो दुर्दशा हो गई थी, उसी को दूर करने के लिये शिव ने शङ्कराचार्य का रूप किस प्रकार धारण किया, इसका विस्तृत वर्णन यहाँ से आरम्भ होता है।]

एक बार देवता लोग उदयाचल पर स्थित चन्द्रमा के समान कैलाश पर्वत पर रहनेवाले महादेव के पास गये। शिवजी की प्रसन्नता से जिनके स्वार्थ के सिद्ध होने का अनुमान किया जा सकता था, ऐसे देवताओं ने उन्हें प्रणाम किया और अञ्जलि जोड़कर, नम्रता-पूर्वक यह निवेदन किया कि भगवन्! यह तो आपको विदित ही है कि बुद्ध का अवतार धारण करके भगवान् विष्णु बौद्ध धर्मावलम्बियों को ठगते हुए हमारे कल्याण में लगे हुए हैं; तथापि हे प्रभो! बुद्ध के द्वारा रचित आगमों का अवलम्बन करनेवाले वेद-शास्त्र के दूषक बौद्धों के द्वारा इस समय यह पृथ्वी उसी प्रकार व्याप्त है जिस प्रकार घने अन्धकार से रात्रि ॥ २८—३१ ॥

वर्णाश्रमसमाचारान् द्विषन्ति ब्रह्मविद्विषः ।
ब्रुवन्त्याम्नायवचसां जीविकामात्रतां प्रभो ॥ ३२ ॥

हे प्रभो! ये ब्रह्मद्वेषी बौद्ध वर्णाश्रम के आचारों की निन्दा करते हैं तथा वेद के वचनों को जीविका मात्र बतलाते हैं ॥ ३२ ॥

न संध्यादीनि कर्माणि न्यासं वा न कदाचन ।
करोति मनुजः कश्चित्सर्वे पाखण्डतां गताः ॥ ३३ ॥

हे प्रभो ! आजकल कोई भी मनुष्य न तो सन्ध्यादिक कर्मों को करता है, न संन्यास का सेवन करता है, और सब पाखण्डी (नास्तिक) बन गये हैं ॥ ३३ ॥

श्रुते पिदधति श्रोत्रे क्रतुरित्यक्षरद्वये ।
क्रियाः कथं प्रवर्तेरन् कथं क्रतुभुजो वयम् ॥ ३४ ॥

सब मनुष्य 'यज्ञ' इन दो अक्षरों के कान में पड़ते ही कान को झट से बन्द कर लेते हैं; ऐसी दशा में यज्ञ आदिक क्रियायें कैसे हो सकती हैं ? और हम लोग भी यज्ञ में अपने अंश को कैसे खायँ ? ॥ ३४ ॥

शिवविष्णवागमपरैर्लिङ्गचक्रादिचिह्नितैः ।
पाखण्डैः कर्म संन्यस्तं कारुण्यमिव दुर्जनैः ॥ ३५ ॥

शिव तथा वैष्णव आगम में निरत रहनेवाले लिङ्ग (शिवलिङ्ग) तथा चक्र (सुदर्शन चक्र) आदि चिह्नों से अपने शरीर को चिह्नित करनेवाले इन पाखण्डियों ने कर्म को उसी प्रकार छोड़ दिया है जिस प्रकार दुर्जनों ने दया-भाव को ॥ ३५ ॥

अनन्येनैव भावेन गच्छन्त्युत्तमपूरुषम् ।
श्रुतिः साध्वी मदक्षीबैः का वा शाक्यैर्न दूषिता ॥ ३६ ॥

एकाग्र चित्त से क्षर तथा अक्षर से पृथक्, परमात्मा को प्रतिपादन करनेवाली किस साध्वी श्रुति (वेदमन्त्रों) को इन मतवाले बौद्धों ने दूषित नहीं किया है ? ॥ ३६ ॥

सद्यः कृत्तद्विजशिरःपङ्कजार्चितभैरवैः ।
न ध्वस्ता लोकमर्यादा का वा कापालिकाधमैः ॥ ३७ ॥

तुरन्त काटे गये ब्राह्मण के सिर-रूपी कमलों से भैरव की पूजा करनेवाले अधम कापालिकों ने किस लोक-मर्यादा को ध्वस्त नहीं कर दिया है ? ॥ ३७ ॥

अन्येऽपि बहवो मार्गाः सन्ति भूमौ सकण्टकाः ।
जनैर्येषु पदं दत्त्वा दुरन्तं दुःखमाप्यते ॥ ३८ ॥

पृथ्वी पर और भी बहुत से कण्टकाकीर्ण (तार्किक) मार्ग हैं जिन पर पैर रखकर अधिक कष्ट पाया जाता है ॥ ३८ ॥

तद्भवाँल्लोकरक्षार्थमुत्साद्य निखिलान् खलान् ।
वर्त्म स्थापयतु श्रौतं जगद्येन सुखं व्रजेत् ॥ ३९ ॥

इसलिये आप लोक को रक्षा के लिए इन समस्त दुष्टों का नाश कीजिए तथा वैदिक मार्ग की स्थापना कीजिए जिससे संसार में सुख प्राप्त हो ॥ ३९ ॥

इत्युक्त्वोपरतान् देवानुवाच गिरिजाप्रियः ।
मनोरथं पूरयिष्ये मानुष्यमवलम्ब्य वः ॥ ४० ॥

इतना कहकर जब देवता लोग चुप हो गये तब शिवजी ने कहा कि मैं मनुष्य-रूप धारण करके आप लोगों के मनोरथ को पूरा करूँगा ॥४०॥

दुष्टाचारविनाशाय धर्मसंस्थापनाय च ।
भाष्यं कुर्वन्ब्रह्मसूत्रतात्पर्यार्थविनिर्णयम् ॥ ४१ ॥

मोहनप्रकृतिद्वैतध्वान्तमध्याह्नभानुभिः ।
चतुर्भिः सहितः शिष्यैश्चतुरैर्हरिवद्भुजैः ॥ ४२ ॥

यतीन्द्रः शंकरो नाम्ना भविष्यामि महीतले ।
मद्वत्तथा भवन्तोऽपि मानुषीं तनुमाश्रिताः ॥ ४३ ॥

तं मामनुसरिष्यन्ति सर्वे त्रिदिववासिनः ।
तदा मनोरथः पूर्णो भवतां स्यान्न संशयः ॥ ४४ ॥

मैं दुष्ट आचार के नाश के लिये, धर्म को स्थापना के लिये, ब्रह्मसूत्र के तात्पर्य के निर्णय करनेवाले भाष्य को रचना कर, अज्ञानमूलक द्वैत-रूपी अन्धकार को दूर करने के लिये मध्याह्न-काल के सूर्य की भाँति चार शिष्यों के साथ—चार भुजाओं के साथ विष्णु की तरह—इस पृथ्वी-तल पर यतियों में श्रेष्ठ शङ्कर के नाम से उत्पन्न हूँगा। मेरे समान आप लोग भी मनुष्य-शरीर को धारण कीजिए। यदि सब देवता लोग मेरा अनुसरण करेंगे तो इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आपका मनोरथ अवश्य पूरा होगा ॥ ४१—४४ ॥

ब्रुवन्नेवं दिविषदः कटाक्षानन्यदुर्लभान् ।
कुमारे निदधे भानुः किरणानिव पङ्कजे ॥ ४५ ॥

देवताओं से इस प्रकार कहते हुए शिवजी ने स्वामी कार्त्तिकेय को दुर्लभ कटाक्षों से इस प्रकार देखा जिस प्रकार सूर्य कमलों के ऊपर अपनी किरणों को रखता है ॥ ४५ ॥

क्षीरनीरनिधेर्वीचिसचिवान्प्राप्य तान्गुहः ।
कटाक्षान्मुमुदे रश्मीनुदन्वानैन्दवानिव ॥ ४६ ॥

क्षीर-समुद्र की लहरी के समान उन कटाक्षों को पाकर कार्त्तिकेय उसी प्रकार प्रसन्न हुए जिस प्रकार समुद्र चन्द्र-किरणों को पाकर आह्लादित होता है ॥ ४६ ॥

अवदन्नन्दनं स्कन्दममन्दं चन्द्रशेखरः ।
दन्तचन्द्रातपानन्दिवृन्दारकचकोरकः ॥ ४७ ॥

अपने दाँतों की किरणों से चकोर-रूपी देवताओं को प्रसन्न करनेवाले शिवजी ने अपने बुद्धिमान् पुत्र स्कन्द से इस प्रकार कहना प्रारम्भ किया—॥ ४७ ॥

शृणु सौम्य वचः श्रेयो जगदुद्धारगोचरम् ।
काण्डत्रयात्मके वेदे प्रोद्धृते स्याद्द्विजोद्धृतिः ॥ ४८ ॥

तद्रक्षणे रक्षितं स्यात्सकलं जगतीतलम् ।
तदधीनत्वतो वर्णाश्रमधर्मततेस्ततः ॥ ४९ ॥

इदानीमिदमुद्धार्यमितिवृत्तिमतः पुरा ।
मम गूढाशयविदौ विष्णुशेषौ समीपगौ ॥ ५० ॥

मध्यमं काण्डमुद्धर्तुमनुज्ञातौ मयैव तौ ।
अवतीर्यांशतो भूमौ संकर्षणपतञ्जली ॥ ५१ ॥

मुनी भूत्वा मुदोपास्तियोगकाण्डकृतौ स्थितौ ।
अग्रिमं ज्ञानकाण्डं तूद्धरिष्यामीति देवताः ॥ ५२ ॥

संप्रति प्रतिजाने स्म जानात्येव भवानपि ।
जैमिनीयनयाम्भोधेः शरत्पर्वशशी भव ॥ ५३ ॥

विशिष्टं कर्मकाण्डं त्वमुद्धर ब्रह्मणः कृते ।
सुब्रह्मण्य इति ख्यातिं गमिष्यसि ततोऽधुना ॥ ५४ ॥

नैगमीं कुरु मर्यादामवतीर्य महीतले ।
निर्जित्य सौगतान् सर्वानाम्नायार्थविरोधिनः ॥ ५५ ॥

ब्रह्माऽपि ते सहायार्थं मण्डनो नाम भूसुरः ।
भविष्यति महेन्द्रोऽपि सुधन्वा नाम भूमिपः ॥ ५६ ॥

"हे सौम्य ! संसार के उद्धार-विषयक कल्याणकारी वचन को सुनो। कर्म, उपासना और ज्ञान-भेद से तीन काण्डवाले वेद का उद्धार होने पर ही द्विजों का उद्धार निर्भर है। उसकी रक्षा होने पर ही समस्त संसार की रक्षा हो सकती है क्योंकि वर्णाश्रम-धर्म का समुदाय द्विजों के ही अधीन है। इस समय इसका उद्धार करना बहुत ही आवश्यक है। मेरे पास रहनेवाले, गूढ़ाशय को जाननेवाले, विष्णु और शेषनाग हैं जो मध्यम काण्ड (उपासना) का उद्धार करने के लिये मेरी अनुमति से संकर्षण और पतञ्जलि के रूप में इस संसार में अवतीर्ण हुए हैं। इन दोनों मुनियों ने आनन्द से उपासना और योग काण्ड की रचना क्रमशः की है। अन्तिम (ज्ञान) काण्ड का उद्धार मैं स्वयं करूँगा। इस बात की प्रतिज्ञा मैंने देवताओं के सामने कर दी है। आप जैमिनीय न्याय-रूपी समुद्र के लिये शरत्पूर्णिमा के चन्द्रमा बनिए। ब्राह्मणों के लिये तुम विशेष कर कर्मकाण्ड का उद्धार करो, जिससे लोक में सुब्रह्मण्य नाम से तुम्हारी ख्याति होगी। तुम पृथ्वी पर अवतार लेकर वेदार्थ के विरोधी समस्त बौद्धों को जीतकर वेद की मर्यादा को स्थापित करो। तुम्हारी सहायता करने के लिये ब्रह्मा मण्डन नामक ब्राह्मण तथा इन्द्र सुधन्वा नामक राजा बनेंगे।" ४८-५६ ॥

टिप्पणी—वेद के तीन काण्ड माने जाते हैं—(१) कर्मकाण्ड, (२) देवता-काण्ड और (३) ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड में यज्ञ, यागादिकों का वर्णन रहता है; देवताकाण्ड में उपासना और योग का तथा ज्ञानकाण्ड में अध्यात्म विषय का विवेचन रहता है। कर्मकाण्ड का उद्धार कार्त्तिकेय के अवतार कुमारिल भट्ट ने किया, देवताकाण्ड का उद्धार विष्णु-रूप-धारी संकर्षण ने और योग का शेषावतार पतञ्जलि ने किया। इसी लिये देवताकाण्ड को संकर्षणकाण्ड भी कहते हैं। ज्ञानकाण्ड (उपनिषद्) का उद्धार ब्रह्मसूत्र पर शारीरक भाष्य लिखकर शङ्कर के अवतार श्री शंकराचार्य ने किया।

तथेति प्रतिजग्राह विधेरपि विधायिनीम् ।
बुधानीकपतिर्वाणीं सुधाधारामिव प्रभोः ॥ ५७ ॥

देवताओं की सेना के अधिनायक कार्त्तिकेय ने ब्रह्मा को भी प्रवृत्त करनेवाली, सुधा के समान, शिव की सुन्दर वाणी को भी स्वीकार किया ॥ ५७ ॥

अथेन्द्रो नृपतिर्भूत्वा प्रजा धर्मेण पालयन् ।
दिवं चकार पृथिवीं स्वपुरीममरावतीम् ॥ ५८ ॥

इसके बाद इन्द्र ने सुधन्वा नामक राजा बनकर धर्म से प्रजाओं का पालन करते हुए इस पृथ्वी को स्वर्ग और अपनी नगरी को अमरावती बना डाला ॥ ५८ ॥

सर्वज्ञोऽप्यसतां शास्त्रे कृत्रिमश्रद्धयाऽन्वितः ।
प्रतीक्षमाणः क्रौञ्चारिं मेलयामास सौगतान् ॥५९॥

सर्वज्ञ होने पर भी बौद्धों के शास्त्र में कृत्रिम श्रद्धा को धारण करने-वाले राजा ने कार्त्तिकेय की प्रतीक्षा करते हुए बौद्धों को एकत्र किया ॥५९॥

ततः स तारकारातिरजनिष्ट महीतले ।
भट्टपादाभिधा यस्य भूषा दिक्सु दृशामभूत् ॥ ६० ॥

उसके अनन्तर तारक असुर के शत्रु कार्त्तिकेय इस संसार में पैदा हुए। उनकी "भट्टपाद" संज्ञा दिशा-रूपी स्त्रियों के लिये अलङ्कार बनी ॥ ६० ॥

स्फुटयन् वेदतात्पर्यमभाञ्जैमिनिसूत्रितम् ।
सहस्रांशुरिवानूरुव्यञ्जितं भासयञ्जगत् ॥ ६१ ॥

जैमिनि-सूत्रों में सन्निवेशित वेद के तात्पर्य को प्रकट करते हुए भट्टपाद (कुमारिलभट्ट) उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार अरुण के द्वारा

कुछ प्रकाशित किये गये संसार को भासित करते हुए सूर्य भगवान् चमकते हैं ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—जैमिनि-रचित दर्शन कर्ममीमांसा अथवा पूर्वमीमांसा के नाम से विख्यात है। इसमें वैदिक कर्मकाण्ड के रहस्य का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है। इसके १२ अध्याय तथा १००० न्याय (विषय) हैं। इसी लिये मीमांसा को 'सहस्रन्यायाकुला' कहते हैं। जैमिनि के समस्त सूत्रों की व्याख्या कुमारिलभट्ट ने तीन भागों में की है—(१) पहिले अध्याय के प्रथम पाद की व्याख्या का नाम है श्लोकवार्तिक (पद्यात्मक)। (२) पहिले अध्याय के द्वितीय पाद से लेकर तृतीय अध्याय तक ग्रन्थ की व्याख्या का नाम है तन्त्र-वार्तिक (गद्यात्मक)। (३) चौथे अध्याय से लेकर बारहवें अध्याय तक की संक्षिप्त टिप्पणी का नाम है टुप् टीका (गद्यात्मक)।

राज्ञः सुधन्वनः प्राप नगरीं स जयन्दिशः ।
प्रत्युद्गम्य क्षितीन्द्रोऽपि विधिवत्तमपूजयत् ॥ ६२ ॥

सोऽभिनन्द्याऽऽशिषा भूपमासीनः काञ्चनासने ।
तां सभां शोभयामास सुरभिर्द्युवनीमिव ॥ ६३ ॥

कुमारिलभट्ट समस्त दिशाओं को जीतते हुए राजा सुधन्वा की नगरी में आये। राजा ने भी आगे जाकर उनका स्वागत किया और विधिवत् पूजन किया। सोने के आसन पर बैठे हुए कुमारिलभट्ट ने राजा को आशीर्वाद से अभिनन्दित कर उस सभा को उसी प्रकार से सुशोभित किया जिस प्रकार वसन्त स्वर्ग की वाटिका को प्रफुल्लित करता है ॥ ६२-६३ ॥

सभासमीपविटपिश्रितकोकिलकूजितम् ।
श्रुत्वा जगाद तद्व्याजाद्राजानं पण्डिताग्रणीः ॥ ६४ ॥

मलिनैश्चेन्न सङ्गस्ते नीचैः काककुलैः पिक ।
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादैः श्लाघनीयस्तदा भवेः ॥ ६५ ॥

सभा के समीप उगनेवाले वृक्षों पर बैठे हुए कोकिलों की कूक सुनकर पण्डितों में श्रेष्ठ, कुमारिल ने उनको लक्षित करते हुए राजा से कहा—ए कोकिल ! यदि मलिन, काले, नीच, कानों को कष्ट पहुँचानेवाले शब्दों को करनेवाले कौवों से तुम्हारा सम्बन्ध न होता तो तुम अवश्य श्लाघनीय होते । यहाँ काकों के द्वारा मलिनचरित्र, शून्यवादी, श्रुति-निन्दक बौद्धों की ओर संकेत है । श्लोक का अभिप्राय है कि राजा के गुणी होने पर भी उसमें यह महान् दोष है कि वह आचारहीन शून्यवादी बौद्धों की संगति करता है । यदि वह उनका संग छोड़ दे, तो सचमुच वह श्लाघनीय होगा ॥ ६४-६५ ॥

षडभिज्ञा निशम्येमां वाचं तात्पर्यगर्भिताम् ।
नितरां चरणस्पृष्टा भुजंगा इव चुक्रुधुः ॥ ६६ ॥

छित्त्वा युक्तिकुठारेण बुद्धसिद्धान्तशाखिनम् ।
स तद्ग्रन्थेन्धनैश्चीर्णैः क्रोधज्वालामवर्धयत् ॥ ६७ ॥

बौद्ध लोग इस सारगर्भित वचन को सुनकर पैरों-तले कुचले गये साँपों की तरह क्रुद्ध हो गये । युक्तिरूपी कुठार से बौद्ध-सिद्धान्त-रूपी वृक्ष को काटकर कुमारिल ने इकट्ठा किये गये बौद्ध-ग्रन्थ-रूपी इन्धन को जलाकर उनकी क्रोध-ज्वाला को बढ़ाया ॥ ६६-६७ ॥

सा सभा वदनैस्तेषां रोषपाटलकान्तिभिः ।
बभौ बालातपाताम्रैः सरसीव सरोरुहैः ॥ ६८ ॥

वह सभा क्रोध से लाल होनेवाले बौद्धों के मुखों से उसी प्रकार शोभित हुई जिस प्रकार प्रातःकालीन बालसूर्य की किरणों से लाल कमलों से तालाब शोभित होता है ॥ ६८ ॥

उपन्यस्यत्सु साक्षेपं खण्डयत्सु परस्परम् ।
तेषूदतिष्ठन्निर्घोषो भिन्दन्निव रसातलम् ॥ ६९ ॥

कुमारिल के प्रति आक्षेप-युक्त वचनों के कहने तथा परस्पर खण्डन करने से इतना भारी कोलाहल मचा कि जान पड़ता था कि रसातल विदीर्ण हो जायगा ॥ ६९ ॥

अधः पेतुर्बुधेन्द्रेण क्षताः पक्षेषु तत्क्षणम् ।
व्यूढकर्कशतर्केण तथागतधराधराः ॥ ७० ॥

जिस प्रकार इन्द्र के द्वारा पाँख काटे जाने पर पर्वत पृथ्वीतल पर गिर पड़े थे उसी प्रकार पण्डितश्रेष्ठ कुमारिल के द्वारा विशाल, कर्कश तर्क से बौद्धों के पक्ष (न्याय-सम्बन्धी पूर्वपक्ष) के खण्डित कर दिये जाने पर वे पृथ्वी पर गिर पड़े ॥ ७० ॥

स सर्वज्ञपदं विज्ञोऽसहमान इव द्विषाम् ।
चकार चित्रविन्यस्तानेतान्मौनविभूषितान् ॥ ७१ ॥
ततः प्रक्षीणदर्पेषु बौद्धेषु वसुधाधिपम् ।
बोधयन्बहुधा वेदवचांसि प्रशशंस सः ॥ ७२ ॥

सर्वज्ञ कुमारिल ने बौद्धों की 'सर्वज्ञ' उपाधि को नहीं सहते हुए उनको चित्र-लिखित (संज्ञा से रहित) तथा मौन कर दिया। बौद्धों के इस प्रकार दर्पहीन हो जाने पर कुमारिल ने राजा को वेद का तात्पर्य समझाते हुए वेद-मन्त्रों की भूरि भूरि प्रशंसा की ॥ ७१-७२ ॥

बभाषेऽथ धराधीशो विद्यायत्तौ जयाजयौ ।
यः पतित्वा गिरेः शृङ्गादव्ययस्तन्मतं ध्रुवम् ॥ ७३॥

तब राजा ने कहा कि जय और पराजय तो विद्या के अधीन हैं। पहाड़ की चोटी से गिरकर भी जिसका शरीर अक्षत रह जाय (घायल न हो), उसी का मत सत्य है ॥ ७३ ॥

तदाकर्ण्य मुखान्यन्ये परस्परमलोकयन्।
द्विजाग्र्यस्तु स्मरन् वेदानारुरोह गिरेः शिरः ॥ ७४ ॥

यदि वेदाः प्रमाणं स्युर्भूयात्क्वाचिन्न मे क्षतिः।
इति घोषयता तस्मान्न्यपाति सुमहात्मना ॥ ७५ ॥

इस वचन को सुनकर बौद्ध लोग तो एक-दूसरे का मुख देखने लगे परन्तु वह ब्राह्मण-शिरोमणि कुमारिल वेदों का स्मरण करता हुआ पहाड़ की चोटी पर चढ़ गया। "यदि वेद प्रमाण हों तो मेरी किसी प्रकार की क्षति न हो", यह घोषित करते हुए वह महात्मा पहाड़ की चोटी से गिर पड़ा ॥ ७४-७५ ॥

किमु दौहित्रदत्तेऽपि पुण्ये विलयमास्थिते।
ययातिश्च्यवते स्वर्गात्पुनरित्यूचिरे जनाः ॥ ७६ ॥

उन्हें चोटी से गिरते हुए देखकर इकट्ठे हुए लोगों ने कहना शुरू किया कि दौहित्र के द्वारा दिये गये भी पुण्य के नाश हो जाने पर क्या यह ययाति है जो स्वर्ग से गिर रहा है? ॥ ७६ ॥

अपि लोकगुरुः शैलात्तूलपिण्ड इवापतत्।
श्रुतिरात्मशरण्यानां व्यसनं नोच्छिनत्ति किम् ॥ ७७ ॥

वह लोक-गुरु ब्राह्मण रूई के ढेर की तरह पहाड़ से नीचे गिर पड़े। क्या श्रुति अपने शरण में आनेवाले पुरुषों के दुःख को दूर नहीं करती? ॥ ७७ ॥

श्रुत्वा तदद्भुतं कर्म द्विजा दिग्भ्यः समाययुः।
घनघोषमिवाऽऽकर्ण्य निकुञ्जेभ्यः शिखावलाः ॥ ७८ ॥

इस अद्भुत कर्म को सुनकर ब्राह्मण लोग नाना दिशाओं से उसी प्रकार आये जिस प्रकार मेघ की गर्जना सुनकर कुञ्जों से मोर ॥ ७८ ॥

दृष्ट्वा तमक्षतं राजा श्रद्धां श्रुतिषु संदधे ।
निनिन्द बहुधाऽऽत्मानं खलसंसर्गदूषितम् ॥ ७९ ॥

राजा ने कुमारिल को अक्षत देखकर श्रुति में श्रद्धा धारण की और दुष्टों के संसर्ग से दूषित अपने आपकी निन्दा अनेक प्रकार से की ॥ ७९ ॥

सौगतास्त्वब्रुवन्नेदं प्रमाणं मतनिर्णये ।
मणिमन्त्रौषधैरेवं देहरक्षा भवेदिति ॥ ८० ॥

परन्तु बौद्धों ने कहा कि किसी मत के निर्णय में यह आचरण प्रमाण नहीं हो सकता, क्योंकि देह की रक्षा तो मणि, मन्त्र और औषध के बल पर इस प्रकार की जा सकती है ॥ ८० ॥

दुर्विधैरन्यथा नीते प्रत्यक्षेऽर्थेऽपि पार्थिवः ।
भृकुटीभीकरमुखः संधामुग्रतरां व्यधात् ॥ ८१ ॥

पृच्छामि भवतः किंचिद्वक्तुं न प्रभवन्ति ये ।
यन्त्रोपलेषु सर्वांस्तान्घातयिष्याम्यसंशयम् ॥ ८२ ॥

जब दुष्ट बौद्धों ने इस प्रकार प्रत्यक्ष होनेवाले भी पदार्थ को अन्यथा कर देने की चेष्टा की तब भ्रुकुटी के कारण राजा का मुख भयङ्कर हो गया। उसने बड़ी उग्र प्रतिज्ञा की—"मैं आप लोगों से कुछ पूछूँगा और जो लोग उसका उत्तर न दे सकेंगे उनको पत्थर के यन्त्र (कोल्हू) में दबाकर मार डालूँगा।" ॥ ८१-८२ ॥

इति संश्रुत्य गोत्रेशो घटमाशीविषान्वितम् ।
आनीयात्र किमस्तीति पप्रच्छ द्विजसौगतान् ॥ ८३ ॥

वक्ष्यामहे वयं भूप श्वः प्रभातेऽस्य निर्णयम् ।
इति प्रसाद्य राजानं जग्मुर्भूसुरसौगताः ॥ ८४ ॥

यह प्रतिज्ञा कर राजा ने साँपों से भरे हुए घड़े को लाकर ब्राह्मणों तथा बौद्धों से पूछा कि बतलाइए इसके भीतर क्या है ?—प्रश्न को सुनकर ब्राह्मणों और बौद्धों ने कहा—'हे राजन् ! कल प्रातःकाल हम लोग इसका निर्णय करेंगे'। इस वचन से राजा को प्रसन्न कर वे दोनों चले गये ॥ ८३-८४ ॥

पद्मा इव तपस्तेपुः कण्ठद्घ्नयसपाथसि ।
द्युमणिं प्रति भूदेवाः सोऽपि प्रादुरभूत्ततः ॥ ८५ ॥
संदिश्य वचनीयांशमादित्येऽन्तर्हिते द्विजाः ।
आजग्मुरपि निश्चित्य सौगताः कलशस्थितम् ॥ ८६ ॥

ब्राह्मणों ने गले भर जल में कमल के समान खड़े होकर सूर्य भगवान् के प्रसन्नतार्थ तपस्या की। तब सूर्य भगवान् प्रकट हुए और 'घड़े के भीतर शेषशायी भगवान् हैं' यह कहकर उनके अस्त (अन्तर्धान) होने पर ब्राह्मण लोग राजा के पास आये तथा निश्चय करके बौद्ध लोग भी आये ॥ ८५-८६ ॥

ततस्ते सौगताः सर्वे भुजंगोऽस्तीत्यवादिषुः ।
भोगीशभोगशयनो भगवानिति भूसुराः ॥ ८७ ॥
श्रुतभूसुरवाक्यस्य वदनं पृथिवीपतेः ।
कासारशोषणम्लानसारसश्रियमाददे ॥ ८८ ॥

तब बौद्धों ने कहा कि इसके भीतर साँप है और ब्राह्मणों ने कहा कि शेषनाग की सेज पर सोनेवाले भगवान् विष्णु हैं। ब्राह्मणों के इस वचन को सुनने पर राजा का मुँह उसी प्रकार मुरझा गया जिस प्रकार तालाब के सूखने पर कमल ॥ ८७-८८ ॥

अथ प्रोवाच दिव्या वाक्सम्राजमशरीरिणी ।
तुदन्ती संशयं तस्य सर्वेषामपि शृण्वताम् ॥ ८९ ॥

सत्यमेव महाराज ब्राह्मणा यद्बभाषिरे ।
मा कृथः संशयं तत्र भव सत्यप्रतिश्रवः ॥ ९० ॥
श्रुत्वाऽशरीरिणीं वाणीं ददर्श वसुधाधिपः ।
मूर्तिं मधुद्विषः कुम्भे सुधामिव सुराधिपः ॥ ९१ ॥

उसी समय शरीर-रहित आकाशवाणी सब श्रोताओं तथा राजा के संशय को दूर करती हुई, प्रकट हुई—"हे राजन्! ब्राह्मणों ने जो कहा है वह बिल्कुल सच्चा है। इस विषय में सन्देह मत करो। सत्यप्रतिज्ञ बनो"। इस आकाशवाणी को सुनकर राजा ने उस घड़े में विष्णु भगवान् की मूर्ति को उसी प्रकार देखा जिस प्रकार इन्द्र ने सुधा को ॥ ८९-९१ ॥

निरस्ताखिलसंदेहो विन्यस्तेतरदर्शनात् ।
व्यधादाज्ञां ततो राजा वधाय श्रुतिविद्विषाम् ॥ ९२ ॥
आसेतोरातुषाराद्रेर्बौद्धानावृद्धबालकम् ।
न हन्ति यः स हन्तव्यो भृत्यानित्यन्वशान्नृपः ॥ ९३ ॥

घड़े में रक्खी गई वस्तु से भिन्न वस्तु को देखकर राजा का सब सन्देह दूर हो गया और राजा ने श्रुति-निन्दक बौद्धों के मारने की आज्ञा दी—

"हिमालय से लेकर रामेश्वरम्-पर्यन्त बालक से लेकर वृद्धों तक बौद्धों को जो नहीं मारता है वह स्वयं मारने योग्य है"—ऐसी आज्ञा राजा ने अपने नौकरों को दी ॥ ९२-९३ ॥

इष्टोऽपि दृष्टदोषश्चेद्वध्य एव महात्मनाम् ।
जननीमपि किं साक्षान्नावधीद्भृगुनन्दनः ॥ ९४ ॥

जिसके दोष दिखलाई पड़ें, वह व्यक्ति प्रिय होने पर भी महात्माओं के लिये वध्य होता ही है। क्या भृगुनन्दन परशुराम ने साक्षात् अपनी माता को नहीं मार डाला ? ॥ ९४ ॥

स्कन्दानुसारिराजेन जैना धर्मद्विषो हताः ।
योगीन्द्रेणेव योगघ्ना विघ्नास्तत्त्वावलम्बिना ॥ ९५ ॥

कार्त्तिकेय के अवतार कुमारिलभट्ट की आज्ञा को मानकर राजा ने धर्मद्वेषी बौद्धों को उसी प्रकार मार डाला जिस प्रकार तत्त्वज्ञानी योगी योग के प्रतिबन्धक व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य आदि विघ्नों को नष्ट कर देता है ॥ ९५ ॥

हतेषु तेषु दुष्टेषु परितस्तार कोविदः ।
श्रौतवर्त्म तमिस्रेषु नष्टेष्विव रविर्महः ॥ ९६ ॥

उन दुष्टों के नष्ट हो जाने पर कुमारिल ने वैदिक मार्ग का उसी प्रकार सर्वत्र प्रचार किया जिस प्रकार अन्धकार के नष्ट हो जाने पर सूर्य प्रकाश को फैलाता है ॥ ९६ ॥

कुमारिलमृगेन्द्रेण हतेषु जिनहस्तिषु ।
निष्प्रत्यूहमवर्धन्त श्रुतिशाखाः समन्ततः ॥ ९७ ॥

इस प्रकार सिंह-रूपी कुमारिल के द्वारा हस्ती-रूपी बौद्धों के मारे जाने पर चारों ओर श्रुति की शाखायें विना विघ्न के बढ़ने लगीं ॥ ९७ ॥

प्रागित्थं ज्वलनभुवा प्रवर्तितेऽस्मिन्
कर्माध्वन्यखिलविदा कुमारिलेन ।
उद्धर्तुं भुवनमिदं भवाब्धिमग्नं
कारुण्याम्बुनिधिरियेष चन्द्रचूडः ॥ ९८ ॥

इस प्रकार अग्नि से उत्पन्न होनेवाले सर्वज्ञ कुमारिलभट्ट के द्वारा कर्ममार्ग के पहिले प्रवर्तित होने पर प्रपञ्च में डूबे हुए इस संसार के उद्धार करने की कामना, करुणा के समुद्र, भगवान् शंकर ने स्वयं प्रकट की ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—स्वामी कार्त्तिकेय की उत्पत्ति अग्नि से है, अतः उनके अवतारभूत कुमारिलभट्ट के लिये 'ज्वलनभू' (अग्नि से उत्पन्न) शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इति श्रीमाधवीये तदुपोद्घातकथापरः ।
संक्षेपशंकरजये सर्गोऽयं प्रथमोऽभवत् ॥ १ ॥

माधवीय शङ्कर विजय का उपोद्घात रूप प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ।

द्वितीय सर्ग

आचार्य शङ्कर का जन्म

ततो महेशः किल केरलेषु
श्रीमद्वृषाद्रौ करुणासमुद्रः ।
पूर्णानदीपुण्यतटे स्वयंभू-
र्लिङ्गात्मनाऽनङ्गधगाविरासीत् ॥ १ ॥

इसके बाद करुणा के समुद्र कामदेव के शत्रु भगवान् महादेव केरल देश में श्रीमद्वृष नामक पर्वत पर पूर्णा नदी के पवित्र तट पर ज्योतिर्लिङ्ग के रूप से स्वयं आविर्भूत हुए ॥ १ ॥

तच्चोदितः कश्चन राजशेखरः
स्वप्ने मुहुर्दृष्टतदीयवैभवः ।
प्रासादमेकं परिकल्प्य सुप्रभं
प्रावर्तयत्तस्य सपर्हणं विभोः ॥ २ ॥

शङ्कर की प्रेरणा से स्वप्न में बारम्बार उनके वैभव को देखनेवाले राजशेखर नामक राजा ने एक सुन्दर मन्दिर बनवाकर उनका पूजन आरम्भ किया ॥ २ ॥

तस्येश्वरस्य प्रणतार्तिहर्तुः
प्रसादतः प्राप्तनिरीतिभावः ।
कश्चित्तदभ्याशगतोऽग्रहारः
कालट्यभिख्योऽस्ति महान्मनोज्ञः ॥ ३ ॥

भक्त जनों के क्लेश को दूर करनेवाले भगवान् शङ्कर के प्रसाद से छः प्रकार की 'ईति' बाधाओं से रहित, उसी मन्दिर के पास, 'कालटि' नामक नितान्त रमणीय अग्रहार था ॥ ३ ॥

टिप्पणी—ईति अर्थात् बाधा। यह छः प्रकार की है—अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक, टिड्डी, शुक तथा समीपवर्ती राजा। अग्रहार उस गाँव को कहते हैं जिसमें ब्राह्मणों की बस्ती प्रधान रूप से रहती है। दक्षिण देश में ऐसे गाँवों की बहुलता है।

कश्चिद्विपश्चिदिह निश्चलधीर्विरेजे
विद्याधिराज इति विश्रुतनामधेयः ।
रुद्रो वृषाद्रिनिलयोऽवतरीतुकामो
यत्पुत्रमात्मपितरं समरोचयत् सः ॥ ४ ॥

उस गाँव में निश्चल बुद्धिवाले विद्याधिराज नाम से प्रसिद्ध कोई पण्डित विराजमान थे जिनके पुत्र को वृष पर्वत पर रहनेवाले भगवान् शिव ने अवतार लेने के लिये अपना पिता बनाने की इच्छा की ॥ ४ ॥

पुत्रोऽभवत्तस्य पुरात्तपुण्यैः
सुब्रह्मतेजाः शिवगुर्वभिख्यः ।
ज्ञाने शिवो यो वचने गुरुस्त-
स्यान्वर्थनामाकृत लब्धवर्णः ॥ ५ ॥

पूर्वजन्म के पुण्य से ब्रह्मतेज से चमकते हुए विद्याधिराज के घर शिवगुरु नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो ज्ञान में शिव, शङ्कर तथा वचन

में गुरु, बृहस्पति था। अतः पिता ने शिव और गुरु की समानता के कारण उसका सार्थक नाम 'शिव-गुरु' रक्खा ॥ ५ ॥

स ब्रह्मचारी गुरुगेहवासी तत्कार्यकारी विहितान्नभोजी ।
सायं प्रभातं च हुताशसेवी व्रतेन वेदं निजमध्यगीष्ट ॥६॥

गुरु-गृह में रहनेवाले, विहित अन्न को खानेवाले, और सायं-प्रातः अग्निहोत्र करनेवाले उस ब्रह्मचारी ने गुरु के कार्य को करते हुए, नियमपूर्वक अपने वेद का अध्ययन किया ॥ ६ ॥

क्रियाद्यनुष्ठानफलोऽर्थबोधः स नोपजायेत विना विचारम् ।
अधीत्य वेदानथ तद्विचारं चकार दुर्बोधतरो हि वेदः ॥७॥

वेद के अर्थ का ज्ञान यज्ञ-यागादिक क्रियाओं के ज्ञान के लिये ही होता है। वह विना विचार किये उत्पन्न नहीं होता। इसी लिये वेदों को पढ़कर शिवगुरु ने उन पर विचार किया। विना विचार किये वेदों के अर्थ का समझना बड़ा कठिन होता है ॥ ७ ॥

वेदेष्वधीतेषु विचारितेऽर्थे
शिष्यानुरागी गुरुराह तं स्म ।
अपाठि मत्तः सषडङ्गवेदो
व्यचारि कालो बहुरत्यगात्ते ॥ ८ ॥

जब उस ब्रह्मचारी ने वेदों को पढ़ लिया और वेदों के अर्थ का विचार कर लिया तब शिष्यानुरागी गुरु ने उससे कहा—मुझसे तुमने षडङ्ग वेद को पढ़ा तथा उसके अर्थ का विचार किया। इस प्रकार तुम्हारा बहुत समय बीत गया है ॥ ८ ॥

भक्तोऽपि गेहं व्रज संप्रति त्वं
जनोऽपि ते दर्शनलालसः स्यात् ।

गत्वा कदाचित् स्वजनप्रमोदं
विधेहि मा तात विलम्बयस्व ॥ ९ ॥

इस समय भक्त होने पर भी तुम अपने घर जाओ क्योंकि तुम्हारे सम्बन्धी तुम्हें देखने की अभिलाषा रखते हैं। कभी जाकर अपने संबन्धियों को आनन्दित करो। हे तात! इस विषय में देरी मत करो ॥ ९ ॥

विधातुमिष्टं यदिहापराह्णे
विजानता तत्पुरुषेण पूर्वम्।
विधेयमेवं यदिह श्व इष्टं
कर्तुं तदद्येति विनिश्चितोऽर्थः ॥ १० ॥

इस संसार में जो कार्य अपराह्ण (दोपहर के बाद) में करने के योग्य है उसे ज्ञानी पुरुष को चाहिये कि पूर्वाह्ण ही में कर ले। जो काम कल करने के लिये इष्ट हो उसको आज ही कर डालना चाहिये। निश्चित सिद्धान्त यही है ॥ १० ॥

कालोप्तबीजादिह यादृशं स्यात्
सस्यं न तादृग्विपरीतकालात्।
तथा विवाहादि कृतं स्वकाले
फलाय कल्पेत न चेद्वृथा स्यात् ॥ ११ ॥

उचित समय पर बोये गये बीज से जैसी खेती उत्पन्न होती है वैसी विपरीत काल में बोये गये बीज से कभी नहीं होती। उसी प्रकार से विवाहादि संस्कार भी उचित समय पर किये जाने पर फल देते हैं। अन्यथा वे निरर्थक होते हैं ॥ ११ ॥

आ जन्मनो गणयतो ननु तान् गताब्दान्
माता पिता परिणयं तव कर्तुकामौ।

पित्रोरियं प्रकृतिरेव पुरोपनीतिं
यद्ध्यायतस्तनुभवस्य ततो विवाहम् ॥ १२ ॥

तुम्हारे विवाह करने की इच्छा करनेवाले माता पिता तुम्हारे जन्म से लेकर बीते हुए वर्षों को गिन रहे हैं। यह तो माता-पिता का स्वभाव ही होता है कि पहले वे अपने पुत्र के उपनयन की चिन्ता करते हैं और उसके अनन्तर विवाह की ॥ १२ ॥

तत्तत्कुलीनपितरः स्पृहयन्ति कामं
तत्तत्कुलीनपुरुषस्य विवाहकर्म ।
पिण्डप्रदातृपुरुषस्य ससंततित्वे
पिण्डाविलोपमुपरि स्फुटमीक्षमाणाः ॥ १३ ॥

अच्छे, कुलीन पिता लोग कुलीन पुरुष के विवाह की अत्यन्त स्पृहा रखते हैं क्योंकि वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि पिंड देनेवाले पुरुष के सन्तान-युक्त होने पर ही आगे चलकर पिण्ड का कभी लोप नहीं होता है ॥ १३ ॥

अर्थावबोधनफलो हि विचार एष
तच्चापि चित्रबहुकर्मविधानहेतोः ।
अत्राधिकारमधिगच्छति सद्वितीयः
कृत्वा विवाहमिति वेदविदां प्रवादः ॥ १४ ॥

वेदों के विचार का फल है उनके अर्थों का यथार्थ ज्ञान। वेदार्थ के जानने का फल है—नाना प्रकार के वैदिक कर्मों का अनुष्ठान। परन्तु इसका अधिकारी वही हो सकता है जिसने विवाह किया है। श्रुति का नियम है कि पति-पत्नी को एक संग यागादि कर्म करना चाहिए (सहोभौ चरतां धर्मम्)। अतः याग-सम्पादन के लिये भी विवाह की आवश्यकता है ॥ १४ ॥

सत्यं गुरो न नियमोऽस्ति गुरोरधीत-
वेदो गृही भवति नान्यपदं प्रयाति ।
वैराग्यवान् व्रजति भिक्षुपदं विवेकी
नो चेद्‌ गृही भवति राजपदं तदेतत् ॥ १५ ॥

ब्रह्मचारी शिवगुरु ने कहा कि ठीक है परन्तु गुरु से वेद का अध्ययन करनेवाला ब्रह्मचारी गृहस्थ ही बनता है, दूसरे किसी आश्रम में नहीं जाता है यह कोई नियम नहीं है। क्योंकि विवेकी पुरुष वैराग्य उत्पन्न होने पर सीधे संन्यास आश्रम में जा सकता है। यदि वह वैराग्य, विवेकयुक्त न हो तब गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, यही राज-मार्ग है ॥ १५ ॥

टिप्पणी—श्रुति का साधारण कथन है कि प्रत्येक मनुष्य जन्म से ही तीन ऋणों में बद्ध रहता है—देव-ऋण, ऋषि-ऋण तथा पितृ-ऋण। पहिले ऋण का परिशोध यज्ञ के द्वारा, दूसरे का अध्यापन-कार्य के द्वारा और तीसरे का पुत्र-उत्पादन के द्वारा किया जाता है। अतः साधारणतया क्रमपूर्वक आश्रमों का निर्वाह करते हुए संन्यास ग्रहण करना चाहिए। यही साधारण नियम है :—ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्—जाबालोपनिषद् खण्ड ॥ ४ ॥

परन्तु विशेष नियम यह है कि जिस दिन वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी दिन संन्यास ग्रहण कर ले। यदहरेव विरजेत्, तदहरेव प्रव्रजेत्। (जाबालोपनिषद्)

श्रीनैष्ठिकाश्रममहं परिगृह्य याव-
ज्जीवं वसामि तव पार्श्वगतश्चिरायुः ।
दण्डाजिनी सविनयो बुध जुह्वदग्नौ
वेदं पठन् पठितविस्मृतिहानिमिच्छन् ॥ १६ ॥

हे गुरो ! इसलिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य (मरणान्त ब्रह्मचर्य) धारण कर, मैं जीवन भर दण्ड और चर्म को धारण करके, विनयपूर्वक अग्नि में हवन तथा वेद का अभ्यास करता हुआ आपके पास रहना चाहता हूँ जिससे मेरे पठित ग्रन्थ का विस्मरण न हो जाय ॥ १६ ॥

दारग्रहो भवति तावदयं सुखाय
यावत्कृतोऽनुभवगोचरतां गतः स्यात् ।
पश्चाच्छनैर्विरसतामुपयाति सोऽयं
किं निह्नुषे त्वमनुभूतिपदं महात्मन् ॥ १७ ॥

यह विवाह-सम्बन्ध तभी तक सुख देता है जब तक वह अनुभव-गोचर होता है। अच्छी तरह से जब अनुभव कर लिया जाता है तब वही धीरे-धीरे नीरस हो जाता है। हे महात्मन् ! इस अनुभव के विषय को आप क्यों छिपा रहे हैं ? ॥ १७ ॥

यागोऽपि नाकफलदो विधिना कृतश्चेत्
प्रायः समग्रकरणं भुवि दुर्लभं तत् ।
वृष्ट्यादिवन्नहि फलं यदि कर्मणि स्यात्
दिष्ट्या यथोक्तविरहे फलदुर्विधत्वम् ॥ १८ ॥

यज्ञ भी स्वर्ग-फल को अवश्य देनेवाला है, यदि वह नियमपूर्वक किया जाय। परन्तु अच्छी तरह से यज्ञ का निष्पादन करना दुर्लभ है। यदि वृष्टि आदि फल के समान किसी कर्म में फल न हो तो यज्ञ आदि के द्वारा भी फल के निष्पादन की आशा दुराशा मात्र है। यज्ञयागादिकों से फल अवश्य उत्पन्न होता है, परन्तु उचित अनुष्ठान तथा विधान नितान्त आवश्यक है। यदि इस अनुष्ठान में किसी तरह की कमी हो जाय, तो वह यज्ञ अभीष्ट फल देने के बदले अनर्थ उत्पन्न करने लगता है ॥ १८ ॥

निःस्वो भवेद्यदि गृही निरयी स नूनं
भोक्तुं न दातुमपि यः क्षमतेऽणुमात्रम् ।
पूर्णोऽपि पूर्तिमभिमन्तुमशक्नुवन् यो
मोहेन शं न मनुते खलु तत्र तत्र ॥ १९ ॥

यदि गृहस्थ होकर ग़रीब हो तो वह निश्चय ही नरक का भागी होता है; क्योंकि वह थोड़ा भी न तो खा सकता है, न दान दे सकता है। यदि वह धन से पूर्ण भी हो, परन्तु मोहवश वह उस पूर्ति को पूर्ति न माने और अधिक पाने के लिये लालायित बना रहे, तो वह भिन्न भिन्न वस्तुओं के होने पर भी सुख का अनुभव नहीं करता। गृहस्थ के चित्त में अधिक पाने की वासना का जब तक नाश नहीं हो जाता, तब तक उसे शान्ति कहाँ ? चाहे वह ग़रीब हो चाहे अमीर, दोनों दशाओं में उसे दुःख भोगना ही पड़ता है ॥ १९ ॥

टिप्पणी—इस पद्य का तात्पर्य अनेक स्थानों पर वर्णित मिलेगा। पुनर्यौवन पाकर विषय भोगनेवाले राजा ययाति का यह अनुभव कितना सच्चा, कितना तथ्यपूर्ण है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥

यावत्सु सत्सु परिपूर्तिरथो अमीषां
साधो गृहोपकरणेषु सदा विचारः ।
एकत्र संहृतवतः स्थितपूर्वनाश-
स्तच्चापयाति पुनरप्यपरेण योगः ॥ २० ॥

हे साधो ! घर की सामग्रियों के विषय में यह विचार हमेशा करना पड़ता है कि कितनी चीजों के होने पर हमारे परिवार का काम चल सकता है। किसी प्रकार धन एकत्र करने पर कभी कभी पिछला संगृहीत धन

नष्ट हो जाता है। उस विपत्ति के टलने पर नई विपत्ति आ धमकती है। बेचारे गृहस्थ को चैन कहाँ! बिना संग्रह के गृहस्थी नहीं चलती और संग्रह करने पर अनेक अनर्थ !! ॥ २० ॥

एवं गुरौ वदति तज्जनको निनीषु-
राग च्छदत्र तनयं स्वगृहं गृहेशः ।
तेनानुनीय बहुलं गुरवे प्रदाप्य
यत्नान्निकेतनमनायि गृहीतविद्यः ॥ २१ ॥

गुरु के इस प्रकार कहने पर अपने पुत्र को घर लाने की इच्छा से उनके पिता वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने गुरु को बहुत-सी दक्षिणा विनयपूर्वक दी तथा विद्या से सम्पन्न अपने पुत्र को घर लिवा लाये ॥ २१ ॥

गत्वा निकेतनमसौ जननीं ववन्दे
साऽऽलिङ्ग्य तद्विरहजं परितापमौज्झत् ।
प्रायेण चन्दनरसादपि शीतलं तद्
यत्पुत्रगात्रपरिरम्भणनामधेयम् ॥ २२ ॥

पुत्र ने घर जाकर अपनी माता की वन्दना की। माता ने पुत्र को आलिङ्गन कर, विरह से उत्पन्न ताप को छोड़ दिया। पुत्र के शरीर का आलिङ्गन नामक पदार्थ प्रायः चन्दन-रस से भी अधिक शीतल हुआ करता है ॥ २२ ॥

श्रुत्वा गुरोः सदनतश्चिरमागतं तं
तद्बन्धुरागमदथ त्वरितेक्षणाय ।
प्रत्युद्गमादिभिरसावपि बन्धुतायाः
संभावनां व्यधित वित्तकुलानुरूपाम् ॥ २३ ॥

गुरु के घर से बहुत दिनों के बाद शिवगुरु को आया हुआ सुनकर उनके सम्बन्धी लोग उन्हें देखने के लिये जल्दी आये और इन्होंने भी अपने वित्त और कुल के अनुकूल प्रत्युद्गमन (आगे जाकर स्वागत करना) तथा प्रणाम के द्वारा अपने बन्धु-बान्धवों की अभ्यर्थना की ॥ २३ ॥

वेदे पदक्रमजटादिषु तस्य बुद्धिं
संवीक्ष्य तज्जनयिता बहुशोऽप्यपृच्छत् ।
यस्याभवत्प्रथितनाम वसुन्धरायां
विद्याधिराज इति संगतवाच्यमस्य ॥ २४ ॥

वेद, पद, क्रम, जटा आदि में उसकी बुद्धि को देखकर उस पिता ने, जिसका विद्याधिराज यह नाम पृथ्वीतल पर सार्थक था, अनेक प्रकार से उससे प्रश्न किये ॥ २४ ॥

भाट्टे नये गुरुमते कणभुङ्मतादौ
प्रश्नं चकार तनयस्य मतिं बुभुत्सुः ।
शिष्योऽप्युवाच नतपूर्वगुरुः समाधिं
पित्रोदितः स्मितमुखो हसिताम्बुजास्यः ॥ २५ ॥

अपने पुत्र की बुद्धि की परीक्षा लेने के लिये उन्होंने भाट्टमत (कुमारिलभट्ट के द्वारा प्रतिपादित मीमांसा-मत), गुरुमत (प्रभाकर भट्ट के द्वारा प्रतिपादित मीमांसामत) तथा कणाद-मत (वैशेषिक दर्शन) के विषय में अनेक प्रश्न किये। पिता से इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर स्मितमुख तथा प्रसन्नवदन शिष्य ने भी पूर्वगुरु को प्रणाम कर उन प्रश्नों का उचित समाधान कर दिया ॥ २५ ॥

वेदे च शास्त्रे च निरीक्ष्य बुद्धिं
प्रश्नोत्तरादावपि नैपुणीं ताम् ।

दृष्ट्वा तुतोषातितरां पिताऽस्य
　　स्वतः सुखा या किमु शास्त्रतो वाक् ॥ २६ ॥

प्रश्न के उत्तर देने से वेद और शास्त्र के विषय में पुत्र की निपुण बुद्धि को देखकर पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए। पुत्र की नैसर्गिक वाणी भी सुख देनेवाली होती है परन्तु यदि वह शास्त्र से संस्कृत हो तो फिर उसका क्या कहना ॥ २६ ॥

कन्यां प्रदातुमनसो बहवोऽपि विप्रा-
　　स्तन्मन्दिरं प्रति ययुर्गुणपाशकृष्टाः ।
पूर्वं विवाहसमयादपि तस्य गेहं
　　सम्बन्धवत् किल बभूव वरीतुकामैः ॥ २७ ॥

पुत्र के गुणों से आकृष्ट होकर अपनी कन्या देने की इच्छा से बहुत से ब्राह्मण लोग उस घर में पधारे। विवाह-समय से भी पूर्व उनका घर अपनी पुत्री के लिये वर पसन्द करनेवाले लोगों से, सम्बन्धियों से, भर गया ॥ २७ ॥

बह्वर्थदायिषु बहुष्वपि सत्सु देशे
　　कन्याप्रदातृषु परीक्ष्य विशिष्टजन्म ।
कन्यामयाचत सुताय स विप्रवर्यो
　　विप्रं विशिष्टकुलजं प्रथितानुभावः ॥ २८ ॥

उस देश में अपनी कन्या का विवाह करने की इच्छा करनेवाले ऐसे भी बहुत से पुरुष थे जो वर को बहुत सा धन देने को तैयार थे। परन्तु प्रभावशाली विद्वान् ब्राह्मण ने विशिष्ट कुल की परीक्षा कर, कुलीन, मघ नामक ब्राह्मण से उनकी कन्या माँगी ॥ २८ ॥

कन्यापितुर्वरपितुश्च विवाद आसी-
　　दित्थं तयोः कुलजुषोः प्रथितोरुभूत्योः ।

कार्यस्त्वया परिणयो गृहमेत्य पुत्री-
मानीय सद्म तनयाय सुता प्रदेया ॥ २९ ॥

सम्पत्तिशाली, कुलीन, कन्या के पिता तथा वर के पिता में इस प्रकार विवाद होने लगा—'हमारे घर आकर तुम पुत्र का विवाह करना'—यह कन्या के पिता का कथन था तथा 'अपनी कन्या को मेरे घर लाकर विवाह करो' यह वर के पिता का कहना था ॥ २९ ॥

संकल्पिताद्द्विगुणमर्थमहं प्रदास्ये
मद्गेहमेत्य परिणीतिरियं कृता चेत् ।
अर्थं विना परिणयं द्विज कारयिष्ये
पुत्रेण मे गृहगता यदि कन्यका स्यात् ॥ ३० ॥

लड़की के पिता ने कहा—मेरे घर आकर यदि यह विवाह किया जाय, तो मैं संकल्पित धन से दूना धन दूँगा। इस पर वर के पिता बोले—हे ब्राह्मण ! यदि मेरे घर आकर तुम अपनी कन्या का विवाह मेरे पुत्र के साथ करोगे तो मैं बिना धन लिये ही यह विवाह करने को तैयार हूँ ॥ ३० ॥

कश्चित्तु तस्याः पितरं बभाण
मिथः समाहूय विशेषवादी ।
अस्मासु गेहं गतवत्स्वमुष्मै
विगृह्य कन्यामपरः प्रदद्यात् ॥ ३१ ॥

इस प्रकार दोनों में विवाद होने लगा। इसे देखकर एक वक्ता ने कन्या के पिता को बुलाकर एकान्त में कहा कि क्या कर रहे हो ? ऐसा न हो कि विवाद करके हम लोग घर चले जायँ; कहीं तीसरा आदमी अपनी कन्या का विवाह न कर डाले ॥ ३१ ॥

तेनानुनीतो वरतातभाषितं
द्विजोऽनुमेने वररूपमोहितः ।
दृष्टो गुणः संवरणाय कल्पते
मन्त्रोऽभिजापाच्चिरकालभावितः ॥ ३२ ॥

उसके अनुनय को मानकर, वर के रूप से मोहित होकर कन्या के पिता ने वर के पिता का कहना मान ही लिया। वर में देखे गये गुण ही उसके चुनाव में कारण होते हैं जिस प्रकार जप करने से बहुत दिनों तक अभ्यस्त गायत्री आदि मन्त्र के द्वारा मुक्ति-रूपी वधू उस साधक को स्वयं वरण कर लेती है ॥ ३२ ॥

विद्याधिराजमघपण्डितनामधेयौ
संप्रत्ययं व्यतनुतामभिपूज्य दैवम् ।
सम्यङ् मुहूर्तमवलम्ब्य विचारणीया
मौहूर्तिका इति परस्परमूचिवांसौ ॥ ३३ ॥

इसके अनन्तर वर के पिता विद्याधिराज तथा कन्या के पिता मघ पण्डित ने उचित मुहूर्त में गणेशादि देवताओं का पूजन कर कन्या का वाग्दान किया तथा विवाह के लिये ज्योतिषियों से विचार कराया जाय, यह बात दोनों ने आपस में ठीक की ॥ ३३ ॥

उद्वाह्य शास्त्रविधिना विहिते मुहूर्ते
तौ संमुदं बहुमवापतुराप्तकामौ ।
तत्राऽगतोऽभृशममोदत बन्धुवर्गः
किं भाषितेन बहुना मुदमाप वर्गः ॥ ३४ ॥

उचित मूहूर्त पर शास्त्र-विधि से विवाह सम्पन्न हुआ। दोनों के मनोरथ पूरे हुए और दोनों व्यक्तियों का हृदय आनन्द से खिल

उठा। वहाँ पर उपस्थित मित्र-मण्डली भी खूब प्रसन्न हुई। और अधिक क्या कहा जाय? समस्त बन्धु-बान्धवों का समुदाय इस सम्बन्ध से प्रसन्न हुआ॥ ३४॥

तौ दम्पती सुवसनौ शुभदन्तपङ्क्ती
संभूषितौ विकसिताम्बुजरम्यवक्त्रौ।
सव्रीडहासमुखवीक्षणसंप्रहृष्टौ
देवाविवाऽऽपतुरनुत्तमशर्म नित्यम्॥ ३५॥

सती और शिवगुरु का शरीर वस्त्रों से सुशोभित था; उनके दाँतों की पाँतें चमक रही थीं। उनका मुखमण्डल कमल के समान विकसित हो रहा था। लज्जा और हास्य से प्रसन्न अपनी वधू के मुख-कमल के देखने से उनका हृदय आनन्द से उछल रहा था। भूतनाथ शिव और पार्वती के समान उन्होंने अनुपम सुख पाया॥ ३५॥

अग्नीनथाऽऽधित महोत्तरयागजातं
कर्तुं विशेषकुशलैः सहितो द्विजेशः।
तत्तत्फलं हि यदनाहितहव्यवाहः
स्यादुत्तरेषु विहितेष्वपि नाधिकारी॥ ३६॥

विवाह के अनन्तर द्विजवर शिवगुरु के चित्त में बड़े बड़े यज्ञों के करने की कामना जाग उठी। अतः विज्ञ वैदिकों की सहायता से उन्होंने अग्नि का आधान किया, क्योंकि अग्नि की स्थापना न करनेवाला ब्राह्मण वेदविहित उत्तरकालीन यज्ञों का अधिकारी नहीं होता। अग्नि की स्थापना करना गृहस्थ का मुख्य कार्य है॥ ३६॥

यागैरनेकैर्बहुवित्तसाध्यै-
र्विजेतुकामो भुवनान्ययष्ट।

व्यस्मारि देवैरमृतं तदाशै-
र्दिने दिने सेवितयज्ञभागैः ॥ ३७ ॥

उन्होंने स्वर्गलोक को जीतने की इच्छा से बहुत धन से साध्य अनेक यागों से यज्ञ किया। उस यज्ञ की आशा रखनेवाले दिन-प्रतिदिन यज्ञ-भाग को ग्रहण करनेवाले देवताओं ने स्वर्गीय अमृत को भी भुला दिया ॥ ३७ ॥

संतर्पयन्तं पितृदेवमानुषा-
स्तत्तत्पदार्थैरभिवाञ्छितैः सह ।
विशिष्टवित्तैः सुमनोभिरञ्चितं
तं मेनिरे जङ्गमकल्पपादपम् ॥ ३८ ॥

शिवगुरु ने चाही गई नाना प्रकार की वस्तुएँ देकर पितरों, देवों तथा मनुष्यों को सन्तुष्ट किया। विद्यासम्पन्न ब्राह्मण लोग नित्य उनका आदर-सत्कार किया करते थे। वस्तुतः वे समस्त अभिलाषाओं को पूरा करनेवाले कल्पवृक्ष थे। अन्तर इतना ही था कि वृक्ष अचल होता है, और ब्राह्मण देवता थे जङ्गम—एक जगह से दूसरी जगह जानेवाले ॥ ३८ ॥

परोपकारव्रतिनो दिने दिने
व्रतेन वेदं पठतो महात्मनः ।
श्रुतिस्मृतिप्रोदितकर्म कुर्वतः
समा व्यतीयुर्दिनमाससंमिताः ॥ ३९ ॥

दिन-प्रतिदिन पर-उपकार में लगनेवाले, नियमपूर्वक वेदाध्ययन करनेवाले, श्रुति और स्मृति में कहे गये कर्म का सम्पादन करनेवाले, उस महात्मा के दिन, मास तथा वर्ष बहुत-से आये और चले गये ॥ ३९ ॥

रूपेषु मारः क्षमया वसुंधरा
विद्यासु वृद्धो धनिनां पुरःसरः ।
गर्वानभिज्ञो विनयी सदा नतः
स नोपलेभे तनयाननं जरन् ॥ ४० ॥

रूप में कामदेव, क्षमा में पृथिवी के समान, विद्याओं में वृद्ध, धनियों में अग्रसर, अभिमान से अनभिज्ञ, विनयी तथा नम्र वह ब्राह्मण देवता वृद्ध हो गये परन्तु दुर्भाग्यवश पुत्र का मुँह नहीं देखा ॥ ४० ॥

गावो हिरण्यं बहुसस्यमालिनी
वसुन्धरा चित्रपदं निकेतनम् ।
सम्भावना बन्धुजनैश्च संगमो
न पुत्रहीनं बहवोऽप्यमूमुहन् ॥ ४१ ॥

गाय, हिरण्य (सोना), सस्य-सम्पन्न पृथ्वी, चित्र-विचित्र घर, लोगों की दृष्टि में आदर, मित्रजन के साथ समागम—इन बहुत से मोह के साधन पदार्थों ने भी उस पुत्रहीन ब्राह्मण को मोहित नहीं किया। जिसके हृदय में पुत्र-दर्शन की लालसा लगी रहती है भला उसे ये पदार्थ मुग्ध कर सकते हैं ? ॥ ४१ ॥

अस्यामजाता मम सन्ततिश्चेत्
शरद्यवश्यं भवितोपरिष्टात् ।
तत्राप्यजाता तत उत्तरस्या-
मेवं स कालं मनसा निनाय ॥ ४२ ॥

दम्पती के मन में नाना प्रकार की भावनायें उठती थीं। इस ऋतु में यदि सन्तति उत्पन्न नहीं हुई तो अगले साल वह अवश्य उत्पन्न होगी और उस साल भी यदि नहीं उत्पन्न हुई तो उसके अगले साल होगी—यही मन में विचार करते हुए उन्होंने समय विताया ॥ ४२ ॥

खिन्नन्मनाः शिवगुरुः कृतकार्यशेषो
जायामचष्ट सुभगे किमतः परं नौ ।
साङ्गं वयोऽर्धमगमत् कुलजे न दृष्टं
पुत्राननं यदिहलोक्यमुदाहरन्ति ॥ ४३ ॥

कर्तव्य कार्यों को समाप्त कर शिवगुरु ने अपनी स्त्री से कहा—हे सौभाग्यवती ! अब इसके बाद क्या किया जाय ? आधी उम्र ता हमारा इन्द्रियों की क्षमता के साथ साथ बीत चुकी परन्तु हे कुलजे ! पुत्र का मुँह नहीं देखा जो इस लोक में हित करनेवाला कहा जाता है ॥ ४३ ॥

एवं प्रिये गतवतोः सुतदर्शनं चेत्
पञ्चत्वमैष्यदथ नौ शुभमापतिष्यत् ।
अस्याभ्युपायमनिशं भुवि वीक्षमाणो
नेक्षे ततः पितृजनिर्विफला ममाभूत् ॥ ४४ ॥

हे प्रिये ! पुत्र-दर्शन को प्राप्त कर यदि हमारी मृत्यु हो जाय, तो हमारा कल्याण होगा । इस भूतल पर रात-दिन इसके उपाय का चिन्तन करता हूँ, परन्तु इसके साधन को नहीं पा रहा हूँ । मेरा जन्म ही व्यर्थ मालूम पड़ता है ॥ ४४ ॥

भद्रे सुतेन रहितौ भुवि के वदन्ति
नौ पुत्रपौत्रसरणिक्रमतः प्रसिद्धिः ।
लोके न पुष्पफलशून्यमुदाहरन्ति
वृक्षं प्रवालसमये फलितं विहाय ॥ ४५ ॥

हे भद्रे ! पुत्र से रहित होने पर इस संसार में भला हमारे विषय में कौन् बातचीत करेगा ? पुत्र-पौत्र की परम्परा से ही संसार में पुरुष की प्रसिद्धि होती है । पल्लव लगने के समय फल-सम्पन्न वृक्ष को छोड़कर

क्या कोई आदमी इस लोक में फल-फूल से हीन वृक्ष का नाम लेता है? नहीं, कभी नहीं। ख्याति मिलती है पुत्रवाले को; पुत्रहीन की पूछ कहाँ? ॥ ४५ ॥

इतीरिते प्राह तदीयभार्या
शिवाख्यकल्पद्रुममाश्रयावः ।
तत्सेवनान्नौ भविता सुनाथ
फलं स्थिरं जङ्गमरूपमैशम् ॥ ४६ ॥

इतना कहने पर उनकी स्त्री बोली—महादेव-रूपी जङ्गम कल्पवृक्ष का हम लोग आश्रय लें। हे नाथ! उन्हीं के सेवन से सदास्थायी फल शिव की कृपा से हमें प्राप्त होगा ॥ ४६ ॥

भक्तेप्सितार्थपरिकल्पनकल्पवृक्षं
देवं भजाव कमितः सकलार्थसिद्ध्यै ।
तत्रोपमन्युमहिमा परमं प्रमाणं
नो देवतासु जडिमा जडिमा मनुष्ये ॥ ४७ ॥

भगवान् शङ्कर भक्त के मनोरथ को देने में साक्षात् कल्पवृक्ष हैं। हम लोग सकल अर्थ की सिद्धि के लिये उनका भजन करें। इस विषय में उपमन्यु की महिमा परम प्रमाण है। देवता में जड़ता नहीं है, जड़ता तो हम मनुष्यों में है। मूर्खता-वश हम उनकी आराधना नहीं करते, फल कहाँ से मिले? ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—भक्त उपमन्यु की कथा महाभारत में इस प्रकार मिलती है—मुनि-बालकों को दूध पीते देखकर बालक उपमन्यु ने अपनी माता से दूध माँगा परन्तु निर्धन माता के पास दूध कहाँ! इसलिये उसने आटा घोलकर लड़के को पीने के लिये दे दिया। बालक उसे दूध समझकर पी गया और आनन्द से नाचने लगा। परन्तु उसकी निर्धनता से परिचित लड़के उसकी हँसी उड़ाने से विरत नहीं हुए। उनकी हँसी के कारण को

जानकर उपमन्यु को बड़ा खेद हुआ और वह भगवान् शङ्कर की आराधना कर क्षीरसागर का स्वामी बन गया। उपमन्यु द्वारा विरचित 'शिवस्तोत्र' भक्तों के गले का आज भी हार बना हुआ है। उसमें भक्तिभाव के साथ कवित्व का भी मञ्जुल सन्निवेश है। उसका यह श्लोक कितना भावपूर्ण है—

त्वदनुस्मृतिरेव पावनी, स्तुतियुक्ता किमु वक्तुमीश ! सा।
मधुरं हि पयः स्वभावतो, ननु कीदृक् सितशर्करान्वितम्॥

इत्थं कलत्रोक्तिमनुत्तमां स
श्रुत्वा सुतार्थी प्रणतैकवश्यम्।
इयेष संतोषयितुं तपोभिः
सोमार्धमूर्धानमुमार्धमीशम्॥ ४८॥

इस तरह से स्त्री का यह उत्तम वचन सुनकर पुत्र की कामना करनेवाले शिवगुरु ने अर्धनारीश्वर भगवान् शङ्कर को तपस्याओं से प्रसन्न करना चाहा जो भक्तों के वश में होनेवाले और चन्द्रमा की कला को मस्तक पर धारण करनेवाले हैं॥ ४८॥

तस्योपधाम किल संनिहिताऽऽपगैका
स्नात्वा सदाशिवमुपास्त जले स तस्याः।
कन्दाशनः कतिचिदेव दिनानि पूर्वं
पश्चात्तदा स शिवपादयुगाब्जभृङ्गः॥ ४९॥

उनके मकान के पास ही एक नदी बहती थी। उसमें स्नान कर शिवगुरु ने कुछ दिनों तक तो केवल कन्द, मूल खाकर ही सदाशिव की आराधना की और पीछे शिव के चरण-कमल में संलग्न होकर कन्द-मूल का खाना भी छोड़ दिया। भक्ति से पूजा में जुट गये॥ ४९॥

जायाऽपि तस्य विमला नियमोपतापै-
श्चिक्लेश कायमनिशं शिवमर्चयन्ती।

क्षेत्रे वृषस्य निवसन्तमजं स भर्तुः
कालोऽत्यगादिति तयोस्तपतोरनेकः ॥ ५० ॥

उनकी साध्वी स्त्री ने नित्य शिव की आराधना कर नियम और तपस्याओं से अपने शरीर को सुखा डाला। उस वृषक्षेत्र में रहनेवाले स्वयम्भू शङ्कर की तपस्या करनेवाले इस ब्राह्मण-दम्पती का बहुत सा समय योंही बीत चला ॥ ५० ॥

देवः कृपापरवशो द्विजवेषधारी
प्रत्यक्षतां शिवगुरुं गत आत्तनिद्रम् ।
प्रोवाच भोः किमभिवाञ्छसि किं तपस्ते
पुत्रार्थितेति वचनं स जगाद विप्रः ॥ ५१ ॥

एक बार ब्राह्मणवेशधारी, कृपालु भगवान् शङ्कर गहरी नींद लेनेवाले शिवगुरु के सामने सपने में प्रत्यक्ष उपस्थित हुए और बोले—क्या चाहते हो ? क्यों तपस्या कर रहे हो ? तब ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि भगवन्, पुत्र के लिये ॥ ५१ ॥

देवोऽप्यपृच्छदथ तं द्विज विद्धि सत्यं
सर्वज्ञमेकमपि सर्वगुणोपपन्नम् ।
पुत्रं ददान्यथ बहून्विपरीतकांस्ते
भूर्यायुषस्तनुगुणानवदद् द्विजेशः ॥ ५२ ॥

इस पर शङ्कर ने पूछा—हे ब्राह्मण ! मेरे कथन को ठीक जानो। क्या मैं सर्वगुणसम्पन्न, सर्वज्ञ, एक पुत्र दूँ अथवा विपरीत आचरणवाले, अधिक आयुवाले, अल्पगुण-सम्पन्न बहुत से पुत्र दूँ ? अपनी राय ठीक कर लो। इस पर वे ब्राह्मण बोले ॥ ५२ ॥

पुत्रोऽस्तु मे बहुगुणः प्रथितानुभावः
सर्वज्ञतापदमितीरित आबभाषे ।

दद्यामुदीरितपदं तनयं तपो मा
पूर्णो भविष्यसि गृहं द्विज गच्छ दारैः ॥ ५३ ॥

मेरा पुत्र बहुगुण-सम्पन्न, प्रतापशाली, सर्वज्ञ हो। इतना कहने पर शङ्कर बोले—हाँ, मैं ऐसे पुत्र को दूँगा, तपस्या मत करो। हे ब्राह्मण! तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा। अतः अपनी स्त्री के साथ घर चले जाओ ॥ ५३ ॥

आकर्णयन्निति बुबोध स विप्रवर्य-
स्तं चाब्रवीन्निजकलत्रमनिन्दितात्मा।
स्वप्नं शशंस वनितामणिरस्य भार्या
सत्यं भविष्यति तु नौ तनयो महात्मा ॥ ५४ ॥

इस बात को सुनकर वह पवित्र चरित्रवाला ब्राह्मण नींद से जाग उठा। उसने अपनी स्त्री से उस सपने की बात कह सुनाई। नारियों में श्रेष्ठ भार्या बोल उठी कि हम लोगों का पुत्र सचमुच महात्मा होगा। शङ्कर का यह वरदान है ॥ ५४ ॥

तौ दम्पती शिवपरौ नियतौ स्मरन्तौ
स्वप्नेक्षितं गृहगतौ बहुदक्षिणान्नैः।
संतर्प्य विप्रनिकरं तदुदीरिताभि-
राशीर्भिरापतुरनल्पमुदं विशुद्धौ ॥ ५५ ॥

दोनों शिव-पूजक दम्पती ने घर जाकर स्वप्न के कथन का स्मरण करते हुए ब्राह्मणों को भूयसी दक्षिणा दी तथा अन्न से सन्तुष्ट किया। ब्राह्मणों ने ख़ूब आशीर्वाद दिया जिससे शुद्ध चरित्रवाले, पति-पत्नी अनन्त आनन्द से गद्गद हो गये ॥ ५५ ॥

तस्मिन् दिने शिवगुरोरुपभोक्ष्यमाणे
भक्ते प्रविष्टमभवत्किल शैवतेजः।

भुक्तान्नविप्रवचनादुपभुक्तशेषं
सोऽभुङ्क्त साऽपि निजभर्तृपदाब्जभृङ्गी ॥ ५६ ॥

उस दिन, कहते हैं कि, शिवगुरु के भोजन करने के लिये रक्खे गये भात में भगवान् शङ्कर का तेज प्रविष्ट कर गया। भोजन कर सन्तुष्ट होनेवाले ब्राह्मणों के वचन मानकर शिवगुरु ने अवशिष्ट भोजन को स्वयं ग्रहण किया तथा अपने पति के चरण-कमल की सेवा करनेवाली पत्नी ने भी वही अन्न ग्रहण किया ॥ ५६ ॥

गर्भं दधार शिवगर्भमसौ मृगाक्षी
गर्भोऽप्यवर्धत शनैरभवच्छरीरम् ।
तेजोतिरेकविनिवारितदृष्टिपात-
विश्वं रवेर्दिवसमध्य इवोग्रतेजः ॥ ५७ ॥

उस मृगनयनी ने शिव के तेज से युक्त गर्भ धारण किया। गर्भ धीरे धीरे बढ़ने लगा और उसका शरीर विशेष तेज से समस्त लोगों की दृष्टि में उसी प्रकार चकाचौंध उत्पन्न करने लगा जैसे भगवान् सूर्य का दोपहर का उग्र तेज देखनेवालों की आँखों में पैदा करता है ॥ ५७ ॥

गर्भालसा भगवती गतिमान्द्यमीष-
दापेति नाद्भुतमिदं धरते शिवं या ।
यो विष्टपानि बिभृते हि चतुर्दशापि
यस्यापि मूर्तय इमा वसुधाजलाद्याः ॥ ५८ ॥

गर्भ के भार से शिथिल उस साध्वी नारी की गति मन्द पड़ गई। इसमें आश्चर्य नहीं, क्योंकि वह गर्भ में शिव को धारण कर रही थी और भगवान् शङ्कर चौदहों भुवनों को धारण करते हैं तथा भगवान् शङ्कर की पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र आदि अष्ट मूर्तियाँ है। इस समस्त ब्रह्माण्ड को अपने में धारण करनेवाले महादेव जब गर्भ में विराजमान

हों, तो माता की गति के इस गुरु गर्भ के भार से मन्द होने में आश्चर्य ही क्या है ? ॥ ५८ ॥

टिप्पणी—शङ्कर की मूर्तियाँ आठ हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा यजमान (आत्मा)। शाकुन्तल की नान्दी में शिव की इन अष्ट मूर्तियों का सम्यक् उल्लेख है।

संव्याप्तवानपि शरीरमशेषमेव
नोपास्तिमाविरसकावकृतात्र कांचित्।
यत्पूर्वमेव महसा दुरतिक्रमेण
व्याप्तं शरीरमदसीयममुष्य हेतोः ॥ ५९ ॥

गर्भ में शिव के आते ही माता का शरीर महनीय तेज से व्याप्त हो गया—तेज इतना अधिक था कि कोई उसका अतिक्रमण कष्ट से कर सकता था। इस प्रकार शिव उनके समग्र शरीर में व्याप्त हो रहे थे, तथापि माता को किसी प्रकार का उद्वेग पैदा नहीं हुआ। देवता की महिमा ही ऐसी है ॥ ५९ ॥

रम्याणि गन्धकुसुमान्यपि गर्भिमस्यै
नाऽऽधातुमैशत भरात् किमु भूषणानि।
यद्यद्गुरुत्वपदमस्ति पदार्थजातं
तत्तद्विधारणविधावलसा बभूव ॥ ६० ॥

सुन्दर, सुगन्धित फूल भी भारभूत होने के कारण उस सती के हृदय में इच्छा उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हुए। गहनों की तो कथा ही क्या ? जो जो पदार्थ भारी थे उन पदार्थों को धारण करने में वह नितान्त आलसी बन गई ॥ ६० ॥

तां दौहृदं भृशमबाधत दुःशरारिः
प्रायः परं किल न मुञ्चति मुञ्चतेऽपि।

आनीतदुर्लभमपोहति याचतेऽन्यत्
तच्चाप्यपोह्य पुनरर्दति साऽन्यवस्तु ॥ ६१ ॥

गर्भकालीन इच्छा (दोहद) ने उसको अच्छी तरह से क्लेश पहुँचाया। प्राय: यह कहा जाता है कि दुष्ट शरारि पक्षी दूसरे के छोड़ने पर भी उसे नहीं छोड़ता अर्थात् उसे कसकर पकड़ लेता है। स्त्री के साथ दोहद ने भी वही आचरण किया। स्त्री दुर्लभ वस्तु को लाने पर भी उसे छोड़कर दूसरी वस्तु माँगती थी और उसे भी छोड़कर किसी तीसरी वस्तु के पाने की इच्छा प्रकट करती थी ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—शरारि नामक एक विशेष पक्षी होता है जिसका दूसरा नाम 'आटि' या 'आड़ि' है। 'शरारिराटिराडिश्च' इत्यमरः। इसकी विशेषता यह है कि जिस वस्तु को वह पकड़ लेता है, उसके छोड़ने पर भी वह उसे नहीं छोड़ता। दोहद की उपमा इसी पक्षी से यहाँ दी गई है।

तां बन्धुताऽऽगमदुपश्रुतदोहदार्ति-
रादाय दुर्लभमनर्घ्यमपूर्ववस्तु ।
आस्वाद्य बन्धुजनदत्तमसौ जहर्ष
हा हन्त गर्भधरणं खलु दुःखहेतुः ॥ ६२ ॥

बन्धु-बान्धव दोहद की बात सुनकर दुर्लभ, अनमोल तथा अपूर्व वस्तु लेकर वहाँ आये। इनके द्वारा दी गई वस्तुओं का आस्वाद लेकर वह स्त्री अत्यन्त प्रसन्न हुई तथा कहने लगी कि गर्भ धारण करना अत्यन्त कठिन होता है ॥ ६२ ॥

मानुष्यधर्ममनुसृत्य मयेदमुक्तं
काऽपि व्यथा शिवमहोभरणे न वध्वाः ।
सर्वव्यथाव्यतिकरं परिहर्तुकामा
देवं भजन्त इति तत्त्वविदां प्रवादः ॥ ६३ ॥

ग्रन्थकार विद्यारण्य स्वामी का कहना है कि मैंने मनुष्य-धर्म के अनुरोध से यह बात कही है। सच तो यह है कि शिव के तेज को धारण करने में उस वधू को किसी प्रकार का क्लेश नहीं हुआ। क्योंकि तत्त्वज्ञानियों का यह सिद्धान्त है कि समस्त व्यथा को दूर करने की इच्छा करनेवाले पुरुष भगवान् शङ्कर का भजन करते हैं और जहाँ शङ्कर का स्वयं निवास हो वहाँ क्लेश की सत्ता कहाँ ? ॥ ६३ ॥

उक्ष्णा निसर्गधवलेन महीयसा सा
स्वात्मानमैक्षत समूढमुपात्तनिद्रा ।
संगीयमानमपि गीतविशारदाढ्यै-
र्विद्याधरप्रभृतिभिर्विनयोपयातैः ॥ ६४ ॥

सोने पर वह स्त्री यह सपना देखती थी कि स्वभाव से सफ़ेद एक बड़ा भारी बैल उसको ढो रहा है तथा गीत-विद्या में निपुण विद्याधर लोग विनय-पूर्वक उसके पास आकर उसकी स्तुति कर रहे हैं ॥ ६४ ॥

आकर्णयज्जय जयेति वरं दधाना
रक्षेति शब्दमवलोकय मा दृशेति ।
आकर्ण्य नोत्थितवती पुनरुक्तशब्दं
सा विस्मिता किल शृणोति निरीक्षमाणा ॥६५॥

"जय हो; जय हो; मेरी रक्षा करो, मुझको अपनी कृपादृष्टि से देखो" इन शब्दों को उस सती ने अपने कानों से स्वयं सुना। शब्द को सुनकर जब वह नहीं उठी, तब विस्मित होकर इधर-उधर देखती हुई उसने इन्हीं शब्दों को फिर से सुना ॥ ६५ ॥

नर्मोक्तिकृत्यामपि खिद्यमाना
किंचापि चञ्चत्तरमङ्चरोहे ।

जित्वा मुदाऽन्यानतिहृद्यविद्या-
सिंहासनेऽसौ स्थितिमीक्षते स्म ।। ६६ ।।

वह चमकीली सेज पर चढ़ने में भी थक जाती थी और मीठी रसीली हँसी करने में भी खिन्न हो जाती थी। उसी ने सपने में यह अद्भुत बात देखी कि वह अन्य भेदवादी विद्वानों को जीतकर हृदय को प्रसन्न करनेवाली विद्या से सम्पन्न भगवती सरस्वती के सिंहासन पर स्वयं विराजमान है। (इस वृत्तान्त से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गर्भस्थ शिशु अद्वैत मत का प्रचारक होगा) ॥ ६६ ॥

समानता सात्त्विकवृत्तिभाजां
विरागता वैषयिकप्रवृत्तौ ।
तस्याः स्त्रिया गर्भगपुत्रचित्र-
चरित्रशंसिन्यजनिष्ट चेष्टा ।। ६७ ।।

जिस प्रकार सात्त्विक वृत्तिवाले सज्जनों को संसार के विषयों में वैराग्य उत्पन्न हो जाता है, उसी प्रकार की उसकी चेष्टा भी हुई जिससे उसके गर्भ में रहनेवाले पुत्र के विचित्र चरित्र की सूचना होती थी ॥ ६७ ॥

तद्रोमवल्ली रुरुचे कुचाद्र्या-
वृण्वत्प्रभाधुन्युरुशैवलालिः ।
यत्नाच्छिशोरस्य कृते प्रशस्तो
न्यस्तो विधात्रेव नवीनवेणुः ।। ६८ ।।

उस स्त्री की रोमवल्ली इस प्रकार शोभित होती थी मानों वह कुच-रूपी पर्वतों को ढकनेवाली प्रभारूपी नदी के सेवार की बड़ी पंक्ति हो अथवा उस बालक के लिये विधाता के द्वारा स्वयं रक्खा गया प्रशस्त बाँस हो ॥ ६८ ॥

पयोधरद्वंद्वमिषादमुष्याः
पयः पिबत्यर्थविधानयोग्यौ ।
कुम्भौ नवीनामृतपूरितौ द्रा-
वम्भोजयोनिः कलयांबभूव ॥ ६९ ॥

द्वैतप्रवादं कुचकुम्भमध्ये
मध्ये पुनर्माध्यमिकं मतं च ।
सुभ्रूमणेर्गर्भग एव सोऽर्भो
द्राग्गर्हयामास महात्मगर्ह्यम् ॥ ७० ॥

ब्रह्मा ने उसके दोनों स्तनों के व्याज से दूध पीने के लिये नवीन अमृत से भरे गये मानों दो घड़े बना दिये हों। उस स्त्री के दोनों स्तनों के बीच में द्वैतवाद निवास करता था और कटि में माध्यमिक मत (शून्यवाद)। महात्माओं के निन्दनीय इन दोनों मतों की निन्दा उस नितान्त सुन्दरी के गर्भ में रहते समय उस बालक ने ही कर दी। साधारण दशा में दोनों स्तन एक दूसरे से अलग अपनी सत्ता बनाये हुए थे, परन्तु गर्भदशा में उनमें इतनी पीनता आ गई कि दोनों का पार्थक्य मिट गया। वे मिल-जुलकर एक हो गये। इसी प्रकार उनके मध्य उदर में मध्यमता—कृशता—निवास करती थी। परन्तु अब कटि इतनी पतली पड़ गई कि उसके अस्तित्व का भान भी किसी को न होता था। द्वैतमत तथा माध्यमिक मत के खण्डन का यही तात्पर्य है ॥ ६९-७० ॥

शङ्कर का जन्म

लग्ने शुभे शुभयुते सुषुवे कुमारं
श्रीपार्वतीव सुखिनी शुभवीक्षिते च ।
जाया सती शिवगुरोर्निजतुङ्गसंस्थे
सूर्ये कुजे रविसुते च गुरौ च केन्द्रे ॥ ७१ ॥

शुभ ग्रहों से युक्त शुभ लग्न में और शुभ राशि से देखे जाने पर तथा सूर्य, मङ्गल और शनि के उच्च स्थित होने पर तथा गुरु के केन्द्र-स्थित होने पर शिवगुरु की सती पत्नी ने उसी प्रकार एक पुत्र पैदा किया जिस प्रकार पार्वती ने कुमार को जन्म दिया था ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—ज्योतिष-गणना के अनुसार विशेष राशि में स्थित होने पर सूर्यादि ग्रह उच्चस्थ माने जाते हैं। सूर्य मेष राशि में, मङ्गल मकर राशि में तथा शनि तुला राशि में स्थित होने पर उच्च का माना जाता है। कुण्डली में प्रथम, चतुर्थ, सप्तम तथा दशम स्थान को केन्द्र कहते हैं।

दृष्ट्वा सुतं शिवगुरुः शिववारिराशौ
मग्नोऽपि शक्तिमनुसृत्य जले न्यमाङ्क्षीत् ।
व्यश्राणयद्बहु धनं वसुधाश्च गाश्च
जन्मोक्तकर्मविधये द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥ ७२ ॥

शिव-गुरु ने पुत्र का मुँह देखकर सुख-समुद्र में डूबे रहने पर भी अपनी शक्ति के अनुसार जल में स्नान किया। अनन्तर श्रेष्ठ ब्राह्मणों को जन्म के समय विधि-सम्पादन के लिये बहुत-सा धन, पृथ्वी तथा गायें वितरित कीं ॥ ७२ ॥

तस्मिन् दिने मृगकरीन्द्रतरक्षुसिंह-
सर्पाखुमुख्यबहुजन्तुगणा द्विषन्तः ।
वैरं विहाय सह चेरुरतीव हृष्टाः
कण्डूमपाकृषत साधुतया निघृष्टाः ॥ ७३ ॥

उस दिन मृग, हाथी, व्याघ्र, सिंह, सर्प, चूहा, आदि परस्पर द्वेष करनेवाले जन्तुओं ने अपने सहज वैर को भुलाकर प्रसन्न हो साथ-साथ भ्रमण किया तथा एक दूसरे के शरीर को घर्षण कर अपनी खुजलाहट दूर की ॥ ७३ ॥

वृक्षा लताः कुसुमराशिफलान्यमुञ्चन्
नद्यः प्रसन्नसलिला निखिलास्तथैव ।
जाता मुहुर्जलधरोऽपि निजं विकारं
भूभृद्गणादपि जलं सहसोत्पपात ॥ ७४ ॥

वृक्षों और लताओं ने फल-फूलों की राशि गिराई। सब नदियों का पानी प्रसन्न, निर्मल, हो गया। मेघ ने भी बारम्बार जल बरसाया और पहाड़ों से भी जल सहसा गिरने लगा ॥ ७४ ॥

अद्वैतवादिविपरीतमतावलम्बि-
हस्ताग्रवर्तिवरपुस्तकमप्यकस्मात् ।
उच्चैः पपात, जहसुः श्रुतिमस्तकानि
श्रीव्यासचित्तकमलं विकचीबभूव ॥ ७५ ॥

अद्वैतवाद के विपरीत मतवालों के हाथों में रक्खी गई पुस्तकें अकस्मात् ज़ोर से गिर पड़ीं और श्रुति के मस्तकभूत वेदान्त ग्रन्थ हँस पड़े। श्री व्यासदेव का चित्तरूपी कमल खिल उठा। आज उस महापुरुष का जन्म हुआ है जो वेदान्त की यथार्थ व्याख्या कर वेदव्यास के अभिप्राय को संसार में फैला देगा ॥ ७५ ॥

सर्वाभिराशाभिरलं प्रसेदे
वातैरभाव्यद्भुतदिव्यगन्धैः ।
प्रजज्वलेऽपि ज्वलनैस्तदानीं
प्रदक्षिणीभूतविचित्रकीलैः ॥ ७६ ॥

सब दिशायें एकदम निर्मल हो गईं तथा वायु अद्भुत दिव्य गन्ध को चारों ओर बिखेरने लगा। अग्नि जल उठी और उसकी विचित्र ज्वालायें दाहिनी ओर से निकलने लगीं ॥ ७६ ॥

सुमनोहरगन्धिनी सतां
सुमनोवद्विमला शिवंकरी ।
सुमनोनिकरप्रचोदिता
सुमनोवृष्टिरभूत्तदाऽद्भुतम् ॥ ७७ ॥

सुन्दर, मनोहर गन्ध को धारण करनेवाले, सज्जनों के मन के समान निर्मल, कल्याणकारिणी, देवताओं से प्रेरित फूलों की अद्भुत वृष्टि होने लगी ॥ ७७ ॥

लोकत्रयी लोकदृशेव भास्वता
महीधरेणेव मही सुमेरुणा ।
विद्या विनीत्येव सती सुतेन सा
रराज तत्तादृशराजतेजसा ॥ ७८ ॥

जिस प्रकार लोक-त्रयी जगत् के नेत्रभूत सूर्य से प्रकाशित होती है, पृथ्वी सुमेरु पहाड़ से और विद्या विनय से; उसी प्रकार वह सती विशिष्ट सूर्यादि तेजस्वी पदार्थों के समान प्रकाशमान उस पुत्र से सुशोभित हुई ॥ ७८ ॥

सत्कारपूर्वमभियुक्तमुहूर्तवेदि-
विप्राः शशंसुरभिवीक्ष्य सुतस्य जन्म ।
सर्वज्ञ एव भविता रचयिष्यते च
शास्त्रं स्वतन्त्रमथ वागधिपांश्च जेता ॥ ७९ ॥

सत्कारपूर्वक अपने काम में लगाये गये, मुहूर्त को जाननेवाले ब्राह्मणों ने पुत्र के जन्म को देखकर उसके पिता से कहा कि यह सर्वज्ञ होगा, स्वतन्त्र शास्त्र की रचना करेगा तथा बड़े-बड़े वावदूक पण्डितों को जीतेगा ॥ ७९ ॥

कीर्तिं स्वकां भुवि विधास्यति यावदेषा
किं बोधितेन बहुना शिशुरेष पूर्णः ।
नापृच्छि जीवितमनेन च तैर्न चोक्तं
प्रायो विदन्नपि न वक्त्यशुभं शुभज्ञः ॥ ८० ॥

यह पृथ्वी जब तक स्थित है तब तक वह इस पर अपनी कीर्ति का विस्तार करेगा। बहुत क्या कहा जाय, यह बालक सब प्रकार से परिपूर्ण है। पिता ने न तो बालक की आयु के विषय में पूछा और न ज्योतिषियों ने उसे बतलाया क्योंकि कल्याण जाननेवाले ज्योतिषी लोग जानकर भी अशुभ बात मुँह से नहीं कहते ॥ ८० ॥

तज्ज्ञातिबन्धुसुहृदिष्टजनाङ्गनास्ता-
स्तं सूतिकागृहनिविष्टमथो निदध्युः ।
सोपायनास्तमभिवीक्ष्य यथा निदाघे
चन्द्रं मुदं ययुरतीव सरोजवक्त्रम् ॥ ८१ ॥

उनके जाति, बन्धु, मित्र, इष्टजन की स्त्रियों ने उपहार लेकर सूतिका-घर में रहनेवाले, कमल के समान मुखवाले उस बालक को देखा और वे उसी प्रकार आनन्द-मग्न हुईं जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतु में सूर्य के ताप से सन्तप्त पुरुष चन्द्रमा को देखकर होता है ॥ ८१ ॥

तत्सूतिकागृहमवैक्षत नप्रदीपं
तत्तेजसा यदवभातमभूत्क्षपायाम् ।
आश्चर्यमेतदजनिष्ट समस्तजन्तो-
स्तन्मन्दिरं वितिमिरं यदभूददीपम् ॥ ८२ ॥

उस सूतिका-गृह में दीपक नहीं था, बल्कि उस बालक के तेज से ही वह घर रात के समय सुशोभित हो रहा था। परन्तु आश्चर्य की

बात तो यह है कि जो-जो घर दीपक से रहित थे उन घरों के अन्धकार को दूर कर उस बालक ने उन्हें भी प्रकाशित कर दिया ॥ ८२ ॥

यत् पश्यतां शिशुरसौ कुरुते शमग्र्यं
तेनाकृतास्य जनकः किल शंकराख्याम् ।
यद्वा चिराय किल शंकरसंप्रसादात्
जातस्ततो व्यधित शंकरनामधेयम् ॥ ८३ ॥

वह बालक देखनेवाले पुरुषों के हृदय में उत्कृष्ट सुख को उत्पन्न करता था। इसलिये उसके पिता ने उसका नाम रक्खा 'शङ्कर' (शम्—कल्याण या सुख, कर—करनेवाला) अथवा वह लड़का बहुत दिनों के बाद शङ्कर के प्रसाद से पैदा हुआ था इसलिये भी उसका नाम शङ्कर रक्खा गया ॥ ८३ ॥

सर्वं विदन् सकलशक्तियुतोऽपि बालो
मानुष्यजातिमनुसृत्य चचार तद्वत् ।
बालः शनैर्हसितुमारभत क्रमेण
स्रप्तुं शशाक गमनाय पदाम्बुजाभ्याम् ॥ ८४ ॥

सर्ववेत्ता तथा सकल-शक्ति-सम्पन्न होने पर भी वह बालक, मनुष्य-जाति के धर्म का अनुसरण कर, चलने लगा। लड़का होते हुए भी वह धीरे धीरे हँसने लगा और क्रम से कमल के समान छोटे छोटे अपने कोमल चरणों से चलने के पहिले पेट के बल चलने लगा ॥ ८४ ॥

बालेऽथ मञ्चे किल शायितेऽस्मिन्
सतां प्रसन्नं हृदयं बभूव ।
संवीक्षमाणे मणिगुच्छवर्यं
विद्वन्मुखं हन्त विनीलमासीत् ॥ ८५ ॥

शय्या पर उस लड़के के सुलाये जाने पर सज्जनों का मन प्रसन्न हो गया तथा सेज में लगी मणि की झालरों को देखकर प्रतिपक्षी विद्वानों का मुख विशेष रूप से नील (काला) पड़ गया ॥ ८५ ॥

संताडयन् हन्त शनैः पदाभ्यां पर्यङ्कवर्यं कमनीयशय्यम् ।
विभेद सद्यः शतधा समूहान् विभेदवादीन्द्रमनोरथानाम् ॥८६॥

कमनीय सेजवाले पलँग को अपने पैरों से धीरे धीरे पीटते हुए उस बालक ने भेदवादी (द्वैतवादी) विद्वानों के मनोरथों के सैकड़ों टुकड़े कर दिये ॥ ८६ ॥

द्वित्राणि वर्णानि वदत्यमुष्मिन्
द्वैतिप्रवीरा दधुरेव मौनम् ।
मुदा चलत्यङ्घ्रिसरोरुहाभ्यां
दिशः पलायन्त दशापि सद्यः ॥ ८७ ॥

उस बालक के दो-चार वर्णों के उच्चारण करते ही द्वैत के धुरन्धर विद्वानों ने मौन धारण कर लिया तथा चरण-कमलों से आनन्द-पूर्वक चलने पर दशों दिशायें तुरन्त भाग चलीं ॥ ८७ ॥

उदचारयदर्भको गिरः पदचारानतनोदनन्तरम् ।
विकलोऽभवदादिमात्तयोः पिकलोकश्चरमान्मरालकः॥८८॥

उस बालक ने पहिले शब्दों का उच्चारण करना प्रारम्भ किया, अनन्तर वह पैर से चलने लगा। इन दोनों में पहिली बात से (वाणी के प्रचार से) कोयल विकल हो उठी और दूसरे (पाद-संचार) से हंस व्याकुल हो गया। शिशु शङ्कर की कोमल वाणी सुन कोयल बेचैन हो उठती और मन्द पाद-विन्यास को देखकर हंस की प्रसन्नता जाती रही। ये सब अलौकिकता के चिह्न थे ॥ ८८ ॥

नवविद्रुमपल्लवास्तृतामिव काश्मीरपरागपाटलाम् ।
रचयन्नचलां पदत्विषा स चचारेन्दुनिभः शनैः शनैः ॥८९॥

चन्द्रमा के समान मुखवाला वह बालक धीरे धीरे जब चलने लगा तब पृथ्वी उसके पैरों की कान्ति से लाल हो गई; ऐसा जान पड़ता था कि मूँगे के नवीन पल्लव बिछे हों तथा केसर के पराग बिखेर दिये गये हों॥ ८९ ॥

मूर्धनि हिमकरचिह्नं निटले नयनाङ्कमंसयोः शूलम् ।
वपुषि स्फटिकसवर्णं प्राज्ञास्तं मेनिरे शम्भुम् ॥ ९० ॥

उनके माथे पर चन्द्रमा का चिह्न था, ललाट पर नेत्र का एवं कन्धों पर शूल का और शरीर भर में स्फटिक का रङ्ग, जिन्हें देखकर विद्वानों ने उनको साक्षात् शङ्कर का अवतार माना ॥ ९० ॥

राज्यश्रीरिव नयकोविदस्य राज्ञो
विद्येव व्यसनदवीयसो बुधस्य ।
शुभ्रांशोश्छविरिव शारदस्य पित्रोः
सन्तोषैः सह ववृधे तदीयमूर्तिः ॥ ९१ ॥

जिस प्रकार नीति में निपुण राजा की राज्यश्री, व्यसन से दूर रहनेवाले ब्राह्मण की विद्या तथा शरत्कालीन चन्द्रमा की छवि क्रमशः बढ़ती हैं, उसी प्रकार उस बालक की मूर्ति माता-पिता के सन्तोष के साथ बढ़ने लगी ॥ ९१ ॥

नागेनोरसि चामरेण चरणे बालेन्दुना फालके
पाण्योश्चक्रगदाधनुर्डमरुकैर्मूर्ध्नि त्रिशूलेन च ।
तत्तस्याद्भुतमाकलय्य लखितं लेखाकृते लाञ्छितं
चित्रं गात्रममंस्त तत्र जनता नेत्रैर्निमेषोज्झितैः ॥९२॥

छाती पर सर्प से चिह्नित, चरण में चामर से, मस्तक पर बाल-चन्द्रमा से, हाथों पर चक्र, गदा, धनुष तथा डमरू से एवं मस्तक पर त्रिशूल से लेखा (रेखा) द्वारा चिह्नित उनके अद्‌भुत सुन्दर शरीर को पलकों से हीन नेत्रों से देखकर जन-समूह ने उनके शरीर को रेखाओं के द्वारा चिह्नित एक चित्र समझा ॥ ९२ ॥

सर्गे प्राथमिके प्रयाति विरतिं मार्गे स्थिते दौर्गते
स्वर्गे दुर्गमतामुपेयुषि भृशं दुर्गेऽपवर्गे सति ।
वर्गे देहभृतां निसर्गमलिने जातोपसर्गेऽखिले
सर्गे विश्वसृजस्तदीयवपुषा भर्गोऽवतीर्णो भुवि ॥९३॥

जब सनक आदि ऋषियों की पहिली सृष्टि समाप्त हो गई; वैदिक मार्ग की दुर्गति होने लगी, स्वर्ग दुर्गम हो गया, मोक्ष दुष्प्राप्य हो गया, जीवधारी प्राणियों के स्वभाव मलिन हो गये और समस्त जगत् में विघ्नों ने डेरा डाल दिया, तब इस भूतल पर वैदिक मार्ग के संस्थापन के लिये भगवान् महादेव (भर्ग) आचार्य शङ्कर के रूप में अवतीर्ण हुए। आचार्य शङ्कर के आविर्भाव की उस समय बड़ी आवश्यकता थी। यदि उनका उदय उस समय न होता, तो न जाने यह वैदिक मार्ग किस पाताल के गहरे गर्त में गिरकर कब का समाप्त हो गया रहता ! शङ्कर के जन्म का यही रहस्य है ॥ ९३ ॥

इति श्रीमाधवीये तदवतारकथापरः ।
संक्षेपशंकरजये सर्गः पूर्णो द्वितीयकः ॥ २ ॥

माधवीय शङ्कर-दिग्विजय में शङ्कर की अवतार-कथा को सूचित करनेवाला दूसरा सर्ग समाप्त हुआ।

तृतीय सर्ग

मण्डन और भारती का विवाह

इति बालमृगाङ्कशेखरे सति बालत्वमुपागते ततः।
दिविषत्प्रवराः प्रजज्ञिरे भुवि षड्शास्त्रविदां सतां कुले ॥१॥

इस प्रकार बाल-चन्द्रमा को अपने मस्तक पर धारण करनेवाले भगवान् शङ्कर ने जब बालक रूप धारण किया, तब स्वर्ग के श्रेष्ठ देवता लोग इस भूतल पर छहों शास्त्रों को जाननेवाले ब्राह्मणों के घर में उत्पन्न हुए ॥ १ ॥

कमलानिलयः कलानिधेर्विमलाख्यादजनिष्ट भूसुरात्।
भुवि पद्मपदं वदन्ति यं सविपक्षेन विवादिनां यशः ॥ २ ॥

भगवान् विष्णु सकल कलाओं के निधान 'विमल' नामक ब्राह्मण से उत्पन्न हुए। उन्हें 'पद्मपाद' नाम से पुकारते थे और उन्होंने प्रतिपक्षियों के यश को विपत्ति में डाल दिया ॥ २ ॥

पवमानोऽप्यजनि प्रभाकरात् सवनोन्मीलितकीर्तिमण्डलात्।
गलहस्तितभेदवाद्यसौ किल हस्तामलकाभिधामधात् ॥ ३ ॥

वायु देवता ने यज्ञ के द्वारा अपनी कीर्ति-राशि को प्रकटित करनेवाले प्रभाकर ब्राह्मण के घर जन्म ग्रहण किया। इन्होंने भेदवादी विद्वानों

को अपने तर्क से मौन कर दिया। इसी लिये उन्हें 'हस्तामलक' की संज्ञा प्राप्त हुई ॥ ३ ॥

पवमानदशांशतोऽजनि प्लवमानाऽञ्चति यद्यशोम्बुधौ ।
धरणी मथिता विवादिवाक् तरणी येन स तोटकाह्वयः ॥४॥

वायु के दशवें अंश से तोटक नामक विद्वान् की उत्पत्ति हुई जिनके यश-रूपी समुद्र के ऊपर तैरती हुई पृथ्वी आज भी सुशोभित है तथा जिन्होंने विवादियों की—प्रतिपक्षियों की —वाग्रूपी नौका को मथ डाला था ॥ ४ ॥

उद्भावि शिलादसूनुना मदवद्वादिकदम्बनिग्रहैः ।
समुदञ्चितकीर्तिशालिनं यमुदङ्कं ब्रुवते महीतले ॥ ५ ॥

शिलादि के पुत्र नन्दी ने भी इस भूतल पर जन्म ग्रहण किया। उनका नाम हुआ 'उदङ्क'। ये इतने बड़े विद्वान् थे कि इन्होंने अपने विपक्षियों के विपुल समूह को ध्वस्त कर अतुल कीर्ति प्राप्त की ॥ ५ ॥

विधिरास सुरेश्वरो गिरां निधिरानन्दगिरिर्व्यजायत ।
अरुणः समभूत्सनन्दनो वरुणोऽजायत चित्सुखाह्वयः ॥६॥

ब्रह्मा सुरेश्वर रूप से प्रकट हुए, बृहस्पति आनन्द गिरि के रूप में, अरुण सनन्दन रूप में तथा वरुण 'चित्सुख' नामक ब्राह्मण के रूप में प्रकट हुए ॥ ६ ॥

टिप्पणी—इन श्लोकों में उल्लिखित पद्मपाद, हस्तामलक, तोटक तथा सुरेश्वर आचार्य शङ्कर के साक्षात् सुप्रसिद्ध चार शिष्य हैं। उदङ्क, आनन्द गिरि तथा चित्सुख वेदान्त के माननीय आचार्य हैं जिन्होंने अपने अनुपम ग्रन्थों से अद्वैत मत के सिद्धान्त का सर्वत्र विस्तारित किया है।

अपरेऽप्यभवन् दिवौकसः स्वपरेर्ष्यापरविद्विषः प्रभोः ।
चरणं परिसेवितुं जगच्छरणं भूसुरपुंगवात्मजाः ॥ ७ ॥

दूसरे भी बहुत से देवता लोग जो अपने और दूसरे लोगों के साथ ईर्ष्या करनेवाले दैत्यों से द्वेष करनेवाले हैं, शङ्कराचार्य के संसार के शरणभूत चरणों की सेवा करने के लिये बड़े बड़े विद्वानों के घरों में पुत्र-रूप से उत्पन्न हुए ॥ ७ ॥

चार्वाकदर्शनविधानसरोषधातृ-
शापेन गीष्पतिरभूद्भुवि मण्डनाख्यः ।
नन्दीश्वरः करुणयेश्वरचोदितः सन्
आनन्दगिर्यभिधया व्यजनीति केचित् ॥ ८ ॥

कुछ आचार्यों का मत है कि बृहस्पति ने ही 'मण्डन' के रूप से इस भूतल पर अवतार लिया था। क्योंकि चार्वाक दर्शन की रचना करने से क्रुद्ध होकर ब्रह्मा ने उन्हें मनुष्य-रूप में आने का शाप दिया था। उनका यह भी कहना है कि भगवान् शङ्कर की प्रेरणा से नन्दीश्वर ने ही दया कर 'आनन्द गिरि' के रूप में जन्म धारण किया ॥ ८ ॥

टिप्पणी—चार्वाक दर्शन के अनुसार यह शरीर ही आत्मा है। इस शरीर के नष्ट हो जाने पर आत्मा का भी नाश हो जाता है। यह पक्का नास्तिक मत है जिसके अनुसार न ईश्वर की सत्ता सिद्ध है और न प्रत्यक्ष को छोड़कर किसी अन्य प्रमाण की। इस मत के संस्थापक का नाम था—बृहस्पति। इनके बनाये हुए अनेक सूत्र 'एक आत्मनः शरीरे भावात्' (ब्रह्मसूत्र ३।३।५३) के शाङ्करभाष्य तथा भास्करभाष्य में, गीता (१६।११) की नीलकण्ठी, श्रीधरी और मधुसूदनी टीकाओं में तथा अद्वैतब्रह्मसिद्धि में उद्धृत किये गये हैं जिनसे इनकी ऐतिहासिकता स्पष्ट प्रतीत होती है। इस मत की विशेष जानकारी के वास्ते देखिये अनुवादक का 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ १२२-१४२।

अथावतीर्णस्य विधेः पुरन्ध्री साऽभूद्यदाख्योभयभारतीति ।
सरस्वती सा खलु वस्तुवृत्त्या लोकोऽपि तां वक्ति सरस्वतीति ॥९॥

इसके बाद ब्रह्मा के अवतार लेने पर उनकी पत्नी सरस्वती ने भी जन्म ग्रहण किया। उन्हें 'उभयभारती' की संज्ञा प्राप्त थी। वह सचमुच ही सरस्वती थी। इसी लिये लोक में भी उसे 'सरस्वती' के नाम से पुकारते हैं ॥ ९ ॥

पुरा किलाध्यैषत धातुरन्तिके
सर्वज्ञकल्पा मुनयो निजं निजम् ।
वेदं तदा दुर्वसनोऽतिकोपनो
वेदानधीयन् क्वचिदस्खलत् स्वरे ॥ १० ॥

तदा जहासेन्दुमुखी सरस्वती
यदङ्गवर्णोद्भवशब्दसन्ततिः ।
चुकोप तस्य दहनानुकारिणा
निरैक्षताक्ष्णा मुनिरुग्रशासनः ॥ ११ ॥

प्राचीन काल की बात है कि ब्रह्मा के पास सर्वज्ञकल्प मुनि लोग अपने अपने वेदों का अध्ययन कर रहे थे। उस समय वेद पढ़ते हुए क्रोधी दुर्वासा मुनि ने स्वर के विषय में एक अशुद्धि कर दी। उस समय सरस्वती—जिसके अङ्ग वर्णों से उत्पन्न होनेवाले शब्द-समूह हैं—हँस पड़ी। भयङ्कर शासनवाले दुर्वासा मुनि इस पर अकस्मात् क्रुद्ध हो गये और आग की तरह जलते हुए लाल लाल नेत्रों से सरस्वती को देखने लगे ॥ १०-११ ॥

शशाप तां दुर्विनयेऽवनीतले जायस्व मर्त्येष्वबिभेत् सरस्वती ।
प्रसादयामास निसर्गकोपनं तत्पादमूले पतिता विषादिनी ॥१२॥

उन्होंने सरस्वती को शाप दिया कि हे अविनीते! अवनीतल पर मनुष्यों के बीच तुम जन्म ग्रहण करो। इस शाप को सुनकर सरस्वती डर

गई और विषाद करती हुई उसने मुनि के पैरों पड़कर स्वभाव से ही क्रोध करनेवाले दुर्वासा को प्रसन्न करने का उद्योग किया ॥ १२ ॥

दृष्ट्वा विषण्णां मुनयः सरस्वतीं प्रसादयांचक्रुरिमं तमादरात् ।
कृतापराधां भगवन् क्षमस्व तां पितेव पुत्रं विहितागसं मुने ॥१३॥

मुनि लोगों ने जब सरस्वती को दुःखित देखा तब आदरपूर्वक दुर्वासा ऋषि को प्रसन्न किया—हे भगवन्, हे मुने ! जिस प्रकार पिता अपराधी पुत्र को क्षमा करता है, उसी प्रकार अपराध करनेवाली इस सरस्वती को आप क्षमा प्रदान कीजिए ॥ १३ ॥

प्रसादितोऽभूदथ संप्रसन्नो वाण्या मुनीन्द्रैरपि शापमोक्षम् ।
ददौ यदा मानुषशंकरस्य संदर्शनं स्याद्भवितास्यमर्त्या ॥१४॥

इस प्रकार सरस्वती और मुनियों के द्वारा प्रसन्न किये गये दुर्वासा ने सरस्वती को शाप से मुक्त कर दिया—'जब मनुष्यरूपधारी शङ्कर का दर्शन तुम्हें प्राप्त होगा तब तुम मर्त्यलोक को छोड़कर इस स्वर्ग में आ जाओगी' ॥ १४ ॥

सा शोणतीरेऽजनि विप्रकन्या सर्वार्थवित्सर्वगुणोपपन्ना ।
यस्या बभूवुः सहजाश्च विद्याः शिरोगतं के परिहर्तुमीशाः ॥१५॥

शोण नद के तीर पर वह सरस्वती सब अर्थ को जाननेवाली, सब गुणों से युक्त ब्राह्मणकन्या के रूप में जन्मी जिसे समस्त विद्यायें सहज रूप से प्राप्त हो गईं । सिर पर स्वभाव से उगनेवाले केश को क्या कोई पुरुष दूर करने में समर्थ होता है ? दुर्वासा के शाप के कारण सरस्वती को भी इस भूतल पर जन्म लेना पड़ा । उन्हें समस्त विद्यायें जन्म से ही प्राप्त हो गईं ॥ १५ ॥

सर्वाणि शास्त्राणि षडङ्गवेदान्
काव्यादिकान् वेत्ति परं च सर्वम् ।

तन्नास्ति नो वेत्ति यदत्र बाला
तस्मादभूच्चित्रपदं जनानाम् ॥ १६ ॥

वह सब शास्त्रों, षडङ्ग वेदों और काव्यादि को जानती थी। जगत् में वह वस्तु नहीं थी जिसे वह बालिका न जानती थी। इस प्रकार मनुष्यों के हृदय में उसने महान् आश्चर्य उत्पन्न कर दिया ॥ १६ ॥

सा विश्वरूपं गुणिनं गुणज्ञा
मनोभिरामं द्विजपुंगवेभ्यः।
शुश्राव तां चापि स विश्वरूप-
स्तस्मात्तयोर्दर्शनलालसाऽभूत् ॥ १७ ॥

गुण को जाननेवाली उस ब्राह्मण-कन्या ने ब्राह्मणों के मुख से गुणी, मनोभिराम, सुन्दर विश्वरूप (मण्डन मिश्र) का नाम सुना और विश्वरूप ने भी उसके बारे में सुना। इस प्रकार दोनों के हृदय में देखने की लालसा जगी ॥ १७ ॥

अन्योन्यसंदर्शनलालसौ तौ
चिन्ताप्रकर्षादधिगम्य निद्राम्।
अवाप्य संदर्शनभाषणानि
पुनः प्रबुद्धौ विरहाग्नितप्तौ ॥ १८ ॥

एक दूसरे के दर्शन के इच्छुक वे दोनों अत्यन्त चिन्ता के कारण जब सो जाते, तब सपने में दर्शन और भाषण के सुख को प्राप्त करते थे। परन्तु जग जाने पर विरह से दुःखी हो जाते थे ॥ १८ ॥

दिदृक्षमाणावपि नेक्षमाणावन्योन्यवार्ताहृतमानसौ तौ।
यथोचिताहारविहारहीनौ तनौ तनुत्वं स्मरणादुपेतौ ॥ १९ ॥

एक दूसरे की बात से उनका मन आकृष्ट हो गया था। वे एक दूसरे को देखना चाहते थे परन्तु देख नहीं सकते थे। वे उचित आहार-विहार से हीन थे। स्मरण-मात्र से उनका शरीर कृश हो गया था ॥ १९ ॥

दृष्ट्वा तदीयौ पितरौ कदाचित्
अपृच्छतां तौ परिकर्शिताङ्गौ ।
वपुः कृशं ते मनसोऽप्यगर्वो
न व्याधिमीक्षे न च हेतुमन्यम् ॥ २० ॥

उनके माता-पिता ने इस प्रकार उनके क्षीण शरीर को देखकर पूछा—"शरीर तुम्हारा कृश है। मन में अभिमान नहीं है। न तो मैं इसकी कोई व्याधि देखता हूँ और न कोई दूसरा कारण ही। इस कृशता का कारण क्या है ? ॥ २० ॥

इष्टस्य हानेरनभीष्टयोगाद्
भवन्ति दुःखानि शरीरभाजाम् ।
वीक्षे न तौ द्वावपि वीक्षमाणो
विना निदानं नहि कार्यजन्म ॥ २१ ॥

इष्ट की हानि से तथा अभिलषित वस्तु के न मिलने से, शरीरधारी जीवों को दुःख उत्पन्न हुआ करते हैं परन्तु देखने पर भी मुझे यहाँ ये दोनों बातें नहीं दिखाई पड़तीं। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, अतः इसका कोई कारण अवश्य होना चाहिए ॥ २१ ॥

न तेऽत्यगादुद्वहनस्य कालः
परावमानो न च निःस्वता वा ।

कुटुम्बभारो मयि दुःसहोऽयं
कुमारवृत्तेस्तव काऽत्र पीडा ॥ २२ ॥

तुम्हारे विवाह का अभी समय नहीं बीता। दूसरे के हाथों अपमान का प्रसङ्ग भी नहीं है। न घर में निर्धनता है। इस दुःसह कुटुम्ब का भार मेरे ऊपर है। कुमार-अवस्था में तुम्हें दुःख कौन-सा है? ॥ २२ ॥

न मूढभावः परितापहेतुः पराजितिर्वा तव तन्निदानम्।
विद्वत्सु विस्पष्टतयाऽप्रपाठात् सुदुर्गमार्थादपि तर्कविद्भिः ॥२३॥

मूर्खता परिताप का कारण नहीं हो सकती। न शास्त्रार्थ में पराजय होना ही इसका कारण हो सकता है। तुम्हारी विद्वत्ता का लोहा कौन नहीं मानता? विद्वानों के समाज में जब तुम उन अर्थों की व्याख्या करते हो जो तर्क जाननेवालों के लिये भी दुर्गम हैं, तब तुम्हारे पाण्डित्य का गौरव सब लोग मानने लगते हैं ॥ २३ ॥

आ जन्मनो विहितकर्मनिषेवणं ते
स्वप्नेऽपि नास्ति विहितेतरकर्मसेवा।
तस्मान्न भेयमपि नारकयातनाभ्यः
किं ते मुखं प्रतिदिनं गतशोभमास्ते ॥ २४ ॥

जन्म से लेकर तुमने शास्त्र-विहित कर्म का आचरण किया है। स्वप्न में भी तुमने निषिद्ध कर्मों को नहीं किया, अतः नरक-यातनाओं से तुम्हें किसी प्रकार का डर नहीं है। तब क्या कारण है कि दिन प्रति दिन तुम्हारे मुँह की शोभा फीकी पड़ती जा रही है?" ॥ २४ ॥

निर्बन्धतो बहुदिनं प्रतिपाद्यमानौ
वक्तुं कृपाभरयुताविदमूचतुः स्म।
निर्बन्धतस्तव वदामि मनोगतं मे
वाच्यं न वाच्यमिति यद्वितनोति लज्जाम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार बहुत दिनों तक हठपूर्वक पूछे जाने पर इन दोनों ने अपने कृपालु माता-पिता से इस प्रकार कहा—आप लोगों के हठ करने पर हम अपने मन की बात कहते हैं। जो वस्तु कहने योग्य हो परन्तु वह यदि न कही जाय तो लज्जा उत्पन्न करती है ॥ २५ ॥

शोणाख्यपुंनदतटे वसतो द्विजस्य
कन्या श्रुतिं गतवती द्विजपुंगवेभ्यः ।
सर्वज्ञतापदमनुत्तमरूपवेषां
तामुद्विवक्षति मनो भगवन् मदीयम् ॥ २६ ॥

मैंने ब्राह्मणों से सुना है कि सोन नद के तट पर रहनेवाले ब्राह्मण के घर में एक कन्या है, हे भगवन्! मेरा मन अनुपम रूप और वेश को धारण करनेवाली उसी सर्वगुण-सम्पन्न कन्या से विवाह करने का है ॥ २६ ॥

पुत्रेण सोऽतिविनयं गदितोऽन्वशाद्द्वौ
विप्रौ वधूवरणकर्मणि संप्रवीणौ ।
तावापतुर्द्विजगृहं द्विजसंदिदृक्षू
देशानतीत्य बहुलान्निजकार्यसिद्ध्यै ॥ २७ ॥

पुत्र के अत्यन्त नम्रतापूर्वक कहने पर पिता ने वधू के चुनने में निपुण दो ब्राह्मणों को आज्ञा दी। वे दोनों ब्राह्मण देखने की इच्छा से, अपने कार्य की सिद्धि के लिये अनेक देशों को पार करते हुए, सरस्वती के पिता के घर पहुँचे ॥ २७ ॥

भूभृन्निकेतनगतः श्रुतविश्वशास्त्रः
श्रीविश्वरूप इति यः प्रथितः पृथिव्याम् ।
तत्पादपद्मरजसे स्पृहयामि नित्यं
साहाय्यमत्र यदि तात भवान् विदध्यात् ॥ २८ ॥

लड़की ने अपने पिता से कहा—राजधानी में रहनेवाले, समस्त शास्त्र को जाननेवाले, विश्वरूप नाम से इस पृथ्वी में प्रसिद्ध एक ब्राह्मण हैं। उनके चरण-कमल की धूलि के लिये मैं नित्य लालायित हूँ। आप मुझे इस विषय में सहायता दें ॥ २८ ॥

टिप्पणी—यह पद्य ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इससे स्पष्ट है कि मण्डन मिश्र किसी राजा की राजधानी में रहते थे और उनका नाम 'विश्वरूप' था। इस विषय में आधुनिक विद्वानों की समीक्षा के लिये भूमिका देखिए।

पुत्र्या वचः पिबति कर्णपुटेन ताते
श्रीविश्वरूपगुरुणा गुरुणा द्विजानाम्।
आजग्मतुः सुवसनौ विशदाभयष्टी
संप्रेषितौ सुतवरोद्वहनक्रियायै ॥ २९ ॥

पिता जब पुत्री के इन वचनों को सुन ही रहे थे तब ब्राह्मणों में श्रेष्ठ विश्वरूप के पिता के द्वारा लड़के के विवाह के लिये भेजे गये दो ब्राह्मण देवता, अच्छे वस्त्रों से सजे, हाथ में चमकती हुई छड़ी लिए आ पहुँचे ॥ २९ ॥

तावार्च्य स द्विजवरौ विहितोपचारै-
रायानकारणमथो शनकैरपृच्छत्।
श्रीविश्वरूपगुरुवाक्यत आगतौ स्व
इत्यूचतुर्वरणकर्मणि कन्यकायाः ॥ ३० ॥

ब्राह्मण ने उनका उचित पूजन कर आने का कारण धीरे से पूछा। तब ब्राह्मणों ने कहा कि विश्वरूप के पिता के कहने पर आपकी कन्या के वरण के लिये हम लोग आये हुए हैं ॥ ३० ॥

संप्रेषितौ श्रुतवयःकुलवृत्तधर्मैः
साधारणीं श्रुतवता स्वसुतस्य तेन।

याचावहे तव सुतां द्विज तस्य हेतो-
रन्योन्यसंघटनमेतु मणिद्वयं तत् ॥ ३१ ॥

शास्त्राध्ययन, उम्र, कुल तथा चरित्र के विषय में अपने पुत्र के समान तुम्हारी कन्या को सुनकर उस ब्राह्मण ने हमें भेजा है। उसके लिये हम लोग तुम्हारी कन्या माँग रहे हैं। ये दोनों मणि के समान हैं। हमारी प्रार्थना है कि इन दोनों मणियों का परस्पर संयोग हो ॥ ३१ ॥

मह्यं तदुक्तमभिरोचत एव विप्रौ
पृष्ट्वा वधूं मम पुनः करवाणि नित्यम्।
कन्याप्रदानमिदमायतते वधूषु
नो चेदमूर्व्यसनसक्तिषु पीडयेयुः ॥ ३२ ॥

'उभयभारती' (सरस्वती) के पिता ने कहा—यह कथन मुझे अच्छा लगता है लेकिन अपनी स्त्री से पूछकर मैं इस कार्य को करूँगा क्योंकि कन्या का प्रदान (विवाह) स्त्रियों के ही अधीन होता है। यदि ऐसा न किया जाय, तो कन्या के दुःख होने पर स्त्रियाँ अपने पति को उलाहना देकर क्लेश पहुँचाती हैं ॥ ३२ ॥

भार्यामपृच्छदथ किं करवाव भद्रे
विप्रौ वरीतुमनसौ खलु राजगेहात्।
एतां सुतां सुतनिभा तव याऽस्ति कन्या
ब्रूहि त्वमेकमनुमाय पुनर्न वाच्यम् ॥ ३३ ॥

उन्होंने अपनी स्त्री से पूछा—"हे भद्रे! क्या किया जाय? राजा के घर से ये दोनों ब्राह्मण तुम्हारी कन्या के विवाह के लिये आये हैं। क्योंकि वह कन्या वर के समान ही है। तुम ठीक विचार कर उत्तर दो जिससे बात फिर बदलनी न पड़े" ॥ ३३ ॥

दूरे स्थितिः श्रुतवयःकुलवृत्तजातं
न ज्ञायते तदपि किं प्रवदामि तुभ्यम्।
वित्तान्विताय कुलवृत्तसमन्विताय
देया सुतेति विदितं श्रुतिलोकयोश्च ॥ ३४ ॥

इस पर भार्या बोली—वर बहुत दूर देश में रहता है। शास्त्र, आयु, कुल तथा चरित्र के विषय में मैं कुछ जानती ही नहीं। अतः मैं तुमसे क्या कहूँ? यह बात तो शास्त्र और लोक दोनों में प्रसिद्ध है कि जो वर धन-सम्पन्न, कुल तथा चरित्र से युक्त हो उसे ही कन्या देनी चाहिए ॥ ३४ ॥

नैवं नियन्तुमनघे तव शक्यमेतत्
तां रुक्मिणीं यदुकुलाय कुशस्थलीशे।
प्रादात् स भीष्मकनृपः खलु कुण्डिनेश-
स्तीर्थापदेशमटते स्वपरीक्षिताय ॥ ३५ ॥

इस पर लड़की के पिता विष्णुमित्र बोले—इस तरह का नियम नहीं बनाया जा सकता क्योंकि कुण्डिनपुर के राजा भीष्मक ने अपनी कन्या रुक्मिणी तीर्थ के व्याज से घूमनेवाले, कुशस्थली (द्वारका) के अधिपति यदुवंशी श्रीकृष्ण को क्या नहीं दी? परन्तु विशेषता यह थी कि पिता को न तो वर के कुल का ही पता था, न उसके शील का ॥ ३५ ॥

किं केन संगतमिदं सति मा विचारी-
र्यो वैदिकीं सरणिमप्रहतां प्रयत्नात्।
प्रातिष्ठिपत् सुगतदुर्जयनिर्जयेन
शिष्यं यमेनमशिषत् स च भट्टपादः ॥ ३६ ॥

हे सती! कौन किसके उपयुक्त है, इसका विचार मत करो। इनकी योग्यता में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं दीख पड़ती। क्या तुमने भट्ट

कुमारिल का नाम नहीं सुना है जिन्होंने बौद्धों के दुर्जय सिद्धान्तों को अपने तर्क से जीतकर इस भूतल पर वैदिक मार्ग की प्रतिष्ठा स्थापित की है? ये विश्वरूप ऐसे ही दिग्विजयी गुरु के पट्टशिष्य हैं। अतः अपनी कन्या तथा वर के गुणों की संगति के विषय में ज्यादा चिन्ता मत करो ॥ ३६ ॥

विद्या-प्रशंसा

किं वर्ण्यते सुदति यो भविता वरो नो
विद्या धनं द्विजवरस्य न बाह्यवित्तम्।
याऽन्वेति संततमनन्तदिगन्तभाजं
यां राजचोरवनिता न च हर्तुमीशाः ॥ ३७ ॥

हे सुन्दरी ! हमारी कन्या के वर की क्या प्रशंसा की जाय। ब्राह्मण के लिये विद्या ही धन है, बाहरी धन, धन नहीं है—वह विद्या, जो अनन्त दिगन्तों में फैली रहती है और जिसे राजा, चोर और गणिका हरण करने में समर्थ नहीं होते ॥ ३७ ॥

वध्वर्जनावनपरिव्ययगानि तानि
वित्तानि चित्तमनिशं परिखेदयन्ति।
चोरान्नृपात्स्वजनतश्च भयं धनानां
शर्मेति जातु न गुणः खलु बालिशस्य ॥ ३८ ॥

हे प्रिये ! अर्जन, रक्षण तथा व्यय के समय बाह्य सम्पत्ति सदा चित्त को क्लेश पहुँचाया करती है। चोर, राजा तथा स्वजन से लौकिक धन को सदा डर लगा करता है। अतः विद्याहीन पुरुष को सुख कभी नहीं मिलता ॥ ३८ ॥

केचिद्धनं निदधते भुवि नोपभोगं
कुर्वन्ति लोभवशगा न विदन्ति केचित्

अन्येन गोपितमथान्यजना हरन्ति
तच्चेन्नदीपरिसरे जलमेव हर्तृ ॥ ३९ ॥

लोभ के वश में होनेवाले कुछ आदमी धन को ज़मीन में गाड़कर रखते हैं, उसका उपभोग नहीं करते। कुछ लोग धन को प्राप्त ही नहीं करते। दूसरे के द्वारा एकत्रित धन को दूसरे पुरुष हरण कर ले जाते हैं। वह यदि नदी के किनारे हो तो जल ही उसे हरण कर लेता है। इस प्रकार लौकिक धन नितान्त अस्थिर है। विद्या-धन ही श्रेष्ठ धन है॥ ३९॥

सर्वात्मना दुहितरो न गृहे विधेया-
स्ताश्चेत्पुरा परिणयाद्रज उद्गतं स्यात्।
पश्येयुरात्मपितरौ बत पातयन्ति
दुःखेषु घोरनरकेष्विति धर्मशास्त्रम् ॥ ४० ॥

क्या लड़कियों को घर में रक्खा जा सकता है ? यदि उनका विवाह से पूर्व रजोदर्शन हो जाता है तो वे घोर नरक और दुःख में अपने माता-पिता को डाल देती हैं। यही धर्मशास्त्र का सिद्धान्त है॥ ४०॥

मा भूदयं मम सुताकलहः कुमारीं
पृच्छाव सा वदति यं भविता वरोऽस्याः।
एवं विधाय समयं पितरौ कुमार्या
अभ्याशमीयतुरितो गदितेष्टकार्यौ ॥ ४१ ॥

लड़की के विषय में हम लोग झगड़ा न करें। चलो, उसी से पूछें। जो वह कहेगी, वह उसका वर चुन लिया जायगा। इस प्रकार से निश्चय करके पिता-माता कुमारी के पास आये और उसे अपना मनोरथ कह सुनाया॥ ४१॥

श्रीविश्वरूपगुरुणा प्रहितौ द्विजाती
कन्यार्थिनौ सुतनु किं करवाव वाच्यम् ।
तस्याः प्रमोदनिचयो न ममौ शरीरे
रोमाञ्चपूरमिषतो बहिरुज्जगाम ॥ ४२ ॥

हे सुन्दरी, विश्वरूप के पिता ने कन्या के वरण के लिये दो ब्राह्मणों को भेजा है। कहो, हम लोग क्या करें। इतना सुनते ही वह इतनी प्रसन्न हुई कि उसका आनन्द शरीर में समा न सका प्रत्युत वह रोमाञ्च के व्याज से बाहर निकल पड़ा। आनन्द से उसके रोंगटे खड़े हो गये ॥ ४२ ॥

तेनैव सा प्रतिवचः प्रददौ पितृभ्यां
तेनैव तावपि तयोर्युगलाय सत्यम् ।
आदाय विप्रमपरं पितृगेहतोऽस्या-
स्तौ जग्मतुर्द्विजवरौ स्वनिकेतनाय ॥ ४३ ॥

उस रोमाञ्च ने ही माता-पिता को उत्तर दे दिया और उन दोनों ने भी उसी के बल पर दोनों ब्राह्मणों को ठीक उत्तर दे डाला। इसके अनन्तर ये दोनों ब्राह्मण कन्या के पिता के घर से एक दूसरे ब्राह्मण को अपने साथ लेकर घर लौट आये ॥ ४३ ॥

अस्माच्चतुर्दशदिने भविता दशम्यां
यामित्रभादिशुभयोगयुतो मुहूर्तः ।
एवं विलिख्य गणितादिषु कौशलास्या
व्याख्यापराय दिशति स्म सरस्वती सा ॥४४॥

वह कन्या गणित-विद्या में निपुण थी, अतः स्वयं गणना कर उसने अपने ब्राह्मण को यह लिखकर दे दिया कि आज के चौदहवें दिन

दशमी तिथि में यामित्र तथा नक्षत्र आदि शुभ योग से युक्त शुभ मुहूर्त होगा। वही दिन विवाह के लिये नितान्त उपयुक्त है ॥ ४४ ॥

तौ हृष्टपुष्टमनसौ विहितेष्टकार्यौ
श्रीविश्वरूपगुरुमुत्तममैक्षिषाताम् ।
सिद्धं समीहितमिति प्रथितानुभावो
दृष्ट्वैव तन्मुखमसावथ निश्चिकाय ॥ ४५ ॥

वे दोनों ब्राह्मण इष्ट कार्य कर अत्यन्त प्रसन्न होकर विश्वरूप के गुणी पिता से मिले। प्रभावशाली पिता ने भी उनके मुख को देखकर ही निश्चित कर लिया कि उनका कार्य सिद्ध हो गया है ॥ ४५ ॥

अन्यः स्वहस्तगतपत्रमदात् स पत्रं
दृष्ट्वा जहास सुखवारिनिधौ ममज्ज ।
विप्रान् यथोचितमपूपुजदागतांस्तान्
नत्वांऽशुकादिभिरयं बहुवित्तलभ्यैः ॥ ४६ ॥

तीसरे ब्राह्मण ने अपने हाथ से पत्र दिया जिसे देखकर विश्वरूप के पिता हँसे और आनन्द से सुखसमुद्र में डूब गये। उन्होंने बहुमूल्य वस्त्रादिकों के द्वारा इन आये हुए ब्राह्मणों की उचित रीति से अभ्यर्थना की ॥ ४६ ॥

पित्राऽनुशिष्टवसुधासुरशंसितेन
विज्ञापितः सुखमवाप स विश्वरूपः ।
कार्याण्यथाऽऽह पृथगात्मजनान् समेतान्
बन्धुप्रियः परिणयोचितसाधनाय ॥ ४७ ॥

तब पिता ने ब्राह्मण का वचन अपने पुत्र को कह सुनाया। युवक विश्वरूप प्रसन्न हुए। इसके अनन्तर बन्धुओं के प्रेमी विश्वरूप

ने उपस्थित हुए अपने सम्बन्धियों से विवाह के लिये सामग्री एकत्र करने के लिये कहा ॥ ४७ ॥

मौहूर्तिकैर्बहुभिरेत्य मुहूर्तकाले
संदर्शिते द्विजवरैर्बहुविद्भिरिष्टैः ।
माङ्गल्यवस्तुसहितोऽखिलभूषणाढ्यः
स प्रापदक्षततनुः पृथुशोणतीरम् ॥ ४८ ॥

बहुज्ञ, मित्रता-सम्पन्न, मुहूर्त के जाननेवाले श्रेष्ठ ब्राह्मणों ने आकर उचित मुहूर्त का निर्णय किया। उसी मुहूर्त पर अनेक मङ्गलमयी वस्तुओं के साथ, गहनों से सज-धजकर विश्वरूप सोन के किनारे पहुँचे। उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शोभा झलक रही थी; आभूषणों से शरीर अत्यन्त दीप्यमान था ॥ ४८ ॥

शोणस्य तीरमुपयातमुपाशृणोत् स
जामातरं बहुविधं किल विष्णुमित्रः ।
प्रत्युज्जगाम मुमुदे प्रियदर्शनेन
प्रावीविशद् गृहममुं बहुवाद्यघोषैः ॥ ४९ ॥

कन्या के पिता विष्णुमित्र ने जब अपने जामाता को शोण नद के किनारे आया हुआ सुना तब अगवानी करने के लिये वे आगे आये। उनके प्रिय दर्शन से वे प्रसन्न हुए और अनेक गाजे-बाजे के साथ उनको अपने घर लिवा लाये ॥ ४९ ॥

दत्त्वाऽऽसनं मृदु वचः समुदीर्य तस्मै
पाद्यं ददौ समधुपर्कमनर्घपात्रे ।
अर्घ्यं ददात्वहमियं तनया गृहास्ते
गावो हिरण्यमखिलं भवदीयमूचे ॥ ५० ॥

कोमल वचन कहकर उन्हें आसन दिया तथा बहुमूल्य बर्तन में मधुपर्क रखकर उन्हें अर्घ-पाद्य (पैर धोने का जल) भी दिया। वे स्वागत के लिये कहने लगे कि यह कन्या, ये घर, ये गायें—मेरी यह सम्पूर्ण सम्पत्ति आप ही की है ॥ ५० ॥

अस्माकमद्य पवितं कुलमादृताः स्मः
संदर्शनं परिणयव्यपदेशतोऽभूत् ।
नो चेद्भवान् बहुविदग्रसरः क्व चाहं
भद्रेण भद्रमुपयाति पुमान् विपाकात् ॥ ५१ ॥

आज हमारा कुल पवित्र हो गया, हम लोग आदरणीय हो गये क्योंकि विवाह के बहाने आपका यह दर्शन हुआ। नहीं तो पण्डितों के अग्रणी आप कहाँ और मैं कहाँ? मनुष्य पुण्य-कर्म के विपाक से कल्याण प्राप्त करता ही है। मैंने पूर्वजन्म में अनेक पुण्य किये हैं, उसी का यह फल आपका शुभ दर्शन है ॥ ५१ ॥

यद्यद्गृहेऽत्र भगवन्निह रोचते ते
तत्तन्निवेद्यमखिलं भवदीयमेतत् ।
वक्ष्यामि सर्वमभिलाषपदं त्वदीयं
युक्तं हि संततमुपासितवृद्धपूगे ॥ ५२ ॥

भगवन्! हमारे इस घर में जो कुछ आपको पसन्द हो वह सब कुछ आप ही के निवेदन करने के लिये है। इस पर विश्वरूप के पिता ने कहा कि मुझे आपकी जो वस्तु अभिलषित है उसे अवश्य कहूँगा। आपने वृद्ध लोगों की अच्छी उपासना की है। उनके संसर्ग से आपको ऐसा कहना खूब शोभा देता है ॥ ५२ ॥

एवं मिथः परिनिगद्य विशेषमृद्व्या
वाचा युतौ मुदमवापतुरुत्तमां तौ ।

अन्ये च संमुमुदिरे प्रियसत्कथाभिः
स्वेच्छाविहारहसनैरुभये विधेयाः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार ये दोनों व्यक्ति एक दूसरे से मीठी बोली बोलकर तरह तरह की बातचीत करते थे। इस परस्पर आलाप से ये आनन्दमग्न हो गये। दूसरे लोग भी मनोहर कथाएँ कहकर एक दूसरे का मनोरञ्जन करते थे। दोनों पक्ष के लोग स्वेच्छापूर्वक विहार और हास्य से कृतकृत्य हुए ॥ ५३ ॥

कन्यावरौ प्रकृतिसिद्धसुरूपवेषौ
द्रष्टुमुभयेऽपि परिकर्म विलम्बमानाः ।
चक्रुर्विधेयमिति कर्तुमनीश्वरास्ते
शोभाविशेषमपि मङ्गलवासरेऽस्मिन् ॥ ५४ ॥

वर-कन्या का रूप स्वभाव से ही सुन्दर और वेश मनोरम था। उभय पक्ष के लोग उस मङ्गल के दिन वर और कन्या के देखने में इतने आसक्त-चित्त थे कि अपने शरीर को सुसज्जित करने में सर्वथा असमर्थ हुए, परन्तु अवश्य कर्तव्य था यह विचार कर बड़े विलम्ब से उन्होंने अपने शरीर की सजावट की ॥ ५४ ॥

एतत्प्रभाप्रतिहतात्मविभूतिभावा-
दाकल्पजातमपि नातिशयं वितेने ।
लोकप्रसिद्धिमनुसृत्य विधेयबुद्ध्या
भूषां व्यधुस्तदुभये न विशेषबुद्ध्या ॥ ५५ ॥

गहनों की प्रभा से शरीर का स्वाभाविक सौन्दर्य छिप जाता है। इस कारण उन्होंने अधिक गहनों को धारण नहीं किया। वर-वधू ने लोक-व्यवहार के अनुरोध एवं कर्तव्य-बुद्धि से गहनों को धारण किया, किसी विशेष अभिप्राय से नहीं। ये स्वभाव से

ही सुन्दर थे। अतः सजावट के लिये नहीं, बल्कि कर्तव्य-बुद्धि से गहनों को पहना ॥ ५५ ॥

मौहूर्तिका बहुविदोऽपि मुहूर्तकाल-
　　मप्राक्षुरक्षतधियं खिलतीं सखीभिः ।
पश्चात्तदुक्तशुभयोगयुते शुभांशे
　　मौहूर्तिकाः स्वमतितो जगृहुर्मुहूर्तम् ॥ ५६ ॥

ज्योतिषियों ने बहुज्ञ होने पर भी सखियों के साथ खेलनेवाली, निर्मल-बुद्धि-सम्पन्न उभयभारती से मुहूर्त पूछा। पीछे उनके बताये हुए शुभ योग से युक्त शुभ ग्रह के नवांश में उन्होंने अपनी मति से मुहूर्त को समझ लिया ॥ ५६ ॥

विवाह

जग्राह पाणिकमलं हिममित्रसूनुः
　　श्रीविष्णुमित्रदुहितुः करपल्लवेन ।
भेरीमृदङ्गपटहाध्ययनाब्जघोषै-
　　र्दिङ्मण्डले सुपरिमूर्छति दिव्यकाले ॥ ५७ ॥

उस सुन्दर समय में जब भेरी, मृदङ्ग, नगाड़े, वेदपाठ और शङ्ख की ध्वनि से दिङ्मंडल चारों ओर से व्याप्त हो रहा था तब हिममित्र के पुत्र (विश्वरूप) ने विष्णुमित्र की कन्या (उभयभारती) के कर-कमल को अपने हाथों में लिया ॥ ५७ ॥

यं यं पदार्थमभिकामयते पुमान् य-
　　स्तं तं प्रदाय समतूतुषतां तदीड्यौ ।
देवद्रुमाविव महासुमनस्त्वयुक्तौ
　　संभूषितौ सदसि चेरतुरात्मलाभौ ॥ ५८ ॥

लोग जिन जिन पदार्थों को चाहते थे उन्हें देकर कन्या के माता-पिताने प्रशंसित होकर विशेष सन्तोष प्राप्त किया। कल्पवृक्ष के समान अत्यन्त उदारता से सम्पन्न वे दोनों अभिलाषा से युक्त होकर सभा में विचरण करते थे ॥ ५८ ॥

आधाय वह्निमथ तत्र जुहाव सम्यग्
गृह्योक्तमार्गमनुसृत्य स विश्वरूपः ।
लाजाञ्जुहाव च वधूः परिजिघ्रति स्म
धूमं प्रदक्षिणमथाकृत सोऽपि चाग्निम् ॥ ५९ ॥

इसके अनन्तर विश्वरूप ने अग्नि की स्थापना कर गृह्यसूत्र में कहे हुए प्रकार का अनुसरण कर विधिवत् हवन किया। वधू ने लाजा (धान का लावा) हवन किया तथा गन्ध को सूँघा। विश्वरूप ने भी अग्नि की प्रदक्षिणा की ॥ ५९ ॥

होमावसानपरितोषितविप्रवर्यः
प्रस्थापिताखिलसमागतबन्धुवर्गः ।
संरक्ष्य वह्निमनया सममग्निगेहे
दीक्षाधरो दिनचतुष्कमुवास हृष्टः ॥ ६० ॥

होम के अन्त में विश्वरूप ने सब ब्राह्मणों को सन्तुष्ट किया और आये हुए बन्धु-बान्धवों को भेज दिया। वह्नि की रक्षा कर, उभय-भारती के साथ प्रसन्नवदन होकर उन्होंने दीक्षा धारण की और अग्निशाला में चार दिन तक निवास किया ॥ ६० ॥

प्रतिष्ठमाने दयिते वरेऽस्मिन्
उपेत्य मातापितरौ वरायाः ।
आभाषिषातां शृणु सावधानो
बालेव बाला न तु वेत्ति किञ्चित् ॥ ६१ ॥

प्रिय पति के प्रस्थान के समय कन्या के माता-पिता ने आकर कहा कि सावधान होकर सुनो—दुधमुँही बच्ची की तरह सुकुमार मेरी यह कन्या संसार की कोई बात नहीं जानती ॥ ६१ ॥

बालैरियं क्रीडति कन्दुकाद्यैर्जातक्षुधा गेहमुपैति दुःखात् ।
एकेति बाला गृहकर्म नोक्ता संरक्षणीया निजपुत्रितुल्या ॥६२॥

यह लड़कों के साथ गेंद खेला करती है, भूख लगने पर घर में चली आती है। एकलौती पुत्री होने के कारण हमने घर का कार्य इसे नहीं सिखलाया है। अतः अपनी पुत्री के समान इसकी भी रक्षा करना ॥६२॥

बालेयमङ्ग वचनैर्मृदुभिर्विधेया
कार्या न रूक्षवचनैर्न करोति रुष्टा ।
केचिन्मृदूक्तिवशगा विपरीतभावाः
केचिद्विहातुमनलं प्रकृतिं जनो हि ॥ ६३ ॥

इस सुकुमारी को कोमल वचनों से आज्ञा देना; कभी रूखे वचन न कहना। रुष्ट होने पर यह कोई कार्य नहीं करती। कुछ आदमी मृदु वचन के वश में होते हैं और कुछ लोग रूखे वचनों के। मनुष्य अपना स्वभाव छोड़ने में समर्थ नहीं है ॥ ६३ ॥

कश्चिद्द्विजातिरधिगम्य कदाचिदेनाम्
उद्वीक्ष्य लक्षणमवोचदनिन्दितात्मा ।
मानुष्यमात्रजननं निजदेवभावे-
त्यस्माच्च वो वचनमुग्रमयोग्यमस्याम् ॥ ६४ ॥

किसी समय एक अनिन्दित चरित्रवाले ब्राह्मण ने आकर वधू के लक्षण देखकर कहा था कि इसका केवल जन्म ही मनुष्य-लोक में हुआ है, स्वभावतः यह देवी है। अतः इसके विषय में कभी उग्र वचनों का प्रयोग नहीं करना ॥ ६४ ॥

सर्वज्ञतालक्षणमस्ति पूर्णमेषा कदाचिद्वदतोः कथायाम् ।
तत्साक्षिभावं व्रजिताऽनवद्या संदिश्य नावेवमसौ जगाम ॥६५॥

इसमें सर्वज्ञता के लक्षण पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। यह कभी शास्त्रार्थ में वादी-प्रतिवादियों के बीच में मध्यस्थ का स्थान ग्रहण करेगी। यह कहकर वह ब्राह्मण चला गया ॥ ६५ ॥

श्वश्रूर्वराया वचनेन वाच्या स्नुषाभिरक्षाऽऽयतते हि तस्याम् ।
निक्षेपभूता तव सुन्दरीयं कार्या गृहे कर्म शनैः शनैस्ते ॥ ६६ ॥

इसकी सास से मेरे वचन कहना, क्योंकि वधू की रक्षा सास पर ही अवलम्बित होती है—यह सुन्दरी तुम्हारे हाथ में धरोहर है, इससे घर में धीरे-धीरे कार्य कराना चाहिए ॥ ६६ ॥

बाल्येषु बाल्यात् सुलभोऽपराधः स नेक्षणीयो गृहिणीजनेन ।
वयं सुधीभूय हि सर्व एव पश्चाद्ग गुरुत्वं शनकैः प्रयाताः॥६७॥

लड़कपन के कारण बाल्यावस्था में अपराध का होना सुलभ है। गृहिणी जन को उसको ध्यान में न लाना चाहिए। हमीं लोगों ने बुद्धिमान् बनकर धीरे धीरे गौरव प्राप्त किया है ॥ ६७ ॥

दृष्टाऽभिधातुमनलं च मनोऽस्मदीयं
गेहाभिरक्षणविधौ नहि दृश्यतेऽन्यः ।
दृष्टाऽभिधानफलमेव यथा भवेन्नौ
ब्रूयात्तथेष्टजनता जननीं वरस्य ॥ ६८ ॥

मैं ठहरा घर का अकेला। मेरे घर में ऐसा कोई दूसरा आदमी नहीं है जो इसकी रक्षा का भार अपने ऊपर ले। अतः बड़ी इच्छा होने पर भी मैं वर की माता के पास जाकर अपना अभिप्राय स्पष्ट प्रकट नहीं कर सकता। यह बन्धु-बान्धवों का काम है कि वर

की माता को इस प्रकार समझावें कि उनके कहने का प्रभाव माता के ऊपर अवश्य पड़े ॥ ६८ ॥

कन्या को उपदेश

वत्से त्वमद्य गमितासि दशामपूर्वां
तद्रक्षणे निपुणधीर्भव सुभ्रु नित्यम् ।
कुर्यान्न बालविहृतिं जनतोपहास्यां
सा नाविवापरमियं परितोषयेत्त्वे ॥ ६९ ॥

कन्या की माता सरस्वती से बोली—हे वत्से ! तुम इस समय नयी दशा को प्राप्त हुई हो। हे सुभ्रू ! तुम उस दशा की रक्षा करने के लिये सदा चतुर बनी रहो। लड़कपन का व्यवहार न करना नहीं तो लोग तुम्हारी खिल्ली उड़ावेंगे। तुम्हारी यह क्रीड़ा हम लोगों के समान किसी दूसरे को आनन्द नहीं दे सकती ॥ ६९ ॥

पाणिग्रहात् स्वाधिपती समीरितौ पुरा कुमार्याः पितरौ ततः परम् ।
पतिस्तमेकं शरणं व्रजानिशं लोकद्वयं जेष्यसि येन दुर्जयम् ॥७०॥

विवाह होने के पहिले माता-पिता कन्या के अधिपति कहे जाते हैं और विवाह के बाद पति। उसी एक पति की शरण में तुम जाओ जिससे दुर्जय दोनों लोकों को तुम जीत सको ॥ ७० ॥

पत्यावभुक्तवति सुन्दरि मा स्म भुङ्क्ष्व
याते प्रयातमपि मा स्म भवेद्विभूषा ।
पूर्वापराद्दिनियमोऽस्ति निमज्जनादौ
वृद्धाङ्गनाचरितमेव परं प्रमाणम् ॥ ७१ ॥

हे सुन्दरी ! पति के भोजन किये बिना तुम भोजन मत करना। पति के विदेश चले जाने पर तुम गहनों से अपने शरीर को सुसज्जित मत करना। स्नान, भोजनादि के विषय में तो पूर्व, अपर का नियम है ही। अर्थात् पति के स्नान, भोजनादि कर लेने पर ही तुम उन्हें करना। इस विषय में वृद्ध स्त्रियों का आचरण ही परम प्रमाण है ॥ ७१ ॥

रुष्टे धवे सति रुषेह न वाच्यमेकं
क्षन्तव्यमेव सकलं स तु शाम्यतीत्थम्।
तस्मिन् प्रसन्नवदने चकितेव वत्से
सिध्यत्यभीष्टमनघे क्षमयैव सर्वम् ॥ ७२ ॥

पति के क्रुद्ध होने पर तुम एक शब्द भी क्रोध में मत बोलना। सब पर क्षमा रखना। इस प्रकार पति भी शान्त हो जायगा। हे वत्से ! पति के प्रसन्नवदन होने पर तुम भी प्रसन्न रहना। हे अनघे ! क्षमा से ही सब अभीष्ट कार्यों की सिद्धि होती है ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—शकुन्तला को पति-गृह में बिदा करते समय लौकिक व्यवहार में कुशल कण्व ने भी उसे इसी प्रकार का बड़ा सुन्दर तथा रमणीय उपदेश दिया था।

शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने
भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने भाग्येष्वनुत्सेकिनी;
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥

भर्तुः समक्षमपि तद्वदनं समीक्ष्य
वाच्यो न जातु सुभगे परपूरुषस्ते।
किं वाच्य एष रहसीति तवोपदेशः
शङ्का वधूपुरुषयोः क्षपयेद्धि हार्दम् ॥ ७३ ॥

हे सुभगे ! पति के सामने भी परपुरुष से कभी बात-चीत न करना। यह तुम्हारे लिये मेरा उपदेश है। एकान्त में पर-पुरुष से क्या कहा गया है, इस बात की शङ्का स्त्री और पुरुष के स्नेह को नष्ट कर देती है ॥ ७३ ॥

टिप्पणी—श्रीहर्ष ने भी नैषधचरित में इस विषय का सुन्दर प्रतिपादन दमयन्ती के मुख से किया है—

मयापि देयं प्रतिवाचिकं न ते, स्वनाम मत्कर्णसुधामकुर्वते।
परेण पुंसा हि ममापि संकथा, कुलावलाचारसहासनासहा ॥
सर्ग ९, श्लोक १६.

आयाति भर्तरि तु पुत्रि विहाय कार्यम्
उत्थाय शीघ्रमुदकेन पदावनेकः।
कार्यो यथाभिरुचि हे सति जीवनं वा
नोपेक्षणीयमणुमात्रमपीह कं ते ॥ ७४ ॥

हे पुत्री ! पति के आने पर सब काम छोड़कर खड़ी हो जाना। जल से उसके पैर धोना। हे सती ! इस संसार में अपने जीवन अथवा सुख की अणुमात्र भी उपेक्षा न करना ॥ ७४ ॥

धवे परोक्षेऽपि कदाचिदेयुर्गृहं तदीया अपि वा महान्तः।
ते पूजनीया बहुमानपूर्वं नो चेन्निराशाः कुलदाहकाः स्युः ॥७५॥

पति के परोक्ष रहने पर यदि कभी तुम्हारे घर पर वृद्ध लोग आवें तो बड़े आदर से उनकी पूजा करना। अन्यथा वे निराश होकर तुम्हारे कुल को जला देंगे ॥ ७५ ॥

पित्रोरिव श्वशुरयोरनुवर्तितव्यं
तद्वन्मृगाक्षि सहजेष्वपि देवरेषु।
ते स्नेहिनो हि कुपिता इतरेतरस्य
योगं विभिद्युरिति मे मनसि प्रतर्कः ॥ ७६ ॥

हे मृगनयनी ! माता-पिता के समान ससुर और सास की सेवा करना। भाई के समान अपने देवरों से वर्ताव करना। इन स्नेही जनों का आदर करना तुम्हारा परम कर्तव्य है। यदि ये किसी प्रकार क्रुद्ध हो जायँगे तो आपस का प्रेमभाव सदा के लिये टूट जायगा। यह मेरा अपना विचार है॥ ७६॥

हितोपदेशे विनिविष्टमानसौ वधूवरौ राजगृहं समीयतुः।
लब्धानुमानौ गुरुबन्धुवर्गतो बभूव संज्ञोभयभारतीति॥ ७७॥

इस प्रकार हितोपदेश में मन लगानेवाले वर और वधू राजगृह म आये। उन्होंने गुरुओं और अपने बन्धुओं से सत्कार प्राप्त किया। कन्या का नाम 'उभय-भारती' तभी से हुआ [क्योंकि वह दोनों कुलों में—मातृकुल तथा पतिकुल में—सरस्वती के समान आदरणीय थी]॥ ७७॥

सा भारती दुर्वसनेन दत्तं पुनः प्रसन्नेन पुराऽऽत्तहर्षा।
शापावधिं संसदि वत्स्यते यत् सर्वज्ञतानिर्वहणाय साक्ष्यम्॥७८॥

यही सरस्वती प्रसन्न होकर दुर्वासा के द्वारा दिये गये शाप की अवधि को स्वयं बितायेगी जिससे सभा में शङ्कराचार्य की सर्वज्ञता का प्रमाण सब को मिल जायगा॥ ७८॥

स भारतीसाक्षिकसर्ववित्त्वोऽप्यात्मीयशक्त्या शिशुवद्विभातः।
स्वशैशवस्योचितमन्वकाङ्क्षीत् स केशवो यद्वदुदारवृत्तः॥ ७९॥

शङ्कराचार्य सर्वज्ञ थे, इस बात की साक्षी स्वयं ये उभय-भारती हैं। मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ के अवसर पर आचार्य ने अपनी जिस सर्वज्ञता का परिचय दिया था इस बात का प्रमाण भारती का निर्णय है। इस प्रकार सर्वज्ञ होने पर भी शङ्कर बालक के समान प्रतीत होते थे और शैशव के अनुकूल क्रीड़ा की वस्तुएँ चाहते थे। इस विषय में आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। क्या सर्वज्ञ होते

हुए भी कृष्णचन्द्र ने अपने लड़कपन में विभिन्न प्रकार की क्रीड़ा नहीं की थी ? ॥ ७९ ॥

शैशवे स्थितवता चपलाशे शार्ङ्गिणेव वटवृक्षपलाशे ।
आत्मनीदमखिलं विलुलोके भावि भूतमपि यत् खलु लोके ॥८०॥

चञ्चल आशावाले शिशु-काल में स्थित होने पर भी शङ्कर ने, अपने अन्तःकरण में इस संसार के भावी तथा भूत समस्त पदार्थों का उसी प्रकार निरीक्षण किया जिस प्रकार वटवृक्ष के पत्ते पर रहनेवाले भगवान् विष्णु अपने शरीर में समस्त जगत् का अवलोकन करते हैं ॥८०॥

तं ददर्श जनताऽद्भुतबालं लीलयाऽधिगतनूतनदोलम् ।
वासुदेवमिव वामनलीलं लोचनैरनिमिषैरनुवेलम् ॥ ८१ ॥

लीला से झूले में झूलनेवाले कमनीय क्रीड़ायुक्त उस अद्भुत बालक को सब जनता ने टकटकी लगी आँखों से सदा उसी प्रकार देखा जिस प्रकार झूला में झूलनेवाले वामन रूपी बालक श्रीकृष्ण को ॥ ८१ ॥

कोमलेन नवनीरदराजिश्यामलेन नितरां समराजि ।
केशवेशतमसाऽधिकमस्य केशवेशचतुरास्यसमस्य ॥ ८२ ॥

केशव, ईश (शिव) तथा चतुर्मुख (ब्रह्मा) के समान, श्रीशङ्कर के सिर पर कोमल, नवीन मेघ-पंक्ति की तरह श्यामल, काला काला केश-पाश अधिक शोभायमान होता था ॥ ८२ ॥

शाक्यैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रप्यन्यैरखिलैः खलैः खलु खिलं दुर्वादिभिर्वैदिकम् ।
पन्थानं परिरक्षितुं क्षितितलं प्राप्तः परिक्रीडते
घोरे संसृतिकानने विचरतां भद्रंकरः शंकरः ॥ ८३ ॥

शाक्य (बौद्ध), पाशुपत, जैन, कापालिक, वैष्णव तथा अन्य दुष्ट तार्किकों से जब वैदिक मार्ग उच्छिन्न किया जा रहा था तब इस मार्ग

की रक्षा करने के लिये संसार-रूपी घोर कानन में विचरण करनेवाले पुरुषों के कल्याण के लिये भगवान् शङ्कर ने इस पृथ्वीतल पर अवतार धारण किया तथा अपनी लीलाओं का विस्तार किया ॥ ८३ ॥

टिप्पणी—पाशुपत—प्राचीन समय में इस मत का खूब बोलबाला था। इस मत के अनुसार भगवान् पशुपति (शिव) ही परम आराध्य देवता हैं। जीव पशु कहलाते हैं और उनके रक्षक होने से शङ्कर को पशुपति संज्ञा प्राप्त है। विशेष विवरण आगे देखिए।

कापालिक—यह बड़ा ही उग्र तान्त्रिक मत था। इस मत के अनुयायी भैरव के उपासक थे। उपासना भी उनकी बड़े प्रचण्ड रूप की थी। ये लोग मनुष्य के कपाल (खोपड़ी) में शराब लेकर पीते थे। इसी लिये इनका नाम कापालिक पड़ गया। अद्भुत लौकिक सिद्धि प्राप्त करने तथा उसे दिखलाकर जनता को चमत्कृत करने में ये लोग बड़े सिद्धहस्त थे। राजशेखर ने कर्पूर-मञ्जरी में कापालिक के चमत्कारों का अच्छा निदर्शन किया है।

इति श्रीमाधवीये तत्तद्देवावतरार्थकः।
संक्षेपशंकरजये तृतीयः सर्ग आभवत् ॥ ३ ॥

माधवीय शङ्करदिग्विजय में भिन्न भिन्न देवताओं के अवतार
का सूचक तृतीय सर्ग समाप्त हुआ।

चतुर्थ सर्ग

शङ्कराचार्य का बाल-चरित

अथ शिवो मनुजो निजमायया द्विजगृहे द्विजमोदमुपावहन् ।
प्रथमहायन एव समग्रहीत् सकलवर्णमसौ निजभाषिकाम् ॥१॥

इसके अनन्तर भगवान् शङ्कर ने अपनी माया से ब्राह्मण के घर में मनुष्य का रूप धारण कर अपने पिता शिवगुरु के हृदय में आनन्द उत्पन्न किया और पहिले वर्ष में ही सब अक्षरों को तथा अपनी मातृ-भाषा (मलयालम) को सीख लिया ॥ १ ॥

द्विसम एव शिशुर्लिखिताक्षरं गदितुमक्षमताक्षरवित् सुधीः ।
अथ स काव्यपुराणमुपाशृणोत् स्वयमवैत् किमपि श्रवणं विना ॥२॥

दूसरे वर्ष अक्षर के जाननेवाले कुशाग्रबुद्धि शिशु ने लिखे हुए अक्षरों को बाँचना सीख लिया। इसके बाद तीसरे वर्ष बालक ने काव्य और पुराण को सुना और विना विशेष मनन किये ही उन्हें स्वयं समझ लिया ॥ २ ॥

अजनि दुःखकरो न गुरोरसौ श्रवणतः सकृदेव परिग्रही ।
सहनिपाठजनस्य गुरुः स्वयं स च पपाठ ततो गुरुणा विना ॥३॥

बालक ने अपने गुरु को किसी प्रकार का कष्ट नहीं दिया, क्योंकि एक बार ही सुनकर वह पाठ को ग्रहण कर लेता था तथा अपने सहपाठियों

का स्वयं गुरु बन जाता था। गुरु के बिना वह अपना पाठ स्वयं पढ़ लेता था ॥ ३ ॥

रजसा तमसाऽप्यनाश्रितो रजसा खेलनकाल एव हि ।
स कलाधरसत्तमात्मजः सकलाश्चापि लिपीरविन्दत ॥ ४ ॥

वह बालक रजोगुण और तमोगुण से किसी प्रकार लिप्त न होकर खेलने के समय में ही धूलि (रज) से लिप्त हुआ करता था। कलाधरों में श्रेष्ठ पिता के पुत्र उस शिशु ने सब लिपियों को भी सीख लिया ॥ ४ ॥

सुधियोऽस्य विदिद्युतेऽधिकं विधिवच्चौलविधानसंस्कृतम् ।
ललितं करणं घृताहुतिज्वलितं तेज इवाऽऽशुशुक्षणेः ॥ ५ ॥

इस प्रतिभाशाली शिशु का विधिवत् चूड़ाकरण संस्कार के कारण संस्कृत तथा सुन्दर शरीर उसी प्रकार अधिक चमकने लगा जिस प्रकार अग्नि देव का घृत की आहुति देने से प्रकाशित होनेवाला तेज ॥ ५ ॥

उपपादननिर्व्यपेक्षधीः स पपाठाऽऽहृतिपूर्वकागमान् ।
अधिकाव्यमरंस्त कर्कशेऽप्यधिकांस्तर्कनयेऽत्ययवर्तत ॥ ६ ॥

अध्यापन में किसी प्रकार की अपेक्षा (आवश्यकता) न रखनेवाले उस बालक ने 'भूः भुवः स्वः' इन तीन व्याहृतियों का पहिले उच्चारण कर समस्त वेदों को पढ़ डाला। इसने काव्य में भी रमण किया तथा कर्कश तर्कशास्त्र में जो लोग निपुण थे उन्हें भी जीत लिया ॥ ६ ॥

हरतस्त्रिदशेड्यचातुरीं पुरतस्तस्य न वक्तुमीश्वराः ।
प्रभवोऽपि कथासु नैजवाग्विभवोत्सारितवादिनो बुधाः ॥ ७ ॥

देवताओं के द्वारा पूजनीय बृहस्पति की चातुरी को हरण करनेवाले इस बालक के सामने वे विद्वान् भी बोलने में समर्थ न हुए जो विवाद

करने में बड़े ही समर्थ थे तथा अपने वाग्वैभव से वादियों को परास्त करते थे ॥ ७ ॥

अमुकक्रमिकोक्तिधोरणीमुरगाधीशकथावधीरिणीम् ।
मुमुहुर्निशमय्य वादिनः प्रतिवाक्योपहृतौ प्रमादिनः ॥ ८ ॥

शेषनाग की भी वाणी का तिरस्कार करनेवाली इस बालक की वचन-परिपाटी को सुनकर उत्तर देने में प्रमाद करनेवाले अनेकों प्रतिपक्षी लोग मूढ़ बन गये ॥ ८ ॥

कुमतानि च तेन कानि नोन्मथितानि प्रथितेन धीमता ।
स्वमतान्यपि तेन खण्डितान्यतियत्नैरपि साधितानि कैः ॥ ९ ॥

इस विख्यात विद्वान् शङ्कर ने किन दुष्ट मतों का खण्डन नहीं कर दिया ? इनके द्वारा खण्डित किये गये अपने मतों को अत्यन्त प्रयत्न करने पर भी क्या कोई भी विद्वान् सिद्ध करने में समर्थ हुआ ? ॥ ९ ॥

अमुना तनयेन भूषितं यमुनातातसमानवर्चसा ।
तुलया रहितं निजं कुलं कलयामास स पुत्रिणां वरः ॥ १० ॥

यमुना के पिता (सूर्य) के समान तेजवाले इस पुत्र के द्वारा विभूषित अपने कुल को पुत्रवालों में सर्वश्रेष्ठ उस ब्राह्मण ने उपमा-रहित ही समझा ॥ १० ॥

शिवगुरुः स जरंस्त्रिसमे शिशावमृत कर्मवशः सुतमोदितः ।
उपनिनीषितसूनुरपि स्वयं नहि यमोऽस्य कृताकृतमीक्षते ॥ ११ ॥

लड़के के तीन वर्ष के होने पर, पुत्र के व्यवहार से अत्यन्त प्रसन्न होनेवाले वृद्ध शिवगुरु अपने कर्मों के वश पञ्चत्व को प्राप्त हुए (मर गये)। वह अपने लड़के का उपनयन करना भी चाहते थे, परन्तु यमराज प्राणियों के किये गये और शेष रहे कार्यों का कभी विचार नहीं करता ॥ ११ ॥

इह भवेत् सुलभं न सुतेक्षणं न सुतरां सुलभं विभवेक्षणम् ।
सुतमवाप कथंचिदयं द्विजो न खलु वीक्षितुमैष्ट सुतोदयम् ॥१२॥

इस संसार में न तो पुत्र की प्राप्ति सुलभ है और न पुत्र के विभव का देखना ही। इस विषय में शिवगुरु ही स्वयं उदाहरणरूप हैं, जिन्होंने किसी तरह से पुत्र को प्राप्त तो किया परन्तु उसके उदय को न देख सके ॥ १२ ॥

मृतमदीदहदात्मसनाभिभिः पितरमस्य शिशोर्जननी ततः ।
समनुनीतवती धवखण्डितां स्वजनता मृतिशोकहरैः पदैः ॥१३॥

तब इस शिशु की माता ने अपने सम्बन्धियों के द्वारा इसके मरे हुए पिता का दाह-संस्कार कराया। बन्धुवर्गों ने पति से विरहित उस विधवा को, मृत्यु से उत्पन्न होनेवाले शोक को दूर करनेवाले वचनों से, खूब समझाया ॥ १३ ॥

कृतवती मृतचोदितमक्षमा निजजनैरपि कारितवत्यसौ ।
उपनिनीषुरभूत् सुतमात्मनः परिसमाप्य च वत्सरदीक्षणम् ॥१४॥

मरे हुए पति का जो संस्कार उस विधवा स्त्री के लिये साध्य था उसको तो उसने स्वयं किया और जो असाध्य था उसे अपने सम्बन्धियों से करवाया। एक साल तक दीक्षा ग्रहण करने के बाद पुत्र का उपनयन संस्कार उसने कराना चाहा ॥ १४ ॥

उपनयं किल पञ्चमवत्सरे प्रवरयोगयुते सुमुहूर्तके ।
द्विजवधूर्नियता जननी शिशोर्व्यधित तुष्टमनाः सह बन्धुभिः॥१५॥

पाँचवें वर्ष, सुन्दर योग से युक्त अच्छे मुहूर्त में शिशु की व्रत-परायणा माता ने प्रसन्न होकर बन्धु-बान्धवों के साथ लड़के का उपनयन संस्कार कर दिया ॥ १५ ॥

शङ्कर का विद्याध्ययन

अधिजगे निगमांश्चतुरोऽपि स क्रमत एव गुरोः सषडङ्गकान् ।
अजनि विस्मितमत्र महामतौ द्विजसुतेऽल्पतनौ जनतामनः ॥१६॥

इस बालक ने अपने गुरु से क्रम से षडङ्ग के साथ चारों वेदों को सीख लिया। इस छोटे ब्राह्मण-बालक को इतना बुद्धिमान् देखकर सब मनुष्यों का हृदय विस्मित हो गया ॥ १६ ॥

सहनिपाठयुता बटवः समं पठितुमैशत न द्विजसूनुना ।
अपि गुरुर्विशयं प्रतिपेदिवान् क इव पाठयितुं सहसा क्षमः ॥१७॥

इस बालक के सहपाठी इसके साथ पाठ पढ़ने में समर्थ नहीं हुए क्योंकि यह अपने पाठ को अति शीघ्र याद कर लेता था। और तो क्या ? गुरु को भी स्वयं सन्देह उत्पन्न हुआ कि इस बालक को सहसा पढ़ाने में कौन समर्थ हो सकेगा ॥ १७ ॥

अत्र किं स यदशिक्षत सर्वांश्चित्रमागमगणाननुवृत्तः ।
द्वित्रमासपठनादभवद्यस्तत्र तत्र गुरुणा,समविद्यः ॥ १८ ॥

यह बालक दो-तीन महीने के अध्ययन से ही सब शास्त्रों में गुरु के समान विद्वान् बन गया। तब इसने गुरु का अनुसरण कर समस्त आगमों को सीख लिया ; इस विषय में आश्चर्य करने की कौन-सी बात है ? ॥ १८ ॥

वेदे ब्रह्मसमस्तदङ्गनिचये गार्ग्योपमस्तत्कथा-
तात्पर्यार्थविवेचने गुरुसमस्तत्कर्मसंवर्णने ।
आसीज्जैमिनिरेव तद्वचनजप्रोद्बोधकन्दे समो
व्यासेनैव स मूर्तिमानिव नवो वाणीविलासैर्वृतः ॥१९॥

यह बालक वेद में ब्रह्मा के समान, वेदाङ्गों के विषय में गार्ग्य के समान तथा इनके तात्पर्य के निर्णय करने में बृहस्पति के समान, वेद-

विहित कर्म के वर्णन करने में जैमिनि के समान, तथा वेद-वचन के द्वारा प्रकट किये गये ज्ञान के विषय में व्यास के ही समान था। और तो क्या, वाणी के विलास से युक्त यह बालक व्यास का नया अवतार प्रतीत होता था ॥ १९ ॥

आन्वीक्षिक्यैक्षि तन्त्रे परिचितिरतुला कापिले काऽपि लेभे
पीतं पातञ्जलाम्भः परमपि विदितं भाट्टघट्टार्थतत्त्वम् ।
यत्तैः सौख्यं तदस्यान्तरभवदमलाद्वैतविद्यासुखेऽस्मिन्
कूपे योऽर्थः स तीर्थे सुपयसि वितते हन्त नान्तर्भवेत् किम् ॥२०॥

इसने तर्कविद्या पढ़ डाली, कापिल तन्त्र—सांख्यशास्त्र—में विशेष परिचय प्राप्त कर लिया। पतञ्जलि-निर्मित योगशास्त्र-रूपी जल को पी डाला, कुमारिल भट्ट के द्वारा रचित वार्तिक के सन्दर्भों के अर्थ का गहन तत्त्व भी जान लिया। इन तार्किकों को अपने भिन्न भिन्न शास्त्रों में जो जो आनन्द आता था वही आनन्द इस बालक के हृदय में विमल अद्वैतविद्या के ज्ञान से प्राप्त हुआ। जो प्रयोजन कूप में विद्यमान है, वही सुन्दर जलवाले गङ्गादि तीर्थों में क्या नहीं प्राप्त हो सकता? भिन्न भिन्न दर्शनों के पढ़ने का पूरा आनन्द एक साथ वेदान्त के पढ़ने में आता है ॥ २० ॥

टिप्पणी—इस पद्य के अन्तिम चरण का भाव गीता के इस सुप्रसिद्ध श्लोक के अर्थ से समता रखता है :—

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ गीता—२।४६

स हि जातु गुरोः कुले वसन् सवयोभिः सह भैक्ष्यलिप्सया ।
भगवान् भवनं द्विजन्मनो धनहीनस्य विवेश कस्यचित् ॥ २१ ॥

गुरु के कुल में समान आयुवाले विद्यार्थियों के साथ, बात करते हुए शङ्कर भिक्षा पाने के लिये कभी किसी धन-हीन ब्राह्मण के घर गये ॥ २१ ॥

तमवोचत तत्र सादरं वटुवर्यं गृहिणः कुटुम्बिनी ।
कृतिनो हि भवादृशेषु ये वरिवस्यां प्रतिपादयन्ति ते ॥ २२ ॥

ब्राह्मण की स्त्री ने आदर के साथ उस विद्यार्थी से कहा—वे आदमी सचमुच पुण्यशील हैं जो आप ऐसे महापुरुषों की सेवा करने का अवसर पाते हैं ॥ २२ ॥

विधिना खलु वञ्चिता वयं वितरीतुं बटवे न शक्नुमः ।
अपि भैक्ष्यमकिंचनत्वतो धिगिदं जन्म निरर्थकं गतम् ॥ २३ ॥

भाग्य ने निर्धन बनाकर मुझे ठग लिया है। नितान्त निर्धन होने के कारण हम लोग एक विद्यार्थी को भिक्षा भी देने में समर्थ नहीं हैं। हमारा यह जन्म व्यर्थ चला गया ॥ २३ ॥

इति दीनमुदीरयन्त्यसौ प्रददावामलकं व्रतीन्दवे ।
करुणं वचनं निशम्य सोऽप्यभवज्ज्ञाननिधिर्दयार्द्रधीः ॥ २४ ॥

इस प्रकार दीन-वचन कहती हुई उस ब्राह्मणी ने व्रती पुरुषों में चन्द्रमा के समान, शङ्कर के हाथ में एक आँवला दिया। इस करुण वचन को सुनकर ज्ञाननिधि शङ्कर का चित्त दया से आर्द्र हो गया ॥२४॥

स मुनिर्मुरभित्कुटुम्बिनीं पदचित्रैर्नवनीतकोमलैः ।
मधुरैरुपतस्थिवांस्तवैर्द्विजदारिद्र्यदशानिवृत्तये ॥ २५ ॥

उन्होंने ब्राह्मण की दरिद्रता को दूर करने के लिये मधुर, नवनीत के समान कोमल, विचित्र पदवाली स्तुतियों से नारायण की गृहिणी लक्ष्मी देवी की स्तुति की ॥ २५ ॥

अथ कैटभजित्कुटुम्बिनी तडिदुद्दामनिजाङ्गकान्तिभिः ।
सकलाश्च दिशः प्रकाशयन्त्यचिरादाविरभूत्तदग्रतः ॥ २६ ॥

इसके बाद कैटभ को जीतनेवाले भगवान् की गृहिणी लक्ष्मीजी उनके सामने तुरन्त प्रकट हुईं। उनका शरीर बिजली के समान चमक रहा था। उसकी प्रभा से समस्त दिशायें विद्योतित हो रही थीं ॥ २६ ॥

अभिवन्द्य सुरेन्द्रवन्दितं पदयुग्मं पुरतः कृताञ्जलिम् ।
ललितस्तुतिभिः प्रहर्षिता तमुवाच स्मितपूर्वकं वचः ॥ २७ ॥

शङ्कर ने अञ्जलि बाँधकर भगवती लक्ष्मी के इन्द्र-वन्दित चरण-कमलों की स्तुति की। मधुर स्तोत्रों को सुनकर लक्ष्मी प्रसन्नता से गद्‌गद हो उठीं और मुसकाती हुई कहने लगीं --॥ २७ ॥

विदितं तव वत्स हृद्गतं कृतमेभिर्न पुराभवे शुभम् ।
अधुना मदपाङ्गपात्रतां कथमेते महितामवाप्नुयुः ॥ २८ ॥

हे वत्स ! तुम्हारे हृदय की बात मुझे विदित है। परन्तु इन लोगों ने पूर्व जन्म में कोई शुभ काम नहीं किया है तो इस समय ये लोग मेरे कृपा-कटाक्ष के पात्र बनकर महनीयता कैसे प्राप्त कर सकते हैं ? ॥ २८ ॥

इति तद्वचनं स शुश्रुवाञ्जिजगादाम्ब मयीदमर्पितम् ।
फलमद्य ददस्व तत्फलं दयनीयो यदि तेऽहमिन्दिरे ॥ २९ ॥

लक्ष्मी के वचन सुनकर शङ्कर ने कहा—हे माता, हे इन्दिरे ! यदि मेरे ऊपर आपको दया करनी है, तो मुझे आज दिये गये आँवले के फल के दान का फल इन्हें दीजिए ॥ २९ ॥

अमुना वचनेन तोषिता कमला तद्भवनं समन्ततः ।
कनकामलकैरपूरयज्जनताया हृदयं च विस्मयैः ॥ ३० ॥

इस वचन से प्रसन्न की गई लक्ष्मी ने चारों ओर से उस घर को सोने के आँवले के फलों से भर दिया तथा जनता के हृदय को विस्मय से भर दिया ॥ ३० ॥

अथ चक्रभृतो वधूमये सुकृतेऽन्तर्धिमुपागते सति ।
प्रशशंसुरतीव शंकरं महिमानं तमवेक्ष्य विस्मिताः ॥ ३१ ॥

इसके बाद चक्र धारण करनेवाले विष्णु की पुण्यरूपिणी वधू अन्तर्ध्यान हो गईं। लोग आश्चर्य से विस्मित होकर विद्यार्थी शङ्कर की महिमा देख कर उनकी प्रचुर प्रशंसा करने लगे ॥ ३१ ॥

दिवि कल्पतरुर्यथा तथा भुवि कल्याणगुणो हि शंकरः ।
सुरभूसुरयोरपि प्रियः समभूदिष्टविशिष्टवस्तुदः ॥ ३२ ॥

जिस प्रकार स्वर्ग में कल्पवृक्ष अखिल कामनाओं का दाता है उसी प्रकार पृथ्वी पर कल्याण गुणवाले, देवताओं तथा ब्राह्मणों के भी प्यारे शङ्कर अभिलषित विशिष्ट वस्तुओं के देनेवाले थे ॥ ३२ ॥

अमरस्पृहणीयसंपदं द्विजवर्यस्य निवेशमात्मवान् ।
स विधाय यथापुरं गुरोः सविधे शास्त्रवराण्यशिक्षत ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जितेन्द्रिय शङ्कर ब्राह्मण के घर को देवता के द्वारा भी स्पृहणीय सम्पत्ति से भरकर पहले के अनुसार गुरु के पास लौट आये और उन्होंने सब शास्त्रों का अध्ययन किया ॥ ३३ ॥

वरमेनमवाप्य भेजिरे परभागं सकलाः कला अपि ।
समवाप्य निजोचितं पतिं कमनीया इव वामलोचनाः ॥ ३४ ॥

जिस प्रकार सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरियाँ अपने अनुरूप पति को पाकर भाग्यशाली बनती हैं, उसी तरह सब कलाएँ भी शङ्कर को वर पाकर कृतकृत्य बन गईं ॥ ३४ ॥

सरहस्यसमग्रशिक्षिताखिलविद्यस्य यशस्विनो वपुः ।
उपमानकथाप्रसङ्गमप्यसहिष्णु श्रियमन्वपद्यत ॥ ३५ ॥

शङ्कर ने सब विद्याओं को रहस्य के साथ सीखकर विपुल यश प्राप्त किया। ब्रह्मतेज से उनका शरीर इतना अधिक चमकने लगा कि उसके

साथ किसी उपमान के खोज निकालने का प्रसङ्ग ही नहीं आया। जगत् में उससे बढ़कर यदि कोई वस्तु होती, तो उसे उपमान मानते परन्तु ऐसी चीज़ थी कहाँ ? ॥ ३५ ॥

शङ्कर का अङ्ग-वर्णन

जयति स्म सरोरुहप्रभामदकुण्ठीकरणक्रियाचणम् ।
द्विजराजकरोपलालितं पदयुग्मं परगर्वहारिणः ॥ ३६ ॥

शत्रुओं के गर्व को हरण करनेवाले शङ्कर के, कमल के सौन्दर्य के अभिमान को चूर करने से प्रसिद्ध, ब्राह्मणों के हाथों से पूजित, दोनों चरणों की जय हो ॥ ३६ ॥

जलमिन्दुमणिः स्रवेद्यदि यदि पद्मं दृषदस्ततः सरः ।
यदि तत्र भवेत् कुशेशयं तदमुष्याङ्घ्रितुलामवाप्नुयात् ॥३७॥

यदि जल चन्द्रमणि को चुवावे, पत्थर से यदि कमल उत्पन्न हो और उससे यदि तालाव पैदा हो तथा उस तालाव में यदि कमल खिले तो वह शङ्कर के चरण की तुलना को प्राप्त कर सकता है। भाव है कि शङ्कर के चरणों के समान कोमल वस्तु की कल्पना करना ही असम्भव है ॥ ३७ ॥

पादौ पद्मसमौ वदन्ति कतिचिच्छ्रीशंकरस्यानघौ
वक्त्रं च द्विजराजमण्डलनिभं नैतद्द्वयं सांप्रतम् ।
प्रेष्यः पद्मपदः किल त्रिजगति ख्यातः पदं दत्तवान्
अम्भोजे द्विजराजमण्डलशतैः प्रेष्यैरुपास्यं मुखम् ॥ ३८ ॥

कुछ लोग शङ्कर के पाप-रहित चरणों को कमल के समान तथा मुख को चन्द्रमण्डल के समान बतलाते हैं, परन्तु ये दोनों बातें ठीक नहीं मालूम पड़तीं। क्योंकि पद्मपाद के नाम से संसार में प्रसिद्ध शङ्कर के

शिष्य ने कमल के ऊपर अपना चरण दे दिया था अर्थात् उसे तिरस्कृत कर दिया था और उनका मुख हज़ारों द्विजराजों (ब्राह्मणों) के द्वारा उपासना करने योग्य था ॥ ३८ ॥

टिप्पणी—शङ्कर के एक प्रसिद्ध शिष्य का नाम पद्मपाद था। पद्मपाद का शाब्दिक अर्थ है कमल के ऊपर चरण देनेवाला पुरुष। कवि के कथन का यह आशय है कि जब शिष्य ने ही कमल का इस प्रकार तिरस्कार कर दिया तब गुरु के चरण की समता उस कमल से क्योंकर दी जा सकती है? मुख भी द्विजराज-मण्डल (चन्द्रमण्डल) के समान कैसे हो सकता है जब सहस्रों द्विजराज—श्रेष्ठ ब्राह्मणों के समुदाय—उसकी सेवा करते हैं!

मुहुः सन्तो नैजं हृदयकमलं निर्मलतरं
विधातुं योगीन्द्राः पदकमलमस्मिन्निदधति।
दुरापां शक्राद्यैर्वमति वदनं यन्नवसुधां
ततो मन्ये पद्मात् पदमधिकमिन्दोश्च वदनम् ॥ ३९ ॥

सन्त, योगीन्द्र लोग अपने हृदय-कमल को निर्मलतर बनाने के लिये अपने हृदय में शङ्कर के पद-कमल को धारण करते हैं। उनका मुख इन्द्रादि देवताओं से भी दुष्प्राप्य नवीन सुधा को उँडेलता है। इसलिये मैं कहता हूँ कि उनका चरण कमल से श्रेष्ठ था तथा मुख चन्द्रमा से ॥ ३९ ॥

तत्त्वज्ञानफलेग्रहिर्घनतरव्यामोहमुष्टिंधयो
निःशेषव्यसनोदरंभरिरघप्राग्भारकूलंकषः।
लुण्टाको मदमत्सरादिविततेस्तापत्रयारुंतुदः
पादः स्यादमितंपचः करुणया भद्रंकरः शांकरः ॥४०॥

आचार्य शङ्कर के चरण तत्त्वज्ञान-रूपी फल को ग्रहण करनेवाले हैं, अत्यन्त सघन अज्ञान को मुट्ठी भर कर पी जानेवाले हैं—नाश करनेवाले हैं; भक्तों के समस्त दुःखों से अपने उदर को भर लेनेवाले हैं (उनके विनाशक है), पाप के समुदाय को समूल नष्ट करनेवाले हैं।

मद, मत्सर आदि के समूह को लूटनेवाले हैं। तीनों तापों—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक—के मर्म को छेदन करनेवाले हैं तथा करुणा से अत्यन्त उदार होकर जगत् के कल्याण करनेवाले हैं। उनका यथोचित वर्णन करना एक प्रकार से असम्भव है ॥ ४० ॥

पदाघातस्फोटव्रणकिणितकालान्तिकभुजं
प्रघाणव्याघातप्रणतविमतद्रोहविरुद्म् ।
परं ब्रह्मैवासौ भवति तत एवास्य सुपदं
गतापस्मारार्तीञ्जगति महतोऽद्यापि तनुते ॥ ४१ ॥

प्राचीन काल में मार्कण्डेय नामक बड़े भारी शिवभक्त थे। अंत-समय में उन्होंने भगवान् शिव को यम के दूतों से बचाने के लिये पुकारा। उस समय भगवान् शङ्कर ने यमराज की भुजाओं पर अपना चरण प्रहार किया था जिसके घाव का चिह्न उन भुजाओं के ऊपर उत्पन्न हो गया था। भगवान् शङ्कर इतने कृपालु हैं कि उनके मन्दिर के द्वार पर जो प्रणाम करते हैं उनको भी वे क्षमा कर देते हैं, वही शङ्कर आचार्य शङ्कर के रूप में अवतीर्ण हुए हैं। यही कारण है कि उनके सुन्दर चरण आज भी महापुरुषों की अज्ञान-रूपी व्याधि को दूर कर उन्हें नीरोग बना रहे हैं। 'ज्ञानमिच्छेत् महेश्वरात्' के अनुसार महेश्वर के चिन्तन से अज्ञान दूर हो जाता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥ ४१ ॥

प्राप्तस्याभ्युदयं नवं कलयतः सारस्वतोज्जृम्भणं
स्वालोकेन विधूतविश्वतिमिरस्याऽऽसन्नतारस्य च ।
तापं नस्त्वरितं क्षिपन्ति घनतापन्नं प्रसन्ना मुने-
राह्लादं च कलाधरस्य मधुराः कुर्वन्ति पादक्रमाः ॥ ४२ ॥

पूर्णिमा का चन्द्रमा समुद्र में उल्लास पैदा करता है; अपने प्रकाश से संसार के अन्धकार को दूर कर देता है; ताराओं के पास चमकता है; तथा अपनी स्वच्छ किरणों से घने ताप को भी दूर कर लोगों के हृदय

में आनन्द बरसाता है। आचार्य शङ्कर की भी वैसी ही अवस्था है। नया अभ्युदय पाकर उन्होंने सरस्वती के हृदय में उल्लास पैदा कर दिया है। अपने ज्ञान से उन्होंने समस्त प्राणियों के अज्ञान को दूर भगा दिया है। मन्त्रों में सबसे श्रेष्ठ होने के कारण प्रणव मन्त्र सदा उनके पास रहता है। उनके चरण-विन्यास मनुष्यों के घने ताप को दूर कर हृदय में आह्लाद उत्पन्न करते हैं ॥ ४२ ॥

नतिर्दत्ते मुक्तिं नतमुत पदं वेति भगवत्-
पदस्य प्रागल्भ्याज्जगति विवदन्ते श्रुतिविदः ।
वयं तु ब्रूमस्तद्व्रजनरतपादाम्बुजरजः-
परीरम्भारम्भः सपदि हृदि निर्वाणशरणम् ॥ ४३ ॥

नमस्कार मुक्ति प्रदान करता है या नमस्कार किया गया शङ्कर का पद? इस विषय में श्रुति के जाननेवाले विद्वान् अपनी प्रगल्भता के बल पर विवाद करते हैं परन्तु मैं तो यह कहता हूँ कि शङ्कर के चरण की सेवा में निरत रहनेवाले पुरुष के पैर की धूलि का आलिङ्गन मात्र ही तुरन्त निर्वाण को देनेवाला होता है। आचार्य शङ्कर की तो बात ही न्यारी है ॥४३॥

धवलांशुकपल्लवावृतं विललासोरुयुगं विपश्चितः ।
अमृतार्णवफेनमञ्जरीछुरितैरावतहस्तशस्तिभृत् ॥ ४४ ॥

उस विद्वान् के सफ़ेद कपड़े से ढके हुए, क्षीरसमुद्र की फेन-मञ्जरी से व्याप्त होनेवाले, ऐरावत की सूँड़ की शोभा को धारण करनेवाले दोनों जङ्घे शोभित होते थे ॥ ४४ ॥

यदि हाटकवल्लरीत्रयीघटिता स्फाटिककूटभृत्तटी ।
स्फुटमस्य तया कटीतटी तुलिता स्यात् कलितत्रिमेखला ॥ ४५ ॥

यदि सोने की तीन लड़ियों से जड़ी गई स्फटिक पहाड़ की तटी हों तब तीन मेखला को धारण करनेवाली शङ्कर की कटि की उपमा उसके साथ दी जा सकती है ॥ ४५ ॥

आदाय पुस्तकवपुः श्रुतिसारमेक-
हस्तेन वादिकृततद्गतकण्टकानाम् ।
उद्धारमारचयतीव विबोधमुद्रा-
मुद्बिभ्रता निजकरेण परेण योगी ॥ ४६ ॥

योगी आचार्य शङ्कर पुस्तक का रूप धारण करनेवाले, श्रुति के सार को बायें हाथ में धारण करते थे और ज्ञानमुद्रा को धारण करनेवाले दहिने हाथ से भेदवादियों के द्वारा किये गये दोषों का उद्धार करते हुए सुशोभित हो रहे थे ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—तर्जनी और अङ्गुष्ठ को मिलाने से हाथ की जो अवस्था होती है उसे ज्ञानमुद्रा कहते हैं ।

सुधीराजः कल्पद्रुमकिसलयाभौ करवरौ
करोत्येतौ चेतस्यमलकमलं यत्सहचरम् ।
रुचेश्चोरावेतावहनि किमु रात्राविति भिया
निशादेराप्रातर्निजदलकवाटं घटयति ॥ ४७ ॥

पण्डितों में श्रेष्ठ शङ्कराचार्य के दोनों हाथ कल्पद्रुम के नये पल्लव की शोभा धारण करनेवाले हैं । इस बात को जब अमल कमल अपने चित्त में विचार करता है कि ये दोनों शोभा को चुरानेवाले हैं तब दिन में किंवा रात्रि में डर के मारे रात के आरम्भ से लेकर प्रातःकाल तक अपने दलों को सम्पुटित कर घर में किवाड़ दिये रहता है । भावार्थ यह है कि भगवान् शङ्कर के दोनों हाथ कमल से भी अधिक सुकुमार तथा कल्पवृक्ष के पल्लवों के समान सुन्दर हैं ॥ ४७ ॥

रुचिरा तदुरःस्थली बभाववरस्फालविशालमांसला ।
धरणीभ्रमणोदितश्रमात् पृथुशय्येव जयश्रियाऽऽश्रिता ॥ ४८ ॥

शङ्कर की उरःस्थली (छाती) कपाट फलक के समान विशाल, पुष्ट, तथा सुन्दर सुशोभित होती थी। मालूम पड़ता था कि पृथ्वी पर घूमते रहने से थक जाने के कारण जयलक्ष्मी के लेटने के लिये बड़ी सेज बिछी हुई हो ॥ ४८ ॥

परिघप्रथिमापहारिणौ शुशुभाते शुभलक्षणौ भुजौ ।
बहिरन्तरशत्रुनिग्रहे विजयस्तम्भयुगीधुरंधरौ ॥ ४९ ॥

बाहरी तथा भीतरी शत्रुओं के पराजय करने में परिघ (मोटे डण्डे) की विशालता को हरण करनेवाले शुभलक्षण से युक्त दोनों भुज दो विजय-स्तम्भों के समान सुशोभित हुए ॥ ४९ ॥

उपवीतममुष्य दिद्युते बिसतन्तुक्रियमाणसौहृदम् ।
शरदिन्दुमयूखपाण्डिमातिशयोल्लङ्घनजाङ्घिकप्रभम् ॥ ५० ॥

मृणाल-तन्तुओं से मित्रता करनेवाला, शरत्-चन्द्रमा की किरणों की श्वेतता को पराजित करने में अत्यन्त वेगवती प्रभावाला शङ्कर का यज्ञोपवीत चमक रहा था अर्थात् उनका जनेऊ शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों से भी अधिक उजला था ॥ ५० ॥

समराजत कण्ठकम्बुराड् भगवत्पादमुनेर्यदुद्भवः ।
निनदः प्रतिपक्षनिग्रहे जयशङ्खध्वनितामविन्दत ॥ ५१ ॥

ऐश्वर्य-सम्पन्न पैरवाले शङ्कर का कण्ठ शङ्ख के समान सुशोभित हो रहा था जिससे उत्पन्न होनेवाला घोष प्रतिपक्षियों के विजय करने के लिये जयशङ्ख की ध्वनि के समान प्रतीत हो रहा था ॥ ५१ ॥

अरुणाधरसंगताऽधिकं शुशुभे तस्य हि दन्तचन्द्रिका ।
नवविद्रुमवल्लरीगता तुहिनांशोरिव शारदो छविः ॥ ५२ ॥

अरुण अधर से युक्त दाँतों की पंक्ति मूँगे की लता पर चमकनेवाला चन्द्रमा की शरत्कालीन प्रभा की तरह अधिक सुशोभित होती थी ॥५२॥

सुकपोलतले यशस्विनः शुशुभाते सितभानुवर्चसः ।
वदनाश्रितभारतीकृते विधिसंकल्पितदर्पणाविव ॥ ५३ ॥

चन्द्रमा के समान शोभावाले यशस्वी शङ्कर के दोनों कपोल इस प्रकार सुशोभित होते थे मानों मुख में रहनेवाली सरस्वती के लिये ब्रह्मा के द्वारा बनाये गये दो दर्पण हों ॥ ५३ ॥

समासीत्तस्याऽऽस्यं सुकृतजलधेः सर्वजगतां
पयःपारावारादजनि रजनीशो बहुमतात् ।
सुधाधारोद्गारः सुसदृगनयोः किंतु शशभृत्
सतां तेजःपुञ्जं हरति वदनं तस्य दिशति ॥ ५४ ॥

बालक शङ्कर का मुख बहुतों के द्वारा प्रशंसित, सब संसार के पुण्यरूपी समुद्र से उसी प्रकार उत्पन्न हुआ जिस प्रकार क्षीरसागर से चन्द्रमा। सुधाधारा के उत्पन्न करने में दोनों समान ही थे, परन्तु विशेषता यही थी कि जहाँ चन्द्रमा विद्यमान नक्षत्रों के (सतां) तेजपुञ्ज को हरता है वहाँ शङ्कर का वदन सज्जनों (सतां) को तेजपुञ्ज देता है ॥ ५४ ॥

पुरा क्षीराम्भोधेरहह तनया यद्विषयता-
जुषो दीनस्याग्रे घनकनकधाराः समकिरत् ।
इदं नेत्रं पात्रं कमलनिलयाप्रीतिवितते-
र्मुनीशस्य स्तोतुं कृतसुकृत एव प्रभवति ॥ ५५ ॥

प्राचीन काल में (बाल्यकाल में) जब निर्धन ब्राह्मणी इन नेत्रों के सामने आई, तब क्षीरसागर की कन्या लक्ष्मी ने उसके आगे सुवर्ण की घनी वृष्टि कर दी थी। शङ्कर के ये नेत्र लक्ष्मी के स्नेह के निकेतन हैं। इनकी स्तुति पुण्यशील पुरुष ही कर सकता है ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में जिस घटना का उल्लेख किया गया है वह शङ्कर के छात्र-जीवन में सम्पन्न हुई थी। इसका उल्लेख इसी सर्ग में है। देखिए श्लोक २१—३०।

दुर्वारप्रतिपक्षदूषणसमुन्मेषक्षितौ कल्पने
सेतोरप्यनघस्य तापसकुलैणाङ्कस्य लङ्कारयः।
आपन्नानतिकायविभ्रममुषः संसारिशाखामृगान्
पुष्णन्त्यच्छपयोब्धिवीचिवदलंकाराः कटाक्षाङ्कुराः ॥५६॥

भगवान् रामचन्द्र ने अपने पराक्रमी शत्रु दूषण का सर्वथा संहार कर समुद्र के ऊपर जो पुल बाँधा था उस पुल से लङ्का में जानेवाले अतिकाय आदि राक्षसों के हृदय में भय उत्पन्न करनेवाले वानरों की रक्षा अपने कटाक्षों से की थी। उसी प्रकार तापस-शिरोमणि आचार्य शङ्कर ने प्रबल शत्रुओं के दूषण दिखलाने के लिये सेतु के समान प्रस्थान-त्रयी के ऊपर भाष्यों की रचना की है। इनके कटाक्ष स्वच्छ समुद्र की लहरी की भाँति चमकते हैं, स्थूल शरीर में आत्म-बुद्धि की भ्रान्ति को दूर कर देते हैं तथा वे शरण में आनेवाले संसारी पुरुषों की सदा रक्षा करते हैं॥ ५६॥

निःशङ्कक्षतिरूक्षकण्टककुलं मीनाङ्कदावानल-
ज्वालासंकुलमार्तिपङ्किलतरं व्यध्वं धृतिध्वंसिनम्।
संसाराकृतिमामयच्छलचलद्दुर्वारदुर्वारणं
मुष्णन्ति श्रममाश्रिता नवसुधावृष्टायिता दृष्टयः ॥५७॥

संसार का स्वरूप कितना भयावह है। इसमें आकस्मिक रोगरूपी कण्टक उगते हैं। काम-रूपी दावाग्नि की लपटों ने इसे चारों ओर से घेर रक्खा है। पीड़ारूपी पङ्क से यह दुस्तर है। अधर्म-रूपी विकट मार्ग इसमें विद्यमान है। धैर्य को यह दूर कर देता है। रोग-रूपी भयङ्कर हाथी इसमें सदा घूमा करते हैं। ऐसे संसार-रूपी परिश्रम को

आचार्य की सुधावृष्टि के तुल्य दृष्टियाँ आश्रय लेने पर अवश्यमेव शान्त कर देती हैं। तत्त्व-ज्ञान के उदय बिना यह संसार क्लेशकारक है, परन्तु आचार्य की दया-दृष्टि से जब ज्ञान का उदय हो जाता है, तब भला संसार किसी को सन्तप्त कर सकता है ? ॥ ५७ ॥

त्रिपुण्ड्रं तस्याऽऽहुः सितभसितशोभि त्रिपथगां
कृपापारावारं कतिचन मुनिं तं श्रितवतीम्।
वयं त्वेतद् ब्रूमो जगति किल तिस्रः सुरुचिरा-
स्त्रयीमौलिव्याकृत्युपकृतिभवाः कीर्तय इति ॥ ५८ ॥

भगवान् शङ्कर के सफ़ेद भस्म से शोभित होनेवाले त्रिपुण्ड्र को कुछ कवि लोग कृपा के समुद्ररूपी उस मुनि का आश्रय लेनेवाली त्रिपथगा (गङ्गा) कहते हैं। परन्तु हम लोग तो यह कहते हैं कि ये तीन रेखायें वेदों के श्रेष्ठ भाग उपनिषद् के व्याख्या-रूप उपकार से उत्पन्न होनेवाली तीन अत्यन्त सुन्दर कीर्तियाँ हैं। (सफ़ेद होने से त्रिपुण्ड्र के ऊपर कीर्ति की कल्पना करना बिल्कुल ठीक है) ॥ ५८ ॥

असौ शम्भोर्लीलावपुरिति भृशं सुन्दर इति
द्वयं संप्रत्येतज्जनमनसि सिद्धं च सुगमम्।
यदन्तः पश्यन्तः करणमदसीयं निरुपमं
तृणीकुर्वन्त्येते सुषममपि कामं सुमतयः ॥ ५९ ॥

शङ्कराचार्य का शरीर भगवान् शङ्कर का लीला-वपु (देह) है तथा अत्यन्त सुन्दर है। ये मनुष्यों के मन की दोनों कल्पनायें नितान्त सुगम तथा उपयुक्त हैं क्योंकि जो विद्वान् लोग इस अनुपम शरीर को अपने अन्तःकरण में ध्यान से निरखते हैं वे अत्यन्त सुन्दर भी कामदेव को तृण के समान समझते हैं। वे काम का सदा तिरस्कार करते हैं ॥ ५९ ॥

अज्ञानान्तर्गहनपतितानात्मविद्योपदेशै-
स्त्रातुं लोकान् भवदवशिखातापपापच्यमानान् ।
मुक्त्वा मौनं वटविटपिनो मूलतो निष्पतन्ती
शंभोर्मूर्तिश्चरति भुवने शंकराचार्यरूपा ॥ ६० ॥

अज्ञान के गहरे अन्धकार में गिरे हुए तथा संसाररूपी अग्नि की ज्वाला से सन्तप्त होनेवाले लोगों को आत्मविद्या के उपदेशों से रक्षा करने की इच्छा से मौन को छोड़कर वट वृक्ष के मूल से निकलनेवाली यह भगवान् शङ्कर की मूर्ति है जो आचार्य शङ्कर के रूप से भुवन में भ्रमण कर रही है ॥ ६० ॥

उच्चण्डाहितवावदूककुहनापाण्डित्यवैतण्डिकं
जाते देशिकशेखरे पदजुषां संतापचिन्तापहे ।
कातर्यं हृदि भूयसाऽकृत पदं वैभाषिकादेः कथा-
चातुर्यं कलुषात्मनो लयमगाद्वैशेषिकादेरपि ॥ ६१ ॥

क्रोधी तथा अहित करनेवाले वावदूक प्रतिपक्षियों के कपट-पाण्डित्य को छिन्न-भिन्न करते हुए जब आचार्यों में श्रेष्ठ शङ्कर अपने अनुयायियों के सन्ताप तथा चिन्ता को दूर करने लगे, तब वैभाषिकों का हृदय कातर बन गया तथा कलुषित चित्तवाले वैशेषिकों की कथा-चातुरी नष्ट हो गई ॥ ६१ ॥

अमुना क्रतवः प्रसाधिताः क्रतुविभ्रंशकरः स शंकरः ।
इयमेव भिदाऽनयोर्जितस्मरयोः सर्वविदोर्बुधेड्ययोः ॥ ६२ ॥

कामदेव को जीतनेवाले, सर्वज्ञ तथा विद्वानों के द्वारा पूजनीय भगवान् शङ्कर तथा आचार्य शङ्कर में इतना ही भेद था कि इन्होंने तो यज्ञों का अनुष्ठान किया परन्तु वे शङ्कर दक्ष के यज्ञ का विध्वंस कर यज्ञ के विनाशक बन गये ॥ ६२ ॥

कलयाऽपि तुलानुकारिणं कलयामो न वयं जगत्त्रये ।
विदुषां स्वसमो यदि स्वयं भविता नेति वदन्ति तत्र के ॥६३॥

हम लोग तीनों जगत् में शङ्कराचार्य के समान एक कला में भी समानता धारण करनेवाले किसी व्यक्ति को नहीं पा रहे हैं। यदि विद्वानों में वह अपने समान स्वयं है—ऐसा कहा जाय तो कौन आदमी है जो इसका निषेध करेगा? आचार्य के समान कला-विशारद वे स्वयं हैं, दूसरा नहीं ॥ ६३ ॥

द्युवनान्त इवामरद्रुमा अमरद्रुष्विव पुष्पसंचयाः ।
भ्रमरा इव पुष्पसंचयेष्वतिसंख्याः किल शंकरे गुणाः ॥ ६४ ॥

देवताओं के उपवन—नन्दन वन—में कल्पवृक्षों के समान, कल्पवृक्षों में फूलों के समुदाय के समान तथा फूलों के समुदाय में भौंरे के समान, शङ्कर में सर्वगुण संख्यातीत थे ॥ ६४ ॥

आचार्य का गुण-वर्णन

कामं वस्तु विचारतोऽच्छिनदयं पारुष्यहिंसाक्रुधः
क्षान्त्या दैन्यपरिग्रहानृतकथालोभांस्तु संतोषतः ।
मात्सर्यं त्वनसूयया मदमहामानौ चिरंभावित-
स्वान्योत्कर्षगुणेन तृप्तिगुणतस्तृष्णां पिशाचीमपि ॥ ६५ ॥

आचार्य ने विषयाभिलाष को विचार से दूर किया; परुषता, हिंसा तथा क्रोध को क्षान्ति से नष्ट किया; दीनता, परिग्रह, अनृत-भाषण तथा लोभ को सन्तोष से; मात्सर्य को अद्वेष से, मद तथा अहङ्कार को दीर्घ काल तक चिन्तित अपने अन्य उत्कृष्ट गुणों से तथा तृष्णा पिशाची को भी तृप्तिरूपी गुण से उन्होंने नष्ट कर दिया ॥ ६५ ॥

कामं यस्य समूलघातमवधीत् स्वर्गापवर्गापहं
रोषं यः खलु चूर्णपेषमपिषन्निःशेषदोषावहम् ।

लोभादीनपि यः परांस्तृणसमुच्छेदं समुच्चिच्छिदे

स्वस्यान्तेवसतां सतां स भगवत्पादः कथं वर्ण्यते ॥६६॥

जिन भगवान् शङ्कराचार्य ने अपने विद्यार्थियों के स्वर्ग तथा मोक्ष को नष्ट करनेवाले काम को समूल उखाड़ दिया; सम्पूर्ण दोषों को उत्पन्न करनेवाले क्रोध को आटे की तरह चूर चूर कर दिया; जिन्होंने लोभ आदिक शत्रुओं को तिनकों की तरह काट डाला, उन शङ्कर का वर्णन किन शब्दों में किया जा सकता है ॥ ६६ ॥

केऽमी कान्त दिवा निशाकरकरा घर्मस्य मर्मच्छिदो

मुग्धे शंभुनवावतारसुगुरोरेते गुणानां गणाः ।

कस्मादुत्पलसंततिर्विकसिता विस्मेरदिग्योषिता-

मेषाऽपाङ्गझरीति दिग्गजवधूप्रश्नोत्तरे रेजतुः ॥ ६७ ॥

(दिग्गज और उसकी वधू के प्रश्न तथा उत्तर शङ्कराचार्य के विषय में क्या ही अच्छे ढङ्ग से हो रहे हैं) वधू पूछती है—हे प्रिय ! क्या दिन में चन्द्रमा की किरणें हैं जो घाम के मर्मस्थल को वेध रही हैं अर्थात् दूर कर रही हैं ? पति ने उत्तर दिया—हे मुग्धे ! ये चन्द्र-किरणें नहीं हैं बल्कि महादेव के नये अवतार-रूप आचार्य शङ्कर के गुणों के समुदाय विकसित हो रहे हैं। फिर पत्नी ने पूछा—ये कमल के समुदाय क्यों विकसित हुए हैं ? पति ने उत्तर दिया—यह कमल की सन्तति नहीं है प्रत्युत शङ्कर के गुणों को सुनकर विस्मित होनेवाली दिशा-रूपी स्त्रियों के ये कटाक्षों के प्रवाह हैं ॥ ६७ ॥

नाक्ष्णा माक्षिकमीक्षितं क्षणमपि द्राक्षा मुहुः शिक्षिता

क्षीरेक्षू समुपेक्षितौ भुवि यया सा शंकरश्रीगुरोः ।

कान्तानन्तदिगन्तलङ्घनकलाजङ्घालतत्तद्गुण-

श्रेणी निर्भरमाधुरीमदधुरा धन्येति मन्यामहे ॥ ६८ ॥

जिसने फूटी आँख से मधु को क्षण भर भी नहीं देखा, जिसने अङ्गूर को मधुरता की बार बार शिक्षा दी तथा पृथ्वी पर दूध और ऊख की सदा उपेक्षा की, भगवान् शङ्कराचार्य के अनन्त दिगन्त को लाँघने में समर्थ गुणों की ऐसी रमणीय पंक्ति अत्यन्त माधुरी से पूर्ण और धन्य है—ऐसा हम लोग मानते हैं ॥ ६८ ॥

क्षान्तिश्चेद्वसुधा जहातु महतीं सर्वंसहत्वप्रथां
विद्या चेद्विरहन्तु षण्मुखमुखाः स्वाखर्वगर्वावलीम् ।
वैराग्यं यदि बादरायणियशः कार्श्यं परं गाहतां
किं जल्पैर्मुनिशेखरस्य न तुलां कुत्रापि वीक्षामहे ॥ ६९ ॥

यदि आचार्य की क्षमा है तो पृथिवी सब वस्तुओं को सहने की प्रसिद्धि छोड़ दे। यदि उनकी विद्या है तो कार्त्तिकेय आदिक देवता अपने समधिक अभिमान को सदा के लिये छोड़ दें। यदि उनका वैराग्य है तो व्यास के पुत्र शुकदेव जी का यश अत्यन्त कृशता को धारण कर ले। अधिक क्या कहा जाय? उस मुनि-शिरोमणि शङ्कर की तुलना हमें संसार में कहीं भी नहीं दिखाई पड़ती ॥ ६९ ॥

या मूर्तिः क्षमया मुनीश्वरमयी गोत्रासगोत्रायते
विद्याभिर्निरवद्यकीर्तिभिरलं भाषाविभाषायते ।
भक्ताभीप्सितकल्पनेन नितरां कल्पादिकल्पायते
कस्तां नान्यपृथग्जनैस्तुलयितुं मन्दाक्षमन्दायते ॥ ७० ॥

शङ्कर के रूप को धारण करनेवाली जो मूर्ति अपनी क्षमा से गोत्रा (पृथ्वी) का सगोत्र बन रही थी अर्थात् पृथ्वी के समान सहनशील है, निर्मल कीर्तिवाली विद्याओं के द्वारा सरस्वती की समता को धारण करनेवाली है तथा भक्तों के मनोरथ को सिद्ध करने के कारण कल्पवृक्ष की समता धारण कर रही है, उस मूर्ति की अन्य साधारणजनों से

तुलना करने के लिये लज्जा के मारे मूढ़ नहीं बन जाता। अर्थात् शङ्कर की मूर्ति जगत् में गुणों के कारण अद्वितीय है ॥ ७० ॥

न बभूव पुरातनेषु तत्सदृशो नाद्यतनेषु दृश्यते।
भविता किमनागतेषु वा न सुमेरोः सदृशो यथा गिरिः ॥७१॥

पुराने विद्वानों में शङ्कर के समान कोई विद्वान् नहीं हुआ और आजकल भी कोई दिखलाई नहीं पड़ रहा है तथा भविष्य के विद्वानों में क्या ऐसा कोई होगा। जिस तरह से सुमेरु के समान कोई पहाड़ त्रिकाल में नहीं है उसी तरह शङ्कर के समान त्रिकाल में कोई विद्वान् नहीं है ॥ ७१ ॥

समशोभत तेन तत्कुलं स च शीलेन परं व्यरोचत।
अपि शीलमदीपि विद्यया ह्यपि विद्या विनयेन दिद्युते ॥ ७२ ॥

शङ्कर से उनका कुल चमक उठा। वे शील से अत्यन्त प्रकाशित हुए। विद्या से उनका शील विकसित हुआ तथा उनकी विद्या विनय से विकसित हुई ॥ ७२ ॥

सुयशःकुसुमोच्चयः श्रयद्विबुधालिर्गुणपल्लवोद्गमः।
अवबोधफलः क्षमारसः सुरशाखीव रराज सूरिराट् ॥ ७३ ॥

विद्वानों में शिरोमणि आचार्य शङ्कर कल्पवृक्ष के समान सुशोभित हुए। उनका यश मानों फूलों का समुदाय था। उनके यहाँ आश्रय लेनेवाले विद्वान् ही भौंरे थे। गुण पल्लव के समान, ज्ञान फल के समान और क्षमा ही रस के रूप में विद्यमान थी ॥ ७३ ॥

न च शेषभवी न कापिली गणिता काणभुजी न गीरपि।
भणितिष्वितरासु का कथा कविराजो गिरि चातुरीजुषि ॥७४॥

कवियों में श्रेष्ठ श्री शङ्कर की वाणी जब चतुरता से मण्डित विद्यमान थी तब अन्य वाणियों की बात ही क्या ? शेष नाग की वाणी की कोई

गणना नहीं थी, कपिल की वाणी का कोई आदर न था और कणाद मुनि की भी वाणी की कोई गिनती न थी ॥ ७४ ॥

भट्टभास्करविमर्ददुर्दशामञ्जदागमशिरःकरग्रहाः ।
हन्त शंकरगुरोर्गिरः क्षरन्त्यक्षरं किमपि तद्रसायनम् ॥ ७५ ॥

हर्ष का विषय है कि शङ्कर की जिन वाणियों ने भट्टभास्कर के द्वारा दुर्व्याख्या के कारण दीन अवस्था में पड़ जानेवाले उपनिषदों का उद्धार किया था वही वाणी रसायनरूप अक्षर तत्त्व का प्रतिपादन करती हैं ॥ ७५ ॥

टिप्पणी—भट्टभास्कर नाम के एक बड़े भारी वेदान्ती थे जिन्होंने उपनिषदों का अर्थ भेदाभेद-परक बतलाया था । ऐतिहासिक रीति से वे शङ्कर के पीछे के आचार्य हैं । श्लोक का आशय यह है कि भट्टभास्कर की दुर्व्याख्या के कारण उपनिषदों की जो दुर्दशा हुई उसका निराकरण शङ्कर की वाणी ने किया तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कर उसने जगत् के सामने एक सुलभ उपाय प्रस्तुत कर दिया ।

जाटाटङ्कजटाकुटीरविहरन्नैलिम्पकल्लोलिनी-
क्षोणीशप्रियकृन्नवावतरणावष्टम्भगुम्फच्छिदः ।
गर्जन्तोऽवतरन्ति शंकरगुरुक्षोणीधरेन्द्रोदराद्
वाणीनिर्झरिणीझराः क्व नु भयं दुर्भिक्षुदुर्भिक्षतः ॥७६॥

शङ्कर की जटारूपी कुटी में विहार करनेवाली देवनदी गङ्गा के जो जल-कल्लोल भगीरथ के हित करनेवाले थे तथा गङ्गा के नूतन अवतरण के कारण उत्पन्न होनेवाले थे, उनको छिन्न-भिन्न करनेवाले, और खूब गर्जना करनेवाले, वाणीरूपी नदी के प्रवाह शङ्कर-रूपी हिमालय के उदर से जब प्रवाहित हो रहे हैं तब बौद्ध रूपी दुर्भिक्ष से भय कैसे हो सकता है ? दुर्भिक्ष का तभी डर रहता है जब जल का प्रवाह न हो । बौद्ध लोग तभी तक सबल थे जब तक शङ्कर का जन्म नहीं हुआ था । शङ्कर ने

बौद्धों को परास्त कर इस देश से निकाल भगाया तथा वेद-मार्ग के प्रचलन में जो भय था उसे सर्वदा के लिये दूर भगा दिया ॥ ७६ ॥

आचार्य शङ्कर की सूक्ति

वारी चित्तमतङ्गजस्य नगरी बोधात्मनो भूपते-
र्दूरीभूतदुरन्तदुर्वदभरी हारीकृता सूरिभिः ।
चिन्तासंततितूलवातलहरी वेदोल्लसच्चातुरी
संसाराब्धितरीरुदेति भगवत्पादीयवाग्वैखरी ॥७७॥

भगवान् शङ्कर की वाणी क्या है ? चित्तरूपी हाथी के बाँधने के लिये शृङ्खला है; बोधरूपी राजा की नगरी है; दुरन्त, बकवादियों के समुदाय को दूर करनेवाली है; विद्वानों के गले में हार-रूप है; चिन्ता-समुदाय-रूपी रूई को दूर करने में वायु की लहरी है; वेद में प्रकाशित होनेवाली चतुरता है तथा संसार-समुद्र को पार करने की नौका है ॥ ७७ ॥

कथादर्पोत्सर्पत्कथकबुधकण्डूलरसना-
सनालाधः पाते स्वयमुदयमन्त्रो व्रतिपतेः ।
निगुम्फः सूक्तीनां निगमशिखराम्भोजसुरभि-
र्जयत्यद्वैतश्रीजयविरुदघण्टाघणघणः ॥ ७८ ॥

व्रतियों में श्रेष्ठ आचार्य शङ्कर की वाणी के समुदाय की जय हो जो शास्त्रार्थ में अभिमान से चलनेवाले, वादियों में चतुर, पण्डितों की खुजलाने-वाली जिह्वा को नाभि के नाल के साथ नीचे गिराने में स्वयं उदयमन्त्र का काम करता है; जो उपनिषद्-रूपी कमलों का शोभन गन्ध है तथा अद्वैत-लक्ष्मी के विजय को उद्घोषित करनेवाली घण्टा का घड़घड़ शब्द है ॥७८॥

टिप्पणी—बगलामुखी का ३६ वर्णों का प्रसिद्ध मन्त्र है जिसके जप करने से प्रतिवादी की जिह्वा शीघ्र ही स्तम्भित हो जाती है । इसी का उल्लेख श्लोक के प्रथमार्ध में है ।

कस्तूरीघनसारसौरभपरीरम्भप्रियंभावुका-
स्तापोन्मेषमुषो निशाकरकराहंकारकूलंकषाः ।
द्राक्षामाक्षिकशर्करामधुरिमग्रामाविसंवादिनो
व्याहारा मुनिशेखरस्य न कथंकारं मुदं कुर्वते ॥ ७९ ॥

आचार्य के वचन कस्तूरी और कपूर की सुगन्ध के आलिङ्गन के समान हृदय को आनन्दित करनेवाले हैं, तीनों तापों के आविर्भाव को दूर करनेवाले हैं; चन्द्रमा की किरणों के ताप दूर करने के अहङ्कार को नितान्त दूर करनेवाले हैं तथा अंगूर, मधु और चीनी के समान मधुरिमा-सम्पन्न हैं। ये किसके हृदय में आनन्द नहीं उत्पन्न करते ? ॥ ७९ ॥

अद्वैते परिमुक्तकण्टकपथे कैवल्यघण्टापथे
स्वाहंपूर्वकदुर्विकल्परहितप्राज्ञाध्वनीनाकुले ।
प्रस्कन्दन्मकरन्दवृन्दकुसुमस्रक्तोरणप्रक्रिया-
माचार्यस्य वितन्वते नवसुधासिक्ताः स्वयं सूक्तयः ॥८०॥

आचार्य की नयी सुधा से सींची गई सूक्तियाँ, कण्टक (भेदवाद) मार्ग को छोड़ देनेवाले, अहङ्कार से मुक्त और संशय से हीन विद्वान् रूपी पथिकों से आकुल मोक्ष के राजमार्ग (सड़क) रूप अद्वैत मार्ग के ऊपर मकरन्दवृन्द को चुआनेवाले फूलों की मालाओं के द्वारा तोरण की रचना कर रही हैं ॥ ८० ॥

दूरोत्सारितदुष्टपांसुपटलीदुर्नीतयोऽनीतयो
वाता देशिकवाङ्मयाः शुभगुणग्रामालया मालयाः ।
मुष्णन्ति श्रममुल्लसत्परिमलश्रीमेदुरा मे दुरा-
यासस्याऽऽधिहविर्भुजो भवमये धीप्रान्तरे प्रान्तरे ॥८१॥

आचार्य शङ्कर के वचन उस वायु के समान हैं जिसने दुष्टों की, धूलि के समान, दुर्नीति को दूर भगा दिया है ; जो अतिवृष्टि आदि बाधाओं

से रहित है, शुभ गुणों से सम्पन्न है, लक्ष्मी का निवासस्थल है, सुगन्धि से परिपूर्ण है। इस संसाररूपी बीहड़ जङ्गल में घूमते रहने से मैं नितान्त थक गया हूँ। मानसिक व्यथा आग की तरह मुझे जला रही है। शङ्कर-वचनों के पढ़ने से मुझे शान्ति मिल रही है। मुझे सचमुच प्रतीत होता है कि आचार्य के ये वचन मेरी थकावट को दूर कर रहे हैं ॥ ८१ ॥

नृत्यन्त्या रसनाग्रसीमनि गिरां देव्याः किमङ्घ्रिक्कण-
न्मञ्जीरोर्जितसिञ्जितान्युतनितम्बालम्बिकाञ्चीरवाः ।
किं वल्गत्करपद्मकङ्कणझणत्कारा इति श्रीमतः
शङ्कामङ्कुरयन्ति शंकरकवेः सद्युक्तयः सूक्तयः ॥ ८२ ॥

शङ्कर कवि की युक्तिपूर्ण उक्तियों को सुनकर श्रोताओं के हृदय में यह शङ्का का अंकुर उत्पन्न हो रहा है कि क्या ये जिह्वा के अग्रभाग पर नाचनेवाली सरस्वती के पैरों में बजनेवाले मञ्जीर की मञ्जुल ध्वनि है? अथवा नितम्ब से लटकनेवाली करधनी के बजने की आवाज है अथवा कमल के समान सुकुमार हाथों में हिलते हुए कङ्कणों की झन-झनाहट है ॥ ८२ ॥

वर्षारम्भविजृम्भमाणजलमुग्गम्भीरघोषोपमो
वात्यातूर्णविघूर्णदर्णवपयःकल्लोलदर्पापहः ।
उन्मीलन्नवमल्लिकापरिमलाहंतानिहन्ता निरा-
तङ्कः शंकरयोगिदेशिकगिरां गुम्फः समुज्जृम्भते ॥८३॥

योगिराज शङ्कर का वचन वर्षा काल के आरम्भ में प्रकट होनेवाले मेघों के गम्भीर गर्जन के समान है। बड़ी भारी आँधी से तुरन्त उछलनेवाले समुद्र की तरङ्गों के अभिमान को यह चूर चूर कर देनेवाला है। खिलती हुई नवमालिका की सुगन्ध के गर्व को नष्ट करनेवाला है। यह संसार में विना किसी भय के सबके सामने प्रकटित हो रहा है ॥ ८३ ॥

हृद्या पद्यविनाकृता प्रशमिताविद्याऽमृषोद्या सुधा
स्वाद्या माद्यदरातिचोद्यभिदुराऽभेद्या निषद्यायिता ।
विद्यानामनघोद्यमा सुचरिता साद्यापदुद्यापिनी
पद्या मुक्तिपदस्य साऽद्य मुनिवाङ् नुद्यादनाद्या रुजः ॥८४॥

शङ्कर के गद्यरूप भी वचन मनोज्ञ हैं। ये अविद्या को दूर करनेवाले हैं; यथार्थ हैं, सुधा के समान मधुर; अभिमानी शत्रुओं के कुतर्कों को दूर करनेवाले हैं। सब विद्याओं के लिये हाट हैं। विपत्ति को दूर करवाले हैं तथा मुक्ति रूपी पद की प्राप्ति के लिये मार्ग रूप हैं। मुनि की ऐसी वाणी आज मेरे चिरन्तन सन्ताप को दूर करे॥ ८४॥

आयासस्य नवाङ्कुरं घनमनस्तापस्य बीजं निजं
क्लेशानामपि पूर्वरङ्गमलघुप्रस्तावनाडिण्डिमम् ।
दोषाणामनृतस्य कार्मणमसच्चिन्ताततेर्निष्कुटं
देहादौ मुनिशेखरोक्तिरतुलाऽहंकारमुत्कृन्तति ॥ ८५ ॥

देह आदि में जो अहङ्कार है वह खेद का नया अंकुर है। मन के घने सन्ताप का वीज है। क्लेशों के लिये भी पूर्वरङ्ग है। दोषों के लिये प्रस्तावना का डिण्डिम है (दोषों को उत्पन्न करनेवाला है।) झूठ का खजाना है; दुष्ट चिन्ता के लिये वाटिका है परन्तु ऐसे विकट अहङ्कार को भी मुनिराज शङ्कर की अनुपम उक्ति काटकर गिरा देती है। अर्थात् शङ्कर के वचन को सुनने से श्रोताओं के हृदय में सद्यः ज्ञान उत्पन्न हो जाता है जिससे वे देह और गेह में अपनी ममता छोड़ देते हैं॥ ८५॥

टिप्पणी—पूर्वरङ्ग—नाटक के आरम्भ में रङ्गमञ्च पर आकर नट, सूत्रधार आदि भिन्न भिन्न देवताओं की जो पूजा करते हैं तथा लोगों के चित्त-विनोद के लिये नृत्य का प्रदर्शन करते हैं उसे पूर्वरङ्ग कहते हैं। कहा है—

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं, रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति, पूर्वरङ्गस्तदुच्यते ॥ नाट्यशास्त्र

तथागतपथाहतक्षपणकप्रथालक्षण-
प्रतारणहतानुवर्त्यखिलजीवसंजीविनी ।
हरत्यतिदुरत्ययं भवभयं गुरूक्तिर्नृणा-
मनाधुनिकभारतीजरठशुक्तिमुक्तामणिः ॥ ८६ ॥

आचार्य शङ्कर की उक्ति बौद्धों के मार्ग तथा क्षपणक के सिद्धान्त से ठगे गये बेचारे पीड़ित लोगों को जिलानेवाली है। वह सरस्वती-रूपी शुक्ति (सुतुही) से निकलनेवाली मुक्ता है। वह मनुष्यों के हृदय में इस प्रपञ्च के कारण जो विकट भय उत्पन्न हो गया है उसे दूर कर देती है ॥ ८६ ॥

झंझामारुतवेल्लितामरधुनीकल्लोलकोलाहल-
प्राग्भारैकसगर्भ्यनिर्भरजरीजृम्भद्ध्वेनिर्झराः ।
नैकालीकमतालिधूलिपटलीमर्मच्छिदः सद्गुरो-
रुद्यद्दुर्मतिधर्मदुर्मतिकृताशान्तिं निकृन्तन्ति नः ॥८७॥

जगद्गुरु शङ्कर के वचन झंझावात (आँधी) से उछलती गङ्गा की तरङ्गों के समान भीषण आवाज करनेवाले हैं। ये अनेक मिथ्या दर्शनों के धूलि-पटल के समान झूठे सिद्धान्तों को छिन्न-भिन्न कर देते हैं। इन दुष्ट मतों के मानने से हमारे हृदय में जो अज्ञान तथा अशान्ति फैली हुई है उनको ये वचन तुरन्त दूर कर देते हैं ॥ ८७ ॥

उन्मीलन्नवमल्लिसौरभपरीरम्भप्रियंभावुका
मन्दारद्रुमरन्दवृन्दविलुठन्माधुर्यधुर्या गिरः ।
उद्गीर्णा गुरुणा विपारकरुणावाराकरेणाऽऽदरात्
सच्चेतो रमयन्ति हन्त मदयन्त्यामोदयन्ति द्रुतम् ॥८८॥

करुणा के समुद्र आचार्य के मुखारविन्द से निकली हुई वाणी खिलती हुई मालती की सुगन्ध के समान प्रिय लगनेवाली है; पारिजात वृक्ष के पुष्प-रस की माधुरी से परिपूर्ण है। यह सज्जनों के चित्त को रमण करती है, आह्लादित करती है तथा आनन्द से गद्गद कर देती है ॥ ८८ ॥

धारावाहिसुखानुभूतिमुनिवाग्धारासुधाराशिषु
क्रीडन् द्वैतिवचःसु कः पुनरनुक्रीडेत मूढेतरः ।
चित्रं काञ्चनमम्बरं परिदधच्चित्ते विधत्ते मुहुः
क्वचित्कच्चरदुष्पटच्चरजरत्कन्थानुबद्धादरम् ॥ ८९ ॥

आचार्य शङ्कर के वचनों से अनवच्छिन्न आनन्द का अनुभव किसे नहीं होता। जो मनुष्य आचार्य के अमृतोपम वचनों में विहार करने का रसिक है वह क्या कभी द्वैतवादियों के वचनों में किसी प्रकार का आनन्द उठा सकता है ? नहीं, कभी नहीं। भला सुनहले कपड़े को पहिननेवाला मनुष्य मैली, कुचैली, गन्दी गुदड़ी को ओढ़ने का विचार भी कभी करता है अर्थात् नहीं, कभी नहीं ॥ ८९ ॥

तत्ताहक्षमुनिक्षपाकरवचःशिक्षासपक्षाशयः
क्षारं क्षीरमुदीक्षते बुधजनो न क्षौद्रमाकाङ्क्षति ।
रूक्षां क्षेपयति क्षितौ खलु सितां नेक्षुं क्षणं प्रेक्षते
द्राक्षां नापि दिदृक्षते न कदलीं क्षुद्रां जिघृक्षत्यलम् ॥९०॥

चन्द्रमा के समान आचार्य शङ्कर के मधुर वचनों से जिसका अन्तःकरण पवित्र हो गया है वह विद्वान् दूध को खारा समझता है, मधु को कभी नहीं चाहता, मिश्री की डली को कड़ुवी समझकर उसे पृथ्वी पर फेंक देता है। ईख के ऊपर वह फूटी निगाह भी नहीं डालता, अंगूर की ओर कभी वह दृष्टि भी नहीं डालता, और केला को कभी सूँघना भी नहीं चाहता। (ये वस्तुएँ मधुर तथा तृप्तिकारक अवश्य

हैं परन्तु आचार्य के मीठे उपदेशों से तृप्ति लाभ करनेवाले पुरुष की दृष्टि में ये नितान्त हेय और जघन्य हैं ॥ ९० ॥

विक्रीता मधुना निजा मधुरता दत्ता मुदा द्राक्षया
क्षीरैः पात्रधियार्पिता युधि जिताल्लब्धा बलादिक्षुतः ।
न्यस्ता चोरभयेन हन्त सुधया यस्मादतस्तद्गिरां
माधुर्यस्य समृद्धिरद्भुततरा नान्यत्र सा वीक्ष्यते ॥ ९१ ॥

आचार्य की वाणी इतनी मधुर है कि ऐसी अद्भुत मधुरता जगत् में कहीं भी नहीं दिखलाई पड़ रही है। जान पड़ता है कि मधु ने अपनी मधुरता उसके (वाणी के) हाथों बेच डाली है; अंगूर ने प्रसन्नता से उसे अपना माधुर्य दे डाला है; दूध ने उसे योग्य समझकर स्वयं अर्पित कर दिया है; युद्ध में लड़कर वह ईख से जबर्दस्ती छीन ली गई है और चोरी के डर से सुधा ने उसे स्वयं वहाँ रख दिया है। यही कारण है कि ऐसी मधुरता संसार में अन्यत्र उपलब्ध नहीं है ॥ ९१ ॥

कर्पूरेण ऋणीकृतं मृगमदेनाधीत्य संपादितं
मल्लीभिश्चिरसेवनादुपगतं क्रीतं तु काश्मीरजैः ।
प्राप्तं चौरतया पटीरतरुणा यत् सौरभं तद्गिरा-
मक्षय्यं महितस्य तस्य महिमा धन्योऽयमन्यादृशः ॥ ९२ ॥

आचार्य शङ्कर के शब्दों का सौरभ अक्षय है—किसी प्रकार नहीं घटता है। कपूर ने अपनी सुगन्ध उससे उधार ली है, कस्तूरी ने अध्ययन कर उसे अपने में ग्रहण कर लिया है, मालती ने बहुत दिन तक उसकी सेवा कर उसे पाया है, केसर ने उसे खरीद लिया है और चन्दन ने उसे चुरा लिया है परन्तु फिर भी उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। धन्य हैं ये वचन और धन्य है इनकी विलक्षण महिमा ॥ ९२ ॥

अप्सां द्रप्सं सुलिप्सं चिरतरमचरं क्षीरमद्राक्षमिक्षुं
साक्षाद्‌ द्राक्षामजक्षं मधुरसमधयं प्रागविन्दं मरन्दम्‌ ।
मोचामाचाममन्यो मधुरिमगरिमा शंकराचार्यवाचा-
माचान्तो हन्त किं तैरलमपि च सुधासारसीसारसीम्ना ॥९३॥

मीठा दही मैंने चक्खा है, बहुत दिनों तक मैंने दूध पिया है; ईख को देखा है; अंगूर को चक्खा है, मधु के रस का पान किया है; मकरन्द का आस्वाद लिया है; केला भक्षण किया है—इस प्रकार संसार में सब मधुर पदार्थों का मैंने आस्वाद लिया है। आज मैं शङ्कर के वचनों की मधुरिमा का रस ले रहा हूँ। परन्तु सुधा की सरसता जो मुझे इन वचनों में मिलती है वह इन उपर्युक्त वस्तुओं में उपलब्ध कहाँ ? ॥ ९३ ॥

सन्तप्तानां भवदवथुभिः स्फारकर्पूरवृष्टि-
र्मुक्तायष्टिः प्रकृतिविमला मोक्षलक्ष्मीमृगाक्ष्याः ।
अद्वैतात्मानवधिकसुखासारकासारहंसी
बुद्धेः शुद्ध्यै भवतु भगवत्पाददिव्योक्तिधारा ॥ ९४ ॥

भगवत्पाद शङ्कर के दिव्य वचनों की धारा संसार के ताप से सन्तप्त पुरुषों के लिये कपूर की वृष्टि है; मोक्ष-लक्ष्मी-रूपी सुन्दरी के गले को विभूषित करनेवाली स्वभाव-सुन्दर मोतियों की माला है; अद्वैत-ज्ञान से उत्पन्न जो अनुपम सुख की धारा उससे पूर्ण तालाब में, विचरण करनेवाली राजहंसिनी है, अर्थात्‌ वह अद्वैतानन्द में सदा रमण किया करती है। वह आज हमारी बुद्धि को शुद्ध करने में समर्थ बने, यही प्रार्थना है ॥९४॥

आम्नायान्तालवाला विमलतरसुरेशादिसूक्ताम्बुसिक्ता
कैवल्याशापलाशा विबुधजनमनःसालजालाधिरूढा ।
तत्त्वज्ञानप्रसूना स्फुरदमृतफला सेवनीया द्विजैर्या
सा मे सोमावतंसावतरगुरुवचोवल्लिरस्तु प्रशस्त्यै ॥ ९५ ॥

भगवान् महादेव के अवतारस्वरूप श्री शङ्कर की वाणी लता के समान है जिसका आलवाल (पानी जमा करने का थाला) वेदान्त है; सुरेश्वर आदि शिष्यों ने अपने विमल सूक्ति-रूपी जल से जिसे सींचा है; मोक्ष की आशा जिसमें पत्ते के समान सुशोभित है; विद्वानों के मन रूपी साल वृक्ष पर जो चढ़ी हुई है; तत्त्वज्ञान जिसका फूल है और अमृत जिसका फल है और द्विज लोग जिसकी सेवा किया करते हैं ऐसी आचार्य की यह वाग्वल्ली (वाणी रूपी लता) मेरा कल्याण-साधन करे ॥ ९५ ॥

नृत्यद्भूतेशवल्गन्मुकुटतटरटत्स्वधुनीस्पर्धिनीभि-
वाग्भिर्निर्भिन्नकूलोच्चलदमृतसरःसारिणीधोरणीभिः ।
उद्वेलद्द्वैतवादिस्वमतपरिणताहंक्रियाहुंक्रियाभि-
र्भाति श्रीशङ्करार्यः सततमुपनिषद्वाहिनीगाहिनीभिः ॥ ९६ ॥

आचार्य शङ्कर की वाणी नाचते हुए शङ्कर के सिर पर उछलनेवाली गङ्गा के साथ स्पर्धा करनेवाली है; अपने किनारों को तोड़कर बहनेवाली अमृत की नदियों की समानता को धारण करनेवाली है; वेद-मर्यादा को उल्लंघन करनवाले जो द्वैतवादी हैं उनके अपने मत के विषय में बढ़नेवाले अहङ्कार को वह छिन्न-भिन्न कर देती है तथा उपनिषद् रूपी नदी में सदा डुबकी लगाया करती है। सचमुच ऐसी सुन्दर वाणी से आचार्य शङ्कर इस भूतल पर सुशोभित हो रहे हैं ॥ ९६ ॥

साहंकारसुरासुरावलिकराकृष्टभ्रमन्मन्दर-
क्षुब्धक्षीरपयोब्धिवीचिसचिवैः सूक्तैः सुधावर्षणात् ।
जङ्गालैर्भवदावपावकशिखाजालैर्जटालात्मनां
जन्तूनां जलदः कथं स्तुतिगिरां वैदेशिको देशिकः ॥ ९७ ॥

आचार्य शङ्कर के वचन अभिमानी देवताओं और असुरों के हाथों से चलाये गये मन्दर पहाड़ के द्वारा आलोड़ित क्षीर-सागर में उत्पन्न होनेवाली उज्ज्वल तरङ्गों के समान हैं। ऐसे वचनों के द्वारा सुधा की वृष्टि

करने से वे उन मनुष्यों के लिये मेघ हैं जो संसार-रूपी दावाग्नि की ज्वालाओं से जल रहे हैं। भला ऐसे उपकारी आचार्य की प्रशंसा हम लोग किन शब्दों में कर सकते हैं? आचार्य ने अपने शीतल उपदेशों से विषय-वासना से कलुषित हमारे हृदय में जो शान्ति उत्पन्न कर दी है उसके लिये हमारे पास शब्द ही नहीं है जिससे हम उनकी पर्याप्त स्तुति कर सकें ॥९७॥

आचार्य शङ्कर का यश

कलशाब्धिकचाकचिक्षमं क्षणदाधीशगदागदिप्रियम् ।
रजताद्रिभुजाभुजिक्रियं चतुरं तस्य यशः स्म राजते ॥ ९८ ॥

शंकराचार्य का यश क्षीरसमुद्र से घनघोर युद्ध करनेवाला है, शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा से गदायुद्ध करनेवाला है और रजतगिरि (कैलाश) के साथ हाथावाहीं करनेवाला है। इस यश के समान कोई भी वस्तु स्वच्छ नहीं दिखाई पड़ती ॥ ९८ ॥

परिशुद्धकथासु निर्जितो यशसा तस्य कृताङ्कनः शशी ।
स्वकलङ्कनिवृत्तयेऽधुनाऽप्युदधौ मज्जति सेवते शिवम् ॥ ९९ ॥

संसार में सब से विशुद्ध कौन सा पदार्थ है? इस विषय की जब चर्चा छिड़ी तब आचार्य के निर्मल यश ने कलंकित चन्द्रमा को परास्त कर दिया। इसलिये आजकल वह अपने कलंक को धो डालने के लिये समुद्र में डूबता है और शिव के मस्तक पर निवास कर उनकी सेवा किया करता है ॥ ९९ ॥

धम्मिल्ले नवमल्लिवल्लिकुसुमस्रक्कल्पनाशिल्पिनो
भद्रश्रीरसचित्रचित्रितकृतः कान्ते ललाटान्तरे ।
तारावल्यनुहारिहारलतिकानिर्माणकर्माणुकाः
कण्ठे दिक्सुदृशां मुनीश्वरयशःपूरा नभःपूरकाः ॥ १०० ॥

मुनिराज शङ्कर के यश जब दिशारूपी सुन्दरियों के केशों पर पड़ते हैं तब वे नई मालती की माला की रचना कर देते हैं। जब ललाट पर

पड़ते हैं तब चन्दन-रस से नाना प्रकार के सुन्दर चित्र खींच देते हैं। जब कण्ठ पर पड़ते हैं तब नक्षत्रमालिका के समान हार-लतिका को गूँथकर पहिना देते हैं। इस प्रकार दिशाओं में व्याप्त होकर वे आकाश को भी भर रहे हैं ॥ १०० ॥

उत्सङ्गेषु दिगङ्गना निदधते ताराः कराकर्षिका
रागाद् द्यौरवलम्ब्य चुम्बति वियद्गङ्गा समालिङ्गति ।
लोकालोकदरी प्रसीदति फणी शेषोऽस्य दत्ते रतिं
त्रैलोक्ये गुरुराजकीर्तिशशिनः सौन्दर्यमत्यद्भुतम् ॥ १०१ ॥

शङ्कर के कीर्तिरूपी चन्द्रमा का सौन्दर्य तीनों लोकों में अति अद्भुत है—इतना अद्भुत कि दिशारूपी सुन्दरी इसे अपनी गोद में रखती है; ताराएँ अपने हाथों से उसे खींचती हैं; आकाश प्रेम से पकड़कर उसका चुम्बन करता है, आकाशगंगा उसका आलिङ्गन करती है। लोकालोक नामक पर्वत की गुफा उससे प्रसन्न होती है और शेषनाग उसे अपना प्रेम समर्पण करता है। यह बात इस चन्द्रमा में नहीं है। अतः वह कीर्ति-चन्द्रमा इससे विलक्षण है ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—लोकालोक नामक एक पर्वत है जो पृथ्वी को चारों ओर से घेरे हुए है। पृथ्वी के सात द्वीप हैं। सातवें द्वीप को घेरनेवाले समुद्र के भी बाहर इसकी स्थिति बतलाई जाती है। इसके उस पार अगाध अन्धकार है और इस पार प्रकाश है। अतः यह अन्धकार और प्रकाश को पृथक् करता है। कालिदास ने इस पर्वत के विषय में कहा है :—

प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचलः ।—रघु० १।६८

माघ ने भी इसकी स्थिति के बारे में कहा है—

लोकालोकव्याहतं घर्मरश्मेः शालीनं वा धाम नालं प्रसर्तुम् ।

—शिशुपालवध १६।८३

संप्राप्ता मुनिशेखरस्य हरितामन्तेषु सांकाशिनं
कल्लोला यशसः शशाङ्ककिरणानालक्ष्य सांहासिनम् ।

कुर्वन्ति प्रथयन्ति दुर्मदसुधावैदग्ध्यसांलोपिनं
सम्यग्घ्नन्ति च विश्वजाङ्घ्रिकतमःसंघातसांघातिनम् ॥ १०२ ॥

शंकर के यशरूपी क्षीरसागर की तरङ्गें दिशाओं के अन्त में जाकर उसे प्रकाशित कर रही हैं, चन्द्र-किरणों को चारों ओर से उल्लासित कर रही हैं। वे गर्वीली सुधा की चतुरता को लुप्त कर देतीं हैं और संसार में व्याप्त होनेवाले अज्ञान रूपी विपुल अन्धकार को नष्ट कर देता हैं ॥ १०२ ॥

सोत्कण्ठाकुण्ठकण्ठीरवनखरवरक्षुण्णमत्तेभकुम्भ-
प्रत्यग्रोन्मुक्तमुक्तामणिगणसुषमाबद्धदोर्युद्धलीला ।
मन्थाद्रिक्षुब्धदुग्धार्णवनिकटसमुल्लोलकल्लोलमैत्री-
पात्रीभूता प्रभूता जयति यतिपतेः कीर्तिमाला विशाला ॥१०३॥

यतिराज शङ्कर की कीर्तिमाला अत्यन्त विशाल है। यह इतनी सुन्दर तथा चमकनेवाली है कि भयंकर सिंह के नखों से विदीर्ण किये गये जो हाथी उनके मस्तकों से गिरनेवाले नये मोतियों के साथ सुन्दरता के विषय में युद्ध कर रही है अर्थात् शंकर का यश इन मोतियों से भी अधिक प्रकाशमान है। यह इतनी सफ़ेद है कि मन्दराचल के द्वारा मथे गये क्षीर सागर में उत्पन्न होनेवाली लहरियों के साथ मित्रता रखने-वाली है। इस प्रकार सर्वथा अनुपम होने से यह सर्वत्र विजय को प्राप्त कर रही है ॥ १०३ ॥

लोकालोकदरि प्रसीदसि चिरात् किं शंकरश्रीगुरु-
प्रोद्यत्कीर्तिनिशाकरं प्रियतमं संश्लिष्य संतुष्यसि ।
त्वं चाप्युत्पलिनि प्रहृष्यसि चिरात् कस्तत्र हेतुस्तयो-
रित्थं प्रश्नगिरां परस्परमभूत् स्मेरत्वमेवोत्तरम् ॥ १०४ ॥

कमलिनी लोकालोक नामक पहाड़ की कन्दरा से पूछ रही है कि तुम बहुत दिनों के बाद आज प्रसन्न दीख रही हो। क्या तुम शंकर के कीर्ति-

रूपी चन्द्रमा को (जो तुम्हारे प्रियतम के समान है) आलिङ्गन कर सन्तुष्ट हो गई हो ? इस पर कन्दरा पूछ रही है कि ऐ कमलिनी, तुम बहुत दिनों के बाद आज प्रसन्न दीख रही हो। इसका क्या कारण है ? इसको सुनकर दोनों प्रसन्नवदन हो गईं और यह प्रसन्नता ही उनके प्रश्नों का उत्तर हो गई ॥ १०४ ॥

दुर्वाराखर्वगर्वाहितबुधजनतातूलवातूलवेगो
निर्बाधागाधबोधामृतकिरणसमुन्मेषदुग्धाम्बुराशिः ।
निष्प्रत्यूहं प्रसर्पद्भवदवदहनोद्भूतसन्तापमेघो
जागर्ति स्फीतकीर्तिर्जगति यतिपतिः शंकराचार्यवर्यः ॥१०५॥

यतिराज शङ्कर अधिक गर्वीले प्रतिपक्षी पण्डितरूपी कपास को दूर उड़ाने के लिये आँधी के वेग हैं। जिस प्रकार आँधी अनायास रूई को उड़ा ले जाती है उसी प्रकार आचार्य ने अभिमानी विपक्षियों को हराकर दूर भगा दिया है। वे बाधारहित अगाध तत्त्वज्ञान-रूपी चन्द्रमा को प्रकट करने के लिये स्वयं क्षीरसागर हैं तथा चारों ओर बिना किसी बाधा के फैलनेवाली संसाररूपी दावाग्नि से उत्पन्न सन्ताप के लिये साक्षात् मेघ हैं। संसार भर में उनकी कीर्ति चारों ओर व्याप्त हो रही है। ऐसे गुणसम्पन्न यतिराज आचार्य शङ्कर जगत् के कल्याण के लिये सदा जागरूक हैं ॥ १०५ ॥

आचार्य की सर्वज्ञता

इतिहासपुराणभारतस्मृतिशास्त्राणि पुनः पुनर्मुदा ।
विबुधैः सुबुधो विलोकयन् सकलज्ञत्वपदं प्रपेदिवान् ॥१०६॥

इस प्रकार शङ्कर ने इतिहास, पुराण, महाभारत, स्मृति आदि अनेक शास्त्रों का बारम्बार अध्ययन किया और सर्वज्ञ पद प्राप्त किया ॥ १०६ ॥

स पुनः पुनरैक्षताऽऽदराद्बादरायणसकशान्तिवाक्कृतीः ।
समगादपशान्तिसंभवां सकलज्ञत्ववदेव शुद्धताम् ॥ १०७ ॥

उन्होंने व्यासजी के शान्तिपर्व में लिखे गये श्लोकों का मनन बारम्बार किया। इस प्रकार जैसे उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की उसी प्रकार शान्ति से उत्पन्न होनेवाली शुद्धता को भी प्राप्त किया ॥ १०७ ॥

असत्प्रपञ्चश्चतुराननोऽपि सन्नभोगयोगी पुरुषोत्तमोऽपि सन् ।
अनङ्गजेताऽप्यविरूपदर्शनो जयत्यपूर्वो जगदद्वयीगुरुः ॥१०८॥

जगत् के अपूर्व गुरु शङ्कर की जय हो। ये चतुरानन होते हुए भी प्रपञ्च से रहित हैं। सुप्रसिद्ध ब्रह्मा इस प्रपञ्च (सृष्टि) के कर्ता होने से इससे सम्बद्ध हैं परन्तु आचार्य शंकर चतुरमुख होते हुए भी संसार को जीतनेवाले हैं। पुरुषोत्तम (विष्णु तथा पुरुष-श्रेष्ठ) होते हुए भी वे भोग (साँप का शरीर तथा संसार का भोग-विलास) से रहित हैं; कामदेव के जेता होने पर भी उनका दर्शन (नेत्र) शंकर के समान विरूप नहीं है। इस प्रकार वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों देवताओं से बढ़कर हैं ॥ १०८ ॥

आलोक्याऽऽननपङ्कजेन दधतं वाणीं सरोजासनं
शश्वत्संनिहितक्षमाश्रियममुं विश्वंभरं पूरुषम् ।
आर्याराधितकोमलाङ्घ्रिकमलं कामद्विषं कोविदाः
शङ्कन्ते भुवि शंकरं व्रतिकुलालंकारमङ्कागताः ॥ १०९ ॥

शंकर ब्रह्मचारियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके मुख-कमल में सरस्वती को सदा देखकर विद्वानों को यह शंका हो रही है कि ये ब्रह्मा हैं। दया-रूपी लक्ष्मी को पास देखकर इनमें विष्णु की आशंका हो रही है तथा विद्वानों के द्वारा वन्दनीय ब्रह्मचारी-रूप को देखकर लोग शंका करते हैं कि ये काम के नाशक (काम को जलानेवाले) शंकर हैं ॥ १०९ ॥

एकस्मिन् पुरुषोत्तमे रतिमतीं सत्तामयोन्युद्भवां
मायाभिक्षुहृतामनेकपुरुषासक्तिभ्रमान्निष्ठुराम् ।

जित्वा तान् बुधवैरिणः प्रियतया प्रत्याहरद्द यश्चिरात्
आस्ते तापसकैतवात् त्रिजगतां त्राता स नः शंकरः ॥ ११० ॥

सीताजी योनि से उत्पन्न नहीं थीं। पुरुषों में श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्र में ही उनका प्रेम सब प्रकार से था। संन्यासी का रूप धारण कर रावण ने माया से उनका हरण किया था। उनके चरित्र के विषय में अनेक पुरुषों में आसक्ति होने के भ्रम से वह अत्यन्त निष्ठुर हो गई थीं। ऐसी सीता देवी को तपस्वी का वेश धारण कर रामचन्द्र देवताओं के शत्रु राक्षसों को मारकर फिर अपने घर ले आये और उन्होंने तीनों जगत् की रक्षा की। आचार्य शङ्कर का भी चरित्र राम के इस चरित से बिल्कुल मिलता है। उन्होंने एक अद्वितीय परमात्मा में प्रेम रखनेवाली, जन्म-मरण से शून्य, सत्ता को जिसे क्षणिकवादी बौद्धों ने हरण कर लिया था तथा जो अनेक पुरुषों में रहने के प्रसङ्ग के भ्रम से अत्यन्त निष्ठुर थी—विवेक के शत्रुओं को जीतकर फिर से स्थापित किया। इस प्रकार तापस वेष धारण करनेवाले शंकर तीनों जगत् की रक्षा करनेवाले हैं ॥११०॥

इति श्रीमाधवीये तदाशुद्धाष्टमवृत्तगः ।
संक्षेपशंकरजये चतुर्थः सर्ग आभवत् ॥ ४ ॥

माधवीय संक्षेप शङ्कर-विजय में चतुर्थ सर्ग समाप्त हुआ जिसमें आचार्य का सातवें वर्ष तक का जीवन-वृत्त वर्णित है।

पञ्चम सर्ग

आचार्य शङ्कर का संन्यास-ग्रहण

[इस सर्ग में आचार्य शङ्कर के संन्यास ग्रहण करने तथा नर्मदा-तीर पर रहनेवाले गोविन्दाचार्य के पास जाकर अद्वैत वेदान्त के अनुशीलन करने का विशद वर्णन है ।]

इति सप्तमहायनेऽखिलश्रुतिपारज्ञततां गतो बटुः ।
परिवृत्य गुरोः कुलाद् गृहे जननीं पर्यचरन्महायशाः ॥ १ ॥

इस प्रकार सातवें वर्ष में ही वह बालक शंकर अखिल श्रुति का पारंगामी पण्डित बन गया। गुरु के कुल से वह अपने घर लौटकर माता की सेवा में लग गया ॥ १ ॥

परिचरञ्जननीं निगमं पठन्नपि हुताशरवी सवनद्वयम् ।
मनुवरैर्नियतं परिपूजयन् शिशुरवर्तत संस्तरणिर्यथा ॥ २ ॥

वह माता की सेवा करता, वेदों को पढ़ता तथा दोनों सन्ध्याओं में अग्नि तथा सूर्य की मन्त्रों के द्वारा नियत रूप से पूजा करता। अब वह बालक सूर्य के समान चमकने लगा ॥ २ ॥

शिशुमुदीक्ष्य युवाऽपि न मन्युमान् दिशति वृद्धतमोऽपि निजासनम् ।
अपि करोति जनः करयोर्युगं वशगतो विहिताञ्जलि तत्क्षणात् ॥३॥

उस बालक को देखकर युवा पुरुष को भी क्रोध नहीं होता था। बड़े-बूढ़े भी उठकर उसको अपना आसन देते थे तथा देखने के साथ ही अपरिचित मनुष्य भी वश में आकर दोनों हाथ जोड़कर खड़े हो जाते थे ॥ ३ ॥

मृदु वचश्चरितं कुशलां मतिं वपुरनुत्तममास्पदमोजसाम् ।
सकलमेतदुदीक्ष्य सुतस्य सा सुखमवाप निरर्गलमम्बिका ॥४॥

बालक के मृदु वचन, सुन्दर चरित्र, कुशल मति, तेजस्वी अनुपम शरीर—इन सबको देखकर माता ने अत्यधिक सुख प्राप्त किया ॥ ४ ॥

जातु मन्दगमनाऽस्य हि माता स्नातुमम्बुनिधिगां प्रति याता ।
आतपोग्रकिरणे रविबिम्बे सा तपःकृशतनुर्विललम्बे ॥ ५ ॥

एक बार शङ्कर की वृद्ध माता, मन्द गति से नदी में स्नान करने के लिये गईं । सूर्य का बिम्ब जब धूप के कारण बहुत उग्र था तब तपस्या से कृश शरीरवाली उनके आने में देर हो गई ॥ ५ ॥

शङ्करस्तदनुशङ्कितचित्तः पङ्कजैर्विगतपङ्कजलार्द्रैः ।
वीजयन्नुपगतो गतमोहां तां जनेन सदनं सह निन्ये ॥ ६ ॥

तब शङ्कर के मन में शङ्का उत्पन्न हो गई । वे नदी के किनारे पहुँचे । अपनी मूर्च्छित माता को जल से गीले कमलों के द्वारा हवा की और मनुष्यों की सहायता से उसे अपने घर उठा लाये ॥ ६ ॥

सोऽथ नेतुमनवद्यचरित्रः सद्मनोऽन्तिकमृषीश्वरपुत्रः ।
अस्तवीज्जलधिगां कविहृद्यैर्वस्तुतः स्फुरदलंकृतपद्यैः ॥ ७ ॥

अनिन्दनीय चरित्रवाले उस ऋषि के लड़के शङ्कर ने अपने घर के पास नदी को लाने के लिये कवियों को भी अच्छे लगनेवाले अलंकार-युक्त पद्यों के द्वारा नदी की स्तुति की ॥ ७ ॥

ईहितं तव भविष्यति काल्ये यो हितं जगत इच्छसि बाल्ये ।
इत्यवाप्य स वरं तटिनीतः सत्यवाक् सदनमाप विनीतः ॥८॥

नदी ने वर दिया—"जो बाल्यकाल में संसार का हित चाहता है उसकी इच्छा की पूर्ति कल प्रातःकाल अवश्य हो जायगी ।" ऐसा वर पाकर सत्यवादी तथा विनीत शङ्कर नदी के किनारे से अपने घर आये ॥ ८ ॥

प्रातरेव समलोकत लोकः शीतवातहृतशीकरपूतः ।
नूतनामिव धुनीं प्रवहन्तीं माधवस्य समया सदनं ताम् ॥ ९ ॥

प्रातःकाल ही ठण्ढी हवाओं के द्वारा लाये गये, जल की बूँदों से पवित्र होनेवाले लोगों ने देखा कि उस मकान के पास विष्णु-मन्दिर के निकट एक नई नदी बह रही है ॥ ९ ॥

शङ्कर का राज-सम्मान

एवमेनमतिमर्त्यचरित्रं सेवमानजनदैन्यलवित्रम् ।
केरलक्षितिपतिर्हि दिदृक्षुः प्राहिणोत् सचिवमादृतभिक्षुः ॥ १० ॥

संन्यासियों के आदर करनेवाले केरल नरेश ने इस प्रकार अलौकिक चरित्रवाले तथा सेवक जनों की दीनता को काट डालनेवाले शङ्कर को देखने की अभिलाषा से अपने मन्त्री को भेजा ॥ १० ॥

सोऽप्यतन्द्रितमभीरुपदाभिः प्राप्य तं तदनु सद्विरदाभिः ।
उक्तिभिः सरसमञ्जुपदाभिः शक्तिभृत् सममजिज्ञपदाभिः ॥ ११ ॥

इसके अनन्तर वह निडर मन्त्री, उपायनभूत सुन्दर हाथियों को साथ लेकर उत्साही शङ्कर के पास आया और सरस तथा मञ्जुल पद-वाले वचनों से सामर्थवान् शङ्कर से यह कहा ॥ ११ ॥

यस्य नैव सदृशो भुवि बोद्धा दृश्यते रणशिरःसु च योद्धा ।
तस्य केरलनृपस्य नियोगाद् दृश्यसे मम च सत्कृतियोगात् ॥ १२ ॥

मन्त्री—जिसके समान पृथ्वी पर न तो कोई बोद्धा है और न लड़ाई के मैदान में ऐसा कोई योद्धा है ऐसे केरलपति की आज्ञा से तथा मेरे पूर्वपुण्य के संयोग से आज आपके दर्शन हो रहे हैं ॥ १२ ॥

राजिताभ्रवसनैर्विलसन्तः पूजिताः सदसि यस्य वसन्तः ।
पण्डिताः सरसवादकथाभिः खण्डितापरगिरोऽवितथाभिः ॥ १३ ॥

सोऽयमाजिजितसर्वमहीपः स्तूयमानचरणः कुलदीपः ।
पादरेणुमवनं भवभाजामादरेण तव विन्दतु राजा ॥ १४ ॥

चमकनेवाले, सुनहले कपड़ों से सुशोभित, सुन्दर तथा सत्य तर्क-युक्तियों के द्वारा अन्य वादियों के वचनों को खण्डित करनेवाले पण्डित लोग जिसकी सभा में पूजित होकर निवास करते हैं, लड़ाई में सब राजाओं को जीतनेवाला, सबके द्वारा वन्दित, कुल का दीपक वह नरेश संसारी लोगों की रक्षा करनेवाली आपके पैरों की धूलि को आदर से प्राप्त करे ॥ १३-१४ ॥

एष सिन्धुरपरो मदपूर्णो दोषगन्धरहितः प्रवितीर्णः ।
अस्तु तेऽद्य रजसा परिपूतं वस्तुतो नृपगृहं शुचिभूतम् ॥१५॥

महाराजा ने यह मतवाला तथा दोष के गन्ध से भी रहित हाथी आपको दान में दिया है। आप महल में पधारिए जिससे आज राजा का पवित्र भवन आपके पैरों की धूलि से सचमुच पवित्र बन जाय ॥ १५ ॥

इत्युदीर्य परिसाधितदौत्यं प्रत्युदीरितसदुक्तिममात्यम् ।
अत्युदारमृषिभिः परिशस्तं प्रत्युवाच वचनं क्रमशस्तम् ॥१६॥

इस प्रकार दूत-कार्य के सम्पादन करनेवाले, सुन्दर वचन बोलनेवाले, अत्यन्त उदार, ऋषियों के द्वारा प्रशंसित, मन्त्री महोदय को आचार्य शङ्कर ने क्रम से इस प्रकार उत्तर दिया ॥ १६ ॥

भैक्ष्यमन्नमजिनं परिधानं रूक्षमेव नियमेन विधानम् ।
कर्म दातृवर शास्ति वटूनां शर्मदायिनिगमाप्तिपटूनाम् ॥ १७ ॥

शङ्कर—कल्याण देनेवाले, वेदों की प्राप्ति में चतुरता धारण करनेवाले वटुकों का भोजन भीख से प्राप्त होनेवाला रूखा-सूखा अन्न ही है, मृगचर्म ओढ़ने के लिये है, नियमपूर्वक गुरु की सेवा तथा सन्ध्या-

वन्दन कर्तव्य कर्म है जिनकी शिक्षा कर्म-प्रतिपादक वेद-शास्त्र से उन्हें प्राप्त होती है ॥ १७ ॥

कर्म नैजमपहाय कुभोगैः कुर्महेऽह किमु कुम्भिपुरोगैः ।
इच्छया सुखममात्य यथेतं गच्छ नार्थमसकृत् कथयेत्थम् ॥१८॥

अपने कर्म को छोड़कर हाथियों के पुरोगामी कुत्सित विषय-भोगों से हमें क्या लेना-देना है ? क्या इनकी इच्छा से भी किसी प्रकार का सुख हमें मिल सकता है ? जिस प्रकार आप आये हैं उसी प्रकार आप लौट जाइए और इस प्रकार की बात कभी मत कहिए ॥ १८ ॥

प्रत्युत क्षितिभृताऽखिलवर्णा वृत्त्युपाहरणतो विगतर्णाः ।
धर्मवर्त्मनिरता रचनीयाः कर्म वर्ज्यमिति नो वचनीयाः ॥१९॥

विपरीत इसके राजा का यह कर्तव्य है कि धर्म-मार्ग में निरत अखिल वर्णों को उनकी जीविका सम्पादन के द्वारा ऋणमुक्त बना दे तथा स्वकीय कर्म वर्जनीय है इसकी चर्चा अपनी प्रजाओं से वह कभी नहीं करे ॥ १९ ॥

इत्यमुष्य वचनादकलङ्कः प्रत्यगात् पुनरमात्यमृगाङ्कः ।
वृत्तमस्य स निशम्य धरापः सत्तमस्य सविधं स्वयमाप ॥२०॥

इतनी बात सुनकर निष्कलङ्क मन्त्री घर लौट आया तथा शङ्कर के सब वृत्तान्त सुनकर राजा उस आदरणीय पुरुष के पास स्वयं आया ॥ २० ॥

भूसुरार्भकवरैः परिवीतं भासुरोडुपगभस्त्युपवीतम् ।
अच्छजह्नुसुतया विलसन्तं सुच्छविं नगमिव द्रुमवन्तम् ॥२१॥

आचार्य शङ्कर ब्राह्मण-बालकों से घिरे हुए थे। चमकनेवाली चन्द्रमा की किरणों के समान उनका जनेऊ प्रकाशमान था। जान पड़ता था कि स्वच्छ गङ्गा के द्वारा सुशोभित, वृक्षों से मण्डित, शुभ्रशरीर हिमालय हो ॥ २१ ॥

चर्म कृष्णहरिणस्य दधानं कर्म कृत्स्नमुचितं विदधानम् ।
नूतनाम्बुदनिभाम्बरवन्तं पूतनारिसहजं तुलयन्तम् ॥ २२ ॥

वे कृष्ण हरिण के चर्म को धारण करते थे। सम्पूर्ण उचित कर्मों के अनुष्ठान करनेवाले थे तथा नवीन मेघ के समान श्याम वस्त्र को धारण करनेवाले पूतना के शत्रु (कृष्णचन्द्र) के भाई (बलराम) की तुलना कर रहे थे ॥ २२ ॥

जातरूपरुचिमुञ्जसुधाम्ना छातरूपकटिमद्भुतधाम्ना ।
नाकभूजमिव सत्कृतिलब्धं पाकपीतलतिकापरिरब्धम् ॥ २३ ॥

उनका कटि-प्रदेश अद्भुत शोभावाले सोने की तरह चमकनेवाले मूँज की प्रभा से व्याप्त था। जान पड़ता था कि वे पुरातन पुण्यों के प्रभाव से प्राप्त होनेवाले तथा पक जाने पर पीली होनेवाली लताओं से आलिङ्गित कल्पवृक्ष हों ॥ २३ ॥

सस्मितं मुनिवरस्य कुमारं विस्मितो नरपतिर्बहुवारम् ।
संविधाय विनतिं वरदाने तं विधातृसदृशं भुवि मेने ॥ २४ ॥

इस प्रकार कमनीय-कलेवर, मुस्कराते हुए आचार्य शङ्कर को विस्मित राजा ने अनेक बार प्रणाम किया तथा वर देने के विषय में उन्हें पृथ्वी-तल पर ब्रह्मा के समान समझा ॥ २४ ॥

तेन पृष्टकुशलः क्षितिपालः स्वेन सृष्टमथ शात्रवकालः ।
हाटकायुतसमर्पणपूर्वं नाटकत्रयमवोचदपूर्वम् ॥ २५ ॥

उनके द्वारा कुशल-क्षेम पूछने पर शत्रुओं के लिये यमरूपी उस राजा ने दस हज़ार सुवर्ण-मुद्राएं अर्पित कर अपने बनाये हुए अपूर्व तीन नाटक कह सुनाये ॥ २५ ॥

तद्रसार्द्रगुणरीतिविशिष्टं भद्रसंधिरुचिरं सुकवीष्टम् ।
संग्रहेण स निशम्य सुवाचं तं गृहाण वरमित्यमुमूचे ॥ २६ ॥

रस से आर्द्र, गुण-रीति से समन्वित, कल्याणकारक सन्धियों से शोभन, सुकवियों के मनहरन उन नाटकों को संक्षेप में सुनकर आचार्य ने वर माँगने के लिये कहा ॥ २६ ॥

तां नितान्तहृदयंगमसारां गां निशम्य तुलितामृतधाराम् ।
भूपतिः स रचिताञ्जलिबन्धः स्वोपमं सुतमियेष सुसन्धः ॥२७॥

नितान्त हृदयंगम, अमृतधारा के समान मधुर उस वाणी को सुनकर सत्य प्रतिज्ञावाले उस राजा ने अञ्जलि बाँधकर अपने समान पुत्र पाने की इच्छा प्रकट की ॥ २७ ॥

नो हिताय मम हाटकमेतद्‌ देहि नस्तु गृहवासिजनाय ।
ईहितं तव भविष्यति शीघ्रं याहि पूर्णमनसेत्यवदत्तम् ॥ २८ ॥

इस पर मुनि ने कहा कि यह सोना (सुवर्ण) मेरे किसी काम का नहीं है। यह हमारे घर में रहनेवाले लोगों को दे डालो। तुम्हारी अभिलाषा शीघ्र ही फलेगी। सफल-मनोरथ होकर घर लौटो ॥ २८ ॥

राजवर्यकुलवृद्धिनिमित्तां व्याजहार रहसि श्रुतिवित्ताम् ।
इष्टिमस्य सकलेष्टविधातुस्तुष्टिमाप हि तया क्षितिनेता ॥ २९ ॥

शङ्कर ने एकान्त में राजा के कुल की वृद्धि के लिये सम्पूर्ण यज्ञों के विधाता परमात्मा की श्रुति-प्रसिद्ध पूजा के प्रकार को बतला दिया जिससे राजा नितान्त प्रसन्न हुए ॥ २९ ॥

स विशेषविदा सभाजितः कविमुख्येन कलाभृतां वरः ।
अगमत् कृतकृत्यधीर्निजां नगरीमस्य गुणानुदीरयन् ॥ ३० ॥

विशेषज्ञ, कवियों में श्रेष्ठ, श्री शङ्कर के द्वारा पूजित वह कलावन्तों में श्रेष्ठ राजा मुनि के गुणों की स्तुति करता हुआ कृतकृत्य होकर अपनी नगरी में लौट आया ॥ ३० ॥

शङ्कर का अध्यापन-कार्य

बहवः श्रुतिपारदृश्वनः कवयोऽध्यैषत शंकराद्गुरोः ।
महतः सुमहान्ति दर्शनान्यधिगन्तुं फणिराजकौशलीम् ॥३१॥

बहुत से कवि लोग बड़े बड़े दर्शनों तथा शेषनाग के कौशल (व्याकरण-महाभाष्य) को सीखने के लिये श्रुति-पारगामी भगवान् शङ्कर के पास अध्ययन करते थे ॥ ३१ ॥

पठितं श्रुतमादरात् पुनः पुनरालोक्य रहस्यनूनकम् ।
प्रविभज्य निमज्जतः सुखे स विधेयान् विदधेतमां सुधीः ॥ ३२ ॥

पढ़े हुए तथा सुने हुए पाठ की एकान्त में बारंबार आलोचना कर, सार तथा असार वस्तुओं का विवेचन करके अखण्ड ब्रह्म का अनुभव करनेवाले विद्यार्थियों को विद्वान् शङ्कर ने अद्वैत के आनन्द में निमग्न कर दिया ॥ ३२ ॥

सर्वार्थतत्त्वविदपि प्रकृतोपचारैः
शास्त्रोक्तभक्त्यतिशयेन विनीतशाली ।
सन्तोषयन् स जननीमनयत् कियन्ति
संमानितो द्विजवरैर्दिवसानि धन्यः ॥ ३३ ॥

सब वस्तुओं के तत्त्व को जाननेवाले, शास्त्र के वचनों में अतिशय श्रद्धा रखने से विनयी, ब्राह्मणों के द्वारा पूजित उस ब्राह्मण ने अपनी माता को सन्तोष देते हुए, कितने दिनों को बिता दिया ॥ ३३ ॥

सा शङ्करस्य शरणं स च तज्जनन्या
अन्योन्ययोगविरहस्त्वनयोरसह्यः ।
नो वोढुमिच्छति तथाऽप्ययमनुष्यभावात्
मेरुं गतः किमभिवाञ्छति दुष्प्रदेशम् ॥ ३४ ॥

माता शङ्कर की रक्षक थी तथा वे अपनी माता के रक्षक थे। इस प्रकार दोनों का परस्पर विरह नितान्त असह्य था। मनुष्य से अधिक उन्नत विचार होने के कारण वे विवाह करना नहीं चाहते थे। मेरु पर गया हुआ आदमी क्या किसी बुरे प्रदेश में जाने की इच्छा करता है? ॥ ३४ ॥

कृतविद्यममुं चिकीर्षवः श्रितगार्हस्थ्यमथाऽऽप्तबन्धवः।
अनुरूपगुणामचिन्तयन्ननवद्येषु कुलेषु कन्यकाम् ॥ ३५ ॥

इसके अनन्तर हितैषी बन्धुओं ने, शास्त्रों को पढ़नेवाले शङ्कर को गृहस्थाश्रम में ले जाने की इच्छा से निर्मल कुलों में अनुरूप गुणवाली कन्या को चुनना प्रारम्भ किया ॥ ३५ ॥

अथ जातु दिदृक्षवः कलामवतीर्णां मुनयः पुरद्विषम्।
उपमन्युदधीचिगौतमत्रितलागस्त्यमुखाः समाययुः ॥ ३६ ॥

इसके अनन्तर शङ्कर के इस नये अवतार को देखने की इच्छा रखनेवाले उपमन्यु, दधीचि, गौतम, त्रितल, अगस्त्य आदि ऋषि लोग वहाँ आये ॥ ३६ ॥

ऋषियों का आगमन

प्रणिपत्य स भक्तिसंनतः प्रसविन्या सह तान् विधानवित्।
विधिवत् मधुपर्कपूर्वया प्रतिजग्राह सपर्यया मुनीन् ॥ ३७ ॥

पूजन के विधान को जाननेवाले शङ्कर ने भक्ति से नम्र होकर उन्हें प्रणाम किया और अपनी माता के साथ मधुपर्क से युक्त पूजन से इन मुनियों की विधिवत् पूजा की ॥ ३७ ॥

विहिताञ्जलिना विपश्चिता विनयोक्त्याऽर्पितविष्टरा अमी।
ऋषयः परमार्थसंश्रया अमुना साकमचीकरन् कथाः ॥ ३८ ॥

हाथ जोड़कर, विनय वचनों से आचार्य शङ्कर ने इन मुनियों को आसन पर बिठलाया। अनन्तर ये लोग शङ्कर के साथ परमार्थ के विषय में बातचीत करने लगे ॥ ३८ ॥

निजगाद कथान्तरे मुनीन् जननी तस्य समस्तदर्शिनः ।
वयमद्य कृतार्थतां गता भगवन्तो यदुपागता गृहान् ॥ ३९ ॥

कथा के बीच में समस्तदर्शी शङ्कर की माता मुनियों से बोल उठी—'आज हम लोग कृतार्थ हो गये, क्योंकि आप लोगों ने इस घर में पधारने की कृपा की है' ॥ ३९ ॥

क्व कलिर्बहुदोषभाजनं क्व च युष्मच्चरणावलोकनम् ।
तदलभ्यत चेत् पुराकृतं सुकृतं नः किमिति प्रपञ्चये ॥ ४० ॥

अनेक दोषों का खज़ाना यह कलि कहाँ ? और आप-जैसे मुनियों के चरण के दर्शन कहाँ ? यदि पुरातन पुण्य हो तभी यह प्राप्त हो सकता है। इस विषय में हमारे पुण्य हैं यह मैं क्या प्रपञ्चित करूँ ॥ ४० ॥

शिशुरेष किलातिशैशवे यदशेषागमपारगोऽभवत् ।
महिमाऽपि यदद्भुतोऽस्य तद् द्वयमेतत् कुरुते कुतूहलम् ॥ ४१ ॥

यह मेरा बच्चा अत्यन्त शैशव काल में ही समग्र आगमों का पारगामी बन गया है तथा इसकी महिमा अद्भुत है। ये दोनों बातें मेरे हृदय में कौतुक उत्पन्न कर रही हैं ॥ ४१ ॥

करुणार्द्रदृशाऽनुगृह्यते स्वयमागत्य भवद्भिरप्ययम् ।
वदतास्य पुराकृतं तपः क्षममाकर्णयितुं मया यदि ॥ ४२ ॥

आप लोग स्वयं आकर इस बालक के ऊपर अपने करुणा-कटाक्ष से अनुग्रह कर रहे हैं। यदि मेरे सुनने लायक़ हो तो इसके प्राचीन जन्म की कथा सुनाइए ॥ ४२ ॥

इति सादरमीरितां तया गिरमाकर्ण्य महर्षिसंसदि ।
प्रतिवक्तुमभिप्रचोदितो घटजन्मा प्रवयाः प्रचक्रमे ॥ ४३ ॥

उस ऋषियों की सभा में आदरपूर्वक कहे गये इन वचनों को सुनकर उत्तर देने के लिये प्रेरित किये जाने पर वृद्ध अगस्त्यजी बोलने लगे—॥ ४३ ॥

तनयाय पुरा पतिव्रते तव पत्या तपसा प्रसादितः ।
स्मितपूर्वमुपाददे वचो रजनीवल्लभखण्डमण्डनः ॥ ४४ ॥

हे पतिव्रते ! पूर्वजन्म में तुम्हारे पति ने पुत्र के लिये तपस्या से शङ्कर को प्रसन्न किया । तब चन्द्रखण्ड को अपने सिर पर धारण करनेवाले शंकर ने उनसे मुसकराते हुए कहा ॥ ४४ ॥

वरयस्व शतायुषः सुतानपि वा सर्वमिदं मितायुषम् ।
सुतमेकमितीरितः शिवं सति सर्वज्ञमयाचताऽऽत्मजम् ॥ ४५ ॥

"सौ वर्ष की आयुवाले अल्पज्ञ पुत्रों को माँगो या कम आयुवाले एक सर्वज्ञ पुत्र को माँगो"—इस प्रकार कहे जाने पर उन्होंने शिव से सर्वज्ञ पुत्र की याचना की ॥ ४५ ॥

तदभीप्सितसिद्धये शिवस्तव भाग्यात् तनयो यशस्विनि ।
स्वयमेव बभूव सर्वविन्न ततोऽन्योऽस्ति यतः सुरेष्वपि ॥ ४६ ॥

हे यशस्विनि ! तुम्हारे उसी मनोरथ की सिद्धि के लिये तुम्हारे भाग्य से भगवान् शङ्कर तुम्हारे पुत्र बने हैं । क्योंकि देवताओं में ऐसा कोई नहीं है जो उनके समान सर्वज्ञ हो ॥ ४६ ॥

इति तद्वचनं निशम्य सा मुनिवर्यं पुनरप्यवोचत ।
कियदायुरमुष्य भो मुने सकलज्ञोऽस्यनुकम्पया वद ॥ ४७ ॥

मुनि के वचन सुनकर वह फिर बोली—इन (शङ्कर) की कितनी आयु है ? यह तो कृपया बतलाइये । आप तो स्वयं सर्वज्ञ हैं ॥ ४७ ॥

शरदोऽष्ट पुनस्तथाऽष्ट ते तनयस्यास्य तथाऽप्यसौ पुनः ।
निवसिष्यति कारणान्तराद्भुवनेऽस्मिन् दश षट् च वत्सरान् ॥४८॥

"तुम्हारे पुत्र की आठ वर्ष और फिर आठ वर्ष अर्थात् १६ वर्ष की आयु है परन्तु अन्य किन्हीं कारणों से यह बालक १६ वर्ष और जियेगा। अर्थात् इनकी पूरी आयु ३२ वर्ष की है" ॥ ४८ ॥

इति वादिनि भाविनीं कथामृषिमुख्ये घटजे निवार्य तम् ।
ऋषयः सह तेन शङ्करं समुपामन्त्र्य ययुर्यथागतम् ॥ ४९ ॥

इस प्रकार भविष्य की बात को कहनेवाले अगस्त्य जी को ऋषियों ने रोका तथा शङ्कर से मन्त्रणा कर वे लोग जैसे आये थे वैसे लौट गये। ॥ ४९ ॥

सृणिना करिणीव साऽर्दिता शुचिना शैवलिनीव शोषिता ।
मरुता कदलीव कम्पिता मुनिवाचा सुतवत्सलाऽभवत् ॥ ५० ॥

अङ्कुश से पीड़ित हथिनी के समान, ग्रीष्म ऋतु से सुखाई गई नदी के तुल्य, तथा हवा के द्वारा कम्पित कदली की तरह मुनि-वचन से वह सुतवत्सला माता दुःखी हुई ॥ ५० ॥

शङ्कर का संन्यास

अथ शोकपरीतचेतनां द्विजराडित्थमुवाच मातरम् ।
अवगम्य स संसृतिस्थितिं किमकाण्डे परिदेवना तव ॥ ५१ ॥

इसके बाद शंकर ने संसार की स्थिति को जानकर शोक से व्याकुल-चित्त वाली अपनी माता से कहा कि तुम यह व्यर्थ विलाप क्यों कर रही हो ॥ ५१ ॥

प्रबलानिलवेगवेल्लितध्वजचीनांशुककोटिचञ्चले ।
अपि मूढमतिः कलेवरे कुरुते कः स्थिरबुद्धिमम्बिके ॥ ५२ ॥

वह कौन मूर्ख है जो आँधी के वेग से हिलाये गये, चीनीशुक (रेशमी वस्त्र) की ध्वजा के कोने के समान चंचल इस शरीर में स्थिर होने की भावना करता है ॥ ५२ ॥

कति नाम सुता न लालिताः कति वा नेह वधूरभुञ्जि हि ।
क नु ते क च ताः क वा वयं भवसङ्गः खलु पान्थसंगमः॥५३॥

कितने पुत्रों का लालन-पालन नहीं किया गया; कितनी स्त्रियों का भोग नहीं किया गया, वे लड़के कहाँ ? वे स्त्रियाँ कहाँ ? और हम कहाँ ? इस संसार में एक दूसरे का समागम बटोहियों के मिलने-जुलने के समान है ॥ ५३ ॥

भ्रमतां भववर्त्मनि भ्रमान्न हि किंचित् सुखमम्ब लक्षये ।
तदवाप्य चतुर्थमाश्रमं प्रयतिष्ये भवबन्धमुक्तये ॥ ५४ ॥

इस भव-मार्ग में चक्कर काटनेवाले मनुष्यों को श्रम से भी सुख नहीं प्राप्त होता । इसलिये मैं चतुर्थ आश्रम—संन्यास—को ग्रहण कर भव-बन्धन से मुक्ति पाने के लिये उद्योग करूँगा ॥ ५४ ॥

इति कर्णकठोरभाषणश्रवणाद्बाष्पपिनद्धकण्ठया ।
द्विगुणीकृतशोकया तया जगदे गद्गदवाक्यया मुनिः ॥ ५५ ॥

यह कर्ण-कठोर वचन सुनने से माता का गला आँसुओं से रुँध गया । शोक दुगना बढ़ गया । वह गद्‌गद वचनों से पुत्र से बोली—॥५५॥

त्यज बुद्धिमिमां शृणुष्व मे गृहमेधी भव पुत्रमाप्नुहि ।
यज च क्रतुभिस्ततो यतिर्भवितास्यङ्ग सतामयं क्रमः ॥ ५६ ॥

इस बुद्धि को छोड़ो; मेरे वचनों को सुनो । गृहस्थ बनकर पुत्र पैदा करो । यज्ञ करो तब संन्यासी बनना । यही सज्जनों का क्रम है ॥ ५६ ॥

कथमेकतनूभवा त्वया रहिता जीवितुमुत्सहेऽबला ।
तनयैव शुचौर्ध्वदैहिकं प्रसृतायां मयि कः करिष्यति ॥ ५७ ॥

तुम मेरी एकलौती सन्तान हो। तुम्हारे बिना मैं अबला कैसे जी सकूँगी ? हे पुत्र ! मेरे मर जाने पर मेरी मृत्यु के अनन्तर श्राद्धादिक संस्कार कौन करेगा ? ॥ ५७ ॥

त्वमशेषविद्प्यपास्य मां जरठां वत्स कथं गमिष्यसि ।
द्रवते हृदयं कथं न ते न कथंकारमुपैति वा दयाम् ॥ ५८ ॥

तुम सकल शास्त्र के वेत्ता हो। इस वृद्धा को छोड़कर तुम कैसे जाओगे ? क्योंकर तुम्हारा हृदय नहीं पिघलता ? और उसमें दया का सञ्चार नहीं होता ? ॥ ५८ ॥

एवं व्यथां तां बहुधाऽऽश्रयन्तीमपास्तमोहैर्बहुभिर्वचोभिः ।
अम्बामशोकां व्यदधाद्‌ विधिज्ञः शुद्धाष्टमेऽचिन्तयदेतदन्तः ॥५९॥

इस प्रकार शास्त्र के नियम जाननेवाले शङ्कर ने अपनी व्यथा प्रकट करनेवाली माता को, मोह दूर करनेवाले अनेक वचनों से शोकहीन बना डाला तथा उस आठवें वर्ष में यह विचार किया ॥ ५९ ॥

मम न मानसमिच्छति संसृतिं न च पुनर्जननी विजिहासति ।
न च गुरुर्जननी तदुदीक्षते तदनुशासनमीषदपेक्षितम् ॥ ६० ॥

मेरा मन इस संसार को नहीं चाहता और न मेरी माता मुझे छोड़ना चाहती है। मेरी माता मेरे मन की बात नहीं समझती, परन्तु वह मेरे लिये पूज्य है; अतः उसकी आज्ञा की थोड़ी अपेक्षा मुझे अवश्य करनी चाहिए ॥ ६० ॥

इति विचिन्त्य स जातु मिमङ्क्षया बहुजलां सरितं समुपाययौ ।
जलमगाहत तत्र समग्रहीत् जलचरश्चरणे जलमीयुषः ॥ ६१ ॥

यह विचार करके वह शङ्कर कदाचित् खूब जल से भरी नदी में नहाने के लिये गये। ज्योंही जल में उतरे त्योंही किसी जलचर ने उन्हें जल में पकड़ लिया ॥ ६१ ॥

स च रुरोद जले जलचारिणा धृतपदो ह्रियतेऽम्ब करोमि किम् ।
चलितुमेकपदं न च पारये बलवता विवृतोरुमुखेन ह ॥ ६२ ॥

जल में मकर के द्वारा पैर पकड़ लिये जाने पर वह बालक रोने लगा कि हे माता ! मैं क्या करूँ ? इस बलवान् जीवने मुँह खोलकर मुझे पकड़ लिया है। मैं ज़रा भी हिलने-डुलने में असमर्थ हूँ ॥ ६२ ॥

गृहगता जननी तदुपाशृणोत् परवशा द्रुतमाप सरित्तटम् ।
मम मृतेः प्रथमं शरणं धवस्तदनु मे शरणं तनयोऽभवत् ॥६३॥

घर के भीतर माता ने लड़के के रोने की आवाज़ सुनी और वह किनारे पर दौड़ती हुई आई। वह कहने लगी कि मरने के पहिले पति मेरे रक्षक थे और उनके बाद यह लड़का है ॥ ६३ ॥

स च मरिष्यति नक्रवशं गतः शिव न मेऽजनि हन्त पुरा मृतिः ।
इति शुशोच जनन्यपि तीरगा जलगतात्मजवक्त्रगतेक्षणा ॥६४॥

वह यदि मकर के फन्दे में पड़कर मर जायगा तो हे भगवन् ! पति के मरने के पहिले ही मेरी मृत्यु क्यों नहीं हो गई ? इस प्रकार पानी में खड़े अपने पुत्र के मुँह को देखकर तट पर खड़ी हुई माता विलाप करने लगी ॥ ६४ ॥

त्यजति नूनमयं चरणं चलो जलचरोऽम्ब तवानुमतेन मे ।
सकलसंन्यसने परिकल्पिते यदि तवानुमतिः परिकल्पये ॥६५॥

इस पर शङ्कर ने कहा—हे माता, यदि तुम मुझे संन्यास लेने की आज्ञा दे दो तो यह चञ्चल जलचर मेरे चरण को अवश्य छोड़ देगा। यदि तुम्हारी अनुमति है तो मैं समस्त संसार को त्याग करने के लिये उद्यत हूँ ॥ ६५ ॥

इति शिशौ चकिता वदति स्फुटं व्यधित साऽनुमतिं द्रुतमम्बिका ।
सति सुते भविता मम दर्शनं मृतवतस्तदु नेति विनिश्चयः ॥६६॥

इस प्रकार लड़के के कहने पर चकित होकर माता ने झट से आज्ञा दे दी। पुत्र के रहने पर उसका मुझे दर्शन होगा, मर जाने पर यह नहीं हो सकेगा, यही निश्चित सिद्धान्त है ।। ६६ ।।

तदनु संन्यसनं मनसा व्यधादथ मुमोच शिशुं खलनक्रकः ।
शिशुरुपेत्य सरित्तटमत्रसन् प्रसुवमेतदुवाच शुचाऽऽवृताम् ।।६७।।

इसके बाद शङ्कर ने मन से संन्यास ग्रहण कर लिया तब उस घड़ियाल ने उस बालक को छोड़ दिया। लड़का नदी-किनारे आया और शोक से उद्विग्न अपनी माता से बोला ॥ ६७ ॥

मातर्विधेयमनुशाधि यदत्र कार्यं
संन्यासिना तदु करोमि न सन्दिहेऽहम् ।
वस्त्राशने तव यथेष्टममी प्रदेयु-
र्गृह्णन्ति ये धनमिदं मम पैतृकं यत् ॥ ६८ ॥

शङ्कर—हे माता ! संन्यासी का जो कर्तव्य है उसे आप मुझे सिखलाइए। उसे मैं करूँगा, मुझे सन्देह नहीं है। जो सम्बन्धी लोग हमारे पैतृक धन को ग्रहण करेंगे वे तुम्हें यथेष्ट वस्त्र और भोजन देंगे ॥ ६८ ॥

देहेऽम्ब रोगवशगे च सनाभयोऽमी
द्रक्ष्यन्ति शक्तिमनुसृत्य मृतिप्रसङ्गे ।
अर्थग्रहाज्जनभयाच्च यथाविधानं
कुर्युश्च संस्कृतिममी न बिभेयमीषत् ॥ ६९ ॥

हे माता ! तुम्हारे शरीर के रुग्ण होने पर ये सम्बन्धी लोग तुम्हें शक्ति भर देखेंगे तथा मरने के बाद धन ग्रहण करने के लोभ से तथा लोक-भय से उचित संस्कार भी करेंगे।' इस विषय में किसी प्रकार का भय मत करो ॥ ६९ ॥

यज्जीवितं जलचरस्य मुखात्तदिष्टं
संन्याससंगरवशान्मम देहपाते ।
संस्कारमेत्य विधिवत् कुरु शङ्कर त्वं
नो चेत् प्रसूय मम किं फलमीरय त्वम् ॥ ७० ॥

माता—संन्यास के स्वीकार कर लेने पर घड़ियाल के मुख से जो जीवन तुम्हें प्राप्त हुआ है वह मुझे भी अभिलषित है। परन्तु मेरे शरीर-पात (मरने) पर हे शंकर ! तुम आकर मेरा विधिवत् संस्कार करना। नहीं तो तुम्हें पैदा करने से मुझे कौन सा फल प्राप्त हुआ ? यह तो बतलाओ ॥ ७० ॥

अह्न्यम्ब रात्रिसमये समयान्तरे वा
सञ्चिन्तय स्ववशगाऽवशगाऽथवा माम् ।
एष्यामि तत्र समयं सकलं विहाय
विश्वासमाप्नुहि मृतावपि संस्करिष्ये ॥ ७१ ॥

शङ्कर—हे माता ! दिन में, रात में तथा और किसी समय में स्वाधीन होकर या रोग के पराधीन होकर मेरा चिन्तन करना। उसी समय मैं सब नियमों को तोड़कर आ जाऊँगा। विश्वास रक्खो, मरने पर भी मैं तुम्हारा संस्कार करूँगा ॥ ७१ ॥

संन्यस्तवान् शिशुरयं विधवामनाथां
क्षिप्त्वेति मां प्रति कदाऽपि न चिन्तनीयम् ।
यावन् मया स्थितवता फलमापनीयं
मातस्ततः शतगुणं फलमापयिष्ये ॥ ७२ ॥

यह कभी मत सोचना कि इस शिशु ने अनाथ विधवा को छोड़कर संन्यास ग्रहण कर लिया है। हे माता ! तुम्हारे पास रहकर जितना

फल मैं प्राप्त कर सकता हूँ, उससे सौगुना फल मैं संन्यास ग्रहण करके पाऊँगा ॥ ७२ ॥

इत्थं स मातरमनुग्रहणेच्छुरुक्त्वा
प्रोचे सनाभिजनमेष विचक्षणाग्र्यः ।
संन्यासकल्पितमना व्रजितोऽस्मि दूरं
तां निक्षिपामि जननीमधवां भवत्सु ॥ ७३ ॥

इस प्रकार अनुग्रह की इच्छा से पण्डितों में श्रेष्ठ शङ्कर माता को समझाकर सम्बन्धियों से बोले—संन्यास में मेरा चित्त लगा हुआ है। मैं दूर जा रहा हूँ। इस विधवा माता को मैं आप लोगों की शरण में छोड़े जा रहा हूँ ॥ ७३ ॥

एवं सनाभिजनमुत्तममुत्तमाग्र्यः
श्रीमातृकार्यमभिभाष्य करद्वयेन ।
संप्रार्थयन् स्वजननीं विनयेन तेषु
न्यक्षेपयन्नयनजाम्बुनिषिञ्चमानाम् ॥ ७४ ॥

इस प्रकार उत्तम पुरुषों में अग्रगण्य शङ्कर ने अपनी माता के लिये श्रेष्ठ सम्बन्धी जन से कहा तथा आँखों से आँसुओं की धारा बहानेवाली माता को हाथ जोड़कर प्रार्थना कर विनयपूर्वक उनके पास रख दिया ॥ ७४ ॥

आत्मीयमन्दिरसमीपगतामथासौ
चक्रे विदूरगनदीं जननीहिताय ।
तत्तीरसंश्रितयदूद्वहधाम किंचित्
सा निम्नगाऽऽरभत ताडयितुं तरङ्गैः ॥ ७५ ॥

इसके अनन्तर दूर पर बहनेवाली जिस नदी को आचार्य अपनी माता के कल्याण के लिये अपने घर के पास लाये थे, वही नदी अपने

किनारे पर बनाये गये विष्णु भगवान् के मन्दिर को अपनी लहरों से गिराने लगी ॥ ७५ ॥

> वर्षासु वर्षति हरौ जलमेत्य किंचित्
>
> अन्तःपुरं भगवतोऽपनुनोद मृत्साम् ।
>
> आरब्ध मूर्तिरनघा चलितुं क्रमेण
>
> देवोऽविभेदिव न मुञ्चति भीरुहिंसाम् ॥ ७६ ॥

वर्षाकाल में जब ऊपर से मेघ बरस रहा था तब थोड़ा सा जल विष्णु भगवान् के मन्दिर के भीतर जाकर अच्छी मिट्टी को काटकर गिराने लगा। भगवान् की पाप-रहित मूर्ति वहाँ से क्रमशः जाने लगी, जान पड़ता था कि देवता स्वयं डर गये हों। भीरु मनुष्य को कष्ट पहुँचाना कौन छोड़ता है ? ॥ ७६ ॥

> प्रस्थातुकाममनघं भगवाननङ्ग-
>
> वाचाऽवदत् कथमपि प्रणिपत्य मातुः ।
>
> पादारविन्दयुगलं परिगृह्य चाऽऽज्ञां
>
> श्रीशङ्करं जनहितैकरसं स कृष्णः ॥ ७७ ॥

माता के चरण-कमल को प्रणाम कर तथा उसकी आज्ञा लेकर जब शङ्कर संसार के कल्याण के लिये बाहर जाने के लिये तैयार हो गये तब भगवान् कृष्ण अशरीरिणी वाणी से बोले—॥ ७७ ॥

> आनेष्ट दूरगनदीं कृपया भवान् यां
>
> सा माऽतिमात्रमनिशं बहुलोर्मिहस्तैः ।
>
> क्लिश्नाति ताडनपरा वद कोऽभ्युपायो
>
> वस्तुं क्षमे न नितरां द्विजपुत्र यासि ॥ ७८ ॥

दूर पर रहनेवाली जिस नदी को आप कृपापूर्वक लाये वही अपने तरङ्ग-रूपी हस्तों से मुझे ताड़ित करती हुई बहुत ही अधिक क्लेश पहुँचा

रही है। कहिए, कौन सा उपाय है। तुम चले जा रहे हो, मैं यहाँ पर रह नहीं सकता ॥ ७८ ॥

आकर्ण्य वाचमिति तामतनुं गुरुर्नः
प्रोद्धृत्य कृष्णमचलं शनकैर्भुजाभ्याम् ।
प्रातिष्ठिपन्निकट एव न यत्र बाधा
नद्येत्युदीर्य सुखमास्स्व चिराय चेति ॥ ७९ ॥

इस आकाशवाणी को सुनकर जगद्गुरु शङ्कर ने कृष्ण की उस अचल मूर्ति को धीरे से अपने हाथ से उठाया। निकट में ही जहाँ नदी की किसी प्रकार की बाधा न हो सके ऐसे स्थान पर आप हमेशा के लिये सुखपूर्वक रहिए, ऐसा कहकर उसे स्थापित कर दिया ॥ ७९ ॥

तस्मात् स्वमातुरपि भक्तिवशादनुज्ञा-
मादाय संसृतिमहाब्धिविरक्तिमान् सः ।
गन्तुं मनो व्यधित संन्यसनाय दूरं
किं नौस्थितः पतितुमिच्छति वारिराशौ ॥ ८० ॥

इस प्रकार कृष्ण से तथा अपनी माता से अनुराग के कारण आज्ञा प्राप्त कर संसार-रूपी समुद्र से विरक्ति धारण करनेवाले आचार्य शङ्कर ने संन्यास के लिये दूर जाने की इच्छा की। क्या नाव में बैठनेवाला आदमी जल-राशि में गिरना चाहता है ? भला विरक्त पुरुष संसार के पचड़े में पड़ना चाहता है ? ॥ ८० ॥

इत्थं सुधीः स निरवग्रहमातृलक्ष्मी-
शानुग्रहो घटजबोधितभाविवेदी ।
एकान्ततो विगतभोग्यपदार्थतृष्णः
कृष्णे प्रतीचि निरतो निरगान्निशान्तात् ॥८१॥

इस प्रकार माता और विष्णु के असीम अनुग्रह को प्राप्त कर और भोग्य पदार्थों से तृष्णा को छोड़कर अगस्त्य के द्वारा कहे गये अपने भविष्य को जाननेवाले सुधी शङ्कर ने भगवान् कृष्ण में चित्त लगाया और घर द्वार छोड़कर बाहर निकल पड़े ॥ ८१ ॥

यस्य त्रिनेत्रापरविग्रहस्य कामेन नास्थीयत दृक्पथेऽपि ।
तन्मूलकः संसृतिपाशबन्धः कथं प्रसज्येत महानुभावे ॥ ८२ ॥

जब कामदेव उन त्रिलोचन महादेव के सामने खड़े होने की हिम्मत नहीं कर सकता जो आचार्य शङ्कर के दूसरे शरीर हैं, तब भला वह महानुभाव शङ्कर को ही अपने संसार-पाश में कैसे बाँध सकता था? जिनके शरीर के सामने वह निःसहाय है तब साक्षात् आचार्य-चरण के ऊपर वह अपना प्रभाव कैसे डाल सकता है? ॥ ८२ ॥

स्मरेण किल मोहितौ विधिविधू च जातूत्पथौ
तथाऽहमपि मोहिनीकचकुचादिवीक्षापरः ।
अगामहह मोहिनीमिति विमृश्य सोऽजागरीत्
यतीशवपुषा शिवः स्मरकृतार्तिवार्तोज्झितः ॥ ८३ ॥

"कामदेव ने जिस प्रकार ब्रह्मा और चन्द्रमा को मोहित कर उन्मार्ग में लगा दिया था उसी प्रकार वह मुझे भी मोहित न कर ले; क्योंकि मैंने भी मोहिनी के केश, स्तन आदि का निरीक्षण किया है तथा मोहिनी का मैंने दूर तक अनुसरण किया है"; यही विचार कर महादेव काम के द्वारा किये गये क्लेश को वार्ता से भी अस्पृष्ट होकर संन्यासी शङ्कर के रूप से सदा जागरूक थे ॥ ८३ ॥

निष्पत्राऽकुरुतासुरानपि सुरान् मारः सपत्राऽकरोत्
अप्यन्यानिह निष्कुलाऽकृततरां गन्धर्वविद्याधरान् ।
यो धानुष्कवरो नराननलसात्कृत्वोदलासीदलं
यस्तस्मिन्नशुशूरतैष मुनिभिर्वर्ण्यः कथं शङ्करः ॥ ८४ ॥

धनुर्धारियों में श्रेष्ठ जिस कामदेव ने असुरों के शरीर को अपने बाणों से वेधकर आर-पार कर दिया, देवताओं के शरीर में बाण चुभो दिया तथा गन्धर्वों और विद्याधरों के शरीरों के अवयवों को काटकर छिन्न-भिन्न कर दिया तथा मनुष्यों को कामाग्नि में जलाकर स्वयं अत्यन्त प्रसन्न हुआ, उसी कामदेव के प्रति जिस शङ्कर ने वीरता का आचरण किया अर्थात् उसे जीत लिया, भला मुनि लोग उनकी वीरता का क्या वर्णन कर सकते हैं ॥ ८४ ॥

शान्तिश्चावशयन् मनो गतिमुखा दान्तिर्न्यरुन्ध क्रिया
आधात्ता विषयान्तराडुपरतिः क्षान्तिर्मृदुत्वं व्यधात् ।
ध्यानैकोत्सुकतां समाधिविततिश्चक्रे तथाऽस्य प्रिया
श्रद्धा हन्त वसुप्रथाऽस्य तु कुतो वैराग्यतो वेद्मि नो ॥८५॥

शान्ति ने शङ्कर के मन को अपने वश में कर लिया। दम (बाह्य इन्द्रियों का निरोध) ने बाहर की ओर जानेवाली इन्द्रियों के व्यापार को रोका। वैराग्य ने दूसरे विषयों से उन्हें अलग हटाया। क्षमा (द्वन्द्व की सहिष्णुता) ने मृदुता उत्पन्न की। समाधि ने केवल ध्यान की ओर उत्सुकता को पैदा किया। वेद में धन के नाम से विख्यात श्रद्धा उनकी प्रिय थी—ये सब शङ्कर की बातें क्या वैराग्य से हुईं ? यह मैं नहीं जानता ॥ ८५ ॥

विजनतावनितापरितोषितो विधिवितीर्णकृतात्मतनुस्थितिः ।
परिहरन् ममतां गृहगोचरां हृदयगेन शिवेन समं ययौ ॥ ८६ ॥

ब्रह्मा के द्वारा दिये गये भोगों से अपने शरीर का निर्वाह करनेवाले आचार्य एकान्तरूपी-वनिता के द्वारा सन्तुष्ट बन घर की ममता को छोड़कर हृदय में शङ्कर का ध्यान करते हुए घर से चल निकले ॥ ८६ ॥

गुरु का अन्वेषण

गच्छन् वनानि सरितो नगराणि शैलान्
ग्रामान् जनानपि पशून् पथि सोऽपि पश्यन् ।
नन्वैन्द्रजालिक इवाद्भुतमिन्द्रजालं
ब्रह्मैवमेव परिदर्शयतीति मेने ॥ ८७ ॥

जङ्गलों, नदियों, नगरों, पहाड़ों तथा ग्रामों में जाते हुए उन्होंने रास्ते में बहुत से आदमियों तथा पशुओं को देखा तथा विचार किया कि जिस प्रकार ऐन्द्रजालिक अपने अद्भुत इन्द्रजाल को दिखलाता है उसी प्रकार ब्रह्म इस जगत्-प्रपञ्च को दिखलाता है ॥ ८७ ॥

वादिभिर्निजनिजाध्वकर्शितां वर्तयन् पथि जरद्गवीं निजे ।
दण्डमेकमवहज्जगद्गुरुर्दण्डिताखिलकदध्वमण्डलः ॥ ८८ ॥

श्रुति-रूपी वृद्धा गाय भेदवादियों के द्वारा अपने-अपने स्वतन्त्र मार्ग के ऊपर ले जाने से पीड़ित थी। उसे अपने स्वाभाविक अद्वैत मार्ग पर प्रवर्तित कर अखिल कुमार्गियों के मण्डल को दण्डित करनेवाले जगद्गुरु शङ्कर ने एक दण्ड धारण किया। आशय यह है कि जिस प्रकार दण्ड को धारण करनेवाला चरवाहा अपनी गायों को बुरे रास्तों से बचाकर सीधे मार्ग पर लाता है उसी प्रकार दण्डी (दण्ड धारण करनेवाले) शङ्कर श्रुति को द्वैत-मार्ग से हटाकर अद्वैत-मार्ग पर ले आये ॥ ८८ ॥

सारङ्गा इव विश्वकद्रुभिरहं कुर्वद्भिरुच्छृङ्खलै-
र्जल्पाकैः परमर्मभेदनकलाकण्डूलजिह्वाञ्चलैः ।
पाखण्डैरिह कान्दिशीकमनसः कं नाऽऽप्नुयुर्वैदिकाः
क्लेशं दण्डधरो यदि स्म न मुनिस्त्राता जगद्देशिकः ॥८९॥

यदि जगद्गुरु शङ्कर दण्ड धारण कर संसार की रक्षा नहीं करते तो अहङ्कारी, बन्धन-रहित, भूँकनेवाले, दूसरों के मर्मस्थल के काटने में चञ्चल जिह्वावाले कुक्कुरों के द्वारा दौड़ाये जाने पर मृग जिस प्रकार चारों ओर भाग खड़े होते हैं, उसी प्रकार अहङ्कारी, उच्छृङ्खल, बकवादी, दूसरों के मर्मस्थल के भेदने की कला में चपल जिह्वावाले, पाखण्डियों के द्वारा आक्रान्त होने पर वैदिक लोग भाग खड़े होते और किस क्लेश को न प्राप्त हुए होते। आचार्य शङ्कर का ही यह प्रभाव था कि उन्होंने वैदिक मार्ग को पाखण्डियों के हाथ से बचा लिया, नहीं तो यह कभी का छिन्न-भिन्न हो गया रहता॥ ८९॥

दण्डान्वितेन धृतरागनवाम्बरेण
गोविन्दनाथवनमिन्दुभवातटस्थम्।
तेन प्रविष्टमजनिष्ट दिनावसाने
चण्डत्विषा च शिखरं चरमाचलस्य॥ ९०॥

दण्ड से युक्त, नये काषाय वस्त्र को धारण करनेवाले आचार्य ने नर्मदा नदी के किनारे रहनेवाले गोविन्दनाथ के वन में सन्ध्याकाल के समय जब प्रवेश किया, तब उग्र किरणवाले सूर्य ने अस्ताचल के शिखर का आश्रय लिया॥ ९०॥

तीरद्रुमागतमरुद्विगतश्रमः सन्
गोविन्दनाथवनमध्यतलं लुलोके।
शंसन्ति यत्र तरवो वसतिं मुनीनां
शाखाभिरुज्ज्वलमृगाजिनवल्कलाभिः॥ ९१॥

किनारे पर उगनेवाले वृक्षों की ओर से बहनेवाली हवा से उनकी थकावट दूर हो गई। उन्होंने उस गोविन्दनाथ वन के मध्यभाग को देखा जहाँ वृक्ष स्वच्छ मृग-चर्म तथा वल्कलवाली अपनी शाखाओं से मुनियों के रहने की सूचना दे रहे थे॥ ९१॥

आदेशमेकमनुयोक्तुमयं व्यवस्यन्
प्रादेशमात्रविवरप्रतिहारभाजम् ।
तत्र स्थितेन कथितां यमिनां गणेन
गोविन्ददेशिकगुहां कुतुकी ददर्श ॥ ९२ ॥

अद्वैत के उपदेश ग्रहण करने का निश्चय कर कौतुकी शङ्कर ने वहाँ पर रहनेवाले ऋषियों के द्वारा दिखलाई गई आचार्य गोविन्द की गुफा को देखा जहाँ एक छोटा सा छेद ही द्वारपाल का काम कर रहा था ॥ ९२ ॥

तस्य प्रपन्नपरितोषदुहो गुहायाः
स त्रिः प्रदक्षिणपरिक्रमणं विधाय ।
द्वारं प्रति प्रणिपतन् जनतापुरोगं
तुष्टाव तुष्टहृदयस्तमपास्तशोकम् ॥ ९३ ॥

शरण में आये हुए पुरुषों को सन्तोष देनेवाली उस गुफा की शङ्कर ने तीन बार परिक्रमा की। उपस्थित लोगों के सामने द्वार को प्रणाम कर, सन्तुष्ट हृदय से शङ्कर ने शिष्यों के शोक को दूर करनेवाले गोविन्द-नाथ की इस प्रकार स्तुति की ॥ ९३ ॥

गोविन्दाचार्य की स्तुति

पर्यङ्कतां भजति यः पतगेन्द्रकेतोः
पादाङ्गदत्वमथवा परमेश्वरस्य ।
तस्यैव मूर्ध्नि धृतसाब्धिमहीध्रभूमेः
शेषस्य विग्रहमशेषमहं भजे त्वाम् ॥ ९४ ॥

शङ्कर—जो गरुड़ध्वज भगवान् विष्णु की शय्या का काम करता है, जो महादेव के हाथ में विजायठ (हाथ के आभूषण) का काम करता है तथा जो अपने मस्तक पर समुद्र तथा पहाड़ों से युक्त पृथ्वी को

धारण करता है उसी शेष नाग के शरीर को धारण करनेवाले शेष-रहित (सर्वत्र व्यापक) आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ ९४ ॥

> दृष्ट्वा पुरा निजसहस्रमुखीमभैषु-
> रन्तेवसन्त इति तामपहाय शान्तः ।
> एकाननेन भुवि यस्त्ववतीर्य शिष्यान्
> अन्वग्रहीन्ननु स एव पतञ्जलिस्त्वम् ॥ ९५ ॥

प्राचीन काल में आपके हज़ार मुखों को देखकर जब विद्यार्थी लोग डर गये थे, तब आपने उस सर्पमूर्ति को छोड़कर शान्त भाव से पृथ्वी पर अवतार लेकर एक मुख से शिष्यों को विद्या पढ़ाकर, अनुग्रह किया था। वह पतञ्जलि आप ही हैं ॥ ९५ ॥

> उरगपतिमुखादधीत्य साक्षात्
> स्वयमवनेर्विवरं प्रविश्य येन ।
> प्रकटितमचलातले सयोगं
> जगदुपकारपरेण शब्दभाष्यम् ॥ ९६ ॥

भूमि के नीचे अर्थात् पाताल लोक में प्रवेश कर शेष नाग से स्वयं पढ़कर इस भूतल पर संसार के उपकार करने के लिये आपने ही योग शास्त्र तथा व्याकरण भाष्य को प्रकट किया है। (वह पतञ्जलि आप ही हैं) ॥ ९६ ॥

टिप्पणी—पाणिनि की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखनेवाले पतञ्जलि ने ही योगसूत्रों की रचना की है, यही मान्य भारतीय परम्परा है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय प्रतीत होती है। आधुनिक विद्वान् इस विषय में सन्देह अवश्य करते हैं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थकारों ने सर्वत्र भाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि को अभिन्न माना है। चक्रपाणि, भोजराज तथा कैयट ने तो इस अभिन्नता को स्पष्ट शब्दों में माना ही है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन ।

योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥

वाक्यपदीय (१।१४७) में भर्तृहरि ने भी इसी ओर सङ्केत किया है—

वाक्कायबुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।

चिकित्सा-लक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ॥

तमखिलगुणपूर्णं व्यासपुत्रस्य शिष्यात्

अधिगतपरमार्थं गौडपादान्महर्षेः ।

अधिजिगमिषुरेष ब्रह्मसंस्थामहं त्वां

प्रसृमरमहिमानं प्रापमेकान्तभक्त्या ॥ ९७ ॥

आप व्यास के पुत्र महर्षि शुकदेव के शिष्य आचार्य गौड़पाद से वेदान्त-तत्त्व को पढ़कर अखिल गुणों से मण्डित तथा व्यापक महिमा से युक्त हैं। आपके पास मैं वेदान्त पढ़ने के लिये अत्यन्त भक्ति-भाव से आया हूँ ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—अद्वैत वेदान्त की गुरु-परम्परा अत्यन्त प्राचीन तथा महत्त्वपूर्ण है। उपनिषदों में आपाततः दीख पड़नेवाले विरोधों को दूर करने तथा मूल सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिये महर्षि वादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की तथा उनके तत्त्व अपने पुत्र शुकदेव को सिखलाये। इन्हीं शुकदेव से गौड़पाद ने अद्वैत-तत्त्व सीखकर गौड़पादकारिकाओं की रचना की। गौड़पाद के शिष्य हुए गोविन्दपाद और उनके शिष्य श्री शङ्कराचार्य थे। इस प्रकार अद्वैतवाद शङ्कर से आरम्भ न होकर अत्यन्त प्राचीन परम्परा से उन्हें प्राप्त हुआ था।

तस्मिन्निति स्तुवति कस्त्वमिति ब्रुवन्तं

दिष्ट्या समाधिपदरुद्धविसृष्टचित्तम् ।

गोविन्ददेशिकमुवाच तदा वचोभिः

प्राचीनपुण्यजनितात्मविबोधचिह्नैः ॥ ९८ ॥

शङ्कर के इस प्रकार स्तुति करने पर गोविन्दाचार्य भाग्यवश समाधि से उठे और पूछा—तुम कौन हो ? तब श्री शङ्कर, प्राचीन पुण्य के कारण, आत्मज्ञान के सूचक वचनों के द्वारा गोविन्दपाद से बोले—॥ ९८ ॥

स्वामिन्नहं न पृथिवी न जलं न तेजो
न स्पर्शनो न गगनं न च तद्गुणा वा ।
नापीन्द्रियाण्यपि तु विद्धि ततोऽवशिष्टो
यः केवलोऽस्ति परमः स शिवोऽहमस्मि ॥९९॥

हे स्वामिन् ! मैं पृथ्वी नहीं हूँ, न जल हूँ, न तेज हूँ, न वायु हूँ, न आकाश हूँ, और न उनके गुण हूँ और न मैं इन्द्रियाँ हूँ, प्रत्युत इनसे अवशिष्ट केवल जो परमतत्त्व शिव है, वही मैं हूँ ॥ ९९ ॥

आकर्ण्य शंकरमुनेर्वचनं तदित्थम्
अद्वैतदर्शनसमुत्थमुपात्तहर्षः ।
स प्राह शङ्कर स शङ्कर एव साक्षात्
जातस्त्वमित्यहमवैमि समाधिदृष्ट्या ॥१००॥

शङ्कर के इन वचनों को सुनकर अद्वैत के साक्षात्कार (अनुभव) से अत्यन्त प्रसन्नचित्त होकर गोविन्दपाद ने कहा कि हे कल्याणकारिन् ! समाधि-दृष्टि से देखकर मैं यही जानता हूँ कि तुम साक्षात् शङ्कर ही हो ॥ १०० ॥

तस्योपदर्शितवतश्चरणौ गुहाया
द्वारेऽन्यपूजयदुपेत्य स शङ्करार्यः ।
आचार इत्युपदिदेश स तत्र तस्मै
गोविन्दपादगुरवे स गुरुर्यतीनाम् ॥ १०१ ॥

तब गुफा के द्वार पर दिखाई पड़नेवाले गोविन्दनाथ के पास आकर शङ्कर ने प्रणाम किया और उनके चरणों की पूजा की। यतियों में

श्रेष्ठ गोविन्दपाद ने शङ्कर को यह उपदेश दिया कि इस प्रकार का आचरण करना शिष्य का परम कर्तव्य है ॥ १०१ ॥

शंकरः सविनयैरुपचारैरभ्यतोषयदसौ गुरुमेनम् ।
ब्रह्म तद्विदितमप्युपलिप्सुः संप्रदायपरिपालनबुद्धया ॥ १०२ ॥

उपनिषद् में प्रतिपादित, जाने हुए ब्रह्म को भी प्राप्त करने की इच्छा से शङ्कर ने सम्प्रदाय की रक्षा के विचार से ही विनय तथा उपचारों से अपने गुरु को प्रसन्न किया ॥ १०२ ॥

गोविन्दाचार्य से अद्वैत वेदान्त का अध्ययन

भक्तिपूर्वकृततत्परिचर्यातोषितोऽधिकतरं यतिवर्यः ।
ब्रह्मतामुपदिदेश चतुर्भिर्वेदशेखरवचोभिरमुष्मै ॥ १०३ ॥

भक्ति-पूर्वक की गई पूजा से सन्तुष्ट होकर यति-श्रेष्ठ गोविन्द ने उपनिषद् के चार वाक्यों के द्वारा ब्रह्मतत्त्व का उपदेश शङ्कर को दिया ॥१०३॥

टिप्पणी—उपनिषदों के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादन करनेवाले वाक्य को 'महावाक्य' कहते हैं। ये चारों वेदों से सम्बद्ध उपनिषदों से संगृहीत किये गये हैं और संख्या में चार हैं—

(१) 'तत् त्वमसि' (छान्दोग्य उप० ६।८।७) आत्मा तथा ब्रह्म की स्वभावसिद्ध एकता का प्रतिपादन करनेवाला सब से प्रसिद्ध महावाक्य है (सामवेद)।

(२) 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेय उप० ५) ब्रह्म को ज्ञान-स्वरूप बतलाता है (ऋग्वेद)।

(३) 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदा० उप० १।४।१०) गुरूपदेश से तत् (ब्रह्म) तथा त्वं (जीव) पदों के अर्थ का यथार्थ ज्ञान करने से मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सत्य स्वभाव ब्रह्म हूँ, यह अखण्डाकार चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है। इसी अनुभव का वर्णन इस वाक्य में किया गया है। यह 'अनुभव-वाक्य' कहलाता है। (यजुर्वेद)

(४) 'अयमात्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उप० २) परोक्ष रूप से बतलाये गये ब्रह्म को प्रत्यक्ष रूप से आत्मा होने का निर्देश करता है (अथर्ववेद)। इन महावाक्यों के अर्थ की बड़ी मीमांसा वेदान्त-ग्रन्थों में है।

सांप्रदायिकपराशरपुत्रप्रोक्तसूत्रमतगत्यनुरोधात् ।
शास्त्रगूढहृदयं हि दयालोः कृत्स्नमप्ययमबुद्ध सुबुद्धिः ॥ १०४ ॥

बुद्धिमान् शङ्कर ने सम्प्रदाय-वेत्ता पराशर-पुत्र व्यास के द्वारा कहे गये सूत्र के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म को जानकर दयालु व्यासजी के वेदान्त शास्त्र के गूढ़ अभिप्राय को भी भली भाँति जान लिया ॥ १०४ ॥

व्यासः पराशरसुतः किल सत्यवत्यां
तस्याऽऽत्मजः शुकमुनिः प्रथितानुभावः ।
तच्छिष्यतामुपगतः किल गौडपादो
गोविन्दनाथमुनिरस्य च शिष्यभूतः ॥१०५॥

पराशर के पुत्र सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न व्यासजी थे। उनके पुत्र विख्यात महिमाशाली शुकदेवजी हुए। उनके शिष्य हुए गौड़पाद और गौड़पाद के शिष्य हुए गोविन्दनाथ मुनि ॥ १०५ ॥

शुश्राव तस्य निकटे किल शास्त्रजालं
यश्चाशृणोद्‌ भुजगसद्मगतस्त्वनन्तात् ।
शब्दाम्बुराशिमखिलं समयं विधाय
यश्चाखिलानि भुवनानि बिभर्ति मूर्ध्ना ॥१०६॥

पाताल लोक में जाकर, समस्त जगत् को मस्तक पर धारण करनेवाले शेष नाग से प्रतिज्ञा करके अखिल शब्दशास्त्र (व्याकरण) को जिन्होंने पढ़ा था उन्हीं गोविन्दपाद के निकट रहकर शङ्कर ने समस्त शास्त्रों को पढ़ा ॥ १०६ ॥

सोऽधिगम्य चरमाश्रममार्यैः पूर्वपुण्यनिचयैरधिगम्यम् ।
स्थानमर्च्यमपि हंसपुरोगैरुन्नतं ध्रुव इवेत्य चकाशे ॥ १०७ ॥

पूर्व-पुण्यसमूह से प्राप्त होनेवाले, श्रेष्ठ यतियों के द्वारा पूजनीय, अन्तिम आश्रम संन्यास को पाकर शङ्कर उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार सूर्य आदि देवताओं से पूजित उन्नत स्थान को पाकर ध्रुव सुशोभित होते हैं ॥ १०७ ॥

छन्नमूर्तिरतिपाटलशाटीपल्लवेन रुरुचे यतिराजः ।
वासरोपरमरक्तपयोदाच्छादितो हिमगिरेरिव कूटः ॥ १०८ ॥

यतियों में श्रेष्ठ शङ्कर की मूर्ति अत्यन्त लाल वस्त्र रूपी पल्लव से ढकी थी। वे उसी प्रकार सुशोभित हुए जिस प्रकार सायंकाल में लाल मेघों से ढका हुआ हिमालय का शिखर ॥ १०८ ॥

एष धूर्जटिरबोधमहेभं संनिहत्य रुधिराप्लुतचर्म ।
उद्यदुष्णकिरणारुणशाटीपल्लवस्य कपटेन बिभर्ति ॥ १०९ ॥

जान पड़ता था कि यह साक्षात् शङ्कर के समान हैं जिन्होंने रुधिर से भीगे चामवाले गजाजिन को धारण किया था; क्योंकि आचार्य शङ्कर ने भी अज्ञान-रूपी बड़े भारी हाथी को मारकर प्रातःकाल में उदय होते हुए सूर्य के समान लाल वस्त्रों के व्याज से गजचर्म को धारण किया ॥१०९॥

[कवि इस श्लोक में शङ्कराचार्य को साक्षात् परम ब्रह्म का स्वरूप बतला रहा है ।]

श्रुतीनामाक्रीडः प्रथितपरहंसोचितगति-
र्निजे सत्ये धाम्नि त्रिजगदतिवर्तिन्यभिरतः ।
असौ ब्रह्मैवास्मिन्न खलु विशये किंतु कलये
बृहेरर्थं साक्षादनुपचरितं केवलतया ॥ ११० ॥

ब्रह्म समस्त श्रुतियों के द्वारा प्रतिपादित किया जाता है, क्योंकि श्रुति स्वयं कहती है कि सब वेद ब्रह्म का ही प्रतिपादन करते हैं। (सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति—कठ० अ० २।१५)। तत्त्वज्ञानियों के लिए ब्रह्म ही उचित पद है। वह स्वयं तीनों जगत् को अतिक्रमण करनेवाले सत्य

रूप अपने धाम में निरत रहनेवाला है। आचार्य शङ्कर की दशा भी ठीक ऐसी है। वे भी श्रुति के निरन्तर अभ्यास करनेवाले हैं। विख्यात ब्रह्मज्ञानियों के अन्तिम गति हैं तथा तीनों जगत् को अतिक्रमण करनेवाले अपने शुद्ध सत्य स्वरूप में रमण करनेवाले हैं। अतः 'बृह' धातु का जो मुख्य अर्थ है उसे मैं शङ्कर में विद्यमान पाता हूँ। इस विषय में मुझे किसी प्रकार का सन्देह नहीं है ॥ ११० ॥

मितं पादेनैव त्रिभुवनमिहैकेन महसा
विशुद्धं यत् सत्त्वं स्थितिजनिलयेष्वप्यनुगतम् ।
दशाकारातीतं स्वमहिमनि निर्वेदरमणं
ततस्तं तद्विष्णोः परमपदमाख्याति निगमः ॥१११॥

आचार्य शङ्कर विष्णु भगवान् से कई अंशों में बढ़कर हैं। विष्णु ने दो पदों से त्रिभुवन को मापा था, परन्तु शङ्कर ने ज्योतिरूप एक ही पद से त्रिभुवन को माप डाला है। इनका अबाधित रूप उत्पत्ति, स्थिति तथा लय इन तीनों अवस्थाओं में एक समान अनुस्यूत रहता है, परन्तु विष्णु का रूप तो सत्त्वगुण की ही स्थिति होने पर विद्यमान रहता है। ये दशा तथा आकार दोनों से विरहित हैं परन्तु विष्णु मत्स्यादि दस अवतारों को धारण करने से दशाकार से कथमपि रहित नहीं हैं। शङ्कर अपने स्वरूप में वैराग्य से रमण करनेवाले हैं। यही कारण है कि श्रुति भी आचार्य शङ्कर के पद को विष्णु के पद से बढ़कर बता रही है ॥ १११ ॥

टिप्पणी—जिस श्रुति का उल्लेख इस श्लोक में है वह प्रसिद्ध श्रुति है 'तद् विष्णोः परमं पदम्, सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवीव चक्षुराततम् (ऋ० १।२२।२०)

न भूतेष्वासङ्गः क्वचन न गवा वा विहरणं
न भूत्या संसर्गो न परिचितता भोगिभिरपि ।

तदप्याम्नायान्तस्त्रिपुरदहनात् केवलदशा
तुरीयं निर्द्वन्द्वं शिवमतितरां वर्णयति तम् ॥११२॥

भगवान् शङ्कर भूत प्रेतादि प्राणियों से सदा घिरे रहते हैं। बैल पर चढ़कर विहार करते हैं। शरीर में भस्म धारण करते हैं और सर्पों से (भोगियों से) सदा परिचित रहते हैं। परन्तु इन आचार्य शङ्कर के गुण तो इन बातों में बड़े विलक्षण हैं। वे प्राणियों में न तो किसी प्रकार की आसक्ति रखते हैं, न किसी इन्द्रिय के द्वारा विहार करते हैं, न उनका संसर्ग धन से है और न उनका परिचय विषय-सम्भोग से है। तो भी शङ्कर से विलक्षणता होने पर भी उपनिषद् विशुद्ध ब्रह्म के ज्ञान होने से स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों को नष्ट कर सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित चतुर्थ रूप परमशिव के रूप से शङ्कराचार्य का वर्णन करते हैं॥ ११२ ॥

टिप्पणी--माण्डूक्य उपनिषद् के अनुसार आत्मा के चार पाद हैं। पहला पाद वैश्वानर, दूसरा तैजस, तीसरा प्राज्ञ, और इन तीनों को अतिक्रमण करनेवाला जो चतुर्थ रूप है वही अद्वैत रूप है। उसे ही शिव कहते हैं।-- अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद। (माण्डूक्य उपनिषद् १२।)

न धर्मः सौवर्णो न पुरुषफलेषु प्रवणता
न चैवाहोरात्रस्फुरदरियुतः पार्थिवरथः।
असाहाय्येनैवं सति विततपुर्यष्टकजये
कथं तं न ब्रूयान्निगमनिकुरम्बं परशिवम् ॥११३॥

महादेव का धनुष सुवर्ण गिरि का बना हुआ था जब वे त्रिपुर नामक राक्षस को मारने के लिये उद्यत हुए थे। उनके बाण का फल स्वयं भगवान् विष्णु थे। पृथिवी ही रथ थी तथा सूर्य और चन्द्रमा जो दिन और रात के क्रमशः शत्रु हैं दोनों चक्के थे। ऐसे रथ की

सहायता लेकर महादेव ने त्रिपुर राक्षस का वध किया था। परन्तु आचार्य शङ्कर ब्राह्मणों के शोभन कर्मों में न तो निरत हैं और न पुरुषों के फलों में आसक्त हैं। रात-दिन प्रकट होनेवाले अहङ्कार, काम आदि शत्रुओं से युक्त न यह देहरूपी रथ उनके पास है। विरक्त होने से उन्हें देहाभिमान तक नहीं है। इस प्रकार बिना किसी सहायता के ही उन्होंने विशाल पुर्यष्टक का विजय प्राप्त कर लिया है। ऐसी दशा में यदि उपनिषद् उन्हें पर शिव (शिव से बढ़कर) बता रहा है तब आश्चर्य करने की कौन बात है ? अर्थात् आचार्य शङ्कर के गुण भगवान् शङ्कर से भी बढ़कर हैं॥ ११३॥

टिप्पणी—प्राण-पञ्चक, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, अन्तःकरण, अविद्या, काम, कर्म तथा वासना इन आठों वस्तुओं के समुदाय को वेदान्तशास्त्र में पुर्यष्टक कहते हैं। सर्वदर्शनसंग्रह में शब्दादि पञ्चविषय तथा मन, बुद्धि, अहंकार को पुर्यष्टक कहा गया है।

दुःखासारदुरन्तदुष्कृतघनां दुःसंसृतिप्रावृषं
दुर्वारामिह दारुणां परिहरन् दूराददाराशयः।
उच्चण्डप्रतिपक्षपण्डितयशोनालीकनालांकुर-
ग्रासो हंसकुलावतंसपदभाक् सन्मानसे क्रीडति ॥११४॥

आचार्य शङ्कर साक्षात् परमहंस रूप हैं। दुःख का आगमन वृष्टि-रूप है, पाप ही मेघ हैं। ऐसी दारुण संसाररूपी वर्षा ऋतु को उदाराशय शङ्कर ने दूर से ही छोड़ दिया है। वे प्रचण्ड प्रतिपक्षी पण्डितों के यशरूपी कमलनाल के अङ्कुर को निगल जानेवाले हैं। इस प्रकार परमहंसों में श्रेष्ठ आचार्य शङ्कर मानसरोवर के समान अपने मानस में सदा विहार करते हैं॥ ११४॥

क्षीरं ब्रह्म जगच्च नीरमुभयं तद्योगमभ्यागतं
दुर्भेदं त्वितरेतरं चिरतरं सम्यग्विभक्तीकृतम्।

येनाशेषविशेषदोषलहरीमासेदुर्षी शेमुर्षी
सोऽयं शीलवतां पुनाति परमो हंसो द्विजात्यग्रणीः ॥११५॥

वह ब्रह्म परमानन्द रूप होने से क्षीररूप है तथा दुःखरूप होने से यह जगत् नीररूप है। ये दोनों आपस में ऐसे घुले-मिले हैं कि इन दोनों को अलग करना बहुत कठिन है। परन्तु ब्राह्मणों में श्रेष्ठ परमहंसरूप ज्ञानी शङ्कर ने इन दोनों का अन्वेषण भले प्रकार कर अपने परमहंस होने का परिचय दिया है (दूध और पानी यदि एक साथ रक्खा जाय तो हंस उसमें दूध को ग्रहण कर लेता है और पानी को छोड़ देता है)। ऐसे शङ्कर राग-द्वेषादि वस्तुओं से सम्पर्कवाली सज्जनों की बुद्धि को पवित्र बनावें ॥ ११५ ॥

नीरक्षीरनयेन तथ्यवितथे संपिण्डिते पण्डितै-
र्दुर्बोधे सकलैर्विवेचयति यः श्रीशङ्कराख्यो मुनिः ।
हंसोऽयं परमोऽस्तु ये पुनरिहाशक्ताः समस्ताः स्थिता
जृम्भानिम्बफलाशनैकरसिकान् काकानमून् मन्महे ॥११६॥

इस संसार में नीर-क्षीर के समान सत्यभूत ब्रह्म और मिथ्यारूपी संसार इस प्रकार परस्पर मिल गये हैं कि पण्डितों के द्वारा दोनों का विवेचन भले प्रकार नहीं हो सकता। परन्तु इस कार्य में आचार्य शङ्कर सफल हुए हैं। इसलिये वे परमहंस हैं परन्तु जो लोग इस कार्य के करने में अशक्त हैं तथा निम्बफल के समान कटु फलवाले विषय-सुख के भोगने में रसिक हैं उन्हें मैं कौआ मानता हूँ ॥ ११६ ॥

दृष्टिं यः प्रगुणी करोति तमसा बाह्येन मन्दीकृतां
नालीकप्रियतां प्रयाति भजते मित्रत्वमव्याहतम् ।
विश्वस्योपकृतेर्विलुम्पति सुहृच्चक्रस्य चाऽऽर्तिं घनां
हंसः सोऽयमभिव्यनक्ति महतां जिज्ञास्यमर्थं मुहुः ॥११७॥

सूर्य भगवान् बाहरी अन्धकार से मन्द पड़नेवाली लोगों की दृष्टि को खोल देते हैं। वे कमल (नालीक) के प्रेमी हैं तथा संसार के कल्याणकारक होने के कारण मित्र कहे जाते हैं, अपने प्रेमी चक्रवाक के घने दुःख को वे दूर करनेवाले हैं। परन्तु आचार्य शङ्कर इस विषय में सूर्य से कहीं अधिक बढ़कर हैं। वे भीतरी अज्ञान-अन्धकार के द्वारा मन्द होनेवाली लोगों की ज्ञान-दृष्टि को खोल देते हैं। ये (नालीक) अलीक, मिथ्या-प्रपञ्च, के प्रेमी नहीं हैं। संसार के उपकारक होने से जगत् के मित्र हैं। वे एक नहीं, अनेकों मित्रों की घनी पीड़ा को दूर करते हैं तथा विद्वानों के द्वारा जानने योग्य परमार्थ-रूप ब्रह्म के एकत्व का प्रतिपादन करते हैं ॥ ११७ ॥

हंसभावमधिगत्य सुधीन्द्रे तं समर्चति च संसृतिमुक्त्यै ।
संचचाल कथयन्निव मेघश्चञ्चलाचपलतां विषयेषु ॥ ११८ ॥

जब विद्वत्श्रेष्ठ शङ्कराचार्य ने ब्रह्मभाव को प्राप्त कर संसार से मुक्ति के लिये उस परमात्मा का ध्यान किया तब, विषयों में अनुराग करना बिजली के समान चञ्चल है, इस बात को प्रकट करता हुआ मेघ उत्पन्न हुआ ॥ ११८ ॥

एष नः स्पृशति निष्ठुरपादैस्तत्तु तिष्ठतु वितीर्णमवन्यै ।
अस्मदीयमपि पुष्पमनैषीदित्यरोधि नलिनीपतिरब्दैः ॥ ११९ ॥

यह सूर्य हम लोगों को अपने निष्ठुर चरणों से सदा छूता है। इसका यह अपराध दूर रहे, परन्तु पृथ्वी को हमारे द्वारा दिये गये जल-रूपी फूल को यह दूर कर देता है। इस कारण कमलिनी के पति सूर्य को मेघों ने चारों ओर से घेर लिया ॥ ११९ ॥

वारिवाहनिवहे क्षणलक्ष्यश्रीररोचत किलाचिररोचिः ।
अन्तरङ्गगतबोधकलेव व्यापृतस्य विदुषो विषयेषु ॥ १२० ॥

मेघ के समुदाय में एक क्षण के लिये जिसकी प्रभा दीख पड़ती है ऐसी बिजली उसी प्रकार चमकी जिस प्रकार विषय में लगनेवाले ज्ञानी पुरुष के हृदय में रहनेवाली ज्ञान की कला क्षणमात्र के लिये चमक उठती है ॥ १२० ॥

किंतु विष्णुपदसंश्रयतोऽब्दा
ब्रह्मतामुपदिशन्ति सुहृद्भ्यः ।
यन्निशम्य निखिलाः स्वनमेषां
बिभ्रति स्म किल निर्भरमोदान् ॥ १२१ ॥

क्या विष्णु-पद में रहनेवाले ये मेघ अपने मित्रों को ब्रह्म का उपदेश दे रहे हैं ? क्योंकि उनकी आवाज़ को सुनकर समग्र प्राणी अत्यधिक आनन्द धारण कर लेते हैं ॥ १२१ ॥

देवराजमपि मां न यजन्ति ज्ञानगर्वभरिता यतयोऽमी ।
इत्यमर्षवशगेन पयोदस्यन्दनेन धनुराविरकारि ॥ १२२ ॥

ये यति लोग ज्ञान के अभिमान में चूर होकर देवताओं के अधिपति होने पर भी मेरा यज्ञ से पूजन नहीं करते । इस कारण क्रुद्ध होकर इन्द्र ने आकाश में अपना धनुष प्रकट कर दिया था ॥ १२२ ॥

आववुः कुटजकन्दलबाणास्फीतरेणुकलिता वनवात्याः ।
सत्त्वमध्यमतमोगुणमिश्रा मायिका इव जगत्सु विलासाः ॥१२३॥

कुटज के नये अङ्कुर तथा बाण नामक फूलों की अधिक धूलि से व्याप्त जङ्गली हवा उसी प्रकार चलने लगी जिस प्रकार सत्त्व, रज तथा तमोगुण से मिश्रित जगत् में माया के विलास ॥ १२३ ॥

बभ्रमुस्तिमिरसच्छविगात्राश्चित्रकार्मुकभृतः स्वरघोषाः ।
ध्यानयज्ञमथनाय यतीनां विद्युदुज्ज्वलदृशो घनदैत्याः ॥१२४॥

अन्धकार के समान शरीर की शोभावाले, विचित्र धनुष को धारण करनेवाले, कर्कश गर्जन तथा बिजली रूपी नेत्रों से युक्त होकर काले काले दैत्यों के समान मेघ मुनियों के ध्यान-रूपी यज्ञ को नष्ट करने के लिये आकाश में इधर से उधर घूमने लगे ॥ १२४ ॥

उत्ससर्जुरसकृज्जलधारा वारिदा गगनधाम पिधाय ।
शङ्करो हृदयमात्मनि कृत्वा संजहार सकलेन्द्रियवृत्तीः ॥१२५॥

मेघों ने आकाश को ढककर बारम्बार जलधारा छोड़ी। शङ्कर ने भी अपने हृदय को ब्रह्म में लगाकर समस्त इन्द्रियों के व्यापारों को छोड़ दिया ॥ १२५ ॥

शनैः सान्त्वालापैः सनयमुपनीतोपनिषदां
चिरायत्तं त्यक्त्वा सहजमभिमानं दृढतरम् ।
तमेत्य प्रेयांसं सपदि परहंसं पुनरसौ
अधीरा संस्प्रष्टुं क्व नु सपदि तद्धीर्लयमगात् ॥१२६॥

मानिनी नायिका को जब पास रहनेवाली (उपनिषद्) सखियाँ युक्ति-भरे मीठे वचनों से समझाती-बुझाती हैं तब वह अपने दृढ़तर अभिमान को छोड़कर प्रियतम के पास जाती है परन्तु लज्जा के मारे प्रियतम का वह स्वयं गाढ़ आलिङ्गन नहीं करती, प्रत्युत भागकर किसी कोने में जा छिपती है। ज्ञानी शङ्कर की बुद्धि की भी दशा ऐसी ही थी। ब्रह्मसूत्र में दिये गये तर्क से सम्पन्न उपनिषदों के सम्यक् उपदेशों को सुनकर उन्होंने चिरायत्त अपने दृढ़तर अभिमान को छोड़ दिया। प्रियतम रूप ब्रह्म के पास उनकी बुद्धि पहुँच भी गई, परन्तु उसे छूने में असमर्थ होकर वह स्वयं कहीं विलीन हो गई। आचार्य शङ्कर की असंप्रज्ञात समाधि का यह वर्णन है। संप्रज्ञात समाधि में बुद्धि का स्फुरण बना रहता है, परन्तु असंप्रज्ञात में उसका भी व्यापार एकदम बन्द हो जाता है ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—आत्मा हमारी समस्त प्रिय वस्तुओं से भी बढ़कर प्यारा है, अतः वह प्रियतम है। बृहदारण्यक उपनिषद् (१।४।८) कहता है—तदेतत् प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मादनन्तरतमं यदयमात्मा।

न सूर्यो नैवेन्दुः स्फुरति न च ताराततिरियं
कुतो विद्युल्लेखा कियदिह कृशानोर्विलसितम्।
न विद्मो रोदस्यौ न च समयमस्मिन्न जलदे
चिदाकाशे सान्द्रत्वग्सुखरसवर्ष्मण्यविरतम्॥ १२७॥

(कवि ब्रह्म-निर्वाण की दशा का वर्णन कर रहा है) सदा सान्द्र सुखरूप तथा रसमय, जलद (जडरूपी दृश्य जगत् को उत्पन्न करनेवाले मूलाज्ञान) से विरहित चिदाकाश में न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा; न ताराओं का समुदाय। न तो वहाँ बिजली चमकती है न अग्नि। न वहाँ द्यावापृथिवी का पता चलता है और न काल का। जब ब्रह्मप्राप्ति की दशा में सूर्यादि का स्फुरण नहीं होता, तब बुद्धि के स्फुरण की आशा रखना दुराशा मात्र है॥ १२७॥

टिप्पणी—यह पद्य निम्नलिखित श्रुति के अर्थ का प्रतिपादन करता है—
न यत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥ (कठ २।२।१५)

किमादेयं हेयं किमिति सहजानन्दजलधा-
वतिस्वच्छे तुच्छीकृतसकलमाये परशिवे।
तदेतस्मिन्नेव स्वमहिमनि विस्मापनपदे
स्वतः सत्ये नित्ये रहसि परमे सोऽकृत कृती॥१२८॥

ब्रह्म अत्यन्त स्वच्छ है, कार्य जगत् के साथ माया को निरादर करनेवाला है, सहज आनन्द का समुद्र है, परम शिवरूप है। वह अपनी महिमा में प्रतिष्ठित है, अत्यन्त विस्मयकारक है, स्वतः सत्य, नित्य तथा रहस्यभूत है। अपनी समाधि की दशा में आचार्य शङ्कर ने ऐसे स्वस्वरूप

से ऐकात्म्य प्राप्त कर लिया। व्युत्थान होने पर उन्होंने विचार किया कि इस समय क्या करना चाहिए, क्या ग्रहण करना चाहिए और क्या छोड़ना चाहिए ॥ १२८ ॥

वर्षा-वर्णन

प्राप विष्णुपदभागपि मेघः प्रावृडागमनतो मलिनत्वम् ।
विद्युदुज्ज्वलरुचाऽनुसृतश्च कोऽध्यवन्यपि भजेन्न विरागम्॥१२९॥

विष्णु के पद अर्थात् आकाश में रहनेवाला, बिजली की चमक से सुशोभित होनेवाला मेघ भी वर्षा के आगमन से मलिन पड़ गया। संसार में रहनेवाला कौन आदमी है जो वैराग्य को न धारण करेगा। भावार्थ यह है कि विष्णु की भक्ति करनेवाला तथा स्वभावतः रमणीय गुण-युक्त भी पुरुष यदि स्त्री के संसर्ग में पड़ जाता है तो अवश्य ही उसका चरित्र मलिन पड़ जाता है। इस बात को देखकर प्रत्येक व्यक्ति को चाहिए कि वैराग्य ग्रहण कर संसार का त्याग करे॥ १२९ ॥

आशये कलुषिते सलिलानां
मानसोत्कहृदयाः कलहंसाः ।
कोऽन्यथा भवति जीवनलिप्सु-
र्नाऽऽश्रये भजति मानसचिन्ताम् ॥ १३० ॥

जलाशयों के कलुषित हो जाने पर राजहंस मानसरोवर की ओर जाने की इच्छा करनेवाला हो गया। जीवन को चाहनेवाला कौन पुरुष आश्रय अर्थात् हृदय के परिवर्तित हो जाने पर मानसिक चिन्ता को प्राप्त करता है॥ १३० ॥

अभ्रवर्त्मनि परिभ्रममिच्छन् शुभ्रदीधितिरदभ्रपयोदे ।
न प्रकाशनमवाप कलावान् कश्चकास्ति मलिनाम्बरवासी॥१३१॥

कलाओं से युक्त चन्द्रमा मेघों के समुदाय से घिरे हुए आकाश में घूमने की इच्छा करता हुआ प्रकाश को न प्राप्त कर सका। भला मलिन कपड़ा पहिननेवाला आदमी कभी चमक सकता है ॥ १३१ ॥

चातकावलिरनल्पपिपासा प्राप तृप्तिमुदकस्य चिराय ।
प्राप्नुयादमृतमप्यभिवाञ्छन् कालतो बत घनाश्रयकारी ॥१३२॥

अत्यन्त पिपासित चातकों की पंक्तियों ने बहुत काल के बाद जल की तृप्ति को प्राप्त किया। उचित समय पर दृढ़ वस्तु के आश्रय को ग्रहण करनेवाला पुरुष यदि चाहे तो अमृत भी प्राप्त कर सकता है—अर्थात् जिस प्रकार गुरु के आश्रय में रहनेवाला छात्र कैवल्य प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार मेघ के आश्रय में चातकों ने भी अमृत (जल) प्राप्त किया ॥ १३२ ॥

इत्युदीर्णजलवाहविनीले स्फीतवातपरिधूततमाले ।
प्राणभृत्प्रचरणप्रतिकूले नीडनीलघनशालिनि काले ॥ १३३ ॥
अग्रहारशतसंभृतशोभे सुग्रहाक्षतुरगः स महात्मा ।
अध्युवास तटमिन्दुभवायाः सुध्युपास्यचरणं गुरुमर्चन् ॥१३४॥

इस प्रकार मेघों के कारण काले, प्रचण्ड हवा के द्वारा जब तमाल वृक्ष कम्पित हो रहे थे, जब प्राणियों का संचार रुक गया था, निविड़ नील वन की शोभा फैल रही थी, सैकड़ों ब्राह्मणों के निवास के कारण जिसकी शोभा बढ़ी हुई थी ऐसे समय में, समस्त अश्वरूपी इन्द्रियों को वश में करनेवाले उस महात्मा ने विद्वानों के द्वारा पूजित चरणवाले अपने गुरु के चरण की पूजा करते हुए नर्मदा के तट पर निवास किया ॥ १३३-१३४ ॥

त्रस्तमर्त्यगणमस्तमिताशं हस्तिहस्तपृथुलोदकधाराः ।
मुञ्चति स्म समुदञ्चितविद्युत्पञ्चरात्रमहिशत्रुरजस्रम् ॥१३५॥

वृत्रासुर के शत्रु भगवान् इन्द्र ने, मनुष्यों को डराते हुए, दिशाओं को नष्ट करते हुए, हाथी की सूँड़ के समान बड़ी जल की धारा, पाँच रात तक, जब बिजली चारों तरफ़ चमक रही थी, छोड़ी ॥ १३५ ॥

तीरभूरुहततीरपकर्षन्नग्रहारनिकरैः सह पूरः ।
आययावधिकघोषमनल्पः कल्पवार्धिलहरीव तटिन्याः ॥१३६॥

अग्रहारों के साथ, तीर पर उगनेवाले वृक्षों के समुदाय को गिराते हुए, प्रलय के समय समुद्र की लहरी के समान उस नदी का विपुल पूर (बाढ़) अत्यन्त आवाज़ करने लगा ॥ १३६ ॥

घोषवारिभरभीरुनराणां घोषमेष कलुषं स निशम्य ।
दैशिकं ध्रुवसमाधिविधानं वीक्ष्य च क्षणमभूदविवक्षुः ॥१३७॥

शङ्कर अत्यन्त आवाज़ करनेवाले जल के प्रवाह से डरे हुए लोगों के शब्द को सुनकर तथा अपने गुरु को निश्चल समाधि के अनुष्ठान में निमग्न देखकर क्षण भर के लिये मौन होकर बैठ गये ॥ १३७ ॥

सोऽभिमन्त्र्य करकं त्वरमाणस्तत्प्रवाहपुरतः प्रणिधाय ।
कृत्स्नमत्र समवेशयदम्भः कुम्भसंभव इव स्वकरेऽब्धिम् ॥१३८॥

उन्होंने जल्दी से एक घड़े का अभिमन्त्रण कर उस प्रवाह के सामने रक्खा और उसमें समस्त जल को इकट्ठा कर उसी प्रकार रख दिया जिस प्रकार अगस्त्य मुनि ने अपने हाथ में समुद्र को रख लिया था ॥ १३८ ॥

तं निशम्य निखिलैरपि लोकैरुत्थितोऽस्य गुरुरुक्तमुदन्तम् ।
योगसिद्धिमचिरादयमापेत्यभ्यपद्यततरां परितोषम् ॥ १३९ ॥

समाधि से उठकर गुरुजी सब लोगों के द्वारा कहे गये इस वृत्तान्त को सुनकर कि शङ्कर ने शीघ्र ही योगसिद्धि को प्राप्त कर लिया है, अत्यन्त सन्तुष्ट हुए ॥ १३९ ॥

छात्रमुख्यममुमाह कियद्भिर्वासरैर्गतघने गगने सः ।
पश्य सौम्य शरदा विमलं खं विद्ययेव विशदं परतत्त्वम् ॥१४०॥

कुछ दिनों के बाद आकाश में मेघों के विलीन हो जाने पर गुरु ने अपने शिष्यों में श्रेष्ठ आचार्य शङ्कर से कहा कि हे प्रियदर्शन! यह देखो शरद् के कारण आकाश कितना निर्मल हो गया है। ब्रह्म-विद्या के कारण ब्रह्म तथा आत्मा का एकतारूपी सिद्धान्त इसी प्रकार विशद हो जाता है ॥ १४० ॥

वारिदा यतिवराश्च सुपाथोधारया सदुपदेशगिरा च ।
ओषधीरनुचरांश्च कृतार्थीकृत्य संप्रति हि यान्ति यथेच्छम् ॥१४१॥

मेघ जल की धारा से ओषधियों को कृतार्थ कर इस समय मनचाहे स्थान को जाता है। उसी प्रकार संन्यासी लोग सुन्दर उपदेशों के द्वारा अपने अनुचरों को कृतार्थ कर इस शरद् में जहाँ चाहते हैं तहाँ जाते हैं ॥ १४१ ॥

शीतदीधितिरसौ जलमुग्भिर्मुक्तपद्धतिरतिस्फुटकान्तिः ।
भाति तत्त्वविदुषामिव बोधो मायिकावरणनिर्गमशुभ्रः ॥१४२॥

यह चन्द्रमा मेघों के द्वारा रास्ते के मुक्त होने पर अत्यन्त निर्मल कान्ति से वैसे ही चमकता है जैसे तत्त्वज्ञानियों का माया के आवरण के हट जाने से निर्मल ज्ञान ॥ १४२ ॥

वारिवाहनिवहे प्रतियाते भान्ति भानि शुचिभानि शुभानि ।
मत्सरादिविगमे सति मैत्रीपूर्वका इव गुणाः परिशुद्धाः ॥१४३॥

मेघों के चले जाने पर सुन्दर प्रकाशवाले शुभ नक्षत्र उसी तरह चमकते हैं जिस प्रकार राग-द्वेष के हट जाने पर मैत्री आदि गुण प्रकाशित होते हैं ॥ १४३ ॥

टिप्पणी—मैत्री, करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा योगशास्त्र में निर्दिष्ट चार सुप्रसिद्ध गुण हैं जिनके आश्रय लेने से चित्त की प्रसन्नता होती है। पतञ्जलि

का योगसूत्र है—"मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्" अर्थात् सुख में मित्रता (मैत्री), दुःख में करुणा, पुण्य में मुदिता (आनन्द), अपुण्य में उपेक्षा (अवहेलना, अनादर) करने से चित्त का प्रसादन होता है।

मत्स्यकच्छपमयी धृतचक्रा गर्भवर्तिभुवना नलिनाढ्या।
श्रीयुताऽद्य तटिनी परहंसैः सेव्यते मधुरिपोरिव मूर्तिः ॥१४४॥

जिस प्रकार मत्स्य और कच्छप अवतारवाली, सुदर्शन चक्र को धारण करनेवाली, गर्भ में चौदह भुवनों को धारण करनेवाली, कमल से पूजित, लक्ष्मी से समन्वित भगवान् विष्णु की मूर्ति परमहंसों के द्वारा सेवित की जाती है उसी प्रकार मत्स्य-कच्छप से युक्त, भँवर को धारण करनेवाली, अपने गर्भ में जल को रखनेवाली, कमलों से शोभित सुन्दर नदी हंसों के द्वारा इस शरत्काल में सेवित की जाती है ॥ १४४ ॥

नीरदाः सुचिरसंभृतमेते जीवनं द्विजगणाय वितीर्य।
त्यक्तविद्युदबलाः परिशुद्धाः प्रव्रजन्ति घनवीथिगृहेभ्यः ॥१४५॥

ये मेघ बहुत दिन से इकट्ठा किया गया जल ब्राह्मणों तथा पक्षियों को दान कर विद्युत-रूपी स्त्रियों को छोड़, उजले बनकर मेघ-पंक्ति रूपी घर से बाहर चले जा रहे हैं। जिस प्रकार दन्तहीन वृद्ध लोग घर में बहुत दिनों से इकट्ठा किया गया धन-धान्य ब्राह्मणों को देकर चञ्चल स्त्रियों को छोड़कर शुद्ध अन्तःकरण से अनेक गलीवाले घरों से निकलकर संन्यास ग्रहण कर बाहर जङ्गल में चले जाते हैं ॥ १४५ ॥

चन्द्रिकाभसितचर्चितगात्रश्चन्द्रमण्डलकमण्डलुशोभी।
बन्धुजीवकुसुमोत्करशाटीसंवृतो यतिरिवायमनेहा ॥१४६॥

यह शरत्काल चन्द्रिका के द्वारा सुशोभित चन्द्रमण्डल-रूपी कमण्डलु से भूषित बन्धुजीव के फूलरूपी वस्त्र से आच्छादित होकर संन्यासी की तरह प्रतीत हो रहा है ॥ १४६ ॥

हंससङ्गविलसद्विरजस्कं क्षोभवर्जितमपह्नुतपङ्कम् ।
वारि सारसमतीव गभीरं तावकं मन इव प्रतिभाति ॥ १४७ ॥

हंस के साथ शोभित होनेवाला, धूलि से रहित, तरङ्ग से विरहित, पङ्क को दूर करनेवाला यह तालाब का गम्भीर जल उसी प्रकार प्रकाशित होता है जिस प्रकार तुम्हारा (शङ्कर का) चित्त जो परमहंस (साधु) के साथ रहने से रजोगुणहीन है, क्षोभरहित है, पाप-विरहित है तथा अत्यन्त गम्भीर है ॥ १४७ ॥

शारदाम्बुधरजालपरीतं भ्राजते गगनमुज्ज्वलभानु ।
लिप्तचन्दनरजः समुदञ्चत्कौस्तुभं मुररिपोरिव वक्षः ॥ १४८ ॥

शरत्काल के मेघों से व्याप्त, मेघों से रहित होने के कारण स्वच्छ सूर्यवाला आकाश वैसे ही चमकता है जिस प्रकार चन्दन-रज से लिप्त, कौस्तुभ से मण्डित कृष्ण का वक्षःस्थल (छाती) ॥ १४८ ॥

पङ्कजानि समुदूढहरीणि प्रोद्गतानि विकचानि कनन्ति ।
सौम्य योगकलयेव विफुल्लान्युन्मुखानि हृदयानि मुनीनाम् ॥ १४९ ॥

हे सौम्य ! योग की कला से विकसित, विष्णु के चिन्तन में निमग्न, उन्नत विचारों से पूर्ण मुनियों के हृदय जिस प्रकार प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार खिले हुए सूर्य की किरणों को धारण करनेवाले, ऊपर मुँह उठाये हुए कमल चमक रहे हैं ॥ १४९ ॥

रेणुभस्मकलितैर्दलशाटीसंवृतैः कुसुमलिड्जपमालैः ।
वृन्तकुड्मलकमण्डलुयुक्तैर्धार्यते क्षितिरुहैर्यतितौल्यम् ॥ १५० ॥

धूलिरूपी भस्म से शोभित पत्ररूपी वस्त्र से आच्छादित, भ्रमर-रूपी जपमाला से मण्डित, कलि-रूपी कमण्डलु से युक्त वृक्ष संन्यासियों की समानता को धारण कर रहे हैं ॥ १५० ॥

धारणादिभिरपि श्रवणाद्यैर्वार्षिकाणि दिवसान्यपनीय ।
पादपद्मरजसाऽद्य पुनन्तः संचरन्ति हि जगन्ति महान्तः ॥ १५१ ॥

धारणा, ध्यान तथा समाधियों से और श्रवण, मनन, निदिध्यासन से वर्षाकाल के दिन बिताकर अपने चरण-कमल की धूलि से जगत् को पवित्र करते हुए महात्मा लोग शरत्काल में विचरण किया करते हैं ॥ १५१ ॥

तद्भवान् व्रजतु वेदकदम्बादुद्भवां भवदवाम्बुदमालाम् ।
तत्त्वपद्धतिमभिज्ञ विवेक्तुं सत्वरं हरपुरीमविविक्ताम् ॥ १५२ ॥

इसलिये तुम वेदों से उत्पन्न होनेवाली, संसार-रूपी आग को मेघमाला के समान शान्त कर देनेवाली, तत्त्वपद्धति (ज्ञान-मार्ग) को अच्छी तरह से जानने के लिये शीघ्र काशी चले जाओ ॥ १५२ ॥

अत्र कृष्णमुनिना कथितं मे पुत्र तच्छृणु पुरा तुहिनाद्रौ ।
वृत्रशत्रुमुखदैवतजुष्टं सत्रमत्रिमुनिकर्तृकमास ॥ १५३ ॥

इस विषय में कृष्णमुनि (व्यास) ने जो कहा था उसे सुनो। बहुत पहिले हिमालय के ऊपर वृत्रहन्ता इन्द्र आदि के द्वारा सेवित अत्रिमुनि की अध्यक्षता में यज्ञ हो रहा था ॥ १५३ ॥

संसदि श्रुतिशिरोर्थमुदारं शंसति स्म स पराशरसूनुः ।
इत्यपृच्छमहमत्रभवन्तं सत्यवाचमभियुक्ततमं तम् ॥ १५४ ॥

उस सभा में पराशर के पुत्र व्यास उपनिषदों के अर्थ की अच्छी तरह से व्याख्या कर रहे थे। उस समय सत्यवादी व्यास से मैंने यह पूछा—॥ १५४ ॥

आर्य वेदनिकरः प्रविभक्तो भारतं कृतमकारि पुराणम् ।
योगशास्त्रमपि सम्यगभाषि ब्रह्मसूत्रमपि सूत्रितमासीत् ॥१५५॥

हे आर्य ! वेद का आपने विभाग किया है, महाभारत तथा पुराण की रचना की है, योगशास्त्र पर भाष्य लिखा है तथा ब्रह्मसूत्र की भी रचना की है ॥ १५५ ॥

अत्र केचिदिह विप्रतिपन्नाः कल्पयन्ति हि यथायथमर्थान् ।
अन्यथाग्रहणनिग्रहदक्षं भाष्यमस्य भगवन् करणीयम् ॥ १५६ ॥

इस ब्रह्मसूत्र में सन्देह धारण करनेवाले अनेक विद्वान् अर्थों की मनमानी कल्पना किया करते हैं। इसलिये इसका ऐसा भाष्य लिखने की आवश्यकता है, जिससे अनुचित अर्थ करनेवालों का पराजय किया जाय ॥ १५६ ॥

मद्वचः स च निशम्य सभायां विद्वदग्रसर वाचमवोचत्।
पूर्वमेव दिविषद्भिरुदीर्णः पार्वतीपतिसदस्ययमर्थः ॥ १५७ ॥

सभा में मेरा यह वचन सुनकर वे विद्वत्-शिरोमणि बोले कि शिवजी की सभा में बहुत पहिले ही देवताओं ने इस बात का निर्णय कर दिया है ॥ १५७ ॥

वत्स तं शृणु समस्तविदेको मत्समस्तव भविष्यति शिष्यः।
कुम्भ एव सरितः सकलं यः संहरिष्यति महोल्बणमम्भः ॥१५८॥

हे वत्स ! उस बात को सुनो। मेरे समान ही सब विषयों को जाननेवाला तुम्हारा एक शिष्य होगा जो एक घड़े के भीतर ही नदी की विशाल जलराशि को भरकर रख देगा ॥ १५८ ॥

दुर्मतानि निरसिष्यति सोऽयं शर्मदायि च करिष्यति भाष्यम्।
कीर्तयिष्यति यशस्तव लोकः कार्तिकेन्दुकरकौतुकि येन ॥१५९॥

वह विपरीत मतों का खण्डन करेगा और कल्याणकारक भाष्य बनायेगा जिससे शरत्काल की चन्द्रमा की किरणों के समान सुन्दर तुम्हारे यश को चारों ओर फैलायेगा ॥ १५९ ॥

इत्युदीर्य मुनिराट् स वनान्ते पत्युराप सुगिरिं गिरिजायाः।
तन्मुखाच्छ्रुतमशेषमिदानीं सन्मुनिप्रिय मया त्वयि दृष्टम् ॥१६०॥

जङ्गल में इतना कहकर वह मुनिराज वेदव्यास कैलाश पर्वत पर पहुँच गये। उनके मुँह से जो कुछ बात मैंने सुनी थी वे सब बातें, हे सज्जन और मुनियों के प्यारे, इस समय तुममें दिखलाई पड़ रही हैं ॥१६०॥

स त्वमुत्तमपुमानसि कश्चित् तत्त्ववित्प्रवर नान्यसमानः ।
तद्यतस्व निरवद्यनिबन्धैः सद्य एव जगदुद्धरणाय ॥ १६१ ॥

हे ज्ञानी-श्रेष्ठ ! तुम उत्तम पुरुष हो। तुम्हारे समान अन्य कोई पुरुष नहीं है। इसलिये अनिन्दनीय ग्रन्थों की रचना कर संसार के उद्धार के लिये तुरन्त उद्योग करो ॥ १६१ ॥

गच्छ वत्स नगरं शशिमौलेः स्वच्छदेवतटिनीकमनीयम् ।
तावता परमनुग्रहमाद्या देवता तव करिष्यति तस्मिन् ॥१६२॥

हे वत्स ! तुम देवनदी गङ्गा के द्वारा सुन्दर शिवपुरी (काशी) में जाओ। वहाँ जाने ही से वह आद्यदेव शङ्कर तुम पर अनुग्रह करेंगे ॥ १६२ ॥

एवमेनमनुशास्य दयालुः पावयन्निजदृशा विससर्ज ।
भावतः स्वचरणाम्बुजसेवामेव शश्वदभिकामयमानम् ॥१६३॥

इतना कहकर दयालु गुरुदेव ने अपनी कृपा-दृष्टि से पवित्र करते हुए भक्ति से उनके चरण-कमल की सेवा को सदा चाहनेवाले शिष्य को काशी भेज दिया ॥ १६३ ॥

पङ्कजप्रतिभटं पदयुग्मं शङ्करोऽस्य निरगादसहिष्णुः ।
तद्वियोगमभिवन्द्य कथंचित् तद्विलोकनमयन् हृदयाब्जे ॥ १६४ ॥

शङ्कर भी गुरु के कमल-सदृश दोनों चरणों को प्रणाम कर उनके वियोग को सहने में असमर्थ होकर उनके दर्शन को किसी तरह अपने हृदय-कमल में रखकर काशी के लिये चल पड़े ॥ १६४ ॥

प्राप तापसवरः स हि काशीं नीपकाननपरीतसमीपाम् ।
आपगानिकटहाटकचञ्चद्यूपपङ्क्तिसमुदञ्चितशोभाम् ॥ १६५ ॥

वह तपस्वी कदम्ब-वृक्षों से आच्छादित काशी में पहुँचे जहाँ गङ्गा नदी के किनारे सोने से चमकनेवाले यज्ञ-यूप के समुदाय से महती शोभा की जा रही थी ॥ १६५ ॥

संददर्श स भगीरथतप्तामन्दतीव्रतपसः फलभूताम् ।
योगिराडुचिततीरनिकुञ्जां भोगिभूषणजटातटभूषाम् ॥ १६६ ॥

वहाँ पर योगिराट् शङ्कर ने भगीरथ की अमन्द तीव्र तपस्या की फलरूपिणी, तीर पर निकुञ्जों से आच्छादित तथा सर्पों से भूषित शङ्कर की जटा के अलङ्कार-स्वरूप भागीरथी को देखा ॥ १६६ ॥

विष्णुपादनखराब्जननाद्वा शम्भुमौलिशशिसंगमनाद्वा ।
या हिमाद्रिशिखरात् पतनाद्वा स्फाटिकोपमजला प्रतिभाति॥१६७॥

वह गङ्गा विष्णु के चरणों के नख से उत्पन्न होने के कारण अथवा शङ्कर के मस्तक पर चन्द्रमा के साथ समागम होने के कारण या हिमालय के शिखर से गिरने के हेतु स्फटिक पत्थर की तरह स्वच्छ जल से युक्त होकर सुशोभित हो रही थी ॥ १६७ ॥

गायतीव कलषट्पदनादैर्नृत्यतीव पवनोच्चलिताब्जैः ।
मुञ्चतीव हसितं सितफेनैः श्लिष्यतीव चपलोर्मिकरैर्या ॥१६८॥

वह गङ्गा भौंरों के कमनीय, सुन्दर गुञ्जार से मानों गीत गाती थी , पवन के द्वारा हिलाये गये कमलों से मानों नाचती थी , सफ़ेद फेनों के बहाने मानों हँसी का फ़ौवारा छोड़ रही थी तथा चञ्चल चपल तरङ्गरूपी हाथों से मानों काशी को आलिङ्गन कर रही थी ॥१६८॥

श्यामला क्वचिदपाङ्गमयूखैश्चित्रिता क्वचन भूषणभाभिः ।
पाटला कुचतटीगलितैर्या कुङ्कुमैः क्वचन दिव्यवधूनाम् ॥१६९॥

दिव्य वधुओं के कटाक्षों की किरणों से वह कहीं पर श्यामल थी, भूषणों की प्रभा से कहीं पर चित्रित थी, स्तन-तट पर घिरे हुए कुङ्कुम से कहीं वह पाटल (श्वेत—रक्त) थी ॥ १६९ ॥

सोऽवगाह्य सलिलं सुरसिन्धोरुत्ततार शितिकण्ठजटाभ्यः ।
जाह्नवीसलिलवेगहृतस्तद्योगपुण्यपरिपूर्ण इवेन्दुः ॥ १७० ॥

भगवान् शङ्कर के जटाजूट से गङ्गा के वेग से हरण किये गये तथा गङ्गा के सहयोग के कारण पुण्यों से परिपूर्ण चन्द्रमा के समान आचार्य शङ्कर ने गङ्गा के जल में स्नान कर नदी को पार किया ॥ १७० ॥

स्वर्णदीजलकणाहितशोभा मूर्तिरस्य सुतरां विललास ।
चन्द्रपादगलदम्बुकणाङ्का पुत्रिका शशिशिलारचितेव ॥१७१॥

इनकी मूर्ति स्वर्ग-नदी गङ्गा के जल में नहाने से शोभा से सम्पन्न बनकर इस प्रकार चमक उठी जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि की बनी हुई, चन्द्र की किरणों के कारण निकलनेवाले जल-बिन्दुओं से चिह्नित, पुत्त-लिका शोभित होती है ॥ १७१ ॥

विश्वेशश्चरणयुगं प्रणम्य भक्त्या
हर्याद्यैस्त्रिदशवरैः समर्चितस्य ।
सोऽनैषीत् प्रयतमना जगत्पवित्रे
क्षेत्रेऽसाविह समयं कियन्तमार्यः ॥ १७२ ॥

आर्य शङ्कर ने विष्णु आदि देवताओं के द्वारा पूजित विश्वेश्वर के दोनों चरणों को प्रणाम कर, मन को जीतकर जगत् में पवित्र इस काशी क्षेत्र में बहुत सा समय बिताया ॥ १७२ ॥

इति श्रीमाधवीये तत्सुखाश्रमनिवासगः ।
संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽयं पञ्चमोऽभवत् ॥ ५ ॥

श्री माधवीय संक्षेप शङ्कर-दिग्विजय का शङ्कर के संन्यास-ग्रहण का वर्णन करनेवाला पञ्चम सर्ग समाप्त हुआ ।

षष्ठ सर्ग

आत्मविद्या की प्रतिष्ठा

[इस सर्ग में आचार्य शङ्कर से 'सनन्दन' के संन्यास ग्रहण करने, विश्वनाथजी से भेंट होने तथा उनकी आज्ञा से बदरीनाथ जाकर ब्रह्मसूत्र, गीता तथा उपनिषदों पर भाष्य लिखने का विस्तृत वर्णन किया गया है ।]

सनन्दन का संन्यास-ग्रहण

अथाऽऽगमद् ब्राह्मणसूनुरादराद्धीतवेदो दलयन् स्वभासा ।
तेजांसि कश्चित् सरसीरुहाक्षो दिदृक्षमाणः किल देशिकेन्द्रम् ॥१॥

इसके बाद समस्त वेदों का अध्ययन करनेवाला, कमल के समान सुंदर नेत्रोंवाला, ब्राह्मण-कुमार आचार्य को देखने के लिये अपनी प्रभा से दूसरों के तेज को नष्ट करता हुआ बड़े आदर के साथ आया ॥ १ ॥

आगत्य देशिकपदाम्बुजयोरपप्तत् संसारवारिधिमनुत्तरमुत्तितीर्षुः ।
वैराग्यवानकृतदारपरिग्रहश्च कारुण्यनावमधिरुह्य दृढां दुरापाम् ॥२॥

उत्थाप्य तं गुरुरुवाच गुरुर्द्विजानां
कस्त्वं क्व धाम कुत आगत आत्तधैर्यः ।

बालोऽप्यबालधिषणः प्रतिभासि मे त्वम्

एकोऽप्यनेक इव नैकशरीरभावः ॥ ३ ॥

वह ब्राह्मणकुमार दृढ़ तथा दुष्प्राप्य गुरुकृपा रूपी नाव पर चढ़कर, कठिन संसार-रूपी समुद्र को पार जाना चाहता था, न वैराग्य से विवाह ही करनेवाला था। वह बालब्रह्मचारी आकर अपने गुरु के चरणों पर गिर पड़ा। गुरु ने उसे उठाकर पूछा—तुम कौन हो ? तुम्हारा घर कहाँ है ? कहाँ से आये हो ? अत्यन्त धीर हो, बालक होने पर भी तुम्हारी बुद्धि बालक की तरह नहीं प्रतीत हो रही है। एक होने पर भी एक भी शरीर में अभिमान न रखने के कारण तुम अनेक की तरह जान पड़ते हो ॥२-३॥

पृष्टो बभाण गुरुमुत्तरमुत्तरज्ञो

विप्रो गुरो मम गृहं बुधचोलदेशे ।

यत्राऽऽपगा वहति तत्र कवेरकन्या

यस्याः पयो हरिपदाम्बुजभक्तिमूलम् ॥ ४ ॥

उत्तर को जाननेवाला वह बालक अपने गुरु से कहने लगा—भगवन्! मैं ब्राह्मण हूँ। मेरा घर चोल देश में हैं जहाँ पर कावेरी नदी बहती है, जिसका जल भगवान् विष्णु के चरण-कमल में भक्ति उत्पन्न करनेवाला है ॥ ४ ॥

अटाट्यमानो महतो दिदृक्षुः क्रमादिमं देशमुपागतोऽस्मि ।

बिभेमि मज्जन् भववारिराशौ तत्पारगं मा कृपया विधेहि ॥ ५ ॥

महात्माओं के दर्शन करने की इच्छा से मैं निरन्तर घूमता हुआ इस देश में आया हूँ। संसार-रूपी समुद्र में डूबने से मैं डरता हूँ। कृपया मुझे इस समुद्र के पार लगा दीजिए ॥ ५ ॥

अपाङ्गैरुत्तुङ्गैरमृतझरभङ्गैः परगुरो

शुचा दूनं दीनं कलय दयया मामविमृशन् ।

गुणं वा दोषं वा मम किमपि संचिन्तयसि चेत्
तदा कैव श्लाघा निरवधिकृपानीरधिरिति ॥६॥

हे गुरुदेव ! मैं शोक से खिन्न तथा दीन हूँ। मेरे गुण-दोष का बिना विचार किये सुधारस को प्रवाहित करनेवाले, अपने नेत्र के कोने से (कृपा-कटाक्ष) मुझे देखिए। यदि आप मेरे गुण-दोष का विचार करेंगे तो आपकी कृपा के अनन्त समुद्र की यह प्रशंसा कहाँ रहेगी ? ॥ ६ ॥

स्यात्ते दीनदयालुताकृतयशोराशिस्त्रिलोकीगुरो
तूर्णं चेदयसे ममाद्य न तथा कारुण्यतः श्रीमति ।
वर्षन् भूरि मरुस्थलीषु जलभृत् सद्भिर्यथा पूज्यते
नैवं वर्षशतं पयोनिधिजले वर्षन्नपि स्तूयते ॥ ७ ॥

हे त्रिलोकीनाथ ! यदि आप मुझ ग़रीब पर करुणा से शीघ्र दया करेंगे तो दीन-दयालुता के कारण आपको जितना यश मिलेगा उतना धनिक के ऊपर दया करने से कभी नहीं मिल सकता। मरुस्थल में पानी बरसानेवाले मेघ की सज्जन लोग जितनी प्रशंसा करते हैं, क्या समुद्र के जल में सौ वर्ष तक भी पानी बरसानेवाले मेघ की भला उतनी स्तुति हो सकती है ? ॥ ७ ॥

त्वत्सारस्वतसारसारससुधाकूपारसत्सारस-
स्रोतःसंभृतसंततोज्ज्वलजलक्रीडा मतिर्मे मुने ।
चञ्चत्पञ्चशरादिवञ्चनहतं न्यञ्चं प्रपञ्चं हित-
ज्ञानाकिंचनमा विरञ्चमखिलं चाऽऽलोचयन्त्यञ्चतु ॥८॥

आपकी सरस्वती का सार ही चन्द्र-सम्बन्धी अमृत-समुद्र है, जिसके अच्छे कमलों से युक्त प्रवाहों में बहनेवाले निर्मल जल में मेरी बुद्धि सदा क्रीड़ा किया करती है। हे मुनि ! चञ्चल कामदेव के द्वारा ठगे जाने से पीड़ित, नीच, अपने हित के जानने में असमर्थ ब्रह्मा तक

समग्र प्रपञ्च को मनन करती हुई वही मेरी बुद्धि विचरण करे। आशय है कि समस्त संसार काम-क्रोध के फन्दे में फँसा हुआ है। इसलिये मेरी बुद्धि इनसे हटकर अद्वैततत्त्व का साक्षात्कार करे तथा जीवन्मुक्ति के भव्य मन्दिर में विहार करे ॥ ८ ॥

सौरं धाम सुधामरीचिनगरं पौरन्दरं मन्दिरं
कौबेरं शिबिरं हुताशनपुरं सामीरसद्मोत्तरम्।
वैधं चाऽऽवसथं त्वदीयफणितिश्रद्धासमिद्धात्मनः
शुद्धाद्वैतविदो न दोग्धि विरतिश्रीघातुकं कौतुकम् ॥९॥

सूर्य का लोक, चन्द्रमा का नगर, पुरन्दर का मन्दिर, कुबेर का शिविर, अग्नि का नगर, वायु का घर, ब्रह्मा का उत्तम निवास—ये सब तुम्हारे वचनों में श्रद्धा-युक्त चित्तवाले शुद्ध अद्वैत को जाननेवाले पुरुष की वैराग्य-लक्ष्मी को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते। ब्रह्मवेत्ता, त्यागी पुरुष के चित्त को ये अलौकिक बातें किञ्चिन्मात्र भी आकृष्ट नहीं करतीं ॥ ९ ॥

न भौमा रामाद्याः सुषमविषवल्लीफलसमाः
समारम्भन्ते नः किमपि कुतुकं जातु विषयाः।
न गण्यं नः पुण्यं रुचिरतररम्भाकुचतटी-
परीरम्भारम्भोज्ज्वलमपि च पौरन्दरपदम् ॥ १० ॥

सुन्दर विषवल्ली के फल के समान विषय अथवा इस भूलोक की सुन्दरी स्त्रियाँ हमारे हृदय में किसी प्रकार का भी कौतुक कभी नहीं उत्पन्न करतीं तथा सुन्दर रम्भा नामक अप्सरा के स्तन-तट के आलिङ्गन से रमणीय होनेवाला भी, पुण्य से प्राप्य, इन्द्रपद हमारे लिये नगण्य है ॥१०॥

न चञ्चद्वैरिञ्चं पदमपि भवेदादरपदं
वचो भव्यं नव्यं यदकृत कृती शङ्करगुरुः।
चकोराली चञ्चूपुटदलितपूर्णेन्दुविगलत्
सुधाधाराकारं तदिह वयमीहेमहि मुहुः ॥ ११ ॥

ब्रह्मा का रुचिर स्थान भी हमारे हृदय में किसी प्रकार का आदर नहीं पाता। हम लोग तो शङ्कराचार्य के उस भव्य और नव्य वचन के लिये लालायित हैं जो चकोरों की चोंच से विदलित किये गये, पूर्ण चन्द्रमा से गिरनेवाली सुधा की धारा के समान है। आशय यह है कि विद्वान् लोग ब्रह्मा के नीरस पद को तुच्छ मानकर शङ्कराचार्य का कविता पढ़ने के अभिलाषी हैं॥ ११॥

द्यावाभूमिशिवंकरैर्नवयशःप्रस्तावसौवस्तिकैः
पूर्वाखर्वतपःपचेलिमफलैः सर्वाधिमुष्टिंधयैः।
दीनाढ्यंकरणैर्भवाय नितरां वैरायमाणैरलं-
कर्मीणं प्रसितं त्वदीयभजनैः स्यान्मामकीनं मनः॥१२॥

आपके भजन पृथ्वी और आकाश में सुख देनेवाले और नये यश के प्रस्ताव को आरम्भ करनेवाले हैं। पूर्वजन्म में अर्जित तपस्या के ये पके हुए फल हैं, सब आधियों को दूर करनेवाले हैं, दीनों को धनी बनानेवाले और संसार से नित्य वैर करनेवाले हैं। ऐसे भजनों में मेरा मन सदा लगा रहे॥ १२॥

संसारबन्धामयदुःखशान्त्यै स एव नस्त्वं भगवानुपास्यः।
भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमीत्युक्तस्य योऽभूदुदितावतारः॥१३॥

हे भगवन्, संसार के बन्धन-रूपी रोग और दुःख की शान्ति के लिये आप ही मेरी उपासना के पात्र हैं। श्रुति में जिस शङ्कर को वैद्यों में श्रेष्ठ वैद्य बतलाया गया है उन्हीं के आप साक्षात् अवतार हैं॥ १३॥

टिप्पणी—शिव के बारे में श्रुति कहती है कि वह वैद्यों में सर्वश्रेष्ठ हैं "भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि" (ऋ० २।३३।४)। शिव के हाथ में रोग को दूर करनेवाली ठंढी ओषधि रहती है। शिव के पास रोग-निवारण करने की शक्ति का उल्लेख अनेक बार किया गया है। उनके पास हज़ारों ओषधियाँ

हैं जिनके द्वारा वे विष तथा ज्वर (तक्मन्) का निवारण करते हैं। इस प्रसंग में रुद्र के विषय में दो विशिष्ट विशेषण उपलब्ध होते हैं—जलाष (ठंढक पहुँचानेवाला) तथा जलाषभेषज (ठण्ढी दवाओं को रखनेवाला)

क्व स्य ते रुद्र मृळयाकुर्हस्तो यो अस्ति भेषजो जलाषः ॥—ऋ० २।३३।७

शिव के अवतार होने से आचार्य शङ्कर से भी रोग-निवारण की प्रार्थना उपयुक्त ही है।

इत्युक्तवन्तं कृपया महात्मा व्यदीपयत् संन्यसनं यथावत् ।
प्राहुर्महान्तः प्रथमं विनेयं तं देशिकेन्द्रस्य सनन्दनाख्यम् ॥१४॥

इतनी बात कहने पर शङ्कराचार्य ने उस बालक के संन्यास-भाव को कृपा से और भी उद्दीप्त किया। महापुरुष लोग इसे 'सनन्दन' नामक प्रथम शिष्य बतलाते हैं ॥ १४ ॥

टिप्पणी—यही 'सनन्दन' आचार्य के प्रथम शिष्य थे तथा ये विष्णु के अवतार बतलाये गये हैं। द्रष्टव्य—३ सर्ग, श्लोक २।

संसारघोरजलधेस्तरणाय शश्वत्
सांयात्रिकीभवनमर्दयमानमेनम् ।
हन्तोत्तमाश्रमतरीमधिरोप्य पारं
निन्ये निपातितकृपारसकेनिपातः ॥ १५ ॥

जो व्यक्ति संसाररूपी घोर समुद्र से पार ले जाने के लिये शङ्कर से पोत-वणिक् (समुद्र में जहाज से व्यापार करनेवाला बनिया) बनने के लिये प्रार्थना कर रहा था, उसे अपनी कृपा को डाँड़ बनाकर संन्यास-रूपी नाव पर बैठाकर शङ्कर ने उस पार लगा दिया ॥ १५ ॥

येऽप्यन्येऽमुं सेवितुं देवतांशा
याताास्तेऽपि प्राय एवं विरक्ताः ।
क्षेत्रे तस्मिन्नेव शिष्यत्वमस्य
प्रापुः स्पष्टं लोकरीत्याऽपि गन्तुम् ॥ १६ ॥

दूसरे भी देवता के अंशवाले पुरुष शङ्कर की सेवा करने के लिये आये थे वे विरक्त होकर इसी काशी क्षेत्र में लोक-रीति का अनुसरण कर आचार्य के शिष्य बन गये ॥ १६ ॥

व्याख्या मौनमनुत्तराः परिदलच्छङ्काकलङ्काङ्कुरा-
श्छात्रा विश्वपवित्रचित्रचरितास्ते वामदेवादयः ।
तस्यैतस्य विनीतलोकततिमुद्धर्तुं धरित्रीतलं
प्राप्तस्याद्य विनेयतामुपगता धन्याः किलान्यादृशः ॥१७॥

आचार्य शङ्कर की महिमा अपार है। मौन ही उनका व्याख्यान था। शङ्का-कलङ्क के अङ्कुर को भी उखाड़ डालनेवाले तथा विश्व में पवित्रचरित्र वामदेवादिक ऋषि लोग उनके अनुपम छात्र थे। लोकों का उद्धार करने के लिये भूतल पर आनेवाले उन्हीं शङ्कराचार्य का शिष्यत्व सर्वविलक्षण धन्य व्यक्तियों ने स्वीकार किया ॥ १७ ॥

शेषः साधुभिरेव तोषयति नून् शब्दैः पुमर्थार्थिनो
वाल्मीकिः कविराज एष वितथैरर्थैर्मुहुः कल्पितैः ।
व्याचष्टे किल दीर्घसूत्रसरणिर्वाचं चिरादर्थदां
व्यासः शंकरदेशिकस्तु कुरुते सद्यः कृतार्थानहो ॥ १८ ॥

शेषनाग साधु शब्दों के द्वारा ही मोक्ष चाहनेवाले लोगों को सन्तोष देते हैं। कवियों में श्रेष्ठ वाल्मीकि भी अयथार्थ केवल कल्पित अर्थों के द्वारा मनुष्यों को सन्तोष देते हैं। व्यास लम्बे लम्बे सूत्र बनाकर बहुत देर के बाद अर्थ का प्रतिपादन करते हैं परन्तु आश्चर्य की बात है कि आचार्य शङ्कर इन लोगों को तुरन्त ही कृतार्थ कर देते हैं। (इस प्रकार शङ्कर का गौरव शेष, वाल्मीकि तथा व्यास से बढ़कर है) ॥ १८ ॥

चक्रितुल्यमहिमानमुपासां चक्रिरे तमविमुक्तनिवासाः ।
वक्रसृत्यनुसृतामपि साध्वीं चक्रुरात्मधिषणां तदुपास्त्या ॥१९॥

काशी के रहनेवाले विद्वानों ने विष्णु के समान प्रभावशाली शङ्कर की उपासना की तथा उस उपासना से टेढ़े मार्ग में जानेवाली भी अपनी बुद्धि को उन्होंने साधु बना दिया ॥ १९ ॥

चण्डभानुरिव भानुमण्डलैः पारिजात इव पुष्पजाततः ।
वृत्रशत्रुरिव नेत्रवारिजैश्छात्रपङ्क्तिभिरलं ललास सः ॥ २० ॥

किरणों से सूर्य के समान, फूलों से पारिजात की तरह, नेत्ररूपी कमलों से इन्द्र की तरह, छात्रवृन्दों से घिरे हुए शङ्कर अत्यन्त शोभित हुए ॥ २० ॥

विश्वनाथ से साक्षात् भेंट

एकदा खलु वियत्त्रिपुरद्विड्भाललोचनहुताशनभानोः ।
विस्फुलिङ्गपदवीं दधतीषु प्रज्वलत्तपनकान्तशिलासु ॥ २१ ॥
दर्शयत्युरुमरीचिसरस्वत्पूरसृज्यपरमायिनि भानौ ।
साधुनैकमणिकुट्टिममूर्छद्रश्मिजालकशिखावलपिच्छम् ॥ २२ ॥
पङ्कजावलिविलीनमराले पुष्करान्तरभिगत्वरमीने ।
शाखिकोटरशयालुशकुन्ते शैलकन्दरशरण्यमयूरे ॥ २३ ॥
शङ्करो दिवसमध्यमभागे पङ्कजोत्पलपरागकषायाम् ।
जाह्नवीमभिययौ सह शिष्यैराह्निकं विधिवदेष विधित्सुः ॥२४॥

एक बार जब जलती हुई सूर्यकान्त की शिलाएँ त्रिपुरारि शङ्कर के भाल-लोचन से निकलनेवाली अग्नि की चिनगारियों का रूप धारण कर रही थीं अर्थात् पत्थर जब गर्मी के मारे लहक रहे थे; जब सूर्य अपनी अनेक किरणों से समुद्र की बाढ़ की सृष्टि कर रहा था तथा अनेक मणिकुट्टिम (पृथ्वी) के ऊपर पड़नेवाली किरणों से मोर के पङ्खों की शोभा दिखलाकर ऐन्द्रजालिक की तरह प्रतीत हो रहा था; गर्मी के मारे हंसों के-कमल-पंक्तियों में छिप जाने पर, मछलियों के पानी के भीतर

चले जाने पर, चिड़ियों के वृक्षों के कोटर में सो जाने पर, मोरों के पर्वत की कन्दराओं में शरण लेने पर, ठीक दोपहर के समय आचार्य शङ्कर अपने विद्यार्थियों के साथ दिन के धार्मिक कृत्यों को विधिपूर्वक निपटाने के लिये पङ्कजों से गिरे हुए परागों के कारण सुगन्धित होनेवाली गङ्गा के पास चले ॥ २१-२४ ॥

सोऽन्त्यजं पथि निरीक्ष्य चतुर्भिर्भीषणैः श्वभिरनुद्रुतमारात् ।
गच्छ दूरमिति तं निजगाद प्रत्युवाच च स शङ्करमेनम् ॥२५॥
अद्वितीयमनवद्यमसङ्गं सत्यबोधसुखरूपमखण्डम् ।
आमनन्ति शतशो निगमान्तास्तत्र भेदकलना तव चित्रम् ॥२६॥

रास्ते में उन्होंने चार भयानक कुत्तों से घिरे हुए एक चाण्डाल को देखकर 'दूर हटो', 'दूर हटो' ऐसा कहा। इस पर वह चाण्डाल शङ्कर से कहने लगा कि सैकड़ों उपनिषद् के वाक्य (जैसे एकमेवाद्वितीयम्—एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, असङ्गो ह्ययं पुरुषः—यह पुरुष आसक्तिहीन है), अद्वितीय, अनिन्दनीय, असङ्ग (दृश्य पदार्थों के सङ्ग से हीन), सत्-चित-आनन्द रूप, भेद-हीन ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। उस ब्रह्म में भी तुम भेद की कल्पना करते हो, यह आश्चर्य की बात है। आशय यह है कि एक ही ब्रह्म आत्मारूप से जब प्रत्येक शरीर में व्याप्त है, तब किसी को दूसरा समझना बिल्कुल अनुचित है ॥ २५-२६ ॥

दण्डमण्डितकरा धृतकुण्डाः पाटलाभवसनाः पटुवाचः ।
ज्ञानगन्धरहिता गृहसंस्थान् वञ्चयन्ति किल केचन वेषैः ॥ २७ ॥

अनेक पुरुष अपने संन्यासी-वेश से गृहस्थों को ठगा करते हैं। वे हाथ में दण्ड धारण करनेवाले, कमण्डलु से मण्डित, पीले वस्त्र को पहिनते और चतुरता के वचन बोलते हैं परन्तु ज्ञान के लेश से भी हीन हैं ॥२७॥

गच्छ दूरमिति देहमुताहो देहिनं परिजिहीर्षसि विद्वन् ।
भिद्यतेऽन्नमयतोऽन्नमयं किं साक्षिणश्च यतिपुंगव साक्षी ॥२८॥

चाण्डाल—हे विद्वन्! तुमने जो यह कहा कि दूर हटो तो उससे आपका अभिप्राय क्या देह से है अथवा देही से है? यह शरीर अन्न से परिपुष्ट होने के कारण 'अन्नमय' कहलाता है। अतः क्या एक अन्नमय दूसरे अन्नमय से भिन्न है? इस शरीर के भीतर रहनेवाला जीव हमारी समग्र क्रियाओं का द्रष्टा होने से 'साक्षी' कहलाता है। तब क्या एक साक्षी दूसरे साक्षी से किसी प्रकार भिन्न है? ॥ २८ ॥

ब्राह्मणश्वपचभेदविचारः प्रत्यगात्मनि कथं तव युक्तः ।
बिम्बितेऽम्बरमणौ सुरनद्यामन्तरं किमपि नास्ति सुरायाम् ॥२९॥

क्या प्रत्यगात्मा के विषय में ब्राह्मण और चाण्डाल का भेद समझना आप जैसे अद्वैतवादी के लिये ठीक है? गङ्गा तथा मदिरा पर प्रतिबिम्बित होनेवाले सूर्य में क्या किसी प्रकार का भेद है? सूर्य के प्रतिबिम्ब भले भिन्न हों परन्तु दोनों वस्तुओं में प्रतिबिम्बित सूर्य एक ही है उसी प्रकार प्रत्यक शरीर में स्थित साक्षी आत्मा एक ही है ॥ २९ ॥

शुचिर्द्विजोऽहं श्वपच व्रजेति मिथ्याग्रहस्ते मुनिवर्य कोऽयम् ।
सन्तं शरीरेष्वशरीरमेकमुपेक्ष्य पूर्णं पुरुषं पुराणम् ॥ ३० ॥

हे मुनिवर! मैं पवित्र ब्राह्मण हूँ, तुम श्वपच हो, इसलिये दूर हटो, यह आपका मिथ्या आग्रह कैसा है क्योंकि शरीरों में रहनेवाले, एक पूर्ण अशरीरी पुराणपुरुष की इस प्रकार आप उपेक्षा कर रहे हैं ॥ ३० ॥

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तमाद्यं विस्मृत्य रूपं विमलं विमोहात् ।
कलेवरेऽस्मिन् करिकर्णलोलाकृतिन्यहंता कथमाविरास्ते ॥३१॥

अचिन्तनीय, अव्यक्त, अनन्त, आद्य, उपाधिशून्य अपने स्वरूप को अज्ञान के द्वारा भुलाकर हाथी के कान के समान चञ्चल इस शरीर में आप 'अहं' यह भावना क्यों कर रहे हैं? ॥ ३१ ॥

विद्यामवाप्यापि विमुक्तिपद्यां जागर्ति तुच्छा जनसंग्रहेच्छा ।
अहो महान्तोऽपि महेन्द्रजाले मज्जन्ति मायाविवरस्य तस्य ॥३२॥

विमुक्ति (मोक्ष) को मार्गभूत विद्या को प्राप्त करके भी तुम्हारे हृदय में जनसंग्रह की यह तुच्छ इच्छा क्यों जग रही है ? आश्चर्य की बात है कि उस मायावी-शिरोमणि परमात्मा के विशाल इन्द्रजाल में आपके समान महान् पुरुष भी फँस रहे हैं ॥ ३२ ॥

इत्युदीर्य वचनं विरतेऽस्मिन् सत्यवाक्तदनु विप्रतिपन्नः ।
अत्युदारचरितोऽन्त्यजमेनं प्रत्युवाच स च विस्मितचेताः ॥३३॥

इतने वचन कहकर जब चाण्डाल चुप हो गया तब यह अन्त्यज है या नहीं है, इस विषय में आचार्य को सन्देह हुआ । अत्यन्त उदार-चरित्र, सत्यवचन शङ्कर विस्मित होकर उस चाण्डाल से बोले ॥ ३३ ॥

सत्यमेव भवता यदिदानीं प्रत्यवादि तनुभृत्प्रवरैतत् ।
अन्त्यजोऽयमिति संप्रतिबुद्धिं सन्त्यजामि वचसाऽऽत्मविदस्ते॥३४॥

शङ्कर—हे प्राणियों में श्रेष्ठ ! जो कुछ आपने कहा है वह बिल्कुल सच्चा है । तुम आत्मज्ञानी हो, तुम्हारे वचन से अन्त्यज होने के सन्देह को मैं दूर हटा रहा हूँ ॥ ३४ ॥

जानते श्रुतिशिरांस्यपि सर्वे मन्वते च विजितेन्द्रियवर्गाः ।
युञ्जते हृदयमात्मनि नित्यं कुर्वते न धिषणामपभेदाम् ॥ ३५ ॥

सब उपनिषद् इसे जानते हैं; इन्द्रिय-वर्ग को जीतनेवाले लोग इस बात का मनन करते हैं तथा अपने अन्तःकरण को आत्मा में नित्य रमण कराते हैं। इतना होने पर भी वे अपनी बुद्धि को भेद-रहित नहीं करते ॥३५॥

टिप्पणी—आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के उपनिषदों द्वारा प्रतिपादित तीन उपाय है—श्रवण, मनन, निदिध्यासन। उपनिषद्-वाक्यों के श्रद्धापूर्वक सुनने को श्रवण कहते हैं, उसे युक्तियों के द्वारा मनन करने को मनन कहते हैं; इस प्रकार निश्चित तत्त्व को योग के द्वारा ध्यान करने को निदिध्यासन कहते हैं। इन्हीं तीन उपायों का सङ्केत इस श्लोक के प्रथम तीन चरणों में किया गया है। तीनों उपायों का स्वरूप इस प्रकार है—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो; मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयः, एते दर्शनहेतवः॥

भाति यस्य तु जगद्व दृढबुद्धेः सर्वमप्यनिशमात्मतयैव ।
स द्विजोऽस्तु भवतु श्वपचो वा वन्दनीय इति मे दृढनिष्ठा ॥३६॥

जिस दृढ़बुद्धि पुरुष के लिये यह सम्पूर्ण विश्व सदा आत्म-रूप से प्रकाशित होता है वह चाहे ब्राह्मण हो, चाहे श्वपच, वह वन्दनीय है। यह मेरी दृढ़ निष्ठा है॥ ३६॥

या चितिः स्फुरति विष्णुमुखे सा पुत्तिकावधिषु सैव सदाऽहम् ।
नैव दृश्यमिति यस्य मनीषा पुल्कसो भवतु वा स गुरुर्मे ॥३७॥

'जो चैतन्य विष्णु, शिव आदि देवताओं में स्फुरित होता है वही चैतन्य कीड़े-मकोड़े जैसे क्षुद्र जीवों तक में स्फुरित है। वह चैतन्य मैं हूँ, यह दृश्य जगत् नहीं' यह जिसकी बुद्धि है वह चाण्डाल भले हो, वह मेरा गुरु है॥ ३७॥

यत्र यत्र च भवेदिह बोधस्तत्तदर्थसमवेक्षणकाले ।
बोधमात्रमवशिष्टमहं तद्यस्य धीरिति गुरुः स नरो मे ॥ ३८ ॥

'इस संसार में विषय के अनुभव के समय जहाँ-जहाँ ज्ञान उत्पन्न होता है वहाँ-वहाँ सब उपाधियों से रहित ज्ञानस्वरूप मैं ही हूँ। मुझसे भिन्न और कोई भी पदार्थ नहीं है' ऐसी जिसकी बुद्धि है वह आदमी मेरा गुरु है॥ ३८॥

टिप्पणी—इन्हीं भावों को प्रकट करनेवाला आचार्य शङ्कर का एक प्रसिद्ध स्तोत्र भी है जो 'मनीषापञ्चक' नाम से विख्यात है, क्योंकि पाँचों पद्यों के अन्त में 'एषा मनीषा मम' यह वाक्य मिलता है। दृष्टान्त के तौर पर एक श्लोक यहाँ उद्धृत किया जाता है—

ब्रह्मैवाहमिदं जगच्च सकलं चिन्मात्रविस्तारितं
सर्वं चैतदविद्यया त्रिगुणयाऽशेषं मया कल्पितम्।

इत्थं यस्य दृढा मतिः सुखतरे नित्ये परे निर्मले
चाण्डालोऽस्तु स तु द्विजोऽस्तु गुरुरित्येषा मनीषा मम ॥

भाषमाण इति तेन-कलावानेष नैक्षत तमन्त्यजमग्रे ।
धूर्जटिं तु समुदैक्षत मौलिस्फूर्जदैन्दवकलं सह वेदैः ॥ ३९ ॥

इतना कहते हुए शङ्कर ने अपने आगे उस अन्त्यज को नहीं देखा, प्रत्युत चारों वेदों के साथ शङ्कर भगवान् को देखा जिनके मस्तक पर इन्दुकला चमक रही थी ॥ ३९ ॥

भयेन भक्त्या विनयेन धृत्या युक्तः स हर्षेण च विस्मयेन ।
तुष्टाव शिष्टानुमतः स्तवैस्तं दृष्ट्वा दृशोर्गोचरमष्टमूर्तिम् ॥ ४० ॥

उस समय भय से, भक्ति से, विनय से, धैर्य से, हर्ष से तथा विस्मय से शङ्कर अपनी आँखों के सामने शिव की अष्ट मूर्तियों को देखकर उनकी इस प्रकार स्तुति करने लगे—॥ ४० ॥

विश्वनाथ की स्तुति

दासस्तेऽहं देहदृष्ट्याऽस्मि शम्भो
जातस्तेंऽशो जीवदृष्ट्या त्रिदृष्टे ।
सर्वस्याऽऽत्मन्नात्मदृष्ट्या त्वमेवे-
त्येवं मे धीर्निश्चिता सर्वशास्त्रैः ॥ ४१ ॥

हे शम्भो ! देह-दृष्टि (देह के विचार) से मैं तुम्हारा दास हूँ और हे त्रिलोचन ! जीव-दृष्टि से मैं तुम्हारा अंश हूँ। शुद्ध आत्म-दृष्टि से विचार करने पर सबकी आत्मा तुम्हीं हो। उस अवस्था में मैं तुमसे किसी प्रकार भिन्न नहीं हूँ। सब शास्त्रों के द्वारा निश्चित किया गया यही मेरा ज्ञान है ॥ ४१ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रतिपादित सिद्धान्त अद्वैत वेदान्त के मूल तत्त्व पर अवलम्बित है। इसमें जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का विचार किया

गया है। देह को लक्ष्य में रखकर विचार करने से परमात्मा स्वामी है और यह देह उनका दास है। जीवदृष्टि से विचार करने पर वह अंशी हैं और यह है अंश। जीव के अंश मानने की कल्पना भी मायाजन्य ही है। जिस प्रकार सर्वेन्द्रियों से शून्य होने पर भी परमात्मा के सूर्य, चन्द्र, अग्नि तीन नेत्र माने जाते हैं इसी प्रकार माया से यह जीव ब्रह्म का अंश कहा गया है। चैतन्य-बुद्धि से जीव और शिव दोनों एक ही हैं। 'तत्त्वमसि' का तात्पर्य इसी मूलगत एकता में है। इसका समानार्थक यह श्लोक बहुत ही प्रसिद्ध है।—

देहबुद्धया तु दासोऽहं, जीवबुद्धया त्वदंशकः।
चितिबुद्धया त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

यदालोकादन्तर्बहिरपि च लोको वितिमिरो
न मञ्जूषा यस्य त्रिजगति न शाणो न च खनिः।
यतन्ते चैकान्तं रहसि यतयो यत्प्रणयिनो
नमस्तस्मै स्वस्मै निखिलनिगमोत्तंसमणये॥ ४२॥

आप निखिल निगम (वेद) के सिर पर विराजनेवाले अलौकिक मणि हैं जिसकी प्रभा से यह संसार भीतर तथा बाहर भी अन्धकारहीन हो जाता है; तीन लोकों में जिसके रखने की कोई पेटी नहीं है; न कोई सान (मणि को तेज करनेवाला पत्थर) है, न कोई खान है जहाँ से वह मणि उत्पन्न होगा; जिसके प्रेमी यति लोग एकान्त में पाने के लिये प्रयत्न करते हैं। ऐसे मणि रूप त्वंपद के द्वारा वेदनीय आपको बारम्बार नमस्कार है॥ ४२॥

अहो शास्त्रं शास्त्रात् किमिह यदि न श्रीगुरुकृपा
चिता ऽसा किं कुर्यान्ननु यदि न बोधस्य विभवः।
किमालम्बश्चासौ न यदि परतत्त्वं मम तथा
नमः स्वस्मै तस्मै यदवधिरिहाऽऽश्चर्यधिषणा॥ ४३॥

अद्वैततत्त्व का प्रतिपादक शास्त्र धन्य है; परन्तु ऐसे शास्त्र से भी क्या, यदि गुरु की कृपा न हो। गुरुकृपा का संपादन भी व्यर्थ है यदि शिष्य में वह ज्ञान को उत्पन्न न करे। वह ज्ञान भी आलम्बन-शून्य ही होगा यदि परमतत्त्व न हो। यह परमात्मा अपने स्वरूप से भिन्न नहीं है तथा वही आश्चर्य-बुद्धि का पर्यवसान है। इस जगत् में सबसे अधिक आश्चर्य का विषय स्वयं परमात्मा ही है। ऐसे परमात्मतत्त्व को नमस्कार है ॥ ४३ ॥

टिप्पणी—तत्त्वज्ञान के उत्पन्न करने में शास्त्र की महिमा अद्भुत मानी गई है। 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्यों के श्रवणमात्र से ही ब्रह्म के अपरोक्ष ज्ञान का उदय हो जाता है। वेदान्त में 'विवरण प्रस्थान' के अनुयायी आचार्यों का यही मत है। स्वयं आचार्य का भी यही अभिप्राय है। आचार्य के शब्दों में शब्दशक्ति अचिन्त्य है। शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है—

शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् शब्दादेवापरोक्षधीः।
प्रसुप्तः पुरुषो यद्वच्छब्देनैवावबुध्यते ।—उपदेशसाहस्री

इत्युदारवचनैर्भगवन्तं संस्तुवन्तमथ च प्रणमन्तम् ।
बाष्पपूर्णनयनं मुनिवर्यं शङ्करं सबहुमानमुवाच ॥ ४४ ॥

ऐसे उदार वचनों से स्तुति करनेवाले, प्रणाम करनेवाले, आनन्दाश्रुओं से परिपूर्ण नेत्रोंवाले मुनिवर शङ्कर से महादेवजी आदर के साथ बोले—॥ ४४ ॥

भाष्यरचना का प्रस्ताव

असमदादिपदवीमभजस्त्वं शोधिता तव तपोधन निष्ठा ।
बादरायण इव त्वमपि स्याः सद्वरेण्य मदनुग्रहपात्रम् ॥४५॥

तुमने हमारी पदवी प्राप्त कर ली है। हे तपोधन ! तुमने प्रज्ञा के उत्कर्ष को प्राप्त किया है। हे सज्जनों में श्रेष्ठ ! बादरायण व्यास के समान तुम भी मेरे अनुग्रह के पात्र बनो। इस प्रकार शिव ने आशीर्वाद दिया ॥ ४५ ॥

संविभज्य सकलश्रुतिजालं ब्रह्मसूत्रमकरोदनुशिष्टः ।
यत्र काणभुजसांख्यपुरोगाण्युद्धृतानि कुमतानि समूलम् ॥४६॥

वेदव्यासजी ने सकल वैदिक मन्त्रों का विभाग करके अच्छी तरह से शिक्षा पाकर ब्रह्मसूत्र की रचना की है जिसमें काणाद, सांख्य, बौद्ध, जैन प्रभृति वेदविरुद्ध मतों का समूल खण्डन किया गया है ॥ ४६ ॥

टिप्पणी—वेद के दो काण्ड हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थों का समावेश है। ज्ञानकाण्ड उपनिषद् हैं जिन्हें वेद के समस्त रहस्यों का प्रतिपादक होने के कारण 'वेदान्त' (वेद + अन्त = सिद्धान्त) कहते हैं। इन्हीं उपनिषदों के अन्तर्निहित सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिये बादरायण व्यास ने ब्रह्मसूत्र की रचना की है। परवर्ती आचार्यों के मत से ब्रह्मसूत्र के सूत्रों तथा अधिकरणों की संख्या में पर्याप्त भिन्नता पाई जाती है। समस्त ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद। शाङ्करभाष्य के अनुसार सूत्रों की संख्या ५५५ है तथा अधिकरणों की संख्या १९१ है। सांख्यादि मतों का विशेष खण्डन द्वितीय अध्याय के पहले दो अध्यायों में किया गया है जिनको क्रमशः 'स्मृतिपाद' तथा 'तर्कपाद' कहते हैं।

तत्र मूढमतयः कलिदोषाद् द्वित्रवेदवचनोद्दलितानि ।
भाष्यकाण्यरचयन् बहुबुद्धैर्दूष्यतामुपगतानि च कैश्चित् ॥४७॥

कलि के दोष से मूढ़मति व्यक्तियों ने वेद के दो या तीन वचनों के प्रमाण से अपने कुत्सित भाष्यों की रचना की है जिन्हें किन्हीं बहुज्ञ विद्वानों ने दूषित किया है ॥ ४७ ॥

तद्भवान् विदितवेदशिखार्थस्तानि दुर्मतिमतानि निरस्य ।
सूत्रभाष्यमधुना विदधातु श्रुत्युपोद्दलितयुक्त्यभियुक्तम् ॥ ४८ ॥

आप वेदान्त के रहस्य को जानते हैं। इसलिये आप इन दुष्ट मतों का खण्डन कर ऐसे भाष्य की रचना कीजिए जो श्रुति के द्वारा पुष्ट की गई युक्तियों से संवलित (युक्त) हो ॥ ४८ ॥

एतदेव विबुधैरपि सेन्द्रैरर्चनीयमनवद्यमुदारम् ।
तावकं कमलयोनिसभायामप्यवाप्स्यति वरां वरिवस्याम् ॥४९॥

इस भाष्य का विशेष गौरव होगा। इन्द्रादिक देवताओं के द्वारा भी पूजनीय, अनिन्दनीय तथा उदार तुम्हारा यह भाष्य ब्रह्मा की सभा में भी श्रेष्ठ पूजा प्राप्त करेगा; मनुष्यों की सभा की तो बात ही न्यारी है ॥ ४९ ॥

भास्कराभिनवगुप्तपुरोगान् नीलकण्ठगुरुमण्डनमुख्यान् ।
पण्डितानथ विजित्य जगत्यां ख्यापयाद्वयमते परतत्त्वम् ॥५०॥

हे अद्वैत बुद्धिवाले शङ्कर ! भास्कर, अभिनवगुप्त, नीलकण्ठ, गुरु (प्रभाकर) तथा मण्डन मिश्र जैसे विख्यात पण्डितों को संसार में जीतकर तुम इस भूतल पर ब्रह्मतत्त्व की स्थापना करो ॥ ५० ॥

टिप्पणी—(१) भास्कर—ये अपने समय के बड़े भारी वेदान्ती थे। इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य भी बनाया है जिसमें भेदाभेद-सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।

(२) अभिनवगुप्त—ये काश्मीर देश के निवासी, प्रत्यभिज्ञादर्शन के प्रकाण्ड पण्डित थे। शैव दर्शन पर लिखे गये इनके ग्रन्थों की संख्या बहुत ही अधिक है। 'तन्त्रालोक' इनका इस विषय का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। गीता पर इनकी व्याख्या प्रसिद्ध ही है।

(३) नीलकण्ठ—ये भेदवादी शैव आचार्य थे।

(४) प्रभाकर—इनका मीमांसा में अपना विशेष मत है जो 'गुरुमत' के नाम से प्रसिद्ध है। इन्होंने जैमिनिसूत्रों के शाबर भाष्य के ऊपर अपनी सुप्रसिद्ध टीका लिखी है जिसका नाम 'बृहती' है। ये कुमारिल के शिष्य बतलाये जाते हैं परन्तु कुछ ऐतिहासिक लोग इन्हें कुमारिल से भी प्राचीन बतलाते हैं।

(५) मण्डन मिश्र—ये कुमारिलभट्ट के पट्टशिष्य थे। अपनी विद्वत्ता तथा प्रतिभा के कारण विद्वानों की मण्डली में बहुत प्रसिद्ध थे। शङ्करा-चार्य के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ था जिसका विस्तृत वर्णन इसी ग्रन्थ के आठवें सर्ग में दिया जायेगा। इन्होंने मीमांसा के ऊपर विधिविवेक, भावना-विवेक, विभ्रमविवेक, मीमांसासूत्रानुक्रमणी की रचना की है। अद्वैत वेदान्त में इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है 'ब्रह्मसिद्धि' जो शङ्खपाणि की टीका के साथ मद्रास से हाल ही में प्रकाशित हुआ है।

इन दार्शनिकों के समय, ग्रन्थ तथा मतों के विशेष वर्णन के लिये देखिए—अनुवादक का 'भारतीय दर्शन'।

मोहसन्तमसवासरनाथांस्तत्र तत्र विनिवेश्य विनेयान्।
पालनाय परतत्त्वसरण्या मामुपैष्यसि ततः कृतकृत्यः॥ ५१॥

मोहरूपी अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के समान देदीप्यमान अपने शिष्यों को भिन्न-भिन्न देशों में वेदान्त-मार्ग के पालन के लिये रखकर पीछे कृतार्थ होकर मेरे पास चले आना॥ ५१॥

एवमेनमनुगृह्य कृपावानागमैः सह शिवोऽन्तरधत्त।
विस्मितेन मनसा सह शिष्यैः शङ्करोऽपि सुरसिन्धुमयासीत्॥५२॥

इस प्रकार इन पर दया कर कृपालु महादेव वेदों के साथ अन्तर्धान हो गये। इस घटना से विस्मित होकर शङ्कर भी अपने शिष्यों के साथ गङ्गा में नहाने चले गये॥ ५२॥

संनिवृत्य विधिमाह्निकमीशं ध्यायतो गुरुमथाखिलभाष्यम्।
कर्तुमुद्यतमभूद् गुणसिन्धोर्मानसं निखिललोकहिताय॥ ५३॥

आह्निक कृत्य को समाप्त और शिव तथा अपने गुरु का ध्यान कर लेने पर गुणों के निधि आचार्य शङ्कर का मन समस्त लोक के कल्याण के लिये ब्रह्मसूत्र के ऊपर भाष्य बनाने के लिये उद्यत हुआ॥ ५३॥

कर्तृत्वशक्तिमधिगम्य स विश्वनाथात्
काशीपुरान्निरगमत्त्वविकासभाजः।

प्रीतः सरोजमुकुलादिव चञ्चरीक-
निर्वन्धतः सुखमवाप यथा द्विजेन्द्रः ॥ ५४ ॥

विश्वनाथजी से ग्रन्थ-रचना की शक्ति पाकर आचार्य शङ्कर उस काशीपुरी से वाहर जाने के लिये निकल खड़े हुए—उस काशीपुरी से, जहाँ मरने के वाद जीव द्वैत-प्रपञ्च में फिर बद्ध नहीं होता। जिस प्रकार भ्रमरों को बाँधनेवाले कमलों से वाहर निकलकर हंस प्रसन्न होता है, उसी प्रकार ब्राह्मणों में श्रेष्ठ शङ्कर भी प्रसन्न हुए ॥ ५४ ॥

आचार्य का बदरी के लिए प्रस्थान

अद्वैतदर्शनविदां भुवि सार्वभौमो
यात्येष इत्युडुपबिम्बसितातपत्रम् ।
अस्ताचले वहति चारु पुरःप्रकाश-
व्याजेन चामरमधादिव दिक्सुकान्ता ॥ ५५ ॥

जब शङ्कर ने काशी को छोड़कर उत्तर दिशा के लिये प्रस्थान किया तब पूर्व दिशा ने उनके प्रति अपना आदर भाव प्रदर्शित किया। पृथ्वी पर अद्वैत दर्शन के ज्ञाताओं में सार्वभौम यह शङ्कर जा रहा है, इस कारण अस्ताचल के चन्द्रबिम्ब-रूपी सफ़ेद छाते के धारण करने पर प्राची दिशारूपी वनिता ने आगे प्रकाश के व्याज से सुन्दर चँवर को मानो धारण किया ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—सार्वभौम अर्थात् चक्रवर्ती राजा का यह नियम है कि वह छत्र और चँवर धारण करता है। शङ्कर अद्वैतवादियों के चक्रवर्ती थे। अतः अस्ताचल का चन्द्रबिम्ब-रूपी सफ़ेद छाते को धारण करना तथा प्राची दिशा का प्रकाश-रूपी चामर को धारण करना नितान्त उचित है। इस श्लोक से यही प्रतीत होता है कि आचार्य ने प्रातःकाल के समय काशी छोड़कर उत्तर के लिये प्रस्थान किया।

शान्तां दिशं देवनृणां विहाय नान्या दिगस्मै समरोचताद्धा ।
तत्रत्यतीर्थानि निषेवमाणो गन्तुं मनोऽधाद्ध बदरीं क्रमात् सः॥५६॥

देवताओं और मनुष्यों को शान्ति देनेवाली उत्तर दिशा को छोड़कर दूसरी कोई दिशा उन्हें पसन्द नहीं आई। उत्तर के तीर्थों को देखते हुए क्रमशः बदरीनाथ तक जाने की इच्छा इन्हें उत्पन्न हुई ॥ ५६ ॥

तेनान्ववर्ति महता क्वचिदुष्णशालि
शीतं क्वचित् क्वचिदृजु क्वचिदप्यरालम् ।
उत्कण्टकं क्वचिदकण्टकवत् क्वचिच्च
तद्वर्त्म मूर्खजनचित्तमिवाव्यवस्थम् ॥ ५७ ॥

उस महापुरुष ने उत्तर जानवाले मार्ग का अनुसरण किया जो कहीं पर गर्म था और कहीं पर ठण्ढा; कहीं सीधा था और कहीं टेढ़ा। कहीं पर कण्टकों से पूर्ण था और कहीं पर कण्टकों से हीन। यह उसी प्रकार अव्यवस्थित था जिस प्रकार मूर्ख मनुष्य का चित्त ॥ ५७ ॥

आत्मानमक्रियमपव्ययमीक्षिताऽपि
पान्थैः समं विचलितः पथि लोकरीत्या ।
आदत् फलानि मधुराण्यपिबत् पयांसि
प्रायादुपाविशदशेत तथोदतिष्ठत् ॥ ५८ ॥

क्रियाहीन तथा व्ययहीन आत्मा के साक्षात् करनेवाले भी आचार्य शङ्कर लोकरीति के अनुसार रास्ते में पथिकों के साथ गये; मधुर फल खाये, जल पिया, गमन किया, बैठे, शयन किया तथा उठे ॥ ५८ ॥

तेन व्यनीयत तदा पदवी दवीय-
स्यासादिता च बदरी वनपुण्यभूमिः ।
गौरीगुरुस्रवदमन्दझरीपरीता
खेलत्सुरीयुतदरी परिभाति यस्याम् ॥ ५९ ॥

तब उन्होंने दूर जानेवाले उस मार्ग को पार किया और पुण्यभूमि बदरी में पहुँच गये जो हिमालय से गिरनेवाले अनेक झरनों से व्याप्त थी तथा जिसकी गुफाओं में सुर-सुन्दरियाँ क्रीड़ा कर रही थीं ॥ ५९ ॥

ग्रन्थ-रचना

स द्वादशे वयसि तत्र समाधिनिष्ठै-
ब्रह्मर्षिभिः श्रुतिशिरो बहुधा विचार्य ।
षड्भिश्च सप्तभिरथो नवभिश्च खिन्नै-
र्भव्यं गभीरमधुरं फणति स्म भाष्यम् ॥ ६० ॥

वहाँ पर बारहवें वर्ष में शङ्कर ने समाधि में लगे रहनेवाले, छः, सात तथा नव वस्तुओं से खिन्न होनेवाले महर्षियों के साथ वेदान्त का बहुधा विचार कर भव्य, गम्भीर तथा मधुर भाष्य की रचना की ॥ ६० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक के तृतीय पाद में सूचित संख्याओं का अर्थ दो प्रकार से किया गया है—

(१) धनपति सूरि ने अपनी 'डिण्डिम' टीका में लिखा है कि छः पदार्थों का अर्थ भूख, प्यास, जरा (बुढ़ापा), मृत्यु, शोक तथा मोह से है जिनको वेदान्त में 'षडूर्मि' कहते हैं। सात पदार्थों से अभिप्राय त्वक्, चर्म, मांस, अस्थि, मेदा, मज्जा तथा वीर्य इन सात धातुओं से है। नव पदार्थों से अभिप्राय पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, चार अन्तःकरण (मन, अहंकार, बुद्धि तथा चित्त) इन नव इन्द्रियों से है।

(२) अद्वैतराज्यलक्ष्मी नामक टीका के कर्ता का मत यह है कि षट् से अभिप्राय छः नास्तिक दर्शनकारों से है—चार्वाक, जैन, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। सात से अभिप्राय न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा, शाक्त दर्शन तथा भास्कर दर्शन इन सात दर्शनों से है। नव से अभिप्राय १ जीव-ईश्वर-भेद, २ ईश्वर-जगत्-भेद, ३ जीव-परस्पर-भेद, ४ जगत्-परस्पर-भेद, ५ जीव-जगत्-भेद, ६ अविद्या, ७ काम, ८ कर्म तथा ९ वासना—इन नव पदार्थों से है।

करतलकलिताद्वयात्मतत्त्वं क्षपितदुरन्तचिरन्तनप्रमोहम् ।
उपचितमुदितोदितैर्गुणौघैरुपनिषदामयमुज्जहार भाष्यम् ॥६१॥

इसके अनन्तर आचार्य ने अनेक गुणों से युक्त उपनिषदों के भाष्य की रचना की जिसमें अद्वैत तत्त्व करतलगत की तरह से प्रतिपादित है तथा जिसमें दुरन्त, अनादिभूत मोह का क्षय वर्णित है ॥ ६१ ॥

ततो महाभारतसारभूताः स व्याकरोद् भागवतीश्च गीताः ।
सनत्सुजातीयमसत्सुदूरं ततो नृसिंहस्य च तापनीयम् ॥ ६२ ॥

इसके बाद आचार्य ने महाभारत के सारस्वरूप गीता की व्याख्या लिखी। अनन्तर असज्जनों के लिये अगोचर सनत्सुजातीय पर भाष्य लिखा। पीछे नृसिंहतापिनी उपनिषद् पर व्याख्या लिखी ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—'अद्वैतराज्यलक्ष्मी' के अनुसार इस श्लोक में आये हुए 'भागवती गीता' पद से भगवद्गीता तथा विष्णु-सहस्रनाम दोनों का उल्लेख अपेक्षित है। अतः उपनिषद् भाष्य की रचना के अनन्तर आचार्य ने गीता तथा विष्णुसहस्रनाम के ऊपर भाष्य का निर्माण किया। ये पद्य आचार्य के ग्रन्थों की रचना के सम्बन्ध में बड़े उपयोगी हैं।

ग्रन्थानसंख्यांस्तदनूपदेशसहस्रिकादीन् व्यदधात् सुधीड्यः ।
श्रुत्वाऽर्थविद्यानविवेकपाशान् मुक्ता विरक्ता यतयो भवन्ति॥६३॥

विद्वानों से पूज्य शङ्कर ने इसके बाद 'उपदेश-साहस्री' आदि असंख्य ग्रन्थों की रचना की जिन ग्रन्थों को सुनकर विरक्त यति लोग अविवेक-रूपी पाश से मुक्ति लाभ कर लेते हैं ॥ ६३ ॥

श्रीशङ्कराचार्यरवावुदेत्य प्रकाशमाने कुमतिप्रणीताः ।
व्याख्यान्धकाराः प्रलयं समीयुर्दुर्वादिचन्द्रप्रभयाऽवियुक्ताः ॥६४॥

जब शङ्कर-रूपी सूर्य उदय लेकर प्रकाशमान हो रहे थे तब दुष्ट तार्किकों के द्वारा विरचित व्याख्या-रूपी अन्धकार भेदवादी-रूपी चन्द्रमा की प्रभा के साथ ही साथ प्रलय को प्राप्त हो गया ॥ ६४ ॥

अथ व्रतीन्दुर्विधिवद्विनेयानध्यापयामास स नैजभाष्यम् ।
तर्कैः परेषां तरुणैर्विवस्वन्मरीचिभिः सिन्धुवदप्रशोष्यम् ॥६५॥

इसके अनन्तर व्रतियों के शिरोमणि शङ्कर ने अपने शिष्यों को इन भाष्यों को पढ़ाया जो वादियों के तर्कों के द्वारा उसी प्रकार अशोष्य (न सुखाने योग्य) थे जिस प्रकार सूर्य की किरणों के द्वारा समुद्र ॥६५॥

निजशिष्यहृदब्जभास्वतो गुरुवर्यस्य सनन्दनादयः ।
शमपूर्वगुणैरशुश्रुवन् कतिचिच्छिष्यगणेषु मुख्यताम् ॥ ६६ ॥

सनन्दन आदिक कुछ शिष्यों ने अपने शिष्य के हृदय-कमल को विकसित करने में सूर्य के समान प्रभावशाली शङ्कर के शिष्यों में शम-दम आदि गुणों के द्वारा मुख्यता प्राप्त की ॥ ६६ ॥

स नितरामितराश्रवतो लसन् नियममद्भुतमाप्य सनन्दनः ।
श्रुतनिजश्रुतिकोऽप्यभवत् पुनः पिपठिषुर्गहनार्थविवित्सया॥६७॥

सनन्दन ने इतर शिष्यों से बढ़कर अद्भुत नियम का आश्रय लेकर श्रुति के अभ्यास कर लेने पर भी गहन अर्थ जानने की इच्छा से उसे फिर से पढ़ना चाहा ॥ ६७ ॥

अद्वन्द्वभक्तिममुमात्मपदारविन्द-
द्वन्द्वे नितान्तदयमानमना मुनीन्द्रः ।
आम्नायशेखररहस्यनिधानकोश-
मात्मीयकोशमखिलं त्रिरपाठयत् तम् ॥ ६८ ॥

अत्यन्त दयालु मुनीन्द्र ने अपने चरणारविन्द की रागद्वेषादि द्वन्द्व से रहित, भक्ति करनेवाले सनन्दन जी को वेदान्त-रहस्य के कोशभूत अपने समग्र ग्रन्थ को तीन वार पढ़ाया ॥ ६८ ॥

ईर्ष्याभराकुलहृदामितराश्रवाणां
प्रख्यापयन्ननुपमामदसीयभक्तिम् ।
अभ्रापगापरतटस्थममुं कदाचि-
दाकारयन् निगमशेखरदेशिकेन्द्रः ॥ ६९ ॥

ईर्ष्या के कारण आकुल हृदयवाले दूसरे शिष्यों के बीच में सनन्दन की भक्ति की प्रशंसा करते हुए वेदान्ताचार्यों में शिरोमणि आचार्य शङ्कर ने आकाशगङ्गा के उस पार रहनेवाले सनन्दन को कदाचित् अपने पास बुलाया ॥ ६९ ॥

सन्तारिकाऽनवधिसंसृतिसागरस्य
किं तारयेन्न सरितं गुरुपादभक्तिः ।
इत्यञ्जसा प्रविशतः सलिलं द्युसिन्धुः
पद्मान्युदश्रयति तस्य पदे पदे स्म ॥ ७० ॥

अनन्त संसार-समुद्र से पार लगानेवाली गुरु के चरणों की भक्ति क्या नदी को नहीं पार कर सकेगी ? यह विचारकर जल में प्रवेश करनेवाले गुरुभक्त शिष्य के प्रत्येक पैर के नीचे आकाशगङ्गा ने अपने कमलों को रख दिया ॥ ७० ॥

पाथोरुहेषु विनिवेश्य पदं क्रमेण
प्राप्तोपकण्ठममुमप्रतिमानभक्तिम् ।
आनन्दविस्मयनिरन्तनिरन्तरोऽसा-
वाश्लिष्य पद्मपदनामपदं व्यतानीत् ॥ ७१ ॥

कमलों पर पैर रखकर क्रमशः गुरु के पास आनेवाले अनुपम भक्ति से युक्त, सनन्दन को आलिङ्गन कर आनन्द और विस्मय से परिपूर्ण हृदयवाले गुरु ने इनका सार्थक नाम 'पद्मपाद' रख दिया ॥ ७१ ॥

तं पाठयन्तमनवद्यतमात्मविद्यां
ये तु स्थिताः सदसि तत्त्वविदां सगर्वाः ।
आचिक्षिपुः कुमतपाशुमताभिमानाः
केचिद्विवेकविटपोग्रदवायमानाः ॥ ७२ ॥

ब्रह्मविद्या को पढ़ानेवाले पूज्यतम, आचार्य शङ्कर से तत्त्वज्ञानियों की सभा में अभिमानी, दुष्ट पाशुपत मत के अभिमानी, विवेक-वृक्ष के लिये अग्निरूप कुछ विद्वानों ने नाना प्रकार से आक्षेप किया ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—पाशुपत मत के अनुसार पाँच पदार्थ हैं—(१) कार्य, २ कारण, ३ योग, ४ विधि, ५ दुःखान्त। कार्य उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य-शक्ति न हो। इसके अन्तर्गत जीव तथा जड़ दोनों का समावेश है। जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करनेवाले महेश्वर को कारण कहते हैं। ज्ञान-शक्ति तथा प्रभु-शक्ति से युक्त होने के कारण उसकी पारिभाषिक संज्ञा 'पति' है। वह इस सृष्टि का केवल निमित्तकारण मात्र है। चित्त के द्वारा आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को 'योग' कहते हैं। महेश्वर की प्राप्ति करानेवाला साधक व्यापार 'विधि' कहलाता है। प्रत्येक जीव मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु, च्युति तथा पशुत्व नामक मलों से युक्त रहता है। इन मलों की आत्यन्तिकी निवृत्ति का नाम 'दुःखान्त' या मोक्ष है। पाशुपत मत के इन पञ्च तत्त्वों की विशद व्याख्या के लिये देखिए—अनुवादक का 'भारतीय दर्शन', पृष्ठ ५५८-५६२।

तद्विकल्पनमनल्पमनीषः श्रुत्युदाहरणतः स निरस्य ।
ईषदस्तमितगर्वभराणामागमानपि ममन्थ परेषाम् ॥ ७३ ॥

विशेष प्रतिभासम्पन्न शङ्कर ने श्रुति के उदाहरणों से इन पाशुपतों के सन्देह का खण्डन कर दूसरे वादियों के आगमों का भी खण्डन किया जिससे उनका गर्व कुछ कम हो चला ॥ ७३ ॥

पाशुपतमत की समीक्षा

अद्वितीयनिरता सति भेदे
मुक्तिरीशसमतैव कथं स्यात् ।
ध्यानजा किमिति सा न विनश्येत्
भावकार्यमखिलं हि न नित्यम् ॥ ७४ ॥

पाशुपतों के अनुसार महेश्वर की समता प्राप्त करना तथा अद्वितीय शिव में लीन हो जाना ही मुक्ति है। भेद स्वीकार करने पर इस प्रकार की मुक्ति कभी सिद्ध नहीं हो सकती। यदि कहा जाय कि शिव का ध्यान करने से इस प्रकार की मुक्ति उत्पन्न होती है तब वह नष्ट क्यों नहीं हो जाती? क्योंकि संसार के अखिल भाव पदार्थ नित्य नहीं हैं। ध्यान से उत्पन्न होने के कारण मुक्ति को भी अनित्य होना ही पड़ेगा ॥ ७४ ॥

किञ्च संक्रमणमीशगुणानामिष्यते पशुषु मोक्षदशायाम् ।
तन्न साऽध्ववयवैर्विधुराणां संक्रमो न घटते हि गुणानाम् ॥७५॥

मोक्ष की अवस्था में पशुओं में—जीवों में—पशुपति शिव के गुणों का संक्रमण पाशुपत मत में स्वीकार किया जाता है। यह भी ठीक नहीं है क्योंकि जीवों के अङ्गों से हीन (विदेह) हो जाने पर उनमें गुणों का संक्रमण कैसे हो सकता है? ॥ ७५ ॥

पद्मगन्ध इव गन्धवहेऽस्मिन्नात्मनीश्वरगुणोऽस्त्विति चेन्न ।
तत्र गन्धसमवायि नभस्वत्संयतं दिशति गन्धधियं यत् ॥७६॥

कमल का निरवयव गन्ध जिस प्रकार वायु में संक्रमण करता है, उसी प्रकार जीव में भी पशुपति के गुणों का संक्रमण होता है; यह युक्ति भी ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ पर गन्ध का समवायी कमल सूक्ष्म रूप से वायु के साथ संयुक्त रहता है इसलिये वह वायु में भी गन्धबुद्धि को पैदा करता है ॥ ७६ ॥

किञ्चैकदेशेन समाश्रयन्ते कार्त्स्न्येन वा शम्भुगुणा विमुक्तान् ।
पूर्वे तु पूर्वोदितदोषसङ्गस्त्वन्तेऽज्ञतादिः परमेश्वरे स्यात् ॥७७॥

मुक्तावस्था में महेश्वर के गुण मुक्त पुरुषों में क्या एक अंश से निवास करते हैं या सम्पूर्ण रूप से? यदि पहला पक्ष माना जाय तो पूर्वकथित दोष आता है और यदि दूसरा पक्ष माना जाय तो परमेश्वर में अज्ञता आदि दोष मानने पड़ेंगे ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—श्लोक ७४ से ७७ तक इन चार पद्यों में पाशुपत मत के सिद्धान्तों का किञ्चिन्मात्र खण्डन किया गया है। इस मत का खण्डन शङ्कराचार्य ने ब्रह्मसूत्र-भाष्य में विशेष रूप से किया है। द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्रभाष्य—२। २। ३७—४१ पत्यधिकरण।

इत्थं तर्कैः कुलिशकठिनैः पण्डितंमन्यमाना
भिद्यत्स्वार्थाः स्मयभरमदं तत्यजुस्तान्त्रिकास्ते।
पक्षाघातैरिव रयभरैस्ताड्यमानाः फणासु
क्ष्वेडज्वालां खगकुलपतेः पन्नगाः साभिमानाः॥ ७८॥

इस प्रकार वज्र के समान कठिन तर्कों के द्वारा अपने मत के छिन्न-भिन्न किये जाने पर पण्डितमानी तार्किकों ने अपने गर्व को उसी प्रकार छोड़ दिया जिस प्रकार गरुड़ के ज़ोरों के पक्षाघात से फणों के ऊपर मारे जाने से अभिमानी साँप अपने विष की ज्वाला को छोड़ देते हैं॥ ७८॥

व्याख्याजृम्भितपाटवात् फणिपतेर्मन्दाक्षमुद्दीपयन्
संख्यालङ्घितशिष्यहृद्वनरुहेष्वादित्यतामुद्वहन्।
उद्वेलस्वयशःसुमैः स भगवत्पादो जगद् भूषयन्
कुर्वन् वादिमृगेषु निर्भरमभाच्छार्दूलविक्रीडितम्॥७९॥

आचार्य शङ्कर भाष्य-ग्रन्थों में प्रकटित अपनी कुशलता के कारण शेष को भी लज्जित करते हुए, असंख्य शिष्यों के हृदय-कमल को विकसित कर सूर्य-रूप धारण करते हुए, सात समुद्रों को पार करनेवाले अपने यशरूपी पुष्पों से संसार को भूषित करते हुए तथा वादीरूपी मृगों पर सिंह के पराक्रम को दिखलाते हुए अत्यन्त शोभित हुए॥ ७९॥

वेदान्तकान्तारकृतप्रचारः सुतीक्ष्णसद्युक्तिनखाग्रदंष्ट्रः।
भयङ्करो वादिमतङ्गजानां महर्षिकण्ठीरव उल्ललास॥ ८०॥

वेदान्त-रूपी जङ्गल में घूमनेवाला, तीक्ष्ण युक्ति-रूपी नख और दंष्ट्रा को धारण करनेवाला वादीरूपी हाथियों को विदलित कर शङ्कर-रूपी भयङ्कर सिंह शोभित हुआ॥ ८०॥

अमानुषं तस्य यतीश्वरस्य विलोक्य बालस्य सतः प्रभावम् ।
अत्यन्तमाश्चर्ययुतान्तरङ्गाः काशीपुरस्था जगदुस्तदेत्थम् ॥८१॥

लड़के होने पर भी उस यतीश्वर के अलौकिक चमत्कार को देखकर काशी-निवासी अत्यन्त आश्चर्य-युक्त होकर इस प्रकार बोले—॥ ८१ ॥

अस्मान्मुहुर्द्योतितसर्वतन्त्रात् पराभवं पीडितपुण्डरीकाः ।
प्रपेदिरे भास्करगुप्तमिश्रमुरारिविद्येन्द्रगुरुप्रधानाः ॥ ८२ ॥

सब तन्त्रों को प्रकटित करनेवाले इस आचार्य से भास्कर, अभिनवगुप्त, मुरारि मिश्र, प्रभाकर मिश्र तथा मण्डन मिश्र जैसे प्रधान पण्डितों ने पराभव को प्राप्त किया ॥ ८२ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में आये हुए अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों का वर्णन पहले किया जा चुका है। **मुरारि मिश्र**—ये बड़े भारी मीमांसक थे। मीमांसा के प्रधान सिद्धान्तों के विषय में कुमारिल तथा प्रभाकर के अतिरिक्त इनका एक अलग स्वतन्त्र मत था। इन्हीं के बारे में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि मुरारि का तीसरा मार्ग है—'मुरारेस्तृतीयः पन्थाः'। गङ्गेश उपाध्याय तथा उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अपने ग्रन्थों में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है तथा मुरारि ने भवनाथ (१०म शतक) के मत का खण्डन किया है।

इनके दो छोटे अधिकरण-विवेचनात्मक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध हुए हैं। एक का नाम है 'त्रिपादी नीतिनयन' तथा दूसरे का नाम है "एकादशाध्यायाधिकरण"। प्रमाण्यवाद आदि विषयों पर इनके स्वतन्त्र मत थे। देखिए—'भारतीय दर्शन' पृष्ठ ३८७।

अस्याऽऽत्मनिष्ठातिशयेन तुष्टः प्रादुर्भवन् कामरिपुः पुरस्तात् ।
प्रचोदयामास किल प्रणेतुं वेदान्तशारीरकसूत्रभाष्यम् ॥८३॥

इन्हीं के ब्रह्मज्ञान से तुष्ट होकर भगवान् शङ्कर इनके सामने प्रादुर्भूत हुए थे और ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखने के लिये इन्हें प्रेरित किया था ॥ ८३ ॥

भाष्य-स्तुति

कुदृष्टितिमिरस्फुरत्कुमतपङ्कमग्नां पुरा
पराशरभुवा चिराद् बुधमुदे बुधेनोद्धृताम् ।
अहो बत जरद्गवीमनघभाष्यसूक्तामृतै-
रपङ्कयति शङ्करः प्रणतशङ्करः सादरम् ॥ ८४ ॥

श्रुतिरूपी गौ (वाणी) कुदृष्टिरूपी अन्धकार में चमकनेवाले दुष्ट मत रूपी पङ्क में डूबी हुई थी। प्राचीन काल में विद्वानों के आनन्द के लिये पराशरपुत्र व्यास ने इसका उद्धार किया था। अब शङ्कर के भक्त आचार्य शङ्कर ने अपने निर्दोष भाष्यरूपी अमृत से उसे पङ्क से निकालकर जिलाया ॥ ८४ ॥

त्रैलोक्यं ससुखं क्रियाफलपयो भुङ्क्ते ययाऽऽविष्कृतं
यस्या वृद्धतरे महीसुरगृहे वासः प्रवृद्धाध्वरे ।
तां पङ्कप्रसृते कुतर्ककुहरे घोरैः खरैः पातितां
निष्पङ्कामकरोत् स भाष्यजलधेः प्रक्षाल्य सूक्तामृतैः ॥८५॥

जिस वेद के द्वारा प्रकट किये गये यज्ञक्रिया के फलरूपी दूध को तीनों लोक आनन्द के साथ पीते हैं, जिसका अत्यन्त प्राचीन यज्ञ-सम्पन्न प्रजापति नामक ब्राह्मण के घर में निवास है और जो भयङ्कर दुर्जनों के द्वारा पङ्क से व्याप्त कुतर्क-रूपी गड्ढे में गिराई गई थी उसी श्रुतिरूपी गाय को आचार्य शङ्कर ने अपने भाष्य-रूपी समुद्र के वचन-रूपी अमृत से धोकर पङ्कहीन कर दिया अर्थात् कुतार्किकों की व्याख्यां से मलिन वैदिक सिद्धान्तों की समुचित व्याख्या कर उसे उज्ज्वल तथा निर्दोष बना दिया ॥ ८५ ॥

मिथ्या वक्तीति कैश्चित् परुषमुपनिषद् दूरमुत्सारिताऽभू-
दन्यैरस्मिन्नियोज्यं परिचरितुमसावर्हतीति प्रणुन्ना ।

अर्थाभासं दधानैर्मृदुभिरिव परैर्वञ्चिता चोरितार्थै-
र्विन्दत्यानन्दमेषा सुचिरमशरणा शङ्करार्यं प्रपन्ना ॥८६॥

वेद-बाह्य दार्शनिक लोगों ने 'उपनिषद् मिथ्या सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है' यह कहकर अनादर से उसे खदेड़ दिया था। उपनिषत् कर्म में लगने योग्य पुरुष की स्तुति करता है, इस कारण दूसरे प्रभाकर आदि मीमांसक लोगों ने उसे अनेक से कष्ट पहुँचाया था। अर्थाभास को प्रतिपादन करनेवाले 'तत्त्वमसि' वाक्य के वास्तविक अर्थ को लुप्त कर देनेवाले नैयायिकों के द्वारा जो उपनिषत् ठगा गया था उसी उपनिषत् ने बहुत दिन तक शरणहीन रहकर शङ्कराचार्य की शरण में जाकर आनन्द प्राप्त किया ॥ ८६ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में उपनिषत् के प्रति विभिन्न दार्शनिकों की कल्पना की समीक्षा की गई है। वेद-बाह्य बौद्धों के मत से वेद बिल्कुल झूठा है। तत्प्रतिपाद्य यज्ञ-याग नितान्त अश्रद्धेय हैं। मीमांसकों के मत से श्रुति का तात्पर्य विधि के अनुष्ठान में है। अतएव ज्ञान-प्रतिपादक उपनिषदों का तात्पर्य अर्थवाद द्वारा परोक्ष रूप से कर्म प्रतिपादन करना है। नैयायिक लोग 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ 'तस्मात् त्वं असि', 'तस्मै त्वं असि', 'तस्य त्वं असि' आदि अनेक प्रकार के असत्य अर्थों की कल्पना कर अद्वैत-प्रतिपादक मूल अर्थ की अवहेलना करते हैं। आचार्य शङ्कर ने ही इस अर्थ का प्रतिपादन कर उपनिषदों की विशुद्धि को रक्षा की है।

हन्तुं बौद्धोऽवधावत् तदनु कथमपि स्वात्मलाभः कणादात्
जातः कौमारिलार्यैर्निजपदगमने दर्शितं मार्गमात्रम्।
सांख्यैर्दुःखं विनीतं परमथ रचिता प्राणधृत्यर्हताऽन्यै-
रित्थं खिन्नं पुमांसं व्यधित करुणया शङ्करार्यः परेशम् ॥८७॥

शून्यवादी बौद्ध लोग आत्मा को मार डालने के लिये उसके पीछे दौड़े। बाद में किसी तरह कणाद से आत्मा ने अपनी सत्ता प्राप्त

की। कुमारिल भट्ट ने गन्तव्य स्थान की ओर जाने के लिये आत्मा को केवल रास्ता दिखला दिया; सांख्य लोगों ने केवल दुःख को हटा लिया; योगियों ने प्राणायाम के द्वारा उसकी पूज्यता स्थापित की। इस प्रकार नाना दार्शनिकों के द्वारा प्रपञ्च में पड़कर खिन्न हुए 'आत्मा' को शङ्कराचार्य ने कृपा से परमात्मा बना दिया ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में आत्मा के विषय में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों की कल्पनाओं का रमणीय वर्णन है। शून्यवादी होने के कारण बौद्ध आत्मा को नहीं मानते; कणाद ने आत्मा को बुद्धि सुख दुःख आदि नव विशेष गुणों से तथा संख्यादि पाँच सामान्य गुणों से विशिष्ट विभु मानकर देह-इन्द्रिय आदि से उसकी पृथक् सत्ता स्थिर की है। कुमारिलभट्ट ने केवल इतना ही दिखलाया कि कर्म के अनुष्ठान से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति होती है तथा चित्त-शुद्धि द्वारा परमेश्वर की उपलब्धि होती है। इस प्रकार इन्होंने केवल मार्ग दिखलाया। सांख्य लोगों ने आत्मा में से दुःख हटा लिया, योगियों ने प्राणायाम के द्वारा आत्मा में पूज्यता स्थापित की परन्तु शङ्कर ने इसे ब्रह्म के साथ अभिन्न मानकर आत्मा को ब्रह्मपद में प्रतिष्ठित कर दिया। इस प्रकार आत्मा की वास्तविक महत्त्वपूर्ण स्थिति के प्रतिपादन का सारा श्रेय आचार्य-चरण को ही प्राप्त है।

ग्रस्तं भूतैर्न देवं कतिचन ददृशुः के च दृष्ट्वाऽप्यधीराः
केचिद्‌ भूतैर्वियुक्तं व्यधुरथ कृतिनः केऽपि सर्वैर्विमुक्तम् ।
किंत्वेतेषामसत्त्वं न विदधुरजहन्नैव भीतिं ततोऽसौ
तेषामुच्छिद्य सत्तामभयमकृत॰तं शङ्करः शङ्करांशः ॥८८॥

चार्वाकों ने पृथिव्यादि भूतों से ग्रस्त स्वयं प्रकाशरूप आत्मा को नहीं देखा। योगाचार आदि बौद्धों ने देखकर भी चञ्चलता को प्राप्त किया (बौद्ध लोग आत्मा को क्षणिक मानते हैं)। कुछ लोगों—तार्किक तथा मीमांसकों—ने आत्मा को पृथिवी, तेज आदि भूतों से पृथक् सिद्ध किया। कुशल सांख्यवादियों ने आत्मा को सब भूतों तथा सब धर्मों से

विरहित बतलाया। लेकिन इनमें से किसी ने पृथिवी आदि महाभूतों के अभाव को नहीं बतलाया। इसलिये आत्मा ने भय को नहीं छोड़ा। परन्तु उनकी सत्ता को निर्मूल सिद्धकर महादेव के अवतार शङ्कर ने आत्मा को अभय बना दिया ॥ ८८ ॥

चार्वाकैर्निह्नुतः प्राग् बलिभिरथ मृषा रूपमापाद्य गुप्तः
काणादैर्हा नियोज्यो व्यरचि बलवताऽऽकृष्य कौमारिलेन ।
सांख्यैराकृष्य हृत्वा मलमपि रचितो यः प्रधानैकतन्त्रः
कृष्ट्वा सर्वेश्वरं तं व्यतनुत पुरुषं शङ्करः शङ्करांशः ॥ ८९ ॥

पहले चार्वाक ने आत्मा का तिरस्कार किया। इसके बाद वैशेषिक लोगों ने आत्मा को कर्ता मानकर तथा सुख-दुःख ज्ञान आदि गुणों से सम्पन्न बतलाकर उसकी रक्षा की। कुमारिल-मतावलम्बियों ने पञ्च महाभूतों से उसे अलग कर यज्ञादिविधि के अनुष्ठान में उसे अनुरक्त बना डाला। सांख्य लोगों ने उसके मल को हटाकर भी प्रधान (प्रकृति) के पराधीन बना डाला। उसी आत्मा को शङ्कर के अंशभूत आचार्य शङ्कर ने सर्वेश्वर बना दिया ॥ ८९ ॥

वाचः कल्पलताः प्रसूनसुमनःसंदोहसंदोहना
भाष्ये भूष्यतमे समीक्षितवतां श्रेयस्करे शाङ्करे ।
भाष्याभासगिरो दुरन्वयगिराऽऽश्लिष्टा विसृष्टा गुणै-
रिष्टाः स्युः कथमम्बुजासनवधूदौर्भाग्यगर्भीकृताः ॥ ९० ॥

कल्याणकारक तथा अत्यन्त पूजनीय शङ्करभाष्य के वचन फलों तथा फूलों को पैदा करनेवाली कल्पलताएँ हैं। उनकी समीक्षा करनेवाले पुरुष के लिये दूसरे भाष्यकारों की वाणी कैसे अभीष्ट बन सकती हैं जो गुण से हीन, अन्वयहीन वाणी से युक्त तथा सरस्वती के दुर्भाग्य से दूषित है। आशय है कि शङ्कर भाष्य के सामने अन्य भाष्य अत्यन्त अप्रामाणिक हैं ॥ ९० ॥

कामं कामकिरातकार्मुकलतापर्यायनिर्यातया
नाराचच्छटया विपाटितमनोधैर्यैर्धिया कल्पितान् ।
आचार्याननवर्यनिर्यदभिदासिद्धान्तशुद्धान्तरो
धीरो नानुसरीसरीति विरसान् ग्रन्थानवन्धापहान् ॥९१॥

जिन धीर पुरुषों का अन्तःकरण आचार्य शङ्कर के प्रशंसित मुख से निकलनेवाले अद्वैत सिद्धान्त के द्वारा शुद्ध हो गया है वे उन नीरस ग्रन्थों का कैसे अनुसरण कर सकते हैं जो ऐसे व्यक्तियों के द्वारा कल्पित हैं जिन पुरुषों का मानसिक धैर्य काम-रूपी किरात के धनुष से क्रमशः निकलनेवाले बाणों से छिन्न-भिन्न कर दिया गया है, तथा जो बन्ध के नाश करने में असमर्थ हैं ॥ ९१ ॥

सुधास्पन्दाहंताविजयिभगवत्पादरचना-
समस्कन्धान् ग्रन्थान् रचयति निबद्धा यदि तदा ।
विशङ्कां भङ्गानां मृडमुकुटशृङ्गाटसरितः
कृतौ तुल्या कुल्या नियतमुपशल्याद्दतगतिः ॥९२॥

यदि कोई ग्रन्थकार सुधा-प्रवाह के अहङ्कार को जीतनेवाली भगवत्-पाद की रचना के समान ग्रन्थों को बना सकता है तो गाँव के भीतर बहनेवाली छोटी नहर शङ्कर के मुकुट-रूपी चौराहे पर बहनेवाली गङ्गा नदी की तरङ्गों के उत्पन्न करने में समर्थ हो सकेगी, वह इस बात की शङ्का उत्पन्न कर सकता है। जिस प्रकार गाँव की गड्ही गङ्गा की समता नहीं कर सकती, उसी प्रकार कोई भी लेखक लेखन-कला में शङ्कर की तुलना नहीं कर सकता ॥ ९२ ॥

यया दीनाधीना घनकनकधारा समरचि
प्रतीतिं नीताऽसौ शिवयुवतिसौन्दर्यलहरी ।
भुजङ्गो रौद्रोऽपि श्रुतभयहृदाधायि सुगुरो-
र्गिरां धारा सेयं कलयति कवेः कस्य न मुदम् ॥ ९३ ॥

जिस वाणी ने सोने की धारा को दीनों के अधीन बना दिया, जिसके कारण गौरी की सौन्दर्य-लहरी प्रकट हुई, भयानक भी साँप जिसके श्रवण मात्र से भय को हरनेवाला बन गया, जगद्गुरु शङ्कर की वह वाग्-धारा—कविता-प्रवाह—किस कवि के हृदय में आनन्द नहीं पैदा करती ? ॥ ९३ ॥

टिप्पणी— शङ्कराचार्य ने भगवती के सौन्दर्य तथा शाक्त तत्त्व को प्रकट करने के लिये 'सौन्दर्यलहरी' नामक नितान्त मनोरम तथा अर्थगम्भीर स्तोत्र की रचना की है। इसी स्तोत्र का निर्देश इस श्लोक में किया गया है। इसके तीसरे चरण में 'भुजङ्गप्रयात' छन्द में लिखे गये शिवभुजङ्ग-स्तोत्र की ओर निर्देश है।

गिरां धारा कल्पद्रुमकुसुमधारा परगुरो-
स्तदर्थाली चिन्तामणिकिरणवेण्या गुणनिका ।
अभङ्गव्यङ्ग्यौघः सुरसुरभिदुग्धोर्मिसहभू-
र्दिवं भव्यैः काव्यैः सृजति विदुषां शङ्करगुरुः ॥९४॥

परमगुरु शङ्कर की वाणी का प्रवाह कल्पवृक्ष के पुष्पों के समान है। उन वचनों का अर्थ चिन्तामणि की किरणों का नृत्य है। ध्वनि का अभङ्ग-समुच्चय (रमणीय समूह) देवता, कामधेनु तथा क्षीर-सागर की तरङ्ग, के समान है। अतः शङ्कर ने भव्य काव्यों के द्वारा विद्वानों के लिये स्वर्ग की सृष्टि की है ॥ ९४ ॥

वाचा मोचाफलाभाः श्रमशमनविधौ ते समर्थास्तदर्था
व्यङ्ग्यं भङ्ग्यन्तरं तत् खलु किमपि सुधामाधुरीसाधुरीतिः ।
मन्ये धन्यानि गाढं प्रशमिकुलपतेः काव्यगव्यानि भव्या-
न्येकश्लोकोऽपि येषु प्रथितकविजनानन्दसन्दोहकन्दः ॥९५॥

जिनके वचन कदली-फल के समान हैं, जिनके अर्थ श्रम को दूर करने में समर्थ हैं, जिनका व्यंग्य सुन्दर भङ्गी से युक्त है, जिनकी रीति

सुधा के समान मधुर है, वैराग्ययुक्तों में सर्वश्रेष्ठ आचार्य शङ्कर के ऐसे काव्यरूपी मधुर गाय के दूध को मैं अत्यन्त धन्य मानता हूँ जिनका एक भी श्लोक कविजनों के हृदय में आनन्द की राशि को उत्पन्न करने का कारण है ॥ ९५ ॥

वाग्गुम्फैः कुरुविन्दकन्दलनिभैरानन्दकन्दैः सताम्
अर्थौघैररविन्दवृन्दकुहरस्यन्दन्मरन्दोज्ज्वलैः।
व्यङ्ग्यैः कल्पतरुप्रफुल्लसुमनःसौरभ्यगर्भीकृतै-
र्दत्ते कस्य मुदं न शङ्करगुरोर्भव्यार्थकाव्यावलिः ॥ ९६ ॥

शङ्कराचार्य की रुचिर अर्थ से सम्पन्न काव्यावली कुरविन्द (पुष्प-विशेष) के अङ्कुर के समान सज्जनों को आनन्द देनेवाले वाक्यों से और कमल के छिद्रों से गिरनेवाले पुष्प-रस से उज्ज्वल अर्थ-समुदाय से युक्त है। वह कल्पवृक्ष के विकसित पुष्पों की सुगन्ध से मण्डित व्यंग्यों के द्वारा किस सहृदय के हृदय में आनन्द नहीं उत्पन्न करती ? ॥ ९६ ॥

तत्ताहग्यतिशेखरोद्धृतनिषद्भाष्यं निशम्येर्ष्यया
केचिद्देवनदीतटस्थविदुषामक्षाङ्घ्रिपक्षश्रिताः।
मौर्ख्यात् खण्डयितुं प्रयत्नमनुमानैकेक्षणा विक्षमा-
श्चक्रुर्भाव्यविचार्य चित्रकिरणं चित्राः पतङ्गा इव ॥ ९७ ॥

यति-शिरोमणि शङ्कर के द्वारा विरचित उपनिषद्-भाष्य को सुनकर गङ्गा-तट पर रहनेवाले कुछ विद्वानों ने गौतम के पक्ष का अवलम्बन कर अनुमान को ही प्रधान प्रमाण मानकर, भविष्य का विना विचार किये हुए ईर्ष्या से भाष्यों के खण्डन में उसी प्रकार से प्रयत्न किया जिस प्रकार अग्नि के खण्डन करने का प्रयत्न पतिङ्गे किया करते हैं। आशय यह है कि जिस प्रकार पतिङ्गे अग्नि को नहीं बुझा सकते उसी प्रकार भेद-वादी नैयायिक भी शङ्कर के सिद्धान्तों का खण्डन नहीं कर सकते थे ॥९७॥

निघर्षणच्छेदनतापनाद्यैर्यथा सुवर्णं परभागमेति ।
विवादिभिः साधु विमथ्यमानं तथा मुनेर्भाष्यमदीपि भूयः ॥९८॥

जिस प्रकार सुवर्ण घिसने, काटने, गलाने आदि क्रियाओं के कारण अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त करता है—अधिक चमकने लगता है—उसी प्रकार आचार्य का भाष्य भी वादियों के द्वारा मन्थन किये जाने पर अधिक चमकने लगा ॥ ९८ ॥

स भाष्यचन्द्रो मुनिदुग्धसिन्धोरुत्थाय दास्यन्नमृतं बुधेभ्यः ।
विधूय गोभिः कुमतान्धकारानतर्पयद्द्विप्रमनश्चकोरान् ॥९९॥

उस भाष्य-रूपी चन्द्रमा ने मुनि-रूपी क्षीरसागर से उत्पन्न होकर पण्डितों को अमृत देने के लिये वचन-रूपी किरणों से कुमति-रूपी अन्धकारों को दूर कर मुमुक्षुओं के मन-रूपी चकोरों को तृप्त कर दिया ॥ ९९ ॥

अनादिवाक्सागरमन्थनोत्था सेव्या बुधैर्धिक्कृतदुःसपत्नैः ।
विश्राणयन्ती विजरामरत्वं विदिद्युते भाष्यसुधा यतीन्दोः॥१००॥

शङ्कर की भाष्य-रूपी सुधा अनादि वेद-रूपी सागर के मन्थन से उत्पन्न होनेवाली है; काम क्रोध आदि शत्रुओं को जीतनेवाले विद्वानों से पूजित है। वह अजरता तथा अमरता को देती हुई प्रकाशित हुई ॥१००॥

सतां हृदब्जानि विकासयन्ती तमांसि गाढानि विदारयन्ती ।
प्रत्यर्थ्युलूकान् प्रविलापयन्ती भाष्यप्रभाऽभाद्यतिवर्यभानोः॥१०१॥

सज्जनों के हृदय-कमल को विकसित करती हुई, गाढ़ अन्धकार को दूर करती हुई, प्रतिपक्षी-रूप उल्लुओं को नष्ट करती हुई यति-श्रेष्ठ शङ्कर-रूपी सूर्य की भाष्यरूपिणी प्रभा चारों ओर चमक उठी ॥ १०१ ॥

न्यायमन्दरविमन्थनजाता भाष्यनूतनसुधा श्रुतिसिन्धोः ।
केवलंश्रवणतो विबुधेभ्यश्चित्रमत्र वितरत्यमृतत्वम् ॥ १०२ ॥

आचार्य शङ्कर ने वेद-रूपी समुद्र को न्यायरूपी मन्दराचल के द्वारा मथकर भाष्य-रूपी नवीन सुधा को निकाला। इस नवीन मधुर सुधा की यह विशेषता है कि जहाँ वह प्राचीन सुधा पान करने से देवलोक में अमरत्व प्रदान करती थी वहाँ यह सुधा श्रवणमात्र से इसी लोक में विद्वानों को अमरता प्रदान करती है॥ १०२॥

पादादासीत् पद्मनाभस्य गङ्गा शम्भोर्वक्त्राच्छांकरी भाष्यसूक्तिः
आद्या लोकान् दृश्यते मज्जयन्तीत्यन्या मग्नानुद्धरत्येष भेदः॥१०३॥

भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) के पैर से गङ्गा उत्पन्न हुई; परन्तु शङ्कर की भाष्य-रूपी सूक्ति शिव के मुख से उत्पन्न हुई। दोनों में यह महान् भेद है कि जहाँ गङ्गा लोगों को जल में मग्न कर देती है वहाँ यह सूक्ति डूबे हुए लोगों का उद्धार करती है॥ १०३॥

व्यासो दर्शयति स्म सूत्रकलितन्यायौघरत्नावली-
र्र्थालाभवशान्न कैरपि बुधैरेता गृहीताश्चिरम्।
अर्थाप्त्या सुलभाभिराभिरधुना ते मण्डिताः पण्डिता
व्यासश्चाऽऽप कृतार्थतां यतिपतेरौदार्यमाश्चर्यकृत्॥१०४॥

व्यास ने वेदान्त-सूत्रों में निहित न्यायरूपी रत्नों की माला को दिखलाया था, परन्तु अर्थ न जानने के कारण पण्डितों ने इस माला को पहिचाना ही नहीं। शाङ्कर भाष्य से अर्थ की प्राप्ति होने पर सुलभ होनेवाली इन रत्नमालाओं के द्वारा पण्डित लोग मण्डित कर दिये गये हैं तथा व्यासजी भी कृतार्थ हो गये।—यतिपति शङ्कर की उदारता सचमुच आश्चर्यजनक है॥ १०४॥

विद्वज्जालतपःफलं श्रुतिवधूधम्मिल्लमल्लीस्रजं
सद्वैयासकसूत्रमुग्धमधुरागण्यातिपुण्योदयम्।
वाग्देवीचिरभोग्यभाग्यविभवप्राग्भारकोशालयं
भाष्यं ते निपिबन्ति हन्त न पुनर्येषां भवे संभवः॥१०५॥

आचार्य शङ्कर का यह भाष्य विद्वानों की तपस्या का फल है; श्रुति-रूपी वनिता के केशपाश को अलंकृत करनेवाली जूही की माला है; व्याससूत्र-रूपी सुन्दर खाद्य के अगणित पुण्यों का उदय है तथा सरस्वती के चिरकाल तक भोगने योग्य भास्य के वैभव के अतिशय को दिखानेवाला कोष है। जो मनुष्य ऐसे भाष्य का सतत परिशीलन करते हैं उनका इस मर्त्यलोक में फिर जन्म नहीं होता॥ १०५॥

मन्थानाद्रिधुरन्धरा श्रुतिसुधा सिन्धोर्यतिक्ष्मापते-
ग्रन्थानां फणितिः परावरविदामानन्दसन्धायिनी।
इन्धानैः कुमतान्धकारपटलैरन्धीभवच्चक्षुषां
पन्थानं स्फुटयँन्त्यकाण्डकमभात्तर्कार्कविद्योतितैः॥१०६॥

यतिराज शङ्कर के ग्रन्थों की रचना श्रुतिरूपी क्षीरसागर के लिये मन्दराचल पर्वत की तरह है अर्थात् उसके (श्रुति के) सार तत्त्व को निकालकर बाहर प्रकट करनेवाली है। यह परमात्मा को जाननेवाले पुरुषों के हृदय में आनन्द उत्पन्न करती है। चमकनेवाले तर्क रूपी सूर्य के प्रकाश से और कुमति-रूपी अन्धकार-समूह से अन्धे होनेवाले लोगों के मार्ग को प्रकाशित करती हुई भली भाँति चमक रही है॥ १०६॥

आ सीतानाथनेतुः स्थलकृतसलिलद्वैतमुद्रात् समुद्रा-
दा रुद्राकर्षणाद्द्रागवनतशिखराद्द्भोगसान्द्रान्नगेन्द्रात्।
आ च प्राचीनभूमीधरमुकुटतटादा तटात् पश्चिमाद्रे-
रद्वैताद्यापवर्गा जयति यतिधरापोद्धृता ब्रह्मविद्या॥१०७॥

दक्षिण में समुद्र से लेकर उत्तर में सुमेरु पर्वत तक तथा पूर्व में उदयाचल से लेकर पश्चिम में अस्ताचल तक, आचार्य के द्वारा प्रकाशित, अद्वैत-रूपी अपवर्ग को देनेवाली, ब्रह्मविद्या का विजय सब देशों में सर्वत्र हो। भारत के दक्षिण में वर्तमान समुद्र रामचन्द्र को राह दिखाने-वाला तथा सेतुबन्धन के द्वारा पृथ्वी से जल को अलग करनेवाला है।

उत्तर में सुमेरु के शिखर शिवजी के द्वारा आकर्षण किये जाने के कारण नम गये थे तथा देवभूमि होने के कारण वहाँ भोगों की विपुलता सदा वर्तमान रहती है। इन दोनों के बीच में और उदयाचल तथा अस्ताचल के बीच में ब्रह्मविद्या के विजय की प्रार्थना इस काव्य का रचयिता कर रहा है ॥ १०७ ॥

इति श्रीमाधवीये तद्ब्रह्मविद्याप्रतिष्ठितिः ।
संक्षेपशङ्करजये षष्ठः सर्ग उपारमत् ॥ ६ ॥

माधवीय शङ्करदिग्विजय में ब्रह्मविद्या की प्रतिष्ठा
का सूचक षष्ठ सर्ग समाप्त हुआ ।



सप्तम सर्ग

व्यासजी का दर्शन तथा कुमारिलभट्ट से भेंट

स जातु शारीरकसूत्रभाष्यमध्यापयन्नभ्रसरित्समीपे ।
शिष्यालिशङ्काः शमयन्नुवास यावन्नभोमध्यमितो विवस्वान् ॥१॥

एक बार शङ्कराचार्य गङ्गा के पास रहते हुए शारीरक भाष्य अपने विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे और जब तक दोपहर नहीं हो जाता था तब तक शिष्यों की शङ्काओं को दूर करते हुए वहीं पर रहते थे ॥ १ ॥

श्रान्तेष्वथाधीत्य शनैर्विनेयेष्वाचार्य उत्तिष्ठति यावदेषः ।
तावद्द्विजः कश्चन वृद्धरूपः कस्त्वं किमध्यापयसीत्यपृच्छत् ॥२॥

ग्रन्थों को पढ़कर विद्यार्थियों के श्रान्त हो जाने पर जब आचार्य उठे, तभी कोई ब्राह्मण आकर पूछने लगा—तुम कौन हो और क्या पढ़ा रहे हो ? ॥ २ ॥

शिष्यास्तमूचुर्भगवानसौ नो गुरुः समस्तोपनिषत्स्वतन्त्रः ।
अनेन दूरीकृतभेदवादमकारि शारीरकसूत्रभाष्यम् ॥ ३ ॥

विद्यार्थियों ने उस ब्राह्मण से कहा—समस्त उपनिषदों में स्वतन्त्र ये हमारे गुरु हैं। इन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर द्वैतवाद को दूर करनेवाला भाष्य लिखा है ॥ ३ ॥

स चाब्रवीद्भाष्यकृतं भवन्तमेते वदन्त्यद्भुतमेतदास्ताम् ।
अथैकमुच्चारय पारमार्षं यतेऽर्थतस्त्वं यदि वेत्थ सूत्रम् ॥ ४ ॥

शिष्य के वचन सुनकर वह ब्राह्मण बोला—ये छात्र आपको भाष्यकार बतलाते हैं। यह अद्‌भुत बात तब तक दूर रहे। यदि परम ऋषि वेदव्यास के द्वारा प्रणीत सूत्रों के अर्थ को तुम जानते हो, तो एक सूत्र की व्याख्या तो करो ॥ ४ ॥

तमब्रवीद्भाष्यकृदग्र्यवाचं सूत्रार्थविद्भ्योऽस्तु नमो गुरुभ्यः ।
सूत्रज्ञताहंकृतिरस्ति नो मे तथाऽपि यत् पृच्छसि तद्ब्रवीमि ॥५॥

भाष्यकार ने उस ब्राह्मण से यह सुन्दर वचन कहा—सूत्रार्थवेत्ता गुरु लोगों को मैं नमस्कार करता हूँ। मैं सूत्रों के अर्थ जानने का अहङ्कार नहीं करता तथापि जो आप पूछते हैं उसका उत्तर दूँगा ॥ ५ ॥

पप्रच्छ सोऽध्यायमथाधिकृत्य तृतीयमारम्भगतं यतीशम् ।
तदन्तरेत्यादिकमस्ति सूत्रं ब्रूह्यतदर्थं यदि वेत्थ किञ्चित् ॥६॥

इस पर उस ब्राह्मण ने यतिराज शङ्कर से ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय के प्रथम सूत्र "तदन्तर-प्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" के विषय में पूछा। यदि तुम इसका कुछ भी अर्थ जानते हो तो कहो ॥६॥

स प्राह जीवः करणावसादे संवेष्टितो गच्छति भूतसूक्ष्मैः ।
ताण्डिश्रुतौ गौतमजैवलीयप्रश्नोत्तराभ्यां प्रथितोऽयमर्थः ॥ ७ ॥

शङ्कर ने उत्तर दिया—इन्द्रियों के अवसन्न होने पर अर्थात् मरण के समय दूसरे देह की प्राप्ति के लिये जीव पञ्चभूतों के सूक्ष्म अवयवों से संयुक्त होकर दूसरे स्थान में जाता है। इस विषय का निरूपण 'ताण्डि श्रुति' में गौतम और जैवल के प्रश्न और उत्तर के द्वारा किया गया है ॥ ७ ॥

टिप्पणी—छान्दोग्य (५ । ३ । ३) में जैवलि और गौतम के कथनोपकथन में इस विषय का विस्तृत वर्णन है। प्रश्न था—पाँचवीं आहुति में जल

को 'पुरुष' क्यों कहते हैं ? उत्तर—आकाश, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष तथा स्त्री रूपी पाँच अग्नियों में क्रमशः श्रद्धा, सोम, वृष्टि, अन्न तथा वीर्य रूपी पाँच आहुतियाँ दी जाती हैं और इस प्रकार जल को (देह के उत्पादक भूतों के सूक्ष्म अवयव को) पुरुष कहते हैं अर्थात् जीव आकाशादि पाँचों भूतों के सूक्ष्म अंशों से आवृत होकर एक देह से दूसरे देह में जाता है। विशेष जानने के लिये इस सूत्र का शाङ्कर भाष्य देखिए।

इत्युक्तमर्थं निशमय्य तेन स वावदूकः शतधा विकल्प्य ।
अखण्डयत् पण्डितकुञ्जराणां मध्ये महाविस्मयमादधानः ॥ ८ ॥

इस अर्थ को सुनकर उस वावदूक ब्राह्मण ने उन पण्डितों के हृदय में अत्यन्त विस्मय उत्पन्न करते हुए सौ तरह से विकल्प उत्पन्न कर इसका खण्डन किया ॥ ८ ॥

अनूद्य सर्वं फणितं तदीयं सहस्रधा तीर्थकरश्चखण्ड ।
तयोः सुराचार्यफणीन्द्रवाचोर्दिनाष्टकं वाक्कलहो जजृम्भे ॥ ९ ॥

उनके वचन का अनुवाद करके शङ्कर ने सौ तरह से उसका खण्डन किया। इस प्रकार बृहस्पति और शेषनाग के समान इन दोनों में यह विवाद आठ दिन तक चलता रहा ॥ ९ ॥

एवं वदन्तौ यतिराड्द्विजेन्द्रौ विलोक्य पार्श्वस्थितपद्मपादः ।
आचार्यमाहेति महीसुरोऽयं व्यासो हि वेदान्तरहस्यवेत्ता ॥१०॥

इस प्रकार से यतिराट् और द्विजराट् को परस्पर विवाद करते देखकर समीप में बैठे हुए पद्मपाद बोल उठे—हे आचार्य ! ये ब्राह्मण वेदान्त के रहस्य के ज्ञाता व्यास ही हैं ॥ १० ॥

त्वं शङ्करः शङ्कर एव साक्षाद् व्यासस्तु नारायण एव नूनम् ।
तयोर्विवादे सततं प्रसक्ते किं किङ्करोऽहं करवाणि सद्यः ॥११॥

हे शङ्कर ! तुम साक्षात् शङ्कर हो तथा व्यास स्वयं नारायण हैं। इन दोनों में विवाद होने पर आपका दास मैं क्या करूँ ? ॥ ११ ॥

इतीदमाकर्ण्य वचो विचित्रं स भाष्यकृत् सूत्रकृतं दिदृक्षुः ।
कृताञ्जलिस्तं प्रयतः प्रणम्य बभाण वाणीं नवपद्यरूपाम् ॥१२॥

यह विचित्र वचन सुनकर भाष्यकार ने सूत्रकार को देखने की इच्छा से हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया और पद्यों के रूप में वे उनकी स्तुति करने लगे—॥ १२ ॥

भवांस्तडिच्चारुजटाकिरीटप्रवर्षुकाम्भोधरकान्तिकान्तः ।
शुभ्रोपवाती धृतकृष्णचर्मा कृष्णो हि साक्षात् कलिदोषहन्ता॥१३॥

आप बिजली के समान सुन्दर जटा-जूट से वृष्टि करनेवाले मेघ की कान्ति के समान सुन्दर हैं। शुभ्र यज्ञोपवीत तथा मृगचर्म को धारण करनेवाले, कलि के दोष को नष्ट करनेवाले साक्षात् कृष्ण द्वैपायन व्यास हैं ॥ १३ ॥

भावत्कसूत्रप्रतिपाद्यताद्दक्परापरार्थप्रतिपादकं सत् ।
अद्वैतभाष्यं तव संमतं चेत् सोढा ममाऽऽगः पुरतो भवाऽऽशु ॥१४॥

आपके सूत्र के द्वारा प्रतिपाद्य, अद्वैत ब्रह्म रूप, परमार्थ तथा दृश्य रूप अपरार्थ को प्रतिपादन करनेवाला यह अद्वैत भाष्य यदि आपको सम्मत हो तो मेरे अपराध क्षमा कर मुझे सामने दर्शन दीजिए ॥ १४ ॥

व्यासजी का वर्णन

एवं वदन्नयमथैक्षत कृष्णमारात्
चामीकरव्रततिचारुजटाकलापम् ।
विद्युल्लतावलयवेष्टितवारिदाभं
चिन्मुद्रया प्रकटयन्तमभीष्टमर्थम् ॥ १५ ॥

इस प्रकार से कहते हुए शङ्कर ने अपने पास व्यास मुनि को देखा। सोने की लताओं के समान उनकी जटाओं का कलाप शोभित था। वे बिजली के वलय से वेष्टित मेघ की तरह शोभायमान थे तथा ज्ञान-मुद्रा के द्वारा अभीष्ट अर्थ को प्रकट कर रहे थे ॥ १५॥

गाढोपगूढमनुराजजुषा रजन्या
गर्हापदं विदधतं शरदिन्दुबिम्बम् ।
तापिच्छरीतितनुकान्तिभरीपरीतं
कान्तेन्दुकान्तघटितं करकं दधानम् ॥ १६ ॥

वे अनुरागवती रजनी के द्वारा आलिङ्गित शरत्-चन्द्रमा को भी अपनी शरीर-शोभा से निन्दित कर रहे थे। तमाल के समान अपने शरीर की कान्ति से व्याप्त थे और रमणीय चन्द्रकान्त मणि से निर्मित कमण्डलु को धारण कर रहे थे ॥ १६ ॥

सप्ताधिकाच्छदरविंशतिमौक्तिकाढ्यां
सत्यस्य मूर्तिमिव बिभ्रतमक्षमालाम् ।
तत्ताद्दशस्वपतिवंशविवर्धनात्प्राक्
तारावलीमुपगतामिव चानुनेतुम् ॥ १७ ॥

वे स्वच्छ छिद्रवाले सात से अधिक बीस (२७) मोतियों की बनी रुद्राक्ष माला को सत्य की मूर्ति के समान धारण कर रहे थे। जान पड़ता था, यह सत्ताइस नक्षत्रों की माला है जो चन्द्रवंश के वर्धन के पहिले अनुनय (विनय) करने के लिये व्यासजी के पास आये हों ॥ १७ ॥

शार्दूलचर्मोद्वहनेन भूतेरुद्धूलनेनापि जटाच्छटाभिः ।
रुद्राक्षमालावलयेन शम्भोरर्धासनाध्यासनसख्यपात्रम् ॥ १८ ॥

सिंह के चर्म को धारण करने से, शरीर में भस्म मलने से, जटाओं से और रुद्राक्ष-माला के रखने से जान पड़ता था कि वे भगवान् शङ्कर के अर्धासन पर बैठने की योग्यता रखनेवाले हों ॥ १८ ॥

अद्वैतविद्यासृणितीक्ष्णधारावशीकृताहंकृतिकुञ्जरेन्द्रम् ।
स्वशास्त्रशङ्कोज्ज्वलसूत्रदामनियन्त्रिताकृत्रिमगोसहस्रम् ॥ १९ ॥

वे अद्वैत-विद्या के अङ्कुश की तीक्ष्ण धार से अहङ्कार-रूपी हाथी को वश में करनेवाले थे और अपने अद्वैतशास्त्र-रूपी शङ्कु (खूँटे) में उज्ज्वल सूत्र-रूपी रस्सियों से अकृत्रिम श्रुतिरूपी हजारों गायों को बाँधनेवाले थे ॥ १९ ॥

तत्तादृगत्युज्ज्वलकीर्तिशालिशिष्यालिसंशोभितपार्श्वभागम् ।
कटाक्षवीक्षामृतवर्षधारानिवारिताशेषजनानुतापम् ॥ २० ॥

उज्ज्वल कीर्तिशाली शिष्यमण्डली उनके पार्श्व को सुशोभित कर रही थी तथा उन्होंने अपने कटाक्ष-रूपी अमृत की धारा को बरसाकर सम्पूर्ण मनुष्यों का सन्ताप दूर कर दिया था ॥ २० ॥

विलोक्य वाचंयमसार्वभौमं स शङ्करोऽशङ्कितदर्शनं तम् ।
गुरुं गुरूणामपि हृष्टचेताः प्रत्युद्ययौ शिष्यगणैः समेतः ॥२१॥

मुनियों में सर्वश्रेष्ठ, गुरुओं के भी गुरु, व्यासजी को अकस्मात् आये हुए देखकर शङ्कर प्रसन्न हुए और अपने शिष्यों के साथ उनकी अगवानी करने के लिये आगे बढ़े ॥ २१ ॥

अत्यादराच्छात्रगणैः सहासौ प्रत्युद्गतस्तच्चरणौ प्रणम्य ।
यत्यग्रगामी विनयी प्रहृष्यन्नित्यब्रवीत् सत्यवतीसुतं सः ॥ २२ ॥

शिष्यगणों के साथ आगे जाकर शङ्कर ने व्यासजी के चरणों को प्रणाम किया तथा विनयी यतिराज प्रसन्न होकर सत्यवती के पुत्र व्यास से ये वचन बोले—॥ २२ ॥

व्यासजी की स्तुति

द्वैपायन स्वागतमस्तु तुभ्यं दृष्ट्वा भवन्तं चरिता मयाऽर्थाः ।
युक्तं तदेतत् त्वयि सर्वकालं परोपकारव्रतदीक्षितत्वात् ॥२३॥

हे व्यासजी ! आपका स्वागत है । आपको देखकर मेरे समस्त अर्थ सम्पन्न हो गये । परोपकार-व्रत में दीक्षित होने से आपमें सब अर्थों के सम्पादन करने की योग्यता का होना बिल्कुल ठीक है ॥ २३ ॥

मुने पुराणानि दशाष्ट साक्षात् श्रुत्यर्थगर्भाणि सुदुष्कराणि ।
कृतानि पद्यद्वयमत्र कर्तुं को नाम शक्नोति सुसंगतार्थम् ॥२४॥

हे मुनि! आपने श्रुति के अर्थ से गर्भित अत्यन्त दुष्कर अठारह पुराणों की रचना की है। भला कौन ऐसा आदमी है जो सङ्गत अर्थवाले दो श्लोकों की भी रचना कर सके ? ॥ २४ ॥

टिप्पणी—अठारहों पुराणों के नाम इस श्लोक में बड़ी सुन्दरता से सूचित किये गये हैं—

मद्वयं भद्वयं चैव, ब्रत्रयं वचतुष्टयम् ।
अनापल्लिङ्गकूस्कानि पुराणानि प्रचक्षते ॥

मकार से आरम्भ होनेवाले दो पुराण हैं=मत्स्य, मार्कण्डेय; भकारादि दो=भविष्य, भागवत; ब्रत्रयं=ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त तथा ब्राह्म; वचतुष्टय=वराह, वामन, वायु (या शिव) तथा विष्णु; अकारादि से आरब्ध एक-एक पुराण है—अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म तथा स्कन्द ।

वेदार्णवं व्यतियुतं व्यदधाश्चतुर्धा
शाखाप्रभेदनवशादपि तान् विभक्तान् ।
मन्दाः कलौ क्षितिसुरा जनितार एते
वेदान् ग्रहीतुमलसा इति चिन्तयित्वा ॥ २५ ॥

मिश्रित वेद-समुद्र को आपने ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व इन चार समूहों में विभक्त किया तथा उनको अनेक शोखा-प्रशाखाओं का भी इसलिये भेद किया कि कलियुग के ब्राह्मण अत्यन्त मन्दमति होकर वेद के ग्रहण करने में आलसी होंगे ॥ २५ ॥

एष्यद्विजानासि भवन्तमर्थं गतं च सर्वं न न वेत्सि यत्तत् ।
नो चेत् कथं भूतभवद्भविष्यत्कथाप्रबन्धान् रचयेरजानन् ॥ २६ ॥

आप भविष्य अर्थ को जानते हैं। वर्तमान तथा भूत अर्थ से भी भली भाँति परिचित हैं। ऐसा कोई अर्थ नहीं जिसे आप नहीं जानते हैं।

यदि ऐसा नहीं होता तो आप भूत, वर्तमान तथा भविष्य के कथा-प्रबन्धों को कैसे बनाते ? ॥ २६ ॥

आभासयन्नन्तरमङ्गमान्ध्यं स्थूलं च सूक्ष्मं बहिरन्तरं च ।
अपानुदन् भारतशीतरश्मिरभूदपूर्वो भगवत्पयोधेः ॥ २७ ॥

सब लोगों के भीतर रहनेवाले अष्ट-मूर्ति शिव को प्रकट करता हुआ, स्थूल (कार्य) सूक्ष्म (कारण) बहिः (बाह्य जगत्) अन्तर (भीतरी जगत् = आत्मा) के विषय में अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करनेवाला 'महाभारत' रूपी अपूर्व चन्द्रमा समुद्ररूपी आपसे उत्पन्न हुआ है। चन्द्रमा केवल बाहरी अन्धकार को दूर करता है, परन्तु यह महाभारतरूपी चन्द्रमा भीतरी अज्ञानान्धकार को दूर करता है। यही इसकी विशेषता है ॥ २७ ॥

वेदाः षडङ्गं निखिलं च शास्त्रं
महान् महाभारतवारिराशिः ।
त्वत्तः पुराणानि च संबभूवुः
सर्वं त्वदीयं खलु वाङ्मयाख्यम् ॥ २८ ॥

वेद, छः अङ्ग, सब शास्त्र, महाभारतरूपी महान् समुद्र, समस्त पुराण आप ही से पैदा हुए हैं। इस प्रकार समस्त वाङ्मय के कर्ता आप ही हैं ॥ २८ ।

द्वीपे क्वचित् समुदयन्नृतमेव धाम
शाखासहस्रसचिवः शुकसेव्यमानः ।
उल्लासयत्यहह यस्तिलको मुनीना-
मुच्चैः फलानि सुदृशां निजपादभाजाम् ॥ २९ ॥

सत्यप्रकाशरूप परब्रह्म ही व्यास के रूप में किसी द्वीप में उत्पन्न हुए। इन्होंने वेद की सहस्र शाखाओं का विभाग किया है। शुक

उनकी सेवा करते हैं। मुनियों में ये श्रेष्ठ हैं। अपने चरण की सेवा करनेवाले विद्वानों को मोक्षरूपी फल प्रदान करते हैं। इस प्रकार ये शाखाओं से मण्डित, शुक से सेवित, उत्कृष्ट फल पैदा करनेवाले कल्पवृक्ष के समान हैं॥ २९॥

धत्से सदाऽऽर्तिशमनाय हृदा गिरीशं
गोपायसेऽधिवदनं च चिरन्तनीर्गाः।
दूरी करोषि नरकं च दयार्द्रदृष्ट्या
कुस्ते गुणान् गदितुमद्भुतकृष्ण शक्तः॥ ३० ॥

आप क्लेश को शमन करने के लिये हृदय में शङ्कर को धारण करते हैं। श्रुति-रूपी चिरन्तन (पुरानी) वाणी की रक्षा मुख में करते हैं; दयादृष्टि से नरक का संहार करते हैं। इस प्रकार हे अद्भुत कृष्ण! आपके समग्र गुणों के वर्णन में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ३० ॥

टिप्पणी—व्यास मुनि को अद्भुत कृष्ण कहने में तात्पर्य है। गोपाल कृष्ण ने तो गोपों की ही रक्षा के लिये गोवर्धन पर्वत को सात दिन तक धारण किया था। व्यासजी तो गिरीश शङ्कर को सज्जनों के क्लेश दूर करने के लिये सदा हृदय में धारण करते हैं। कृष्ण ने तो नवीन गायों को वन में चराया था तथा नरक असुर को युद्ध में पराजित किया था, परन्तु व्यासजी के उपरिनिर्दिष्ट कार्य इससे विचित्र हैं। अतः ये अद्भुत कृष्ण हैं।

यमामनन्ति श्रुतयः पदार्थं न सन्न चासन्न बहिर्न चान्तः।
स सच्चिदानन्दघनः परात्मा नारायणस्त्वं पुरुषः पुराणः॥३१॥

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', 'नासदासी नोसदासीत्तदानीम्' आदि श्रुतियाँ जिसको तत् तथा त्वं पदार्थ का लक्ष्यार्थ बतलाती हैं, जो न तो सत् है, न असत् है, न बाहर है और न भीतर है; जो सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा है, वही पुराण पुरुष नारायण आप हैं॥३१॥

टिप्पणी—'नारायण' शब्द की व्युत्पत्ति भिन्न भिन्न प्रकार से की गई है। 'नर' शब्द का अर्थ स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त शरीर, उसमें सन्निहित होने से जीव का नाम हुआ 'नार'। जीवों के आश्रय होने से परमात्मा का नाम नारायण हुआ। मनु (१।१०) की व्युत्पत्ति इससे विलक्षण है। उनका कहना है—

आपो नारा इति प्रोक्ता, आपो वै नरसूनवः।
ता यदस्यायनं पूर्वं, तेन नारायणः स्मृतः॥

इति स्तुतस्तेन यथाविधानमासेदिवान् विष्टरमात्मनिष्ठः।
द्वैपायनः प्रश्रयनम्रपूर्वकायं यतीशानमिदं बभाषे॥ ३२॥

इस प्रकार स्तुति की जाने पर आत्मनिष्ठ व्यासजी विहित आसन पर बैठे तथा देह के अगले भाग को झुकाकर प्रणाम करनेवाले यतिराज से बोले—॥ ३२॥

त्वमस्मदादेः पदवीं गतोऽभू-
रखण्डपाण्डित्यमबोध्ययं ते।
शुकर्षिवत् प्रीतिकरोऽसि विद्वन्
पुरेव शिष्यैः सह मा भ्रमीस्त्वम्॥ ३३॥

तुमने हमारी पदवी को पहिले ही प्राप्त कर लिया है। तुम्हारे अखण्ड पाण्डित्य को हमने जान लिया। हे विद्वन्! तुम शुक की तरह मुझे प्यारे हो। पहिले की तरह अब शिष्यों के साथ इधर-उधर भ्रमण मत करो॥ ३३॥

कृतं त्वया भाष्यमितीन्दुमौलेः सभाङ्कणेसिद्धमुखान्निशम्य।
हृदा प्रहृष्टेन दिदृक्षया ते दृगध्वनीनः प्रशमिन्नभूवम्॥ ३४॥

शङ्कर के सभाङ्कणे नामक सिद्ध के मुख से सुनकर तुमने यह भाष्य बनाया है। हे शान्त मुनि! मैं प्रसन्नचित्त होकर तुम्हें देखने की इच्छा से तुम्हारे सामने आया हूँ॥ ३४॥

इत्थं मुनीन्द्रवचनश्रवणोत्थहर्ष
रोमाञ्चपूरमिषतो बहिरुत्प्लवन्तम् ।
विभ्रत्तमभ्ररुचिमाख्यददभ्रशक्ति
श्रीशङ्करः शुकमतार्णवपूर्णचन्द्रः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार मुनीन्द्र के वचन को सुनकर शङ्कर ने रोमाञ्च के व्याज से अपना हर्ष बाहर प्रकट किया। वे शुक के अद्वैत मत रूपी समुद्र को बढ़ाने के लिये पूर्णचन्द्र के समान रमणीय थे। वे मेघ की तरह शोभायमान शक्ति-सम्पन्न व्यासजी से बोले—॥ ३५ ॥

सुमन्तुपैलप्रथमा मुनीन्द्रा महानुभावा ननु यस्य शिष्याः ।
तृणाल्लघीयानपि तत्र कोऽहं तथापि कारुण्यमदर्शि दीने ॥३६॥

सुमन्तु, पैल आदि महानुभाव ऋषि लोग जिसके शिष्य हैं, वहाँ तृण से भी लघुतर मैं किस गिनती में हूँ। तथापि आपने इस दीन पर दया दिखलाई है ॥ ३६ ॥

सोऽहं समस्तार्थविवेचकस्य कृत्वा भवत्सूत्रसहस्ररश्मेः ।
भाष्यप्रदीपेन महर्षिमान्य नीराजनं धृष्टतया न लज्जे ॥ ३७ ॥

हे महर्षि-पूज्य ! समस्त अर्थ को प्रकट करनेवाले आपके सूत्र रूपी सूर्य को अपने भाष्य-रूपी प्रदीप से आरती उतारकर मैं धृष्टता से लज्जित नहीं हो रहा हूँ। स्वयंप्रकाश सूर्य को प्रकाशित करने के लिये दीपक की आवश्यकता नहीं होती। उसी प्रकार उपनिषद्-अर्थ को प्रकट करनेवाले व्यास-सूत्र के ऊपर व्याख्या की आवश्यकता नहीं है ॥ ३७ ॥

अकारि यत् साहसमात्मबुद्ध्या भवत्प्रशिष्यव्यपदेशभाजा ।
विचार्य तत्सूक्तिदुरुक्तिजालमर्हः समीकर्तुमिदं कृपालुः ॥ ३८ ॥

आपके प्रशिष्य होकर मैंने अपनी छोटी बुद्धि से जो यह साहस किया है, उसे विचारकर मेरी सूक्ति और दुरुक्ति की रचना को सम करने में आप ही योग्य हैं ॥ ३८ ॥

इत्थं निगद्योपरतस्य हस्ताद्धस्तद्वयेनाऽऽदरतः स भाष्यम् ।
आदाय सर्वत्र निरैक्षतासौ प्रसादगाम्भीर्यगुणाभिरामम् ॥३९॥

इस प्रकार कहकर चुप हो जानेवाले शङ्कर के हाथ से व्यासजी ने अपने दोनों हाथों से बड़े आदर से भाष्य को लिया और प्रसाद तथा गाम्भीर्य गुणों से अभिराम इस भाष्य को सब जगह विचार-पूर्वक पढ़ा ॥ ३९ ॥

सूत्रानुकारिमृदुवाक्यनिवेदितार्थं
स्वीयैः पदैः सह निराकृतपूर्वपक्षम् ।
सिद्धान्तयुक्तिविनिवेशिततत्स्वरूपम्
दृष्ट्वाऽभिनन्द्य परितोषवशादवोचत् ॥ ४० ॥

सूत्र के अनुसार मृदु वाक्यों से अर्थ को प्रकट करनेवाले, अपने पदों से पूर्व पक्ष का खण्डन करनेवाले, युक्तियों से सिद्धान्त के स्वरूप को प्रकट करनेवाले, भाष्य को वेदव्यास ने देखकर अभिनन्दन किया तथा सन्तुष्ट होकर कहा— ॥ ४० ॥

न साहसं तात भवानकार्षीद्ध यत्सूत्रभाष्यं गुरुणा विनीतः ।
विचार्यतां सूक्तदुरुक्तमत्रेत्येतन्महत् साहसमित्यवैमि ॥ ४१ ॥

हे तात ! तुमने साहस नहीं किया है, क्योंकि गुरु के द्वारा शिक्षित होकर इस भाष्य की रचना की है। 'इसमें सूक्ति तथा दुरुक्ति का विचार कीजिए' यह कहना ही बड़ा साहस है ॥ ४१ ॥

मीमांसकानामपि मुख्यभूतो वेत्थाखिलव्याकरणानि विद्वन् ।
विनिःसरेत्ते वदनाद्ध यतीन्दो गोविन्दशिष्यस्य कथं दुरुक्तम् ॥४२॥

हे विद्वन् ! तुम मीमांसकों में भी मुख्य हो, सम्पूर्ण व्याकरण को जानते हो। हे यतिराज ! तुम तो गोविन्द के शिष्य हो। तुम्हारे मुख से अशुद्ध पद कैसे निकल सकता है ? ॥ ४२ ॥

न प्राकृतस्त्वं सकलार्थदर्शी महानुभावः पुरुषोऽसि कश्चित् ।
यो ब्रह्मचर्याद्‌ विषयान्निवार्य पर्यव्रजः सूर्य इवान्धकारान् ॥४३॥

तुम प्राकृत (साधारण) मनुष्य नहीं हो। सकल अर्थ को जानने-वाले कोई महानुभाव हो जिसने ब्रह्मचर्य के बाद अन्धकार को दूर करने-वाले सूर्य की तरह विषयों को हटाकर संन्यास ग्रहण कर लिया है ॥४३॥

बह्वर्थगर्भाणि लघूनि यानि निगूढभावानि च मत्कृतानि ।
त्वामेवमित्थं विरहय्य नास्ति यस्तानि सम्यग्विवरीतुमीष्टे॥४४॥

अर्थगर्भित, निगूढ़ भाववाले, लघु, अल्पाक्षर-सम्पन्न मेरे सूत्रों का सम्यक् व्याख्या करने में तुमको छोड़कर ऐसा कौन आदमी है जो समर्थ हो सकता है ॥ ४४ ॥

निसर्गदुर्ज्ञानतमानि को वा सूत्राण्यलं वेदितुमर्थतः सन् ।
क्लेशस्तु तावान् विवरीतुरेषां यावान् प्रणेतुर्विबुधा वदन्ति ॥४५॥

स्वभाव से ही अत्यन्त दुर्ज्ञेय, सूत्रों के अर्थ को भली भाँति जानने में कौन विद्वान् समर्थ है ? रचयिता को जितना क्लेश होता है उतना ही क्लेश व्याख्याता को भी होता है। ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥४५॥

भावं मदीयमवबुध्य यथावदेवं
भाष्यं प्रणेतुमनलं भगवानपीशः ।
सांख्यादिनाऽन्यथयितं श्रुतिमूर्धवर्त्मो-
द्धर्तुं कथं परशिवांशमृते प्रभुः स्यात् ॥ ४६ ॥

मेरे भाव को भली भाँति समझकर इस तरह का भाष्य बनाने में कौन समर्थ हो सकता है ? तथा सांख्य आदि दर्शनों के द्वारा विपरीत मार्ग को प्राप्त कराये गये वेदान्त के उद्धार करने में भगवान् शङ्कर के अंश को छोड़कर कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ४६ ॥

रोषानुषङ्गकलयाऽपि सुदूरमुक्तो
धत्सेऽधिमानसमहो सकलाः कलाश्च ।

सर्वात्मना गिरिजयोपहितस्वरूपः
शक्यो न वर्णयितुमद्भुतशङ्करस्त्वम् ॥ ४७ ॥

तुम में रोष लेश मात्र भी नहीं है। तुम अपने मन में समस्त कलाओं को धारण करते हो। समग्र भाव से वेदान्त (उपनिषदों) में उत्पन्न ब्रह्मविद्या-रूपी पार्वती के द्वारा तुम सदा आलिङ्गित हो। अतः तुम अद्भुत शङ्कर हो। तुम्हारा वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में शङ्कराचार्य अद्भुत शङ्कर कहे गये हैं क्योंकि भगवान् शङ्कर रोष से युक्त हैं, चन्द्रमा की केवल एक कला को सिर पर धारण करते हैं तथा पार्वती के द्वारा उनका आधा अङ्ग ही आलिङ्गित रहता है परन्तु आचार्य शङ्कर इन तीनों बातों में विलक्षण हैं।

व्याख्याप्यसंख्यैः कविभिः पुरैतद्
व्याख्यास्यते कैश्चिदितः परं च।
भवानिवास्मद्धृदयं किमेते
सर्वज्ञ विज्ञातुमलं निगूढम् ॥ ४८ ॥

प्राचीन काल में असंख्य कवियों ने इसकी व्याख्या की है तथा आगे चलकर कुछ विद्वान् लोग इसकी व्याख्या करेंगे परन्तु हे सर्वज्ञ! क्या ये लोग तुम्हारे समान मेरे निगूढ़ अभिप्राय को समझ सकते हैं? नहीं, कदापि नहीं ॥ ४८ ॥

व्याख्याहि भूयो निगमान्तविद्यां
विभेदवादान् विदुषो विजित्य।
ग्रन्थान् भुवि ख्यापय सानुबन्धान्
अहं गमिष्यामि यथाभिलाषम् ॥ ४९ ॥

फिर भी वेदान्त-विद्या पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखो, भेदवादी विद्वानों को जीतकर अनुबन्ध से युक्त ग्रन्थों को इस भूतल पर प्रसिद्ध करो। मैं अपने इच्छानुसार जा रहा हूँ ॥ ४९ ॥

टिप्पणी—किसी ग्रन्थ-रचना के आवश्यक उपकरणों को अनुबन्ध कहते हैं। ये चार हैं—१. विषय=ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय, २. प्रयोजन=ग्रन्थ लिखने का कारण, ३. अधिकारी=पात्र, ४. सम्बन्ध=ग्रन्थ तथा विषयक प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-सम्बन्ध आदि।

इत्युक्तवन्तं तमसाववाचत् कृतानि भाष्याण्यपि पाठितानि ।
ध्वस्तानि सम्यक् कुमतानि धैर्यादितः परं किं करणीयमस्ति॥५०॥

व्यासजी के इतना कहने पर आचार्य बोले—मैंने भाष्यों को बनाया है तथा उन्हें पढ़ाया भी है। धीरतापूर्वक मैंने दुष्ट मतों का सम्यक् खण्डन भी किया है। अब इसके बाद मुझे क्या करना चाहिए ? ॥ ५० ॥

मुहूर्तमात्रं मणिकर्णिकायां विधेहि सद्वत्सल सन्निधानम् ।
चिराद्य यतेऽहं परमायुषोऽन्ते त्यजामि यावद्ध वपुरद्य हेयम् ॥५१॥

हे सज्जनों के प्रेमी व्यासजी ! इस मणिकर्णिका घाट के पास एक क्षण आप खड़े रहिए जब तक मैं अपने परमायु की समाप्ति पर इस हेय शरीर को आज ही छोड़ दूँ ॥ ५१ ॥

इतीदमाकर्ण्य वचो विचिन्त्य
स शङ्करं प्राह कुरुष्व मैवम् ।
अनिर्जिताः सन्ति वसुन्धरायां
त्वया बुधाः केचिदुदारविद्याः ॥ ५२ ॥

इस वचन को सुनकर व्यासजी शङ्कर से बोले—हे वत्स ! ऐसा मत करो। इस भूतल पर उदार विद्यावाले बहुत से विद्वान् हैं जिनको तुमने अभी तक नहीं जीता है ॥ ५२ ॥

जयाय तेषां कति हायनानि
वस्तव्यमेव स्थिरधीस्त्वयाऽपि ।
नो चेन्मुमुक्षा भुवि दुर्लभा स्यात्
स्थितिर्यथा मातृधुतस्य बाल्ये ॥ ५३ ॥

हे स्थिरमति शङ्कर ! उनको जीतने के लिये तुम्हें कुछ वर्षों तक इस भूतल पर अवश्य रहना चाहिए; नहीं तो इस पृथ्वी पर मोक्ष की इच्छा इस प्रकार दुर्लभ हो जायगी जिस प्रकार लड़कपन में माता के मर जाने पर शिशु की स्थिति ॥ ५३ ॥

प्रसन्नगम्भीरभवत्प्रणीतप्रबन्धसन्दर्भभवः प्रहर्षः ।
प्रोत्साहयत्यात्मविदामृषीणां वरेण्य विश्राणयितुं वरं ते ॥५४॥

हे आत्मवेत्ता ऋषियों में श्रेष्ठ ! तुम्हारे द्वारा रचित प्रसन्न, गम्भीर ग्रन्थों के सन्दर्भ से उत्पन्न होनेवाला हर्ष तुम्हें वरदान देने के लिये मुझे प्रोत्साहित कर रहा है ॥ ५४ ॥

अष्टौ वयांसि विधिना तव वत्स दत्ता-
न्यन्यानि चाष्ट भवता सुधियाऽर्जितानि ।
भूयोऽपि षोडश भवन्तु भवाज्ञया ते
भूयाच्च भाष्यमिदमारविचन्द्रतारम् ॥ ५५ ॥

हे वत्स ! ब्रह्मा ने तुम्हें आठ वर्ष की आयु दी थी; अन्य आठ वर्षों को तुमने ऋषियों की सेवा करने से प्राप्त किया। शिव की आज्ञा से तुम्हें सोलह वर्ष की आयु और प्राप्त हो और यह तुम्हारा भाष्य तब तक इस भूतल पर टिके जब तक सूर्य, चन्द्रमा और तारे प्रकाशित होते रहें ॥ ५५ ॥

त्वमायुषाऽनेन विरोधिवादिगर्वाङ्कुरोन्मूलनजागरूकैः ।
वाक्यैः कुरुष्वोज्झितभेदबुद्धीनद्वैतविद्यापरिपन्थिनोऽन्यान् ॥५६॥

तुम इस आयु से विरोधियों के गर्वाङ्कुर का सावधानता से दूर करो तथा अद्वैत विद्या के दूसरे विपक्षियों को भेद-बुद्धि से छुड़ा दो ॥ ५६ ॥

इतीरयन्तं प्रति वाचमूचे स शङ्करः पावितसर्वलोकः ।
त्वत्सूत्रसम्बन्धवशान्मदीयं भाष्यं प्रचारं भुवि यातु विद्वन् ॥५७॥

इस प्रकार वचन कहनेवाले व्यासजी से सब लोकों को पवित्र करनेवाले शङ्कर बोले—हे विद्वन्! तुम्हारे सूत्र के सम्बन्ध से इस भूतल पर मेरे भाष्य का सर्वत्र प्रचार हो ॥ ५७ ॥

इतीरयित्वा चरणौ ववन्दे यतिर्मुनेः सर्वविदो महात्मा ।
प्रदाय संभाव्यवरं मुनीशो द्वैपायनः सोऽन्तरधाद्‌ यतात्मा ॥५८॥

यह कहकर यतिराज ने सर्ववेत्ता मुनि के चरणों को प्रणाम किया तथा द्वैपायन मुनि भी इस अवश्यम्भावी वरदान को देकर अन्तर्धान हो गये ॥ ५८ ॥

इत्थं निगद्य ऋषिवृष्णि तिरोहितेऽस्मिन्
अन्तर्विवेकनिधिरप्यथ विव्यथे सः ।
हृत्तापहारिनिरुपाधिकृपारसानां
तत्तादृशां कथमहो विरहो विषह्यः ॥ ५९ ॥

इतना कह ऋषिवर के अन्तर्धान होने पर विवेक के समुद्र होने पर भी शङ्कर अपने हृदय में अत्यन्त दुःखित हुए। हृदय के ताप को दूर करनेवाले, निर्व्याज कृपा से परिपूर्ण, इस प्रकार के ऋषियों का विरह किस प्रकार से सहा जा सकता है ? ॥ ५९ ॥

तत्पादपद्मे निजचित्तपद्मे पश्यन् कथंचिद्‌ विरहं विषह्य ।
यतिक्षितीशोऽपि गुरोर्नियोगान् मनो दधे दिग्विजये मनीषी ॥६०॥

अपने हृदय-रूपी कमल में व्यास के चरण-कमल का ध्यान करते हुए विरह को किसी प्रकार सहकर मनीषी यतिराज ने भी गुरु की आज्ञा सें दिग्विजय करने का सङ्कल्प किया ॥ ६० ॥

भाष्यस्य वार्तिकमथैष कुमारिलेन
भट्टेन कारयितुमादरवान् मुनीन्द्रः ।
वन्ध्यायमानदरविन्ध्यमहीधरेण
वाचंयमेन चरितां हरितं प्रतस्थे ॥ ६१ ॥

कुमारिल भट्ट के द्वारा अपने भाष्य के ऊपर वार्तिक बनवाने की इच्छा से मुनिराज शङ्कर विन्ध्याचल की गुफाओं को निष्फल बना देनेवाले अगस्त्य मुनि के द्वारा अधिष्ठित दक्षिण दिशा की तरफ़ चले ॥ ६१॥

ततः स वेदान्तरहस्यवेत्ता भेत्ताऽमतानां तरसा मतानाम् ।
प्रयागमागात् प्रथमं जिगीषुः कुमारिलं साधितकर्मजालम् ॥६२॥

इसके बाद वेदान्त-रहस्यों के वेत्ता तथा वेदबाह्य मतों के भेत्ता आचार्य कर्मकाण्ड की साधना करनेवाले कुमारिल को जीतने के लिये पहिले प्रयाग गये ॥ ६२ ॥

प्रयाग की महिमा

आमज्जतां किल तनूमसितां सितां च
कर्तुं कलिन्दसुतया कलितानुषङ्गाम् ।
अह्नाय जह्नुतनयामथ निह्नुताघां
मध्ये प्रयागमगमन्मुनिरर्थमार्गम् ॥ ६३ ॥

मज्जन करनेवाले पुरुषों के शरीर को असित (विष्णु भगवान् के समान श्यामवर्ण) तथा सित (शिव के समान उज्ज्वल) बनाने के लिये यमुना के साथ मिलनेवाली, पापों को दूर करनेवाली तथा चारों पुरुषार्थों को देनेवाली गङ्गाजी के पास प्रयाग के बीच में पहुँचे ॥ ६३ ॥

गङ्गाप्रवाहैरुपरुद्धवेगा कलिन्दकन्या स्तिमितप्रवाहा ।
अपूर्वसख्यागतलज्जयेव यत्राधिकं भाति विचित्रपाथाः ॥ ६४ ॥

यमुनाजी की धारा बड़ी वेगवती है, परन्तु गङ्गा के प्रवाह के कारण वह प्रयाग में रुककर बहती है । अतः उसके प्रवाह में स्थिरता है । जान पड़ता है कि यमुना अपनी नई सखी गङ्गा के साथ मिलने से लज्जा के कारण मन्दगति से बह रही है । नई सहेली के सामने उतावली करना ठीक नहीं होता ॥ ६४ ॥

अन्तेवसद्भिरमलच्छविसम्प्रदाय-
मध्येतुमाश्रितजलां क्वचिन्मरालैः ।
चक्रद्वयेन रजनीसहवाससौख्य-
संशीलनाय किल संवलितां परत्र ॥ ६५ ॥

कहीं पर निर्मल कान्तिरूपी पाठ को पढ़ने के लिये, पास रहने-वाले, मरालों से त्रिवेणी का जल सेवित था। अन्यत्र रात्रि के सहवास-सुख को सीखने के लिये चकवा-चकवी निवास कर रहे थे ॥ ६५ ॥

यत्राऽऽप्लुता दिव्यशरीरभाज आचन्द्रतारं दिवि भोगजातम् ।
संभुञ्जते व्याधिकथानभिज्ञाः प्राहेममर्थं श्रुतिरेव साक्षात् ॥६६॥

वहाँ पर स्नान करनेवाले लोग दिव्य शरीर को धारण कर दुःख के नाम से भी अपरिचित होकर स्वर्गलोक में चन्द्रमा तथा ताराओं की स्थिति तक भोगों को भोगते हैं। इस अर्थ को साक्षात् श्रुति भी कहती है ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—त्रिवेणी की महिमा प्रतिपादन करनेवाली श्रुति यह है—
"सितासिते सरिते यत्र सङ्गते, तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति ।"

अज्ञातसम्भवतिरोधिकथाऽपि वाणी
यस्याः सितासिततयैव गृणाति रूपम् ।
भागीरथीं यमुनया परिचर्यमाणा-
मेतां विगाह्य मुदितो मुनिरित्यभाणीत् ॥ ६७ ॥

जन्म तथा मरण की कथा को भी न जाननेवाली (नित्य) श्रुति यमुना से सङ्गत गङ्गा को सितासित (श्याम तथा श्वेत) रूप से ही वर्णन करती है। उस भागीरथी में स्नान कर प्रसन्न होकर शङ्कर ने यह कहा—॥६७॥

त्रिवेणी-स्तुति

सिद्धापगे पुरविरोधिजटोपरोध-
क्रुद्धा कुतः शतमदः सहशान् विधत्से ।

बद्धा न किंतु भवितासि जटाभिरेषा-

मद्धा जडप्रकृतयो न विदन्ति भावि ॥ ६८ ॥

हे सिद्ध नदी ! त्रिपुर राक्षस को मारनेवाले शङ्कर की जटाओं में रोके जाने से तुम उनसे क्रुद्ध हो तब तुम सैकड़ों पुरुषों को शिव के समान क्यों बना देती हो ? तुम्हारे द्वारा विरचित इन शिवों की जटाओं में क्या तुम बद्ध नहीं होगी ? क्या कहा जाय ! जड़ प्रकृतिवाले लोग अपने भविष्य को नहीं समझ सकते ॥ ६८ ॥

सन्मार्गवर्तनपराऽपि सुरापगे त्वम्

अस्थीनि नित्यमशुचीनि किमाददासि ।

आ ज्ञातमम्ब हृदयं तव सज्जनानां

प्रायः प्रसाधनकृते कृतमञ्जनानाम् ॥ ६९ ॥

हे सुर-नदी ! सन्मार्ग पर चलनेवाली होकर भी तुम अपवित्र अस्थियों को क्यों धारण करती हो ? हे माता ! तुम्हारे अभिप्राय को खूब समझता हूँ। तुम्हारे जल में स्नान कर शिव-रूप होनेवाले सज्जनों के शरीर को भूषित करने के लिये ही तुम इन्हें धारण करती हो ॥ ६९ ॥

स्वापानुषङ्गजडताभरितान् जनौघान्

स्वापानुषङ्गजडताविधुरान् विधत्से ।

दूरीभवद्विषयरागहृदोऽपि तूर्णं

धूर्तावतंसयसि देवि क एष मार्गः ॥ ७० ॥

तुम निद्रा के साथ होनेवाली जड़ता से युक्त मनुष्यों को निद्रा से उत्पन्न जड़ता से हीन कर देती हो अर्थात् मनुष्यों को देवता कर देती हो। विषय-राग से हीन हृदयवाले पुरुषों को भी धूर्तशिरोमणि (धतूरा जिसके शिर का भूषण है वह व्यक्ति अर्थात् शङ्कर) बना देती हो। हे देवि ! यह तुम्हारा मार्ग कैसा है ? ॥ ७० ॥

इति स्तुवंस्तापसराट् त्रिवेणीं शाट्या समाच्छाद्य कटिं कुपीटे।
दोर्दण्डयुग्मोद्धृतवेणुदण्डोऽघमर्षणस्नानमना बभूव ॥ ७१ ॥

त्रिवेणी की इस प्रकार स्तुति कर तापसराज शङ्कर ने पानी में खड़े होकर अपनी कमर को वस्त्र से ढका और दोनों हाथों से दण्ड को ऊपर उठाकर अघमर्षण स्नान करने की अभिलाषा की ॥ ७१ ॥

सस्नौ प्रयागे सह शिष्यसंघैः स्वयं कृतार्थो जनसंग्रहार्थी।
अस्मारि माताऽपि च सा पुपोष दधार या दुःखमसोढ भूरि॥७२॥

प्रयाग में शिष्यों के साथ स्नान कर जन-संग्रह की इच्छा करनेवाले आचार्य स्वयं कृतार्थ हुए। प्रयाग में उन्हें अपनी माता का भी स्मरण आया जिसने इनका पालन किया था तथा अनेक कष्टों को सहा था ॥७२॥

अनुष्ठितिं द्रागवसय्य वातैः कह्लारशीतैरुपसेव्यमानः।
तीरे विशश्राम तमालशालिन्यत्रान्तरेऽश्रूयत लोकवार्ता ॥७३॥

अनुष्ठान शीघ्र समाप्त करने पर कमल-वन से बहनेवाली शीतल हवा आचार्य के ऊपर पङ्खा झलने लगी। आचार्य ने तमाल से शोभित तीर पर विश्राम किया। वहाँ लोगों को यह बातचीत करते सुना ॥ ७३ ॥

गिरेरवप्लुत्य गतिः सतां यः प्रामाण्यमाम्नायगिरामवादीत्।
यस्य प्रसादात् त्रिदिवौकसोऽपि प्रपेदिरे प्राक्तनयज्ञभागान्॥७४॥
सोऽयं गुरोरुन्मथनप्रसक्तं महत्तरं दोषमपाकरिष्णुः।
अशेषवेदार्थविदास्तिकत्वात् तुषानलं प्राविशदेष धीरः ॥७५॥

सज्जनों के आश्रयभूत जिस पण्डित ने पर्वत से गिरकर वेद-मन्त्रों के प्रामाण्य को सिद्ध किया था और जिसके प्रसाद से स्वर्गलोक में रहनेवाले भी देवताओं ने यज्ञभागों को प्राप्त किया था वही अशेष वेदार्थ को जाननेवाले, धीर कुमारिलभट्ट—गुरु के सिद्धान्तों के खण्डन से उत्पन्न महान् दोष को हटाने के लिये—आस्तिक होने के कारण भूसे की आग में अपने को जला रहे हैं ॥ ७४-७५ ॥

अयं ह्यधीताखिलवेदमन्त्रः कूलंकषालोडितसर्वतन्त्रः ।
नितान्तदूरीकृतदुष्टतन्त्रस्त्रैलोक्यविश्रामितकीर्तियन्त्रः ॥ ७६ ॥

इन्होंने समस्त वेद-मन्त्रों का अध्ययन किया है, अपने किनारे को गिरानेवाली नदी की भाँति सब शास्त्रों का मन्थन किया है, दुष्ट शास्त्रों को भली भाँति दूर खदेड़ दिया है तथा त्रैलोक्य में अपनी कीर्ति का विस्तार किया है ॥ ७६ ॥

कुमारिल से भेट

श्रुत्वेति तां सत्वरमेष गच्छन् व्यालोकयत् तं तुषराशिसंस्थम् ।
प्रभाकराद्यैः प्रथितप्रभावैरुपस्थितं साश्रुमुखैर्विनेयैः ॥ ७७ ॥

इस बात को सुनकर आचार्य ने शीघ्र जाकर भूसे की आग में बैठे हुए कुमारिलभट्ट को देखा। उन्हें आँखों से आँसू बहानेवाले प्रभाकर आदि शिष्यों से घिरा हुआ पाया ॥ ७७ ॥

धूमायमानेन तुषानलेन संदह्यमानेऽपि वपुष्यशेषे ।
संदृश्यमानेन मुखेन बाष्पपरीतपद्मश्रियमादधानम् ॥ ७८ ॥

आग से खूब धुआँ निकल रहा था। उसने उनके समस्त शरीर को जला दिया था। उनका केवल मुँह दिखलाई पड़ रहा था जिससे वे ओस की बूँदों से ढके हुए कमल के समान सुन्दर मालूम पड़ते थे ॥७८॥

दूरे विधूताघमपाङ्गभङ्ग्या तं देशिकं दृष्टिपथावतीर्णम् ।
ददर्श भट्टो ज्वलदग्निकल्पो जुगोप यो वेदपथं जितारिः ॥७९॥

आग के समान चमकनेवाले, शत्रु-विजयी, वेदमार्ग-रक्षक, कुमारिल-भट्ट ने नेत्र के कोने से ही पापों को दूर करनेवाले आचार्य को अपनी आँखों के सामने आया हुआ देखा ॥ ७९ ॥

अदृष्टपूर्वं श्रुतपूर्ववृत्तं दृष्ट्वाऽतिमोदं स जगाम भट्टः ।
अचीकरच्छिष्यगणैः सपर्यामुपाददे तामपि देशिकेन्द्रः ॥ ८० ॥

भट्टजी ने शङ्कर का पहिले वृत्तान्त सुन रक्खा था परन्तु उन्हें आँखों से नहीं देखा था। उन्हीं शङ्कर को अपनी आँखों से देखकर वे नितान्त प्रसन्न हुए तथा अपने शिष्यगणों से उनकी पूजा करवाई। इसे शङ्कर ने सहर्ष ग्रहण किया ॥ ८० ॥

उपात्तभिक्षः परितुष्टचित्तः प्रदर्शयामास स भाष्यमस्मै ।
सर्वो निबन्धो ह्यमलोऽपि लोके शिष्टेक्षितः संचरणं प्रयाति ॥८१॥

भिक्षा ग्रहण करने पर शङ्कर ने प्रसन्नचित्त होकर अपना भाष्य उन्हें दिखलाया। निर्मल भी प्रबन्ध शिष्ट पुरुषों के द्वारा आलोचित होने पर संसार में प्रसिद्ध हो जाता है ॥ ८१ ॥

दृष्ट्वा भाष्यं हृष्टचेताः कुमारः प्रोचे वाचं शङ्करं देशिकेन्द्रम् ।
लोके त्वल्पो मत्सरग्रामशाली सर्वज्ञो नो नाल्पभावस्य पात्रम् ॥८२॥

भाष्य को देखकर कुमारिल अत्यन्त प्रसन्न हुए और उपदेशकों में श्रेष्ठ शङ्कर से कहा कि संसार में अल्पज्ञ मनुष्य दूसरों से द्वेष करता है परन्तु सर्वज्ञ व्यक्ति इस क्षुद्रता का पात्र नहीं होता ॥ ८२ ॥

कुमारिल की आत्मकथा

अष्टौ सहस्राणि विभान्ति विद्वन् सद्वार्तिकानां प्रथमेऽत्र भाष्ये ।
अहं यदि स्यामगृहीतदीक्षो ध्रुवं विधास्ये सुनिबन्धमस्य ॥ ८३ ॥

हे विद्वन्! इस ग्रन्थ के पहिले ही भाष्य (अध्यास भाष्य) में आठ हज़ार वार्तिक शोभित हो रहे हैं। यदि मैं दीक्षा नहीं लिये रहता तो इस सुन्दर ग्रन्थ को अवश्य बनाता ॥ ८३ ॥

भवादृशां दर्शनमेव लोके विशेषतोऽस्मिन् समये दुरापम् ।
पुरार्जितैः पुण्यचयैः कथंचित् त्वमद्य मे दृष्टिपथं गतोऽभूः ॥८४॥

आप लोगों का दर्शन ही ऐसे संसार में, विशेषतः इस समय दुर्लभ है। हमारे पूर्व जन्म में उपार्जित पुण्यों के कारण ही आप आज मेरे सम्मुख हो रहे हैं ॥ ८४ ॥

असारसंसारपयोब्धिमध्ये निमज्जतां सद्भिरुदारवृत्तैः ।
भवादृशैः संगतिरेव साध्या नान्यस्तदुत्तारविधावुपायः ॥ ८५ ॥

असार संसार-रूपी समुद्र के बीच डूबनेवाले व्यक्तियों के उद्धार के लिये एकमात्र उपाय है आप जैसे उदारचरित सज्जनों का समागम। इसे छोड़कर पार जाने का कोई उपाय नहीं है ॥ ८५ ॥

चिरं दिदृक्षे भगवन्तमित्थं त्वमद्य मे दृष्टिपथं गतोऽभूः ।
नह्यत्र संसारपथे नराणां स्वेच्छाविधेयोऽभिमतेन योगः ॥८६॥

आपको देखने की इच्छा मुझे बहुत दिनों से थी, परन्तु आज ही आप मुझे दर्शन दे रहे हैं। इस संसार में मनुष्यों के लिये अभीष्ट वस्तु को प्राप्त कर लेना अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं है ॥ ८६ ॥

युनक्ति कालः क्वचिदिष्टवस्तुना क्वचित्त्वरिष्टेन च नीचवस्तुना ।
तथैव संयोज्य वियोजयत्यसौ सुखासुखे कालकृते प्रवेद्म्यतः॥८७॥

इस विषय में काल की महिमा सबसे अधिक कही गई है। वही कहीं पर मनुष्यों को इष्ट वस्तु से युक्त कर देता है और कहीं पर अनिष्ट-कारक नीच वस्तु से। उसी तरह संयोग करके वह वियोग कराता है। इसलिये सुख-दुःख को मैं काल-कृत ही मानता हूँ ॥ ८७ ॥

कृतो निबन्धो निरणायि पन्था निरासि नैयायिकयुक्तिजालम् ।
तथाऽन्वभूवं विषयोत्थजातं न कालमेनं परिहर्तुमीशे ॥ ८८ ॥

मैंने ग्रन्थों की रचना की, कर्ममार्ग का निर्णय किया, नैयायिकों के युक्ति-जाल को काट गिराया, और समग्र विषयों का उपभोग किया, परन्तु इस काल के हटाने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है ॥ ८८ ॥

निरास्थमीशं श्रुतिलोकसिद्धं श्रुतेः स्वतो मात्वमुदाहरिष्यन् ।
न निह्नुवे येन विना प्रपञ्चः सौख्याय कल्पेत न जातु विद्वन् ॥८९॥

श्रुति के स्वतःप्रामाण्य को सिद्ध करने के लिये श्रुति और लोक से सिद्ध ईश्वर का मैंने निराकरण किया है। परन्तु मैं उस ईश्वर का कभी

निषेध नहीं करता जिसके बिना यह जगत् सुखदायक नहीं हो सकता ॥ ८९ ॥

टिप्पणी—श्रुति ईश्वर के विषय में डङ्के की चोट कहती है कि सर्वव्यापक ईश्वर ने जगत् की रचना की है—

"कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः"—ईशा० ८।

लोक-युक्ति यह है—संसार के अखिल कार्यों का कोई न कोई कर्ता अवश्य रहता है। यह जगत् स्वयं कार्यरूप है अतः इसका भी कोई कर्ता होगा। वही ईश्वर है। ईश्वर-सिद्धि के लिये सबसे सुन्दर ग्रन्थ उदयनाचार्यकृत न्याय-कुसुमाञ्जलि है जिसमें उन्होंने निम्नलिखित श्लोक में ईश्वर-साधक प्रमाणों का बहुत ही सुन्दर सन्निवेश किया है—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ॥

इस श्लोक के विस्तृत अर्थ के लिए देखिए 'भारतीय दर्शन', पृ० २६६-६७।

तथागताक्रान्तमभूदशेषं स वैदिकोऽध्वा विरली बभूव ।
परीक्ष्य तेषां विजयाय मार्गं प्रावर्ति संत्रातुमनाः पुराणम् ॥९०॥

समस्त संसार बौद्धों के द्वारा आक्रान्त हो गया था जिससे वैदिक मार्ग विरल हो गया था। इसकी परीक्षा कर मैंने वेद-मार्ग की रक्षा के लिये बौद्धों के पराजय करने का उद्योग किया ॥ ९० ॥

सशिष्यसङ्घाः प्रविशन्ति राज्ञां गेहं तदादि स्ववशे विधातुम् ।
राजा मदीयोऽजिरमस्मदीयम् तदाद्रियध्वं न तु वेदमार्गम् ॥९१॥

बौद्धों के समुदाय शिष्य और सङ्घ के साथ राजाओं को अपने वश में करने के लिये उनके घर में प्रवेश करते थे और यह घोषित करते थे कि यह राजा मेरे पक्ष का है, उसका देश हम लोगों का है, इसलिये आप लोग वेदमार्ग में श्रद्धा मत रखिए ॥ ९१ ॥

वेदोऽप्रमाणं बहुमानबाधात् परस्परव्याहतिवाचकत्वात् ।
एवं वदन्तो विचरन्ति लोके न काचिदेषां प्रतिपत्तिरासीत् ॥९२॥

अनेक प्रमाणों से बाधित होने के कारण तथा आपस में विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन करने से वेद अप्रमाण है। इस प्रकार से कहते हुए बौद्ध देश भर में घूमते थे। इस रोग की कोई दवा नहीं थी ॥ ९२ ॥

टिप्पणी—वेद-प्रामाण्य-विचार—बौद्धों ने वेद के प्रामाण्य को दूषित बतलाने में अनेक युक्तियाँ दी हैं जिनका खण्डन मीमांसकों ने बड़े समारोह के साथ किया है। बौद्धों का पूर्वपक्ष है कि वेद प्रमाणभूत नहीं हैं, क्योंकि (१) कुछ मन्त्र अर्थ-बोध नहीं करते। 'सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू' (ऋ० १०।१०६।६) मन्त्र में जर्भरी, तुर्फरी, पर्फरीका, मदेरू आदि शब्द नितान्त निरर्थक हैं। (२) कुछ मन्त्र सन्दिग्ध अर्थ के बोधक हैं। 'अधः स्विदासीद उपरिस्विदासीत्' (ऋ० १०।१२९।५) मन्त्र एक ही वस्तु को ऊपर तथा नीचे बतलाकर उसकी स्थिति के विषय में सन्देह उत्पन्न करता है। (३) कुछ मन्त्र विपरीत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। 'शृणोत ग्रावाणः' (तैत्तिरीय सं० १।३।१३। १) में पत्थरों से सुनने के लिये प्रार्थना की गई है। भला जड़ पत्थरों के भी कान होते हैं जो हमारी बातें वे सुनेंगे ! (४) कुछ मन्त्र परस्पर-विरुद्ध बातें बतलाते हैं। एक मन्त्र रुद्र की एकता बतलाता है और दूसरा मन्त्र उन्हें सहस्रों की संख्या में बतला रहा है। हम किसे मानें ? पहले को या दूसरे को ? (५) कुछ मन्त्र लोक-प्रसिद्ध बातों का अनुवाद मात्र करते हैं। किसी नई बात का बोध नहीं कराते। मीमांसकों का उत्तर पक्ष है कि वेद प्रमाण हैं। पूर्वोक्त दोषों का निराकरण संक्षेप में इस प्रकार है—(१) वेद का कोई भी मन्त्र अनर्थक नहीं। व्याकरण तथा तथा निरुक्त की सहायता से प्रत्येक शब्द का अर्थ बतलाया जा सकता है। (२) मन्त्रों में सन्दिग्धार्थ प्रतिपादित नहीं है। जगत्-कारण रूप परम तत्त्व नितान्त गम्भीर है। वह सर्वव्यापक होने से नीचे भी है ऊपर भी। (३) अचेतन वस्तुओं में भी चेतन अभिमानी देवता का निवास है। उन्हीं को लक्ष्य कर जड़ पदार्थों की स्तुति की जाती है।

(४) एक ही रुद्र अपनी महिमा से सहस्र मूर्तियाँ धारण करते हैं। इसमें किसी प्रकार का व्याघात नहीं दीखता। (५) लोक-प्रसिद्ध बातों में भी अभिमानी देवता के अनुग्रह पाने के लिये मन्त्रों में उनका उल्लेख न्यायसङ्गत है। विशेष के लिये द्रष्टव्य जैमिनिसूत्र (१।२।३१—५२) और इन पर शाबरभाष्य तथा तन्त्रवार्तिक; श्लोक वार्तिक—शब्दनित्यताधिकरण पृष्ठ ७२८-८४५; सायण—ऋग्वेदभाष्यभूमिका।

अवादिषं वेदविघातदक्षैस्तान्नाशकं जेतुमबुध्यमानः।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन् निषेध्यबोधाद्धि निषेध्यबाधः ॥९३॥

इन वेद-विघातक बौद्धों से मैंने शास्त्रार्थ किया परन्तु उनके सिद्धान्त को बिना जाने उन्हें जीतने में समर्थ नहीं हुआ। जिस वस्तु का निषेध करना है उसका ज्ञान होने पर ही उसका खण्डन किया जाता है अन्यथा नहीं ॥ ९३ ॥

तदा तदीयं शरणं प्रपन्नः सिद्धान्तमश्रौषमनुद्धतात्मा।
अदूदुषद्‌ वैदिकमेव मार्गं तथागतो जातु कुशाग्रबुद्धिः ॥ ९४ ॥
तदाऽपतन् मे सहसाऽश्रुबिन्दुस्तच्चाविदुः पार्श्वनिवासिनोऽन्ये।
तदाप्रभृत्येव विवेश शङ्का मय्याप्तभावं परिहृत्य तेषाम् ॥ ९५ ॥

नम्र होकर मैं बौद्धों की शरण में गया तथा उनके सिद्धान्त को पढ़ा। कभी एक बार कुशाग्रबुद्धि बौद्ध ने वैदिक मार्ग को दूषित बतलाया। उस समय सहसा मेरी आँखों से आँसू का बूँद टपक पड़ा। दूसरे विद्यार्थियों ने इस बात को जान लिया। उसी दिन से मेरे मैत्रीभाव को दूर कर मेरे विषय में बौद्धों का सन्देह जाग उठा ॥ ९४-९५ ॥

विपक्षपाठी बलवान् द्विजातिः प्रत्याददद्‌ दर्शनमस्मदीयम्।
उच्चाटनीयः कथमप्युपायैर्नैतादृशः स्थापयितुं हि योग्यः ॥९६॥

"यह विपक्ष का विद्यार्थी है, बलवान् ब्राह्मण है, हमारे दर्शन को इसने सीख लिया है, किन्हीं उपायों से इसे हटा देना चाहिए। ऐसे मनुष्य को स्थिर करना योग्य नहीं है" ॥ ९६ ॥

संमन्त्र्य चेत्थं कृतनिश्चयास्ते ये चापरेऽहिंसनवादशीलाः ।
व्यपातयन्नुच्चतरात् प्रमत्तं मामग्रसौधाद्ध विनिपातभीरुम् ॥ ९७ ॥

इस प्रकार आपस में मन्त्रणा कर बौद्धों ने यह निश्चय किया और अन्य भी अहिंसावादियों ने मिलकर मुझे ऊँचे महल की अटारी से नीचे गिरा दिया। मैं स्वयं गिरने से बहुत डरता था ॥ ९७ ॥

पतन् पतन् सौधतलान्यरोरुहं यदि प्रमाणं श्रुतयो भवन्ति ।
जीवेयमस्मिन्पतितोऽसमस्थले मज्जीवने तच्छ्रुतिमानता गतिः॥९८॥

मैं एक अटारी से दूसरी अटारी पर गिरने लगा। तब मैंने जोर से यह घोषित किया—"यदि श्रुति प्रमाण हैं तो विषम स्थान पर भी गिरकर मैं जीवित रह जाऊँगा।" मेरे जीवन का साधन (उपाय) वेदों की प्रामाणिकता ही है ॥ ९८ ॥

यदीह सन्देहपदप्रयोगाद्ध व्याजेन शास्त्रश्रवणाच्च हेतोः ।
ममोच्चदेशात् पततो व्यनङ्क्षीत् तदेकचक्षुर्विधिकल्पना सा ॥९९॥

इस घोषणा में 'यदि' इस सन्देहसूचक पद का प्रयोग करने से तथा कपट से शास्त्र को सुनने के कारण गिरने पर मेरी एक आँख फूट गई। विधि-विडम्बना ऐसी ही थी ॥ ९९ ॥

एकाक्षरस्यापि गुरुः प्रदाता शास्त्रोपदेष्टा किमु भाषणीयम् ।
अहं हि सर्वज्ञगुरोरधीत्य प्रत्यादिशे तेन गुरोर्महागः ॥१००॥

एक अक्षर का देनेवाला भी गुरु कहलाता है। समग्र शास्त्र का उपदेश देनेवाला व्यक्ति गुरु है इसमें क्या कहना है ? मैंने अपने बौद्ध गुरु से शास्त्र का अध्ययन कर उसका तिरस्कार किया। इस प्रकार मैंने गुरु के प्रति महान् अपराध किया है ॥ १०० ॥

तदेवमित्थं सुगतादधीत्य प्राघातयं तत्कुलमेव पूर्वम् ।
जैमिन्युपज्ञेऽभिनिविष्टचेताः शास्त्रे निरास्थं परमेश्वरं च ॥१०१॥

इस प्रकार बौद्ध गुरु से शास्त्र को पढ़कर उनके कुल का ही पहले मैंने नाश किया। जैमिनि मुनि के द्वारा प्रवर्तित शास्त्र में अभिनिवेश रखकर मैंने परमेश्वर का निराकरण भी किया है। यही हमारे दो अपराध हैं ॥ १०१ ॥

दोषद्वयस्यास्य चिकीर्षुरर्हन् यथोदितां निष्कृतिमाश्रयाशम् ।
प्राविक्षमेषा पुनरुक्तभूता जाता भवत्पादनिरीक्षणेन ॥ १०२ ॥

इन दो दोषों के निराकरण करने की इच्छा से मैंने आग में प्रवेश किया है। यह निराकरण आपके दर्शन से पुनरुक्त के समान हो गया है ॥ १०२ ॥

भाष्यं प्रणीतं भवतेति योगिन्
आकर्ण्य तत्रापि विधाय वृत्तिम् ।
यशोऽधिगच्छेयमिति स्म वाञ्छा
स्थिता पुरा सम्प्रति किं तदुक्त्या ॥ १०३ ॥

हे योगीन्द्र ! आपने भाष्य बनाया है, यह मैंने सुन रक्खा है। उस पर वृत्ति बनाकर यश प्राप्त करने की मुझे पहले इच्छा थी। परन्तु इस समय इस बात का कहना ही व्यर्थ है ॥ १०३ ॥

जाने भवन्तमहमार्यजनार्थजात-
मद्वैतरक्षणकृते विहितावतारम् ।
प्रागेव चेन्नयनवर्त्म कृतार्थयेथाः
पापक्षयाय न तदेदृशमाचरिष्यम् ॥ १०४ ॥

मैं जानता हूँ कि आर्य जन के कल्याण के लिये तथा अद्वैत-मार्ग की रक्षा के लिये आपने अवतार ग्रहण किया है। यदि आपका दर्शन मुझे पहले ही हो गया होता तो मैं तभी कृतार्थ हो जाता और पापों को दूर करने के लिये यह आचरण करने का अवसर नहीं आता ॥ १०४ ॥

प्रायोऽधुना तदुभयप्रभवाघशान्त्यै
प्राविक्षमार्य तुषपावकमात्तदीक्षः ।
भाग्यं न मेऽजनि हि शाबरभाष्यवत्त्व-
द्भाष्येऽपि किंचन विलिख्य यशोऽधिगन्तुम् ॥१०५॥

इस समय इन दोनों दोषों से उत्पन्न पाप की शान्ति के लिये दीक्षा ग्रहण कर मैं भूसे की आग में अपने को जला रहा हूँ। शावर भाष्य के ऊपर वार्तिक लिखने के समान आपके भाष्य पर वार्तिक लिखकर यश कमाना मेरे भाग्य में लिखा नहीं था ॥ १०५ ॥

इत्यूचिवांसमथ भट्टकुमारिलं त-
मीषद्विकस्वरमुखाम्बुजमाह मौनी ।
श्रुत्यर्थकर्मविमुखान् सुगतान्निहन्तुं
जातं गुहं भुवि भवन्तमहं तु जाने ॥ १०६ ॥

इतना कहनेवाले, कुछ प्रसन्नवदन होनेवाले कुमारिल भट्ट से शङ्कराचार्य बोले—मैं आपको श्रुति-प्रतिपादित कर्ममार्ग से विमुख बौद्धों को मारने के लिये पृथ्वी पर अवतार लेनेवाला स्वामी कार्त्तिकेय मानता हूँ ॥ १०६ ॥

सम्भावनाऽपि भवतो नहि पातकस्य
सत्यं व्रतं चरसि सज्जनशिक्षणाय ।
उज्जीवयामि करकाम्बुकणोक्षणेन
भाष्येऽपि मे रचय वार्तिकमङ्ग भव्यम् ॥ १०७ ॥

आपके चरित्र में पातक की सम्भावना भी नहीं है। आप यह सत्यव्रत सज्जनों को सिखलाने के लिये कर रहे हैं। मैं हाथ से कतिपय जलबिन्दुओं को छिड़ककर आपको जिला देता हूँ। आप मेरे भाष्य पर अपने सुन्दर 'वार्तिक' की रचना कीजिए ॥ १०७ ॥

इत्यूचिवांसं विबुधावतंसं स धर्मविद् ब्रह्मविदां वरेण्यम् ।
विद्याधनः शान्तिधनाग्रगण्यं सप्रश्रयं वाचमुवाच भूयः ॥१०८॥

इस प्रकार कहनेवाले विद्वानों में अग्रणी, ब्रह्मवेत्ताओं में शिरोमणि, तापसों के अग्रगण्य शङ्कर से वह धर्मवेत्ता ब्राह्मण विनयपूर्वक फिर बोले ॥ १०८ ॥

नार्हामि शुद्धमपि लोकविरुद्धकृत्यं
कर्तुं मयीड्य महितोक्तिरियं तवार्हा ।
आजानतोऽतिकुटिलेऽपि जने महान्त-
स्त्वारोपयन्ति हि गुणं धनुषीव शूराः ॥ १०९ ॥

कुमारिल—हे पूज्य ! शुद्ध होने पर भी लोक से विरुद्ध कार्य करने में मैं अपने को योग्य नहीं समझता। यह श्रेष्ठ उक्ति तुम्हारे ही योग्य है। ज्ञानी, महान् पुरुष अत्यन्त कुटिल भी मनुष्य के ऊपर उसी प्रकार गुण का आरोप करते हैं जिस प्रकार शूर कुटिल धनुष के ऊपर प्रत्यञ्चा (धनुष की डोर) का ॥ १०९ ॥

संजीवनाय चिरकालमृतस्य च त्वं
शक्तोऽसि शङ्कर दयोर्मिलदृष्टिपातैः ।
आरब्धमेतदधुना व्रतमागमोक्तं
मुञ्चन् सतां न भवितास्मि बुधाविनिन्द्यः ॥११०॥

हे शङ्कर ! आप अपनी दयामयी दृष्टि डालकर बहुत देर से मरे हुए भी पुरुष को जिलाने में समर्थ हैं। मैंने अभी इस वेद-विहित व्रत का आरम्भ किया है। यदि मैं इसे छोड़ देता हूँ तो सज्जनों की दृष्टि में अनिन्दनीय नहीं रहूँगा ॥ ११० ॥

जाने तवाहं भगवन् प्रभावं
संहृत्य भूतानि पुनर्यथावत् ।
स्रष्टुं समर्थोऽसि तथाविधो मा-
मुज्जीवयेश्चेदिह किं विचित्रम् ॥ १११ ॥

हे भगवन् ! मैं आपके प्रभाव को जानता हूँ। आपमें इतनी शक्ति है कि संसार का संहार कर फिर उसी तरह आप उसे बना सकते हैं। आप मुझे जिला देंगे इसमें कौनसी विचित्र बात है ॥ १११ ॥

नाभ्युत्सहे किन्तु यतिक्षितीन्द्र सङ्कल्पितं हातुमिदं व्रताग्र्यम् ।
तत्तारकं देशिकवर्य मह्यमादिश्य तद्ब्रह्म कृतार्थयेथाः ॥ ११२ ॥

हे यतिराज ! इस सङ्कल्पित व्रत को मैं छोड़ नहीं सकता। अतः हे उपदेशक-शिरोमणि ! आप तारक ब्रह्म राम-नाम का उपदेश देकर मुझे कृतार्थ कीजिए ॥ ११२ ॥

अयं च पन्था यदि ते प्रकाश्यः
सुधीश्वरो मण्डनमिश्रशर्मा ।
दिगन्तविश्रान्तयशा विजेयो
यस्मिन् जिते सर्वमिदं जितं स्यात् ॥ ११३ ॥

यदि आप वेदान्त-मार्ग को प्रकाशित करना चाहते हों तो विद्वानों में श्रेष्ठ, दिगन्तों में कीर्तिशाली मण्डन मिश्र को जीतिए। उनके जीत लेने पर सब कुछ जीता जा सकता है ॥ ११३ ॥

सदा वदन् योगपदं च साम्प्रतं स विश्वरूपः प्रथितो महीतले ।
महागृही वैदिककर्मतत्परः प्रवृत्तिशास्त्रे निरतः सुकर्मठः ॥११४॥

वे विश्वरूप नाम से विख्यात सदा कर्मयोग के मार्ग का उपदेश देते हुए भूतल पर प्रसिद्ध हैं। वे वैदिक कर्म में तत्पर, प्रवृत्ति-मार्ग में निरत, कर्मठ, महान् गृहस्थ हैं ॥ ११४ ॥

निवृत्तिशास्त्रे नकृतादरः स्वयं
केनाप्युपायेन वशं स नीयताम् ।
वशं गते तत्र भवेन्मनोरथ-
स्तदन्तिकं गच्छतु मा चिरं भवान् ॥ ११५ ॥

निवृत्ति-मार्ग में उन्होंने कभी आदर नहीं दिखलाया है। किसो प्रकार उन्हें अपने वश में कीजिए। उनके वश होने पर आपका मनोरथ अवश्य सिद्ध होगा। उनके पास जाइए, देर न कीजिए॥ ११५॥

उंवेक इत्यभिहितस्य हि तस्य लोकै-
रुंवेति बान्धवजनैरभिधीयमाना।
हेतोः कुतश्चिदिह वाक्सुरुषाऽभिशप्ता
दुर्वाससाऽजनि वधूर्द्वयभारतीति॥ ११६॥

लोगों में उनका नाम उंवेक है, उनकी स्त्री को बन्धुजन उंवा (अम्बा) नाम से पुकारते हैं। किसी कारण रुष्ट होकर दुर्वासा ने उन्हें शाप दिया था। स्वयं सरस्वतो यहाँ जन्म लेकर उनकी वधू बनो हुई हैं और इस समय इनका नाम 'उभयभारती' है॥ ११६॥

सर्वासु शास्त्रसरणीषु स विश्वरूपो
मत्तोऽधिकः प्रियतमश्च मदाश्रयेषु।
तत्प्रेयसीं शमधनेन्द्र विधाय साक्ष्ये
वादे विजित्य तमिमं वशगं विधेहि॥ ११७॥

वह 'विश्वरूप' सब शास्त्रों में मुझसे अधिक है तथा मेरे विद्यार्थियों में सर्वश्रेष्ठ है। हे तापसों में श्रेष्ठ! उनकी स्त्री को साक्षी बनाकर आप शास्त्रार्थ में उन्हें जीतकर अपने वश में कीजिए॥ ११७॥

तेनैव तावककृतिष्वपि वार्तिकानि
कर्मन्दिवर्यतम कारय मा विलम्बम्।
त्वं विश्वनाथ इव मे समये समागा-
स्तत्तारकं समुपदिश्य कृतार्थयेथाः॥ ११८॥

हे यतिवर! आपके भाष्य के ऊपर वही वार्तिक बनायेगा। देर न कीजिए। विश्वनाथ की तरह आप मेरे समय पर उपस्थित हुए हैं। तारक मन्त्र का उपदेश देकर आप मुझे कृतार्थ कीजिए॥ ११८॥

निर्व्याजकारुण्य मुहूर्तमात्रमत्र त्वया भाव्यमहं तु यावत् ।
योगीन्द्रहृत्पङ्कजभाग्यमेतत् त्यजाम्यसून् रूपमवेक्षमाणः ॥११९॥

हे बिना कारण के कृपा करनेवाले ! आप एक क्षण के लिये उपस्थित रहिए, जब तक मैं योगीन्द्रों के द्वारा हृदय-कमल में चिन्तनीय आपके रूप को देखता हुआ अपने प्राणों को छोड़ दूँ ॥ ११९ ॥

इत्यूचिवांसमिममिद्धसुखप्रकाशं
ब्रह्मोपदिश्य बहिरन्तरपास्तमोहम् ।
तन्वन् दयानिधिरसौ तरसाऽभ्रमार्गात्
श्रीमण्डनस्य निलयं स इयेष गन्तुम् ॥ १२० ॥

इस प्रकार कहनेवाले कुमारिल भट्ट को सुख, प्रकाश-रूप ब्रह्म का उपदेश देकर तथा भीतर और बाहर के मोह को दूर कर दयानिधि शङ्कर आकाश-मार्ग से मण्डन के घर जाने के लिये तैयार हो गये ॥१२०॥

अथ गिरमुपसंहृत्याऽऽदराद्भट्टपादः
शमधनपतिनाऽसौ बोधिताद्वैततत्त्वः ।
प्रशमितममतः संस्तत्प्रसादेन सद्यो
विदलदखिलबन्धो वैष्णवं धाम पेदे ॥ १२१ ॥

उपदेश सुनने के बाद कुमारिलभट्ट ने शब्द बोलना बन्द कर दिया। यतिश्रेष्ठ शङ्कर के द्वारा अद्वैत-तत्त्व का बोध हो जाने पर ममता को शान्त कर, उनके प्रसाद से समस्त बन्धनों को काटकर, वे विष्णुलोक में चले गये ॥ १२१ ॥

इति श्रीमाधवीये तद्व्याससन्दर्शचित्रगः ।
संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽसौ सप्तमोऽभवत् ॥ ७ ॥

माधवीय शङ्करदिग्विजय में व्यासदेव के विचित्र दर्शन को प्रतिपादन करनेवाला सप्तम सर्ग समाप्त हुआ ।

———

अष्टम सर्ग

आचार्य शङ्कर का मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ

अथ प्रतस्थे भगवान् प्रयागात् तं मण्डनं पण्डितमाशु जेतुम् ।
गच्छन् खसृत्या पुरमालुलोके माहिष्मतीं मण्डनमण्डितां सः ॥१॥

इसके बाद आचार्य ने मण्डन मिश्र को जीतने के लिये प्रयाग से शीघ्र ही प्रस्थान किया। वे आकाश-मार्ग से गये और मण्डन मिश्र जिस नगरी की शोभा बढ़ा रहे थे उस माहिष्मती नगरी को अपनी आँखों से देखा ॥ १ ॥

टिप्पणी—माहिष्मती नगरी प्राचीन काल में अपने ऐश्वर्य तथा वैभव के लिये विशेष विख्यात थी। इसे आजकल मान्धाता कहते हैं। यह इन्दौर रियासत में नर्मदा नदी के किनारे स्थित है।

अवातरद्र रत्नविचित्रवप्रां विलोक्य तां विस्मितमानसोऽसौ ।
पुराणवत् पुष्करवर्तनीतः पुरोपकण्ठस्थवने मनोज्ञे ॥ २ ॥

आचार्य शङ्कर आकाश से नीचे उतरे। उस नगरी के ऐश्वर्य को देखकर उनका हृदय विस्मित हो गया। उस नगरी की बड़ी बड़ी अट्टालिकाएँ विचित्र रत्नों से सजी हुई चमक रही थीं और दर्शकों को आँखों

को बरबस चकाचौंध कर रही थीं। आचार्य आकाश से उतरते हुए ऐसे मालूम पड़ते थे मानो भगवान् विष्णु के अवतार परशुरामजी कार्तवीर्य के पराजय के लिये उतर रहे हों ॥ २ ॥

प्रफुल्लराजीववने विहारी तरङ्गरिङ्गत्कणशीकरार्द्रः ।
रेवामरुत्कम्पितसालमालः श्रमापहृद्धाष्यकृतं सिषेवे ॥ ३ ॥

शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु आचार्य की थकावट को दूर करने लगी। यह हवा खिले हुए कमल-वन में विहार करने के कारण बड़ी सुगन्धित थी। नर्मदा की तरङ्गों के जल-कणों के स्पर्श करने के कारण वह ख़ूब ठण्ढी थी और किनारे पर लगे हुए साल वृक्षों को धीरे धीरे हिला रही थी ॥३॥

तस्मिन् स विश्रम्य कृताह्निकः सन् खस्वस्तिकारोहणशालिनीने ।
गच्छन्नसौ मण्डनपण्डितौको दासीस्तदीयाः स ददर्श मार्गे ॥४॥

वहाँ पर विश्राम कर आचार्य ने नित्यकृत्य समाप्त किया और दोपहर के समय मण्डन मिश्र के घर की ओर चले। रास्ते में उन्होंने मण्डन मिश्र की दासियों को आते हुए देखा ॥ ४ ॥

कुत्राऽऽलयो मण्डनपण्डितस्येत्येताः स पप्रच्छ जलाय गन्त्रीः ।
ताश्चापि दृष्ट्वाऽद्भुतशङ्करं तं सन्तोषवत्यो ददुरुत्तरं स्म ॥ ५ ॥

जल ले जानेवाली इन दासियों से शङ्कर ने पूछा कि मण्डन मिश्र का घर कहाँ है? उन्होंने भी आचार्य के अद्भुत रूप को देखकर बड़ा सन्तोष प्रकट किया और उनके उत्तर में कहने लगीं ॥ ५ ॥

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ ६ ॥
फलप्रदं कर्मफलप्रदोऽजः कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ ७ ॥
जगद्ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात् कीराङ्गना यत्र गिरं गिरन्ति ।
द्वारस्थनीडान्तरसन्निरुद्धा जानीहि तन्मण्डनपण्डितौकः ॥ ८ ॥

दासियाँ—जिस द्वार पर पींजड़े टँगे हुए हों और उनके भीतर बैठी हुई मैना वेदवाक्य स्वतः प्रमाण हैं या परतः प्रमाण हैं, फल का देनेवाला कर्म है या ईश्वर है तथा जगत् ध्रुव है या अध्रुव है इस बात पर विचार कर रही हों उसे ही आप मण्डन पण्डित का घर जानिए ॥ ६-८ ॥

टिप्पणी—(१) वेद की प्रामाणिकता पर भारतीय दर्शनकारों ने खूब विवेचन किया है। मीमांसकों की राय में वेद स्वयं प्रमाणभूत हैं। उनकी प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिये किसी दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वे स्वयं अपौरुषेय हैं। परन्तु नैयायिकों की सम्मति में ईश्वर-कर्तृक होने से वेद पौरुषेय है अतः वह परतः प्रमाण है। इस विषय में न्याय और मीमांसा का मत-विरोध बड़ा पुराना है। (२) कर्म के विषय में भी मीमांसा और वेदान्त में पर्याप्त मतभेद है। मीमांसकों का कहना यह है कि फल देने की शक्ति कर्म में ही है परन्तु वेदान्तियों का कहना यह है कि कर्म अचेतन होने से फल का दाता नहीं हो सकता। इसलिये चेतन ईश्वर की इस कार्य के लिये कल्पना की जाती है। द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र ३ । २ । ४० 'धर्मं जैमिनिरत एव' तथा ३ । २ । ४१ 'पूर्वन्तु वादरायण हेतुव्यपदेशात्'। (३) जगत् के विषय में भी मीमांसा और वेदान्त के विचार भिन्न भिन्न हैं। भाट्ट मीमांसकों की सम्मति में यह जगत् ध्रुव (नित्य) है परन्तु वेदान्तियों के मत से यह अध्रुव (कल्पित) है।

पीत्वा तदुक्तीरथ तस्य गेहाद्द्र गत्वा बहिः सद्म कवाटगुप्तम् ।
दुर्वेशमालोच्य स योगशक्त्या व्योमाध्वनाऽवातरदङ्गणान्तः ॥९॥

दासियों के वचन सुनकर भाष्यकार मण्डन के घर गये परन्तु उस समय घर के किवाड़ बन्द थे। उसके भीतर कोई घुस नहीं सकता था। यह देखकर आचार्य योग-बल से ऊपर उड़कर उनके आँगन में उतरे ॥९॥

तदा स लेखेन्द्रनिकेतनाभं स्फुरन् मरुच्चञ्चलकेतनाभम् ।
समग्रमालोकत मण्डनस्य निवेशनं भूतलमण्डनस्य ॥ १० ॥

मण्डन मिश्र का महल बड़ा विशाल तथा सुन्दर था। महलों पर लगी हुई पताकाएँ हवा के साथ अठखेलियाँ कर रही थीं। वह इन्द्र के

महल के समान चमक रहा था। महल इतना ऊँचा था कि आकाश को छू रहा था॥ आचार्य उसे देखकर चकित हो गये। ऐसा क्यों न होता? मण्डन मिश्र भी तो इस पृथ्वी के मण्डन ही थे॥ १०॥

सौधाग्रसंछन्ननभोवकाशं प्रविश्य तत्प्राप्य कवेः सकाशम्।
विद्याविशेषात्तयशः प्रकाशं ददर्श तं पङ्कजसंनिकाशम्॥११॥

आचार्य ने महल के भीतर जाकर अपनी विद्वत्ता की कीर्ति से जगत् को प्रकाशित करनेवाले तथा कमल के समान सुन्दर शरीरवाले मण्डन मिश्र को देखा॥ ११॥

तपोमहिम्नैव तपोनिधानं सजैमिनिं सत्यवतीतनूजम्।
यथाविधि श्राद्धविधौ निमन्त्र्य तत्पादपद्मान्यवनेजयन्तम्॥१२॥

उस समय वे श्राद्ध कर रहे थे। अपनी तपस्या के बल से उन्होंने जैमिनि और व्यास इन दोनों महर्षियों को इस अवसर पर बुला रक्खा था तथा वे उनके चरणों को जल से धो रहे थे॥ १२॥

तत्रान्तरिक्षादवतीर्य योगिवर्यः समागम्य यथार्हमेषः।
द्वैपायनं जैमिनिमप्युभाभ्यां ताभ्यां सहर्षं प्रतिनन्दितोऽभूत्॥१३॥

योगिराज शङ्कर आकाश से आँगन में उतरे और व्यास तथा जैमिनि को बड़े भक्तिभाव से प्रणाम किया। इन दोनों तपस्वियों ने भी बड़ी प्रसन्नता से उनका अभिनन्दन किया॥ १३॥

अथ द्युमार्गादवतीर्णमन्तिके
मुन्योः स्थितं ज्ञानशिखोपवीतिनम्।
संन्यास्यसावित्यवगत्य सोऽभवत्
प्रवृत्तिशास्त्रैकरतोऽपि कोपनः॥ १४॥

मण्डन मिश्र स्वयं कर्मकाण्ड के रसिक थे। परन्तु उस समय आकाश-मार्ग से उतरकर दोनों मुनियों के समीप खड़े होनेवाले शिखा-

सूत्र-विवर्जित एक संन्यासी को जब खड़ा देखा तो उनके क्रोध का ठिकाना न रहा (क्योंकि श्राद्ध में संन्यासी का आना निषिद्ध माना जाता है) ॥१४॥

तदाऽतिरुष्टस्य गृहाश्रमेशितु-
र्यतीश्वरस्यापि कुतूहलं भृतः ।
क्रमात् किलैवं बुधशस्तयोस्तयोः
प्रश्नोत्तराण्यासुरथोत्तरोत्तरम् ॥ १५ ॥

संन्यासी को अकस्मात् आया हुआ देखकर मण्डन मिश्र अत्यन्त रुष्ट हो गये। इस घटना से आचार्य के हृदय में भी बड़ा कौतुक उत्पन्न हो गया। तदनन्तर इन दोनों विद्वानों में इस प्रकार प्रश्नोत्तर होने लगा ॥ १५ ॥

शङ्कर और मण्डन का कथनोपकथन

कुतो मुण्ड्यागलान्मुण्डी पन्थास्ते पृच्छ्यते मया ।
किमाह पन्थास्त्वन्माता मुण्डेत्याह तथैव हि ॥ १६ ॥
पन्थानं त्वमपृच्छस्त्वां पन्थाः प्रत्याह मण्डन ।
त्वन्मातेत्यत्र शब्दोऽयं न मां ब्रूयादपृच्छकम् ॥ १७ ॥

मण्डन मिश्र—मुण्डी (संन्यासी), कहाँ से ? (परन्तु 'कुतो मुण्डी' का अर्थ यह भी है कि तुम कहाँ से अर्थात् किस अङ्ग से मुण्डित हो ?)

शङ्कर—मैं गले तक मुण्डी हूँ। अर्थात् मेरा सिर मुण्डित है।

मण्डन—मैं आपकी राह के विषय में पूछता हूँ कि आप कहाँ से आये हैं।

('पन्थाः पृच्छ्यते' कर्मवाच्य का प्रयोग है। इसका अर्थ यह भी हुआ कि 'मार्ग मुझसे पूछा जाता है'।) इसी अर्थ को लक्षित कर आचार्य ने पूछा—मार्ग से पूछने पर उसने उसका उत्तर क्या दिया ?

मण्डन—मार्ग ने मुझे उत्तर दिया है कि तुम्हारी माता मुण्डा है।

शङ्कर—बहुत ठीक। तुमने ही मार्ग से पूछा है, अतः उसका उत्तर तुम्हारे लिये है। 'त्वन्माता' शब्द तुम्हारी माता के लिये ही प्रयुक्त है। मैंने तो मार्ग से कुछ पूछा ही नहीं है। अतः उसका उत्तर मेरे विषय में नहीं है। (आशय है कि मार्ग तुम्हारी माता को मुण्डा—संन्यासिनी—बतलाता है। मेरी माता के विषय में नहीं) ॥ १६-१७ ॥

अहो पीता किमु सुरा नैव श्वेता यतः स्मर।
किं त्वं जानासि तद्वर्णमहं वर्णं भवान् रसम् ॥ १८ ॥

मण्डन—क्या आपने सुरा (शराब) पी ली है (पीता)—इतनी ऊँची-नीची बातें करते हैं।

(पीता का दूसरा अर्थ पीला रङ्ग है। इसी को लक्ष्य कर—)

शङ्कर—सुरा श्वेत होती है, पीली नहीं।

मण्डन—वाह ! तुम तो उसके रङ्ग को जानते हो।

शङ्कर—मैं तो रङ्ग जानता हूँ, और आप उसका रस (रङ्ग का ज्ञान होने से मुझे पातक न लगेगा, परन्तु आप तो उसके रस से परिचित होने से प्रत्यवायी हैं। "न सुरां पिबेत्" वाक्य सुरापान का निषेध करता है; सुरा-दर्शन का नहीं) ॥ १८ ॥

मत्तो जातः कलञ्जाशी विपरीतानि भाषते।
सत्यं ब्रवीति पितृवत्त्वत्तो जातः कलञ्जभुक् ॥ १९ ॥

मण्डन—विषैले बाणों से मारे गये हरिन के मांस (कलञ्ज) खाने से तुम पागल (मत्तः) हो गये हो, अतः उल्टी-सीधी बोल रहे हो।

('मत्तः' शब्द अस्मद् शब्द से तसिल् प्रत्यय करने से भी बनता है। अतः इसका अर्थ हुआ मुझसे। 'मत्तो जातः' का अर्थ हुआ मुझसे उत्पन्न=मेरा पुत्र। यही अर्थ ग्रहण कर आचार्य उत्तर दे रहे हैं—)

शङ्कर—आप ठीक कह रहे हैं। पिता के समान ही आपसे उत्पन्न पुत्र 'कलञ्ज' खानेवाला है (स्मृति में 'कलञ्ज'-भक्षण निषिद्ध माना गया है—कलञ्जं न भक्षयेत्) ॥ १९ ॥

कन्थां वहसि दुर्बुद्धे गर्दभेनापि दुर्वहाम् ।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां कस्ते भारो भविष्यति ॥ २० ॥

मण्डन—हे दुर्बुद्धे, जब तुम गदहे के द्वारा भी न ढोने लायक़ कन्था (कथरी) ढो रहे हो, तब शिखा और जनेऊ कितने भारी हैं कि उन्हें काट डाला है ॥ २० ॥

कन्थां वहामि दुर्बुद्धे तव पित्राऽपि दुर्भराम् ।
शिखायज्ञोपवीताभ्यां श्रुतेर्भारो भविष्यति ॥ २१ ॥

शङ्कर—हे दुर्बुद्धे, तुम्हारे पिता तो गृहस्थ थे। अतः उनके द्वारा भी दुःख से ढोने लायक़ कन्था को मैं जरूर ढो रहा हूँ। शिखा तथा यज्ञोपवीत से श्रुति के, लिये एक महान् भार होगा। श्रुति संन्यासी होने पर शिखा तथा सूत्र को छोड़ने का उपदेश देती है ॥ २१ ॥

टिप्पणी—श्रुति संन्यास ग्रहण करने के लिये स्पष्ट उपदेश देती है—'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः (महानारायण उप० १०।५), यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् (जाबाल उप०, खण्ड ४), अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः (जाबाल ५)' आदि वाक्यों में ब्रह्मज्ञान के लिये संन्यास ग्रहण करने का स्पष्ट निर्देश है। अतः यदि शिखा-सूत्र का परित्याग कर संन्यास न लिया जायगा, तो उक्त श्रुति का निर्वाह न हो सकेगा। अतः शिखासूत्र श्रुति के लिये भी भारभूत हैं।

त्यक्त्वा पाणिगृहीतीं स्वामशक्त्या परिरक्षणे ।
शिष्यपुस्तकभारेच्छोर्व्याख्याता ब्रह्मनिष्ठता ॥ २२ ॥

मण्डन—रक्षा करने में अशक्त होने के कारण पाणिगृहीती—धर्मपत्नी—को छोड़कर पुस्तक और शिष्यों का भार अपनी छाती पर लादकर तुमने अपनी ब्रह्मनिष्ठता खूब प्रमाणित की ॥ २२ ॥

गुरुशुश्रूषणालस्यात् समावर्त्य गुरोः कुलात् ।
स्त्रियः शुश्रूषमाणस्य व्याख्याता कर्मनिष्ठता ॥ २३ ॥

शङ्कर—गुरु की सेवा में आलस्य करने के कारण तुम गुरुकुल से अपने घर लौट आये हो और स्त्रियों की सेवा करते हुए गृहस्थ बने हो। यह तुम्हारी कर्मनिष्ठता ख़ूब अच्छी ठहरी ! ॥ २३ ॥

स्थितोऽसि योषितां गर्भे ताभिरेव विवर्धितः ।
अहो कृतघ्नता मूर्ख कथं ता एव निन्दसि ॥ २४ ॥

मण्डन—हे मूर्ख ! तुमने स्त्रियों के गर्भ में निवास किया है; उन्हीं ने तुम्हारा भरण-पोषण किया है। फिर भी उनकी निन्दा कर रहे हो ! सचमुच तुम बड़े कृतघ्न हो ॥ २४ ॥

यासां स्तन्यं त्वया पीतं यासां जातोऽसि योनितः ।
तासु मूर्खतम स्त्रीषु पशुवद्रमसे कथम् ॥ २५ ॥

शङ्कर—जिनका दूध तुमने पीया और जिनकी योनि से तुम उत्पन्न हुए, उन्हीं स्त्रियों के साथ तुम पशु के समान किस तरह रमण करते हो, तुम्हें लज्जा नहीं लगती ॥ २५ ॥

वीरहत्यामवाप्तोऽसि वह्नीनुद्वास्य यत्नतः ।
आत्महत्यामवाप्तस्त्वमविदित्वा परं पदम् ॥ २६ ॥

मण्डन—तुमने यत्न से तीनों श्रौत अग्नियों को अपने घर से दूर हटा दिया है (जब संन्यास ग्रहण किया)। अतः तुम्हें तो इन्द्रहत्या करने का पातक लगेगा।

टिप्पणी—'वीरहत्या' का अर्थ है इन्द्र की हत्या। पूर्वोक्त कथन इस श्रुति के आधार पर है—वीरहा वा एष देवानां योऽग्नीन् उद्वासयति = अग्नि को उद्वासित करनेवाला (दूर हटानेवाला) व्यक्ति इन्द्र की हत्या करनेवाला होता है।

शङ्कर—तुम तो आत्महत्या करनेवाले हो, क्योंकि तुमने परब्रह्म को नहीं जाना ॥ २६ ॥

टिप्पणी—प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह अपने स्वरूप को पहचाने, ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करे। अन्यथा वह आत्महत्या करनेवाला है। ईशावास्य उप० (मन्त्र ३) का स्पष्ट कथन है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चाऽऽत्महनो जनाः ॥

स्मृति इसी का अनुवाद करती है—

अन्यथा सन्तमात्मानं योऽन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतं पाप चौरेणाऽऽत्मापहारिणा ॥

दौवारिकान् वञ्चयित्वा कथं स्तेनवदागतः ।
भिक्षुभ्योऽन्नमदत्त्वा त्वं स्तेनवद् भोक्ष्यसे कथम् ॥ २७ ॥

मण्डन—हमारे घर में द्वारपालों की आँख बचाकर तुम चोर की तरह कैसे घुस आये हो ?

शङ्कर—भिक्षुओं को बिना दिये तुम चोर की तरह क्यों अन्न खा रहे हो ? ॥ २७ ॥

टिप्पणी—गृहस्थ का नियम है कि भिक्षु, संन्यासी, ब्रह्मचारी को भोजन देकर स्वयं करे, नहीं तो वह चोर कहलाता है । गीता का यह श्लोक (३ । १२) नितान्त प्रसिद्ध है :—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥

कर्मकाले न संभाष्य अहं मूर्खेण संप्रति ।
अहो प्रकटितं ज्ञानं यतिभङ्गेन भाषिणा ॥ २८ ॥

मण्डन (क्रुद्ध होकर)—मैं कर्म (श्राद्ध) के अवसर पर इस समय मूर्ख से भाषण करना नहीं चाहता ।

आचार्य—आश्चर्य है । 'संभाष्यः + अहम्' में सन्धि के अनुसार 'संभाष्योऽहम्' होना चाहिए । परन्तु आपने मनमानी सन्धि कर विसर्ग का लोप कर यतिभङ्ग किया है । मूर्खता मेरी है कि आपकी ? ॥ २८ ॥

यतिभङ्गे प्रवृत्तस्य यतिभङ्गो न दोषभाक् ।
यतिभङ्गे प्रवृत्तस्य पञ्चम्यन्तं समस्यताम् ॥ २९ ॥

मण्डन—मैं यति (संन्यासी) के भङ्ग (पराजय) करने में लगा हूँ। अतः मेरे लिये यतिभङ्ग से कोई दोष नहीं होगा।

आचार्य—'यतिभङ्गे प्रवृत्तस्य' के 'यतिभङ्ग' शब्द में पञ्चमी समास मानिए। अर्थात 'यति=संन्यासी से भङ्ग पराजय है जिसका' यह अर्थ होना चाहिए। आप मुझे क्या हरावेंगे, आपका ही पराजय मेरे हाथों होगा ॥ २९ ॥

क्व ब्रह्म क्व च दुर्मेधाः क्व संन्यासः क्व वा कलिः ।
स्वाद्वन्नभक्षकामेण वेषोऽयं योगिनां धृतः ॥ ३० ॥

मण्डन—कहाँ वह ब्रह्म और कहाँ मूर्ख व्यक्ति (भला वह कभी ज्ञानातीत ब्रह्म को जान सकता है); कहाँ संन्यास और कहाँ यह कलियुग (कलियुग में संन्यास का ग्रहण करना निषिद्ध है); रसीले मीठे भोजन करने की इच्छा से तुमने यह संन्यासियों का वेष धारण कर रक्खा है ॥३०॥

क्व स्वर्गः क्व दुराचारः क्वाग्निहोत्रं क्व वा कलिः ।
मन्ये मैथुनकामेन वेषोऽयं कर्मिणां धृतः ॥ ३१ ॥

आचार्य—कहाँ स्वर्ग और कहाँ दुराचार! कहाँ अग्निहोत्र और कहाँ यह कलियुग (अर्थात् कलियुग में न तो अग्निहोत्र निभ सकता है और न दुराचारी स्वर्ग को पा सकता है।) मुझे तो मालूम पड़ता है कि गृहस्थ का धर्म आजकल नहीं निभ सकता। मैथुन की इच्छा से आपने यह गृहस्थों का वेष धारण किया है ॥ ३१ ॥

इत्यादिदुर्वाक्यगणं ब्रुवाणे रोषेण साहंकृतिविश्वरूपे ।
श्रीशङ्करे वक्तरि तस्य तस्योत्तरं च कौतूहलतश्च चारु ॥३२॥

इस प्रकार क्रोध से जब मण्डन मिश्र दुर्वाक्य बोल रहे थे तब आचार्य शङ्कर कौतूहल से उनका उत्तर बड़ी सुन्दर रीति से दे रहे थे ॥ ३२ ॥

तं मण्डनं सस्मितजैमिनीक्षितं
व्यासोऽब्रवीज्जल्पसि वत्स दुर्वचः ।

आचारणा नेयमनिन्दितात्मनां
ज्ञातात्मतत्त्वं यमिनं धुतैषणम् ॥ ३३ ॥

जब मण्डन मिश्र को मुसकराते हुए जैमिनि देख रहे थे तब व्यासजी ने कहा कि हे वत्स! तुम दुर्वचन क्यों बोल रहे हो? ये संन्यासी आत्मतत्त्व को जाननेवाले हैं। इन्होंने अपने ज्ञान से तीनों प्रकार की एषणाएँ दूर कर दी हैं। इनके प्रति तुम्हारा यह आचरण क्या अनुरूप कहा जा सकता है? ॥ ३३ ॥

अभ्यागतोऽसौ स्वयमेव विष्णुरित्येव मत्वाऽऽशु निमन्त्रय त्वम्।
इत्याश्रवं ज्ञातविधिं प्रतीतं सुध्यग्रणीः साध्वशिषन् मुनिस्तम् ॥३४॥

आज के अतिथि स्वयं विष्णु भगवान् हैं, इस बात का विचार कर तुम इन्हें शीघ्र निमन्त्रण दो। इस प्रकार विधि को जाननेवाले विद्या के कारण प्रसिद्ध मण्डन मिश्र को व्यासजी ने आज्ञा दी ॥ ३४ ॥

अथोपसंस्पृश्य जलं स शान्तः ससंभ्रमं मण्डनपण्डितोऽपि।
व्यासाज्ञया शास्त्रविदर्चयित्वा न्यमन्त्रयद्भैक्ष्यकृते महर्षिम् ॥३५॥

मिश्रजी ने शान्त होकर आचमन किया। वे शास्त्र के जाननेवाले तो थे ही, व्यासजी की आज्ञा से अतिथि का यथाविधि सत्कार करके भिक्षा करने के लिये निमन्त्रण दिया ॥ ३५ ॥

स चाब्रवीत् सौम्य विवादभिक्षामिच्छन् भवत्संनिधिमागतोऽस्मि।
साऽन्योन्यशिष्यत्वपणा प्रदेया नास्त्यादरः प्राकृतभक्तभैक्ष्ये ॥३६॥

शङ्कर—हे सौम्य! मुझे साधारण अन्न की भिक्षा में किसी प्रकार का आदर नहीं है। मैं विवाद की भिक्षा माँगने के लिये आपके पास आया हुआ हूँ। परन्तु इस विवाद में एक शर्त हम लोगों को माननी पड़ेगी कि जो पराजित होगा वह दूसरे का शिष्य बन जायगा ॥ ३६ ॥

मम न किंचिदपि ध्रुवमीप्सितं श्रुतिशिरः पथविस्तृतिमन्तरा।
अवहितेन मखेष्ववधीरितः स भवता भवतापहिमद्युतिः ॥ ३७ ॥

वेदान्त के सिद्धान्त का प्रचार ही मेरे जीवन का प्रधान लक्ष्य है। इसे छोड़कर मुझे कोई भी वस्तु प्यारी नहीं है। इस वेदान्त की महिमा अलौकिक है। यह संसार के सन्ताप को दूर करने के लिये चन्द्रमा के समान शीतल है। परन्तु मुझे इस बात का खेद है कि कर्ममार्ग में निरत होकर आपने इसकी अवहेलना की है॥ ३७॥

जगति संमति तं प्रथयाम्यहं
समभिभूय समस्तविवादिनम्।
त्वमपि संश्रय मे मतमुत्तमं
विवद वा वद वाऽस्मि जितस्त्विति ॥३८॥

मैं समग्र विवादियों को जीतकर संसार में इस वेदान्त-मार्ग को फैलाऊँगा। तुम भी इस उत्तम मत को स्वीकार कर लो। या तो मुझसे विवाद करो या कहो कि तुम परास्त कर दिये गये हो॥ ३८॥

इति यतिप्रवरस्य निशम्य तद्वचनमर्थवदागतविस्मयः।
परिभवेन-नवेन महायशाः स निजगौ निजगौरवमास्थितः ॥३९॥

यतिराज का यह वचन सुनकर मण्डन को बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इन वचनों को अपना नवीन पराभव समझा। वे महायशस्वी ठहरे अतः इस पराभव से उनका हृदय उद्विग्न हो गया और अपने गौरव को प्रकट करते हुए वे बोल उठे—॥ ३९॥

अपि सहस्रमुखे फणिनामके न विजितस्त्विति जातु फणात्ययम्।
न च विहाय मतं श्रुतिसंमतं मुनिमते निपतेत् परिकल्पिते ॥४०॥

यदि हजार मुखवाला भी शेषनाग मेरा प्रतिवादी बनकर मेरे सामने आवे तो भी मैं नहीं कह सकता कि मैं हार गया। भला मैं श्रुति-सम्मत कर्मकाण्ड को छोड़कर मुनिमत को कभी मान सकता हूँ! कर्मकाण्ड तो श्रुति-सम्मत है परन्तु ज्ञानमार्ग तो केवल कल्पनाजन्य है॥ ४०॥

अपि कदाचिदुदेष्यति कोविदः सरसवादकथाऽपि भविष्यति ।
इति कुतूहलिनो मम सर्वदा जयमहोऽयमहो स्वयमागतः ॥४१॥

मेरे हृदय में यह लालसा बहुत दिनों से लगी हुई थी कि किसी विद्वान् का उदय होगा जिसके साथ मेरा सरस शास्त्रार्थ होगा । बड़े आनन्द का विषय है कि यह विजय-महोत्सव अपने आप मेरे लिये उपस्थित हो गया है ॥ ४१ ॥

भवतु सम्प्रति वादकथाऽऽवयोः फलतु पुष्कलशास्त्रपरिश्रमः ।
उपनता स्वयमेव न गृह्यते नवसुधा वसुधावसथेन किम् ॥४२॥

अब हम लोगों में वाद-कथा आरम्भ हो । शास्त्र में हमने जो पर्याप्त परिश्रम किया है वह आज सफल बने । यदि इस भूतल पर सुधा स्वयं उपस्थित हो जाय तो क्या इस भूतल का निवासी उसे ग्रहण न करेगा ? ॥ ४२ ॥

अयमहं यमहन्तुरपि स्वयं शमयिता मयि तावकसद्गिराम् ।
सुकलहं कलहंसकलाभृतां दिश सुधांशुसुधामलसत्तनो ॥ ४३ ॥

मैं साधारण व्यक्ति नहीं हूँ । मैं यमराज के भी विनाशक ईश्वर का खण्डन करनेवाला हूँ । वेदान्ती लोग ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं परन्तु मैंने सिद्ध कर दिया है कि फल का दाता स्वयं कर्म ही है, ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं है । हे चन्द्रमा के समान शरीरवाले यतिवर ! राजहंस की ध्वनि के समान मधुर अपनी वाणी से मेरे साथ शास्त्रार्थ करो ॥ ४३ ॥

अपि तु दुर्हृदयस्मयकाननक्षतिकठोरकुठारधुरन्धरा ।
न पटुता मम ते श्रवणान्तिकं ननु गताऽनुगताखिलदर्शना ॥४४॥

क्या मेरे पाण्डित्य की कथा आपके कानों तक नहीं पहुँची है ? वह पाण्डित्य जो दुष्टों (दुर्हृदय) के गर्व को उसी प्रकार काट गिराता है जिस

प्रकार जङ्गल को कठोर कुठार की धारा और वह पाण्डित्य जिसने समस्त दर्शनों के रहस्य को जान लिया है ॥ ४४ ॥

अत्यल्पमेतद्भ भवतेरितं मुने भैक्ष्यं प्रकुर्वे यदि वाददित्सुता ।
गतोद्यमोऽहं श्रुतवादवार्तया चिरेप्सितेयं वदिता न कश्चन ॥४५॥

हे मुनि ! यह आपका कहना बहुत ही थोड़ा है—'यदि आप शास्त्रार्थ करेंगे तभी मैं भिक्षा ग्रहण करूँगा।' सो शास्त्र में 'वाद' करने के लिये मैं सदा उद्योगशील रहता हूँ। मेरी तो इस विषय में बड़ी लालसा है। लेकिन मैं क्या करता, कोई शास्त्रार्थ करनेवाला ही मुझे नहीं मिला ॥४५॥

वादं करिष्यामि न संदिहेऽत्र जयाजयौ नौ वदिता न कश्चित् ।
न कण्ठशोषैकफलो विवादो मिथो जिगीषू कुरुतस्तु वादम् ॥४६॥

मैं आपसे शास्त्रार्थ करूँगा, मुझे इसमें सन्देह नहीं है। लेकिन हम लोगों के जय और पराजय की मीमांसा करनेवाला कोई मध्यस्थ नहीं है। विवाद का उद्देश्य कण्ठ को केवल सुखा देना ही नहीं है। इसका प्रधान उद्देश्य है एक दूसरे को जीतना। दूसरे को जीतने के लिये ही वादी-प्रतिवादी शास्त्रार्थ करते हैं ॥ ४६ ॥

वादे हि वादिप्रतिवादिनौ द्वौ विपक्षपक्षग्रहणं विधत्तः ।
का नौ प्रतिज्ञा वदतोश्च तस्यां किं मानमिष्टं वद कः स्वभावः ॥४७॥

शास्त्रार्थ का यह नियम है कि वादी और प्रतिवादी एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष को ग्रहण करते हैं। आप बतलाइए कि हम दोनों की प्रतिज्ञाएँ क्या होंगी ? कौन प्रमाण आपको स्वीकार है और इस विषय में आपका अभिप्राय क्या है ? ॥ ४७ ॥

कः पार्ष्णिकोऽहं गृहमेधिसत्तम-
स्त्वं भिक्षुराजो वदतामनुत्तमः ।
जयाजयौ नौ सपणौ विधीयतां
ततः परं साधु वदाव सुस्मितौ ॥ ४८ ॥

हम लोगों का मध्यस्थ कौन होगा ? इसे तो आप बतलाइए। मैं तो गृहस्थ हूँ और आप वावदूकों में श्रेष्ठ संन्यासी हैं। हम लोगों के जय और विजय के लिये कोई शर्त पहिले से ठीक कर रखिए। इतना निश्चय हो जाय तो हम लोग प्रसन्नचित्त होकर शास्त्रार्थ करें ॥ ४८ ॥

अद्यातिधन्योऽस्मि यदार्यपादो मया सहाभ्यर्थयते विवादम् ।
भविष्यते वादकथाऽपरेद्युर्माध्याह्निकं संप्रति कर्म कुर्याम् ॥ ४९ ॥

आज मेरा जीवन धन्य है। आप स्वयं मेरे साथ शास्त्रार्थ की याचना कर रहे हैं। कल से हमारा शास्त्रार्थ शुरू होगा। इस समय हम लोग मध्याह्नकालीन कृत्य करें ॥ ४९ ॥

तथेति सूक्ते स्मितशङ्करेण भविष्यते वादकथा श्व एव ।
तत्साक्षिभावं व्रजतं मुनीन्द्रावित्यर्थयद्द् बादरिजैमिनी सः ॥५०॥

शङ्कर ने मुसकराकर इस बात को स्वीकार कर लिया कि शास्त्रार्थ कल से ही प्रारम्भ हो। इतना कहकर उन्होंने बादरायण और जैमिनि से मध्यस्थ बनने की प्रार्थना की ॥ ५० ॥

विधाय भार्यां विदुषीं सदस्यां विधीयतां वादकथा सुधीन्द्र ।
इत्थं सरस्वत्यवतारताज्ञौ तद्धर्मपत्न्यास्तमभाषिषाताम् ॥ ५१ ॥

इस पर वे दोनों मुनि बोले—हे विद्वत्-शिरोमणे! मण्डन मिश्र की विदुषी भार्या को मध्यस्थ बनाकर आप लोग शास्त्रार्थ करें। यह साक्षात् सरस्वती का अवतार है। इसलिये आपके शास्त्रार्थ का निर्णय वह उचित रीति से कर देगी ॥ ५१ ॥

अथानुमोद्याभिहितं मुनिभ्यां स मण्डनार्यः प्रकृतं चिकीर्षुः ।
आनर्च दैवोपगतान् मुनीन्द्रानग्नीनिव त्रीन् मुनिशेखरांस्तान्॥५२॥

मण्डन ने मुनि के इन वचनों का अनुमोदन किया और प्रकृत कार्य करने में लग गये। उन्होंने भाग्य से आये हुए और श्रौत अग्नि के समान चमकनेवाले इन तीनों मुनियों की यथावत् पूजा की ॥ ५२ ॥

भुक्त्वोपविष्टस्य मुनित्रयस्य श्रमापनोदाय तदीयशिष्यौ ॥
अतिष्ठतां पार्श्वगतौ बटू द्वौ सचामरौ वीजनमाचरन्तौ ॥ ५३ ॥

भोजन कर जब ये तीनों मुनि आसन पर बैठ गये तब मण्डन के दो शिष्य खड़े होकर चामर से पङ्खा करने लगे तथा इनकी थकावट को दूर करने लगे ॥ ५३ ॥

अथ क्रियान्ते किल सूपविष्टास्त्रय्यन्तवेद्यार्थविदस्त्रयोऽमी ।
अमन्त्रयंश्चारु परस्परं ते मुहूर्तमात्रं किमपि प्रहृष्टाः ॥ ५४ ॥
तेषां द्विजेन्द्रालयनिर्गतानामदर्शनं जग्मतुरञ्जसा द्वौ ।
रेवातटे रम्यकदम्बसाले देवालयेऽवस्थितवांस्तृतीयः ॥ ५५ ॥

इसके बाद उपनिषद् के अर्थ को जाननेवाले ये तीनों मुनि अत्यन्त प्रसन्न होकर क्षण भर के लिये आपस में विचार करने लगे। इसके बाद ये तीनों घर के बाहर निकले। इतने में जैमिनि और बादरायण तो अन्तर्ध्यान हो गये और शङ्कर नर्मदा के किनारे सुन्दर कदम्ब और साल वृक्षों से शोभित एक मन्दिर में जाकर टिक गये ॥ ५४-५५ ॥

इति स यतिवरेण्यो दैवयोगाद्गुरूणा-
मितरजनदुरापं दर्शनं प्राप्य हृष्टः ।
तदुदितवचनानि श्रावयन्नात्मशिष्या-
ननयदमृततुल्यान्यात्मवित्तां त्रियामाम् ॥ ५६ ॥

इस तरह आचार्य शङ्कर ने दैवयोग से गुरु लोगों का दुर्लभ दर्शन पाया। उन्होंने प्रसन्न होकर उनकी अमृत-तुल्य कथा अपने शिष्यों को सुनाई और इस प्रकार रात बिता डाली ॥ ५६ ॥

प्रातः शोणसरोजबान्धवरुचिप्रद्योतिते व्योमनि
प्रख्यातः स विधाय कर्म नियतं प्रज्ञावतामग्रणीः ।
सार्कं शिष्यवरैः प्रपद्य सदनं सन्मण्डितं माण्डनं
वादायोपविवेश पण्डितसभामध्ये मुनिर्ध्येयवित् ॥ ५७ ॥

रात बीती, प्रातःकाल हुआ। जब सरोज-बन्धु दिवाकर की प्रभा से आकाश-मण्डल चमक उठा तब शङ्कर अपने नित्य कर्मों को समाप्त कर शिष्यों को साथ लेकर मण्डन मिश्र के घर पहुँचे। वहाँ पण्डितों की सभा में मुनिवर शास्त्रार्थ करने के लिये बैठ गये ॥ ५७ ॥

ततः समादिश्य सदस्यतायां सधर्मिणीं मण्डनपण्डितोऽपि ।
स शारदां नाम समस्तविद्याविशारदां वादसमुत्सुकोऽभूत् ॥५८॥

अनन्तर मण्डन मिश्र ने भी अपनी पत्नी को मध्यस्थ होने के लिये कहा। इनका नाम 'शारदा' था और ये समस्त विद्याओं में विशारदा थीं। अनन्तर वे भी शास्त्रार्थ करने की तैयारी करने लगे ॥ ५८ ॥

पत्या नियुक्ता पतिदेवता सा सदस्यभावे सुदती चकाशे ।
तयोर्विवेक्तुं श्रुततारतम्यं समागता संसदि भारतीव ॥ ५९ ॥

पति के द्वारा मध्यस्थ बनने के लिये आग्रह किये जाने पर सुन्दरी शारदा देवी ने वह पद ग्रहण किया। उनकी शोभा देखने ही योग्य थी। जान पड़ता था कि इन दो विद्वानों के शास्त्र के तारतम्य का निर्णय करने के लिये स्वयं सरस्वती सभा में पधारी हों ॥ ५६ ॥

प्रवृद्धवादोत्सुकतां तदीयां विज्ञाय विज्ञः प्रथमं यतीन्द्रः ।
परावरज्ञः स परावरैक्यपरां प्रतिज्ञामकरोत् स्वकीयाम् ॥ ६० ॥

मण्डन मिश्र की शास्त्रार्थ के लिये उत्सुकता देखकर पहले आचार्य ने जीव और ब्रह्म के ऐक्य को बतलानेवाला अपना पक्ष (मत) कह सुनाया ॥ ६० ॥

शङ्कर की प्रतिज्ञा

ब्रह्मैकं परमार्थसच्चिदमलं विश्वप्रपञ्चात्मना
शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलाज्ञानावृतं भासते ।
तज्ज्ञानान्निखिलप्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापरं
निर्वाणं जनिमुक्तमभ्युपगतं मानं श्रुतेर्मस्तकम् ॥ ६१ ॥

शङ्कर—ब्रह्म एक, सत्, चित्, निर्मल तथा परमार्थ है। जिस प्रकार शुक्ति रजत (चाँदी) का रूप धारण कर भासित होती है, उसी प्रकार यह ब्रह्म स्वयं प्रपञ्च-रूप से भासित होता है। उस ब्रह्म के ज्ञान से इस प्रपञ्च का नाश हो जाता है और बाहरी पदार्थों से हटकर जीव अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। उस समय वह जन्म-मरण से रहित होकर मुक्त हो जाता है।—यही हमारा सिद्धान्त है और इसमें प्रमाण हैं स्वयं उपनिषद् ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—वेदान्त का यह सिद्धान्त उपनिषदों के द्वारा प्रतिपादित है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। 'एकमेवाद्वितीयम्' (छान्दोग्य ६।२।१), 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' (तैत्तरीय २।१।१), 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृहदारण्यक ३।६।२८), 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य ३ । १४ । १)—आदि उपनिषद्-वाक्य ब्रह्म के ज्ञान, सत्य तथा आनन्द रूप होने का वर्णन करते हैं तथा उसकी एकता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' (ईशावास्य ७), 'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते' (छा० ८। १५। १)—ब्रह्मज्ञानी की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक मुक्ति का उपदेश देते हैं।

बाढं जये यदि पराजयभागहं स्यां
संन्यासमङ्ग परिहृत्य कषायचैलम् ।
शुक्लं वसीय वसनं द्वयभारतीयं
वादे जयाजयफलप्रतिदीपिकाऽस्तु ॥ ६२ ॥

'यदि मैं इस शास्त्रार्थ में पराजित हो जाऊँगा तो संन्यासी के कषाय-वस्त्र को छोड़कर गृहस्थ का सफ़ेद वस्त्र पहन लूँगा। इस विवाद में जय और पराजय का निर्णय स्वयं यह 'उभयभारती' करें' ॥ ६२ ॥

इत्थं प्रतिज्ञां कृतवत्युदारां श्रीशङ्करे भिक्षुवरे स्वकीयाम् ।
स विश्वरूपो गृहमेधिवर्यश्चक्रे प्रतिज्ञां स्वमतप्रतिष्ठाम् ॥ ६३ ॥

इस प्रकार शङ्कर ने अपनी उदार प्रतिज्ञा की। इसके अनन्तर गृहस्थों में श्रेष्ठ मण्डन मिश्र ने भी अपने मत को पुष्ट करनेवाली प्रतिज्ञा इस प्रकार कह सुनाई ॥ ६३ ॥

मण्डन की प्रतिज्ञा

वेदान्ता न प्रमाणं चितिवपुषि पदे तत्र सङ्गत्ययोगात्
पूर्वो भागः प्रमाणं पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेषे ।
शब्दानां कार्यमात्रं प्रति समधिगता शक्तिरभ्युन्नतानां
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामाऽऽयुषः स्यात् समाप्तेः॥६४॥

मण्डन—चैतन्य-स्वरूप ब्रह्म के प्रतिपादन करने में वेदान्त प्रमाण नहीं हैं, क्योंकि सिद्ध वस्तु के प्रतिपादन में उपनिषद् का तात्पर्य नहीं है। वेद का कर्मकाण्ड-भाग वाक्य के द्वारा प्रकटित किये जानेवाले सम्पूर्ण कार्य को प्रकट करता है। अतएव वही प्रमाण है। शब्दों की शक्ति कार्य मात्र को प्रकट करने में है। कर्मों से ही मुक्ति प्राप्त होती है और उस कर्म का अनुष्ठान प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन भर करना चाहिए ॥ ६४ ॥

टिप्पणी—'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्'। (जैमिनिसूत्र १।२।१) मीमांसा का यह प्रधान सिद्धान्त है कि वैदिक मन्त्रों का तात्पर्य विधि या कर्म के प्रतिपादन में ही है। 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्य का यह स्पष्ट तात्पर्य है कि स्वर्ग की कामना करनेवाला पुरुष यज्ञ करे। अर्थात् वेदमन्त्रों का विधि ही तात्पर्य है। परन्तु जिन वाक्यों में विधि का प्रतिपादन इतना स्पष्ट नहीं है वे विधि के अङ्गभूत हैं। वे विधि की प्रशंसा करते हुए विधि के साधन में ही सहायक होते हैं। ऐसे वाक्यों को 'अर्थवाद' कहते हैं। परन्तु वेदान्त इस मत को नहीं मानता।

वादे कृतेऽस्मिन् यदि मे जयान्यस्त्वयोदितात् स्याद्द विपरीतभावः ।
येयं त्वयाऽभूद्द गदिता प्रसाक्ष्ये जानाति चेत् सा भविता वधूर्मे॥६५॥

इस शास्त्रार्थ में यदि मेरा पराजय होगा तो गृहस्थ धर्म को छोड़कर संन्यास धारण कर लूँगा। जिस उभय-भारती को आपने इस शास्त्रार्थ में मध्यस्थ बनाया है उसे मैं भी स्वीकार कर रहा हूँ॥ ६५ ॥

जेतुः पराजित इहाऽऽश्रममाददीते-
त्येतौ मिथः कृतपणौ यतिविश्वरूपौ ।
उम्वामुदारधिषणामभिषिच्य साक्ष्ये
जल्पं वितेनतुरथो जयदत्तदृष्टी ॥ ६६ ॥

इस प्रकार शङ्कर और मण्डन ने आपस में यह प्रतिज्ञा की कि पराजित होनेवाला व्यक्ति जीतनेवाले पुरुष के आश्रम को ग्रहण कर लेगा। अनन्तर विजय की कामना से उदार बुद्धिवाली उम्बा (उभय-भारती) को मध्यस्थ पद पर बैठाकर दोनों आपस में शास्त्रार्थ करने लगे ॥ ६६ ॥

आवश्यकं परिसमाप्य दिने दिने तौ
वादं समं व्यतनुतां किल सर्ववेदौ ।
एवं विजेतुमनसोरुपविष्टयोस्तां
मालां गले न्यधित सोभयभारतीयम् ॥ ६७ ॥

प्रतिदिन वे लोग आवश्यक कृत्य समाप्त कर आपस में शास्त्रार्थ करते थे। इस प्रकार विजय की कामना से जब वे दोनों अपने आसन पर बैठे थे तब उभयभारती ने उनके गले में माला पहिना दी ॥ ६७ ॥

माला यदा मलिनभावमुपैति कण्ठे
यस्यापि तस्य विजयेतरनिश्चयः स्यात् ।
उक्त्वा गृहं गतवती गृहकर्मसक्ता
भिक्षाशनेऽपि चरितुं गृहिमस्करिभ्याम् ॥ ६८ ॥

'जिसके गले की माला मलिन हो जायगी उसी का शास्त्रार्थ में पराजय समझा जायगा।' इतना कहकर वह अपने गृहस्थी के काम करने के लिये चली गई; क्योंकि उसे अपने पति के लिये भोजन और संन्यासी के लिये भिक्षा तैयार करनी थी ॥ ६८ ॥

अन्योन्यसंजयफले विहितादरौ तौ
वादं विवादपरिनिर्णयमातनिष्टाम् ।
ब्रह्मादयः सुरवरा अपि वाहनस्थाः
श्रोतुं तदीयसदनं स्थितवन्त ऊर्ध्वम् ॥ ६९ ॥

एक दूसरे को पराजित करने की इच्छा से वे दोनों जब तक निर्णय न हो जाय तब तक शास्त्रार्थ करने के लिये जुट गये। इस शास्त्रार्थ की इतनी प्रसिद्धि हुई कि ब्रह्मा आदि श्रेष्ठ देवता लोग भी अपने वाहन पर चढ़कर उस स्थान को चले आये ॥ ६९ ॥

ततस्तयोरास महान् विवादः सदस्यविश्राणितसाधुवादः ।
स्वपक्षसाक्षीकृतसर्ववेदः परस्परस्यापि कृतप्रमोदः ॥ ७० ॥

अनन्तर दोनों में महान् शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। बीच-बीच में सभ्य लोग उन्हें साधुवाद देकर उनके उत्साह को बढ़ाने लगे। अपने पक्ष के लिये दोनों ने वेद को साक्षी माना। इस शास्त्रार्थ से दोनों प्रसन्न हुए ॥७०॥

दिने दिने चाधिगतप्रकर्षो भूरीभवत्पण्डितसंनिकर्षः ।
अन्योन्यभङ्गाहिततीव्रतर्षस्तथाऽपि दूरीकृतजन्यमर्षः ॥ ७१ ॥

दिन-प्रतिदिन शास्त्रार्थ उत्कृष्ट होता गया। इसे सुनने के लिये दूर-दूर की पण्डित-मण्डली जुटने लगी। दोनों आदमी एक दूसरे को पराजित करने के लिये घोर परिश्रम करने लगे परन्तु किसी प्रकार की कटुता उन्होंने नहीं दिखलाई। नितान्त प्रेम-भाव से उनका शास्त्रार्थ चलने लगा ॥ ७१ ॥

दिने दिने वासरमध्यमे सा ब्रूते पतिं भोजनकालमेव ।
समेत्य भिक्षुं समयं च भैक्ष्ये दिनान्यभूवन्निति पञ्चषाणि ॥७२॥

उभयभारती केवल मध्याह्न-काल में अपने पति से यही कहती थी कि भोजन का समय हो गया है, चलिए और शङ्कर से भिक्षा करने की प्रार्थना करती थी। इसी तरह से पाँच या छः दिन बीत गये ॥ ७२ ॥

अन्योन्यमुत्तरमखण्डयतां प्रगल्भं
बद्धासनौ स्मितविकासिमुखारविन्दौ ।
न स्वेदकम्पगगनेक्षणशालिनौ वा
न क्रोधवाक्छलमवादि निरुत्तराभ्याम् ॥ ७३ ॥

आसन पर दोनों बैठे हुए थे। ओठों पर मन्द स्मित की रेखा झलक रही थी। मुखमण्डल विकसित था। न तो शरीर में पसीना होता था; न कम्प होता था; न वे आकाश की ओर देखते थे, बल्कि सावधान मन से एक दूसरे के प्रश्नों का उत्तर बड़ी प्रगल्भता से देते थे। न वे निरुत्तर होने पर क्रोध से वाक्छल का प्रयोग करते थे ॥ ७३ ॥

ततो यतिक्ष्माभृदवेक्ष्य दाक्ष्यं क्षोदक्षमं तस्य विचक्षणस्य ।
चिक्षेप तं क्षोभितसर्वपक्षं विद्वत्समक्षाप्रतिभातकक्ष्यम् ॥ ७४ ॥

अनन्तर यतिराज ने पण्डितराज मण्डन की विलक्षण विचक्षणता देखकर उनके सब पक्ष का खण्डन कर दिया और विद्वानों के सामने उन्हें प्रतिभाहीन सा बना डाला ॥ ७४ ॥

ततः स्वसिद्धान्तसमर्थनाय प्रागल्भ्यहीनोऽपि स सभ्यमुख्यः ।
जगाद वेदान्तवचःप्रसिद्धमद्वैतसिद्धान्तमपाकरिष्णुः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार अपने सिद्धान्त के समर्थन करने में जब मण्डन मिश्र असमर्थ हो गये तब वे अद्वैत सिद्धान्त के खण्डन करने के लिये उद्यत हुए ॥७५॥

'अद्वैत'-विषयक शास्त्रार्थ

भो भो यतिक्ष्माधिपते भवद्भिर्जीवेशयोर्वास्तवमैकरूप्यम् ।
विशुद्धमङ्गीक्रियते हि तत्र प्रमाणमेवं न वयं प्रतीमः ॥ ७६ ॥

मण्डन—हे यतिश्रेष्ठ, आप लोग जीव और ब्रह्म की वास्तविक एकरूपता मानते हैं। परन्तु मुझे तो इस विषय का कोई भी सबल प्रमाण नहीं मिलता ॥ ७६ ॥

स प्रत्यवादीदिदमेव मानं यच्छ्वेतकेतुप्रमुखान् विनेयान् ।
उद्दालकाद्या गुरवो महान्तः संग्राहयन्त्यात्मतया परेशम् ॥७७॥

शङ्कर—इस विषय के प्रमाण तो उपनिषद् में भरे पड़े हैं। उद्दालक आदि ऋषियों ने श्वेतकेतु आदि अपने शिष्यों को 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (हे श्वेतकेतु, तुम ब्रह्म-स्वरूप हो) इत्यादि वाक्यों, उदाहरणों तथा युक्तियों के द्वारा परमात्मा को आत्म-स्वरूप बतलाया है। यही हमारे विषय का सबसे बड़ा प्रमाण है ॥ ७७ ॥

टिप्पणी—श्वेतकेतु—छान्दोग्य उपनिषद् के षष्ठ अध्याय में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्म की एकता अनेक दृष्टान्तों से समझाई है। यह अध्याय परब्रह्म की व्यापकता दिखलाने के लिये प्रयुक्त किया गया है। 'पानी में डाला गया लवण जिस प्रकार घुल-मिलकर एकाकार हो जाता है, कहीं से चखिए वह लवण ही होता है उसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है। वही आत्मा है। हे श्वेतकेतो ! तुम वही ब्रह्म हो।' इसी प्रकार के दृष्टान्तों के अन्त में 'तत् त्वमसि' वाक्य का उपदेश है। यह वेदान्त के चार महा-वाक्यों में से सर्वप्रसिद्ध है। इसके द्वारा जीवात्मा तथा परमात्मा की अभिन्नता सिद्ध होती है।

'तत्त्वमसि' का उपासना-परक अर्थ

वेदावसानेषु हि तत्त्वमादिवचांसि जप्तान्यघमर्षणानि ।
हुंफण्मुखानीव वचांसि योगिन्नैषां विवक्षाऽस्ति कुहस्विदर्थे॥७८॥

[मण्डन की दृष्टि 'द्वैतवाद' की दृष्टि है। इस दृष्टि में यह वाक्य 'एकत्व' का प्रतिपादन मुख्यतया नहीं करता, प्रत्युत उपास्य ब्रह्म के स्वरूप का निर्देश करता है। अतः यह वाक्य 'उपासना' की विधि बतलानेवाले वाक्यों का 'अर्थवाद' मात्र है। यही मण्डन मिश्र का आक्षेप है।]

मण्डन—वेदान्त में 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य पाप के नाश करनेवाले बतलाये गये हैं। जिस प्रकार 'हुँफट्' आदि वचन निरर्थक हैं, केवल

जप करने से वे पाप को दूर करते हैं, 'तत्त्वमसि' की भी ठीक यही दशा है। उसका प्रयोजन केवल जप, स्वाध्याय में है। अर्थ में तनिक भी विवक्षा नहीं है ॥ ७८ ॥

अर्थाप्रतीतौ किल हुंफडादेर्जपोपयोगित्वमभाणि विज्ञैः ।
अर्थप्रतीतौ स्फुटमत्र सत्यां कथं भवेत् प्राज्ञ जपार्थतैव ॥ ७९ ॥

शङ्कर—आपका कहना ठीक है। 'हुँफूट' आदि शब्द किसी अर्थ को प्रकट नहीं करते इसलिये उनका प्रयोजन केवल जप करने ही में है। परन्तु 'तत्त्वमसि' का अर्थ जब स्फुट प्रतीत हो रहा है तब उसे हम केवल जप के लिये क्यों मानें ? ॥ ७९ ॥

आपाततस्तत्त्वमसीतिवाक्याद्व यतीश जीवेश्वरयोरभेदः ।
प्रतीयतेऽथापि मखादिकर्तृप्रशंसया स्याद्व विधिशेष एव ॥ ८० ॥

मण्डन—आपका कहना किसी अंश में ठीक है। हे यतिवर ! 'तत्त्वमसि' वाक्य जीव और ईश्वर के अभेद को आपाततः प्रकट करता है। वस्तुतः वह यज्ञादि कर्मों के कर्ता की प्रशंसा करता है। इसलिये वह 'विधि' का अङ्गभूत है। अर्थात् वह भी किसी सिद्ध वस्तु का वर्णन नहीं करता बल्कि साध्य का वर्णन करता है ॥ ८० ॥

क्रत्वङ्गयूपादिकमर्यमादिदेवात्मना वाक्यगणः प्रशंसन् ।
शेषः क्रियाकाण्डगतो यदि स्यात् काण्डान्तरस्थोऽपि भवेत् कथं सः ८१

शङ्कर—कर्मकाण्ड में 'आदित्यो यूपः' (सूर्य यूप है) आदि वाक्य के समान अनेक वाक्य उपलब्ध होते हैं। इसका अर्थ है कि यूप (स्तम्भ) आदित्य रूप है। यह वाक्य यूप को आदित्य रूप से प्रशंसा करता हुआ विधि का अङ्ग बन सकता है परन्तु 'तत्त्वमसि', 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि ज्ञानकाण्ड-विषयक वाक्य विधि के अङ्ग कैसे हो सकते हैं ? ॥८१॥

तर्ह्यस्तु जीवे परमात्मदृष्टिविधायकः कर्मसमृद्धयेऽर्हन् ।
अब्रह्मणि ब्रह्मधियं विधत्ते यथा मनोर्नार्कनभस्वदादौ ॥ ८२ ॥

मण्डन—बहुत ठीक। उपनिषद् में 'मनो ब्रह्मेत्युपासीत', 'अन्नं उपास्व' इत्यादिक वाक्य कर्म की समृद्धि के लिये मन, अन्न तथा सूर्यादिक वस्तुओं को ब्रह्म समझने का उपदेश देते हैं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्य भी जीव में ब्रह्मदृष्टि करने का उपदेश करता है अतः यह वाक्य भी अभिधायक वाक्य है। मण्डन मिश्र के कथन का अभिप्राय यह है कि 'तत्त्वमसि' का सच्चा अर्थ यह है कि जीव में ब्रह्मदृष्टि करना चाहिए। यह जीव ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन कभी नहीं करता ॥ ८२ ॥

संश्रूयतेऽन्यत्र यथा लिङादिर्विधायको ब्रह्मविभावनाय ।
तथा विधेरश्रवणान्मनीषिन् संजाघटीत्यत्र कथं विधानम् ॥८३॥

शङ्कर—इस विषय में आपका कथन उचित नहीं प्रतीत होता। क्योंकि जिन वाक्यों को आपने उदाहरण के रूप में दिया है उनमें 'उपासीत' (उपासना करना चाहिए), 'उपास्व' (उपासना करो) आदि लिङ् तथा लोट् लकार के सूचक पद हैं जिनसे इन वाक्यों का विधि अर्थ माना जा सकता है परन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्य में लिङ् लकार-सूचक पद का अभाव है। यहाँ 'असि' पद वर्तमान काल का सूचक है। अतः इस वाक्य को विध्यर्थक मानना किसी प्रकार भी उचित नहीं प्रतीत होता ॥८३॥

यद्वत्प्रतिष्ठाफलदर्शनेन विधिर्यतीनां वर रात्रिसत्रे ।
प्रकल्प्यते तद्वदिहापि मुक्तिफलश्रुतेः कल्पयितुं स युक्तः ॥ ८४ ॥

मण्डन—हे संन्यासियों में श्रेष्ठ! 'रात्रिसत्र' में विधि लिङ्-सूचक पद के अभाव में भी प्रतिष्ठा-रूपी फल की प्राप्ति देखी जाती है। वहाँ विधि माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ पर भी मुक्ति-रूपी फल का वर्णन मिलता है। इसलिये यदि इस वाक्य में मैं विधि मान रहा हूँ तो इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं दीख पड़ती ॥ ८४ ॥

टिप्पणी—'रात्रिसत्र' एक विशेष प्रकार का सोमयाग होता है। उसके विषय में श्रुति का कहना है कि जो मनुष्य प्रतिष्ठा की कामना करता है वही इस सत्र की उपासना करता है—

प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति—इस वाक्य में यद्यपि लिङ्-सूचक पद नहीं हैं तथापि प्रतिष्ठा-रूपी फल होने के कारण इसे विधि-वाक्य माना जाता है। इसी प्रकार 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इस वाक्य को भी मुक्ति-फल होने के कारण विधि मान लेना चाहिए।

तर्हि क्रियाजन्यतया विमुक्तिः स्वर्गादिवद्धन्त विनश्वरा स्यात्।
उपासना कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुमर्हा मनसः क्रियैव ॥८५॥

शङ्कर—मुक्ति उपासना क्रिया के द्वारा उत्पन्न होती है, यह आपका कथन नितान्त निराधार है; क्योंकि ऐसी दशा में स्वर्ग के समान मुक्ति को भी अनित्य मानना पड़ेगा। क्योंकि उपासना मन की क्रिया है। उसका होना मन के अधीन है। मन चाहे करे, न करे, या अन्यथा करे। ऐसी दशा में उपासना से उत्पन्न मुक्ति नित्य नहीं हो सकती ॥ ८५ ॥

'तत्त्वमसि' का सादृश्य-परक अर्थ

मा भूदिदं तत्त्वमसीति वाक्यमुपासनापर्यवसायि कामम्।
किंत्वस्य जीवस्य परेण साम्यप्रत्यायकं सत्तम बोभवीतु ॥८६॥

मण्डन—अच्छी बात है। 'तत्त्वमसि' वाक्य उपासना-परक न हो, न सही; किन्तु हे विद्वन्! यह वाक्य जीव का परमेश्वर के साथ सादृश्य प्रतिपादन करता है, इस विषय में तो आपकी भी सम्मति होनी चाहिए। वेदान्त इस वाक्य से 'एकता' का प्रतिपादन मानता है; परन्तु मीमांसा की सम्मति में यह वाक्य आत्मा-ब्रह्म की 'सदृशता' का प्रतिपादन करता है ॥ ८६ ॥

किं चेतनत्वेन विवक्ति साम्यं सार्वज्ञसार्वात्म्यमुखैर्गुणैर्वा।
आद्ये प्रसिद्धं न खलूपदेश्यमन्ते स्वसिद्धान्तविरुद्धता स्यात् ॥८७॥

शङ्कर—यदि यह वाक्य ब्रह्म के साथ जीव के साम्य का वर्णन करता है तो किस गुण को लेकर? चैतन्य के द्वारा? अथवा सर्वज्ञता या सर्वशक्तिमत्ता आदि गुणों के द्वारा? यदि पहिला पक्ष आपको

स्वीकृत है तो यह प्रसिद्ध होने से उपदेश देने लायक़ नहीं है। आत्मा की चेतनता लोक-प्रसिद्ध है। यदि दूसरा पक्ष मानते हैं तो आपके सिद्धान्त से विरोध पड़ता है। आपके मत में आत्मा सर्वज्ञ या सर्वशक्तिमान् नहीं है। अतः इस वाक्य का अर्थ एकता-प्रतिपादन करना है, समता प्रतिपादन करना नहीं ॥ ८७ ॥

नित्यत्वमात्रेण मुने परात्मगुणोपमानैः सुखबोधपूर्वैः ।
गुणैरविद्यावृतितोऽप्रतीतैः साम्यं ब्रवीत्वस्य ततो न दोषः ॥८८॥

मण्डन—हे मुनिवर, जीव भी परमात्मा के समान नित्य है तथा आनन्द, ज्ञान आदि गुणों का निधान है। ये गुण आत्मा में सदा रहते हैं परन्तु अविद्या के आवरण के कारण इनकी प्रतीति नहीं होती। अतः जीवात्मा को परमात्मा के सदृश मानने में क्या दोष है ? ॥ ८८ ॥

यद्येवमेतस्य परत्वमेव प्रत्याययत्वत्र दुराग्रहः कः ।
त्वयैव तस्य प्रतिभासशङ्का विद्वन्नविद्यावरणान्निरस्ता ॥ ८९ ॥

आचार्य—यदि यह वाक्य जीव को परमात्मा का ही बोधक बतलावे तो इसमें आपका कौन सा आग्रह है ? आपने स्वयं ही यह कहा है कि जीव में परमात्मा के गुण विद्यमान हैं, परन्तु अविद्या के कारण वे प्रतीत नहीं होते। ऐसी दशा में जीव परमात्मा ही है, यह मत आपको भी अभीष्ट ही है ॥ ८९ ॥

भोश्चेतनत्वेन शरीरिसाम्यमावेद्यतामस्य जगत्प्रसूतेः ।
चिदुस्थितत्वेन परोदितस्याप्यणुप्रधानप्रभृतेर्निरासः ॥ ९० ॥

मण्डन—हे यतिराज ! तब तो इस वाक्य से 'इस संसार को उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर चेतन होने के कारण जीव के सदृश है' यह अर्थ प्रतिपादित करना चाहिए। इस प्रकार सिद्ध होगा कि यह संसार चैतन्य से उत्पन्न है। इस मत के मानने से अचेतन परमाणु अथवा प्रकृति से जगत् की उत्पत्ति माननेवाले वैशेषिक तथा सांख्यों का खण्डन स्वतः सिद्ध हो जाता है ॥ ९० ॥

हन्तैवमस्तीति तदा प्रयोगः स्यात् त्वन्मते तत्त्वमसीति न स्यात्।
तदैक्षतेत्यत्र जडत्वशङ्काव्यावर्तनाच्चात्र पुनर्न चोद्यम् ॥ ९१ ॥

शङ्कर—वाह, आपने तो खूब अच्छी कही। तब तो तत् (जगत् का कारण ईश्वर), त्वं (जीव), अस्ति (है) ऐसा प्रयोग करना उचित होगा। 'तत् त्वं असि' में 'असि' का प्रयोग आपके मत से ठीक नहीं है। यदि मूल कारण के जड़ न होने की बात इससे सिद्ध होती है तो इसका निराकरण 'तदैक्षत' (उसने देखा) इस वाक्य के द्वारा उपनिषद् ने बहुत ही पहिले कर दिया है। इसके फिर कहने की क्या आवश्यकता है ? ॥ ९१ ॥

टिप्पणी—यह विचारणीय प्रश्न है कि जगत् का मूल तत्त्व जड़ है या चेतन। सांख्य कहता है कि वह जड़ है और वह उसे 'प्रकृति' के नाम से पुकारता है। परन्तु वेदान्त का कहना है कि वह तत्त्व चेतन है, क्योंकि उपनिषद् का कहना है कि उसने देखा कि मैं बहुत रूप से उत्पन्न होता—तदैक्षत, बहु स्यां प्रजायेय (छान्दोग्य ६।२।३)। ईक्षण व्यापार (देखना) चेतन कर सकता है, अचेतन नहीं। अतः उपनिषद् के वाक्यों से मूल तत्त्व का चेतन होना सिद्ध है। इसके विस्तृत वर्णन के लिये देखिये—शाङ्कर भाष्य ब्रह्मसूत्र १।१।५–११

प्रथम पूर्वपक्ष—अभेद का प्रत्यक्ष से विरोध

नन्वैवमप्यैक्यपरत्वमस्य प्रत्यक्षपूर्वप्रमितिप्रकोपात्।
न युज्यते, तज्जपमात्रयोगिस्वाध्यायविध्याश्रितमभ्युपेयम् ॥९२॥

[यहाँ से 'तत्त्वमसि' के द्वारा प्रतिपादित जीव-ब्रह्म की एकता के विषय में बड़ा ही सूक्ष्म विचार प्रारम्भ होता है। मण्डन मिश्र की युक्तियाँ तथा आचार्य के खण्डन उच्च कोटि के हैं। मण्डन मिश्र का कथन है कि जीव-ब्रह्म की अभिन्नता कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि यह अभिन्नता तीन प्रमाणों से बाधित है—(१) प्रत्यक्ष से, (२) अनुमान से तथा (३) श्रुति से। इस प्रकार यहाँ तीन पूर्वपक्ष उत्थापित किये गये हैं। पहला पूर्वपक्ष यही है कि प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा 'अभेद' कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता।]

मण्डन—इस वाक्य से आत्मा और परमात्मा की एकता कैसे मानी जा सकती है ? न तो कहीं इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान है और न अनुमान से ही यह सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति का यह अनुभव है कि मैं ईश्वर नहीं हूँ। अतः प्रत्यक्ष इस अभेदवाद का विरोधी है। अनुमान प्रत्यक्ष के ऊपर आश्रित रहता है। जब प्रत्यक्ष ही उसका बाधक है, तब अनुमान अगत्या उसका बाधक होगा अतः 'स्वाध्याय का अध्ययन करना चाहिए' (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) इसी विधिवाक्य के ऊपर यह वाक्य अवलम्बित है। इसकी उपयोगिता केवल अध्ययन में है, अर्थ में नहीं ॥ ९२ ॥

अक्षेण चेद्भेदमितिस्तदा स्यादभेदवादिश्रुतिवाक्यबाधः ।
असंनिकर्षान्न भवेद्धि भेदप्रमैव तेनास्य कुतो विरोधः ॥ ९३ ॥

शङ्कर—यदि इन्द्रिय के द्वारा जीव और परमात्मा में भेद का ज्ञान होता हो तो अभेदवादी श्रुति-वाक्यों का विरोध निश्चित रूप से होगा। परन्तु इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष न होने से भेद की प्रतीति कैसे होगी ? तथा विरोध का प्रसङ्ग कहाँ ? ॥ ९३ ॥

भिन्नोऽहमीशादिति भासते हि भेदस्य जीवात्मविशेषणत्वम् ।
तत्संनिकर्षोऽस्त्वथ संप्रयोगाभावेऽपि भेदेन्द्रिययोर्मनीषिन् ॥९४॥

[ईश्वर को हम अपनी इन्द्रियों से नहीं जानते। अतः इन्द्रियों का ईश्वर के साथ संयोग सन्निकर्ष न होने के कारण भेद का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है; यह आचार्य का कथन है। इस पर मण्डन मिश्र विशेषण-विशेष-भाव-सन्निकर्ष मानकर इसका उत्तर दे रहे हैं—]

मण्डन—"मैं ईश्वर से भिन्न हूँ (अहमीश्वरात् भिन्नः)" इस ज्ञान में भेद जीवात्मा का विशेषण है। हे विद्वन् ! ऐसी अवस्था में भेद और इन्द्रिय के साथ संयोगादि सन्निकर्ष भले न हों पर विशेषण-विशेष्य-भाव-सन्निकर्ष हो सकता है। तब आपको क्या आपत्ति है ? ॥९४॥

टिप्पणी—सन्निकर्ष—विषय और इन्द्रिय के सम्बन्ध को सन्निकर्ष कहते हैं। बिना सन्निकर्ष के प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। ये छः प्रकार के होते हैं—(१) संयोग, (२) संयुक्तसमवाय, (३) संयुक्त समवेत समवाय, (४) समवाय, (५) समवेत समवाय और (६) विशेषण-विशेष्यभाव।

अतिप्रसक्तेर्न तु केवलस्य विशेषणत्वस्य तदभ्युपेयम्।
भेदाश्रये हीन्द्रियसंनिकृष्टे न सन्निकृष्टत्वमिहाऽऽत्मनोऽस्ति ॥९५॥

आचार्य—केवल विशेषणता सन्निकर्ष से किसी भी अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। क्यों? अति प्रसङ्ग होने से। यदि यह मान लिया जाय, तो दीवाल आदि के द्वारा व्यवहित (रोके गये) भूतल पर घट के न रहने पर उसके अभाव का प्रत्यक्ष होने लगेगा, क्योंकि 'भित्त्यादिव्यवहितभूतलादिनिष्ठघटादेः अभावः' यहाँ पर केवल विशेषणता अवश्य विद्यमान है। अतः अभाव के प्रत्यक्ष के विषय में यह नियम है कि भेद का आश्रयभूत पदार्थ यदि इन्द्रिय-सन्निकृष्ट हो तब विशेषण-विशेष्य-भाव सन्निकर्ष माना जाता है। परन्तु इस प्रत्यक्ष में आत्मा इन्द्रिय के साथ सन्निकृष्ट नहीं है। ऐसी अवस्था में 'विशेषणता' सन्निकर्ष कैसे माना जायगा? ॥ ९५ ॥

भेदाश्रयात्मेन्द्रियसन्निकर्षो नेत्युक्तमेतच्चतुरं न यस्मात्।
चित्तात्मनोर्द्रव्यतया द्वयोरप्यस्त्येव संयोगसमाश्रयत्वम् ॥९६॥

मण्डन—आपने जो यह कहा कि भेदाश्रय (भेद के आश्रयभूत) आत्मा का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नहीं है, यह मत मुझे समीचीन नहीं प्रतीत होता; क्योंकि मन और आत्मा दोनों द्रव्य हैं और न्याय मत में द्रव्यों में संयोग-सम्बन्ध रहता ही है ॥ ९६ ॥

आत्मा विभुः स्यादथवाऽणुमात्रः संयोगिता नोभयथाऽपि युक्ता।
दृष्टा हि सा सावयवस्य लोके संयोगिता सावयवेन योगिन् ॥९७॥

आचार्य—आत्मा को आप क्या मानते हैं—विभु या अणु? आत्मा को चाहे आप विभु मानिए या अणु मानिए, किसी भी अवस्था में इन्द्रिय

के साथ उसका संयोग नहीं हो सकता। संयोग का लोक में नियम यह है कि अवयव से युक्त पदार्थ अन्य अवयवी पदार्थ से संयुक्त हो सकता है। परन्तु आत्मा तो अवयवी नहीं है क्योंकि विभु या अणुपदार्थ अवयव से हीन होता है। ऐसी अवस्था में उसका संयोग दूसरे के साथ कैसे हो सकता है ? ॥ ९७ ॥

मनोऽक्षमित्यभ्युपगम्य भेदासङ्गित्वमुक्तं परमार्थतस्तु ।
साहाय्यकृल्लोचनपूर्वकस्य दीपादिवत् नेन्द्रियमेव चित्तम् ॥९८॥

'मन इन्द्रिय है' इस सिद्धान्त को मानकर ही आपने मन को भेद के साथ संयोग बतलाया है परन्तु वस्तुतः तो मन इन्द्रिय नहीं है। जिस प्रकार दीपक देखने में नेत्रों की सहायता मात्र करता है उसी प्रकार मन भी प्रत्यक्ष ज्ञान में इन्द्रियों का सहायक मात्र है। स्वतः इन्द्रिय नहीं है ॥ ९८ ॥

टिप्पणी—मन का अनिन्द्रियत्व :—नैयायिकों के मत में मन इन्द्रिय है तथा अणु है परन्तु वेदान्त में मन न तो अणु-परिमाण माना जाता है और न वह इन्द्रिय स्वीकार किया जाता है। कठोपनिषत् (१।३।१०) का कथन है कि इन्द्रियों से श्रेष्ठ हैं अर्थ और अर्थों से श्रेष्ठ है मन। 'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।' इन्द्रियों से मन की पृथक् सत्ता का वर्णन कर उपनिषद् ने उसके इन्द्रियत्व का स्पष्ट निरास किया है। गीता के 'मनःषष्ठानीन्द्रियाणि' (१५।७) के द्वारा भी मन का इन्द्रियत्व सिद्ध नहीं हो सकता। 'यजमानपञ्चमा इडां भक्षयन्ति' इस वाक्य में यजमान ऋत्विज् न होने पर भी 'पञ्चम' (पाँचवाँ) कहा गया है, उसी प्रकार मन के इन्द्रिय न होने पर भी उसके 'षष्ठ' कहने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। द्रष्टव्य वेदान्त-परिभाषा प्रथम परिच्छेद पृष्ठ १९-२१, अद्वैतब्रह्मसिद्धि, तृतीय मुद्गरप्रहार, पृष्ठ १२४-१२७।

भेदप्रमा नेन्द्रियजाऽस्तु तर्हि साक्षिस्वरूपैव तथापि योगिन् ।
तया विरोधात् परमात्मजीवाभेदं कथं बोधयितुं प्रमाणम् ॥९९॥

मण्डन—हे योगिन्! यदि भेद का ज्ञान इन्द्रियजन्य न हो तो वह न हो। वह स्वयं साक्षी-स्वरूप है। इस प्रकार भेदज्ञान के साक्षी-स्वरूप होने से विरोध होने के कारण परमात्मा और जीव में अभेद कैसे माना जायगा ? ॥ ९९ ॥

प्रत्यक्षमात्मेश्वरयोरविद्यामायायुजोर्द्योतयति प्रभेदम् ।
श्रुतिस्तयोः केवलयोरभेदं भिन्नाश्रयत्वान्न तयोर्विरोधः ॥१००॥

शङ्कर—प्रत्यक्ष तथा श्रुति में कोई विरोध ही नहीं हो सकता। क्यों ? दोनों के आश्रय भिन्न भिन्न हैं। प्रत्यक्ष अविद्या से युक्त होनेवाले जीव में और माया से युक्त होनेवाले ईश्वर में भेद दिखलाता है। श्रुति अविद्या और माया से रहित शुद्ध चैतन्य होनेवाले आत्मा और ब्रह्म में अभेद दिखलाती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष का आश्रय है कलुषित जीव और ईश्वर। श्रुति का आश्रय है विशुद्ध आत्मा और ब्रह्म। एकाश्रय होने पर विरोध होता परन्तु भिन्नाश्रय होने से दोनों में कोई विरोध नहीं है ॥ १०० ॥

स्याद्वा विरोधस्तदपि प्रवृत्तं प्रत्यक्षमग्रेऽबलमेव बाध्यम् ।
प्राबल्यवत्या चरमप्रवृत्त्या श्रुत्या ह्यपच्छेदनयोक्तरीत्या ॥१०१॥

यदि दोनों में विरोध मान भी लिया जाय तो पहिले प्रवृत्त होनेवाला प्रत्यक्ष दुर्बल है और पीछे होनेवाली श्रुति प्रबल है। अतः 'अपच्छेद-न्याय' से श्रुति प्रत्यक्ष को बाध देगी जिससे अभेद का सिद्धान्त सत्य प्रतीत होता है ॥ १०१ ॥

टिप्पणी—अपच्छेद न्याय—यह न्याय मीमांसाशास्त्र से सम्बन्ध रखता है। ज्योतिष्टोम याग में बहिष्पवमान के लिये हविर्धान से यजमान और ऋत्विग् लोग एक क्रम से बाहर निकलते हैं जिनमें एक दूसरे को पकड़े रहता है। अध्वर्यु को प्रस्तोता पकड़े रहता है; प्रस्तोता को उद्गाता और उद्गाता को प्रतिहर्ता आदि। इसे 'अन्वारम्भण' कहते हैं। इसी क्रम से ऋत्विजों को बाहर जाने का नियम है। एक दूसरे का पकड़ना कभी टूटना न चाहिए।

यदि इस क्रम का विच्छेद हो जाय, तो इसके लिए भिन्न भिन्न प्रायश्चित्त का विधान है। यदि प्रतिहर्ता तथा उद्गाता का क्रम से विच्छेद हो जाय, तो कोई प्रायश्चित्त किया जाय ? पूर्व या पर ? यही प्रश्न है जिसकी जैमिनिसूत्र (६।३।४९-५६) में मीमांसा की गई है। सिद्धान्त है—पौर्वापर्ये पूर्वदौर्बल्यं प्रकृतिवत् (जै० सू० ६।३।५४) अर्थात् पूर्व दुर्बल पड़ता है। उत्तर को सबलता प्राप्त है। यही 'अपच्छेद न्याय' है। इसके अनुसार पूर्वप्रवृत्त प्रत्यक्ष दुर्बल है; उत्तरप्रवृत्त श्रुति प्रबल है। वेदान्त के ग्रन्थों में इस न्याय का प्रयोग अनेक स्थानों पर किया गया है। द्रष्टव्य तत्त्वदीपन (पृष्ठ १५६)

द्वितीय पूर्वपक्ष — अभेद का अनुमान से विरोध

नन्वेवमप्यस्त्यनुमानबाधोऽभेदश्रुतेः संयमिचक्रवर्तिन् ।
घटादिवद् ब्रह्मनिरूपितेन भेदेन युक्तोऽयमसर्ववित्त्वात् ॥१०२॥

मण्डन—हे यतिराज ! प्रत्यक्ष का तो आपने खण्डन कर दिया परन्तु अभेद श्रुति के साथ अनुमान बाधित हो रहा है। अनुमान बतला रहा है कि सर्वज्ञ न होने के कारण जीव उसी प्रकार ब्रह्म से भिन्न है जिस प्रकार साधारण घट। 'जीवो ब्रह्मनिरूपितभेदवान् असर्वज्ञत्वात् घटवत्' यह अनुमान का प्रकार है। यह अनुमान श्रुति को मिथ्या सिद्ध कर रहा है॥१०२॥

किमेष भेदः परमार्थभूतः प्रसाध्यते काल्पनिकोऽथवाऽऽद्ये ।
दृष्टान्तहानिश्चरमे तु सिद्धभ्रूरीकृतोऽस्माभिरसाधनीयः ॥१०३॥

आचार्य—जीव और ईश्वर में जिस भेद को आप सिद्ध कर रहे हैं क्या वह पारमार्थिक (सत्य) है या काल्पनिक ? यदि परमार्थ है तो दृष्टान्त ठीक नहीं जमता और यदि काल्पनिक है तो हम लोग उसे स्वीकार करते हैं। उसे सिद्ध करने के लिये प्रमाणों की क्या आवश्यकता है ? ॥ १०३ ॥

टिप्पणी—आचार्य के कहने का अभिप्राय यही है कि भेद दो ही प्रकार का होता है—(१) परमार्थरूप, बिल्कुल सच्चा, (२) काल्पनिकरूप—केवल कल्प-

नाजन्य, नितान्त असत्य। दोनों प्रकारों में दोष है। यदि भेद को काल्पनिक मानें, तो इस पक्ष में 'सिद्ध-साधन' दोष (सिद्ध वस्तु को प्रमाण से सिद्ध करना) आता है, क्योंकि वेदान्त स्वयं जगत् की व्यावहारिक सत्ता मानता है। यदि सच्चा भेद माना जाय तो पूर्व अनुमान में 'घटवत्' यह दृष्टान्त नहीं बनता।

स्वप्रत्ययाबाध्यभिदाश्रयत्वं साध्यं घटादौ च तदस्ति योगिन्।
त्वयाऽऽत्मबोधेन भिदा न बाध्येत्यनभ्युपेतेति न कोऽपि दोषः॥१०४॥

मण्डन—हे योगिन्, हमारे मत में दृष्टान्त ठीक बैठता है। हमारा साध्य है—स्वप्रत्ययाबाध्यभिदाश्रयत्वम् अर्थात् (स्व=आत्मा; प्रत्यय=ज्ञान) आत्मा के ज्ञान से बाधित न होनेवाले भेद का आश्रय होना। और वह घटादि में है। आशय यह है कि आत्मज्ञान होने पर भी घट इतर पदार्थों से भिन्न बना रहता है उसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। आत्मज्ञान होने पर भी 'घट ब्रह्म से भिन्न है' यह ज्ञान बना ही रहता है, किसी प्रकार बाधित नहीं होता। यह तो हमारा मीमांसक मत ठहरा। वेदान्त के मत में आत्मज्ञान से भेद अबाध्य नहीं माना जाता अर्थात् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर जगत् में उससे भिन्न कोई वस्तु रहती ही नहीं। अतः आत्मज्ञान से घटपटादि का भेद सदैव बाध्य रहता है। परन्तु मीमांसकों को इसे सिद्ध करना है। इसलिये इस अनुमान में दृष्टान्त-हानि आदि दोष नहीं हैं॥ १०४॥

ननु स्वशब्देन सुखादिमान् वा विवक्षितस्तद्विधुरोऽथवाऽऽत्मा।
आद्येऽस्मदिष्टं न तु साध्यमन्त्ये दृष्टान्तहानिः पुनरेव ते स्यात्॥१०५॥

आचार्य—'स्वप्रत्यय' शब्द में 'स्व' से आपका क्या अभिप्राय है? क्या सुखादि युक्त जीवपद-वाच्य कर्तारूप आत्मा विवक्षित है अथवा सुखादि-रहित निर्विशेष आत्मा? पहले पक्ष में साध्य हमें भी अभीष्ट है। अतः उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं; दूसरे पक्ष में दृष्टान्त-हानि उसी प्रकार बनी हुई है॥ १०५॥

टिप्पणी—(१) 'स्व' शब्द से यदि सुखादिमान् कर्ता जीव विवक्षित है, तो ऐसे शरीरी के ज्ञान से व्यावहारिक अनिर्वचनीय भेद बाध्य नहीं होता। वेदान्त का मत है कि जीव के ज्ञान होने पर भी इस संसार में वस्तुओं का जो व्यावहारिक भेद है वह वर्तमान रहता ही है। अतः १०४ पद्य में उल्लिखित साध्य वेदान्त को अङ्गीकृत है। उसे सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। (२) सुख-दुःखादिरहित आत्मा मानने में दृष्टान्त की हानि है। सुखदुःखादि से रहित आत्मा में घटादि पदार्थ अज्ञान के द्वारा विलसित होते हैं। अतः ऐसे आत्मा के बोध होने पर घटादि की पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। अर्थात् घटादिगत भेद ऐसे आत्मज्ञान से 'अबाध्य' नहीं है। वह भेद कहीं भी नहीं दीख पड़ता जो ऐसे बोध के द्वारा अबाध्य हो। अतः घटादि में व्याप्ति न होने से अनुमान 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास से दूषित हुआ।

योगिन्ननौपाधिकभेदवत्त्वं विवक्षितं साध्यमिह त्वदिष्टः।
औपाधिकस्त्वीश्वरजीवभेदो घटेशभेदो निरुपाधिकश्च ॥१०६॥

मण्डन—हे योगिवर्य, मुझे अपने अनुमान में उपाधिहीन (अर्थात् स्वाभाविक) भेदवत्त्व साध्य अभीष्ट है। आपकी सम्मति में ईश्वर और जीव का भेद औपाधिक है—अविद्या-रूपी उपाधि के कारण दोनों में भेद दीखता है जो वस्तुतः विद्यमान नहीं है। परन्तु आपके ही मत में ईश्वर और घट का भेद बिल्कुल सच्चा होने से निरुपाधिक है ॥१०६॥

टिप्पणी—'उपाधि' शब्द की व्युत्पत्ति है—उप = समीपवर्तिनि आदधाति = संक्रामयति स्वीयं धर्ममित्युपाधिः अर्थात् पास रहनेवाले पदार्थ में जो वस्तु अपने धर्म को संक्रमण कर दे (आरोपित कर दे), वह 'उपाधि' कहलाती है। जपाकुसुम के स्फटिक के पास रखने पर, स्फटिक में वह अपने रक्त वर्ण को संक्रमित कर देता है। अतः 'रक्तः स्फटिकः' इस अनुभव में स्फटिक की लालिमा में जपाकुसुम उपाधि है। वेदान्त में इसी लिये उपाधि का लक्षण है—स्वसामीप्यादिना अन्यस्मिन् स्वधर्मारोपसाधनं विशेषणविशेषः। ईश्वर तथा जीव वस्तुतः अभिन्न हैं, परन्तु उनमें जो भेद की प्रतीति हो रही

है वह अविद्या (अज्ञान) के ही कारण। अतः अविद्या उपाधि है। उपाधि-युक्त (सोपाधिक) भेद का अर्थ है काल्पनिक भेद जो किसी विशेष कारण से उत्पन्न हो। निरुपाधिक भेद का अर्थ है सच्चा भेद, स्वाभाविक भेद।

[मण्डन मिश्र के कहने का अभिप्राय यह है कि अपने अनुमान में मुझे स्वाभाविक भेद की सत्ता सिद्ध करनी है। वह स्वाभाविक भेद वेदान्त मत में भी घट में माना गया है क्योंकि घट पट यथार्थ रूप से ईश्वर से भिन्न है। ऐसी दशा में निरुपाधिक भेद घट में विद्यमान है। अतः हमारे अनुमान में घट का दृष्टान्त भली भाँति दिया जा सकता है।]

घटेशभेदेऽप्युपधिर्ह्यविद्या तवानुमानेषु जडत्वमेव।
चित्त्वादभिन्नः परवत् परस्मादात्मेति वाऽत्र प्रतिपक्षहेतुः ॥१०७॥

आचार्य—आपका यह कहना अयुक्त है कि घट और ईश्वर का भेद निरुपाधिक—उपाधिशून्य—स्वाभाविक है। यह भेद भी जीव-ईश्वर के भेद के समान ही सोपाधिक है। यहाँ उपाधि है—अविद्या। अतः दृष्टान्त-हानि ज्यों की त्यों बनी हुई है और आपके अनुमान में भी 'जडत्व' हेतु सोपाधिक है अतः दुष्ट है।

टिप्पणी—उपाधियुक्त हेतु न्यायशास्त्र में दुष्ट माना जाता है। उपाधि का लक्षण है—साध्यव्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वम् = जो साध्य में तो व्यापक हो, पर साधन में अव्यापक हो उसे 'उपाधि' कहते हैं। यहाँ घट जडत्व के कारण दृश्य होने के हेतु मिथ्या है। अतः उसका ज्ञान घट तथा उसके भेद को उत्पन्न करनेवाले अज्ञान की निवृत्ति नहीं कर सकता। इसलिये सिद्ध होता है घट में स्वज्ञानाबाध्यभेद की सत्ता जडत्वप्रयुक्त (जडत्व के कारण) है। इस प्रकार 'जडत्व' साध्यव्यापक हुआ। साधनवान् चैतन्य-स्वरूप आत्मा में 'जडत्व' का अभाव है—अतः 'जडत्व' साधनाव्यापक भी हुआ। इस प्रकार मण्डन मिश्र का हेतु 'जडत्व' उपाधि से युक्त होने पर 'सोपाधिक' है—हेतु न होकर हेत्वाभास है।

मण्डन के अनुमान में हेतु सत्प्रतिपक्ष है। मण्डन के अनुमान का प्रकार है—जीवो ब्रह्मनिरूपितभेदवान् असर्वज्ञत्वात् घटवत्, इस अनु-

मान में साध्य के अभाव को हम इस दूसरे अनुमान से सिद्ध कर सकते हैं—आत्मा परस्मात् अभिन्नः चित्त्वात् परवत् अर्थात् आत्मा चैतन्य के कारण ईश्वर से अभिन्न है। चैतन्य दोनों में है। अतः भेद न होकर दोनों में अभेद है। इस प्रकार मण्डन मिश्र के अनुमान में सत्प्रतिपक्ष हेत्वाभास है ॥ १०७ ॥

टिप्पणी—'सत्प्रतिपक्ष' का लक्षण—साध्याभावसाधकं हेत्वन्तरं यस्य सः अर्थात् साध्य (जिसे सिद्ध करना है) के अभाव का साधक दूसरा हेतु जिसमें विद्यमान है उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं।

[इस खण्डन को सुनकर मण्डन मिश्र ने अपना पुराना अनुमान बदल दिया। उसके स्थान पर उन्होंने नये अनुमान का प्रकार खड़ा किया जिसका वर्णन इस श्लोक में है—]

धर्मिप्रमाबाध्यशरीरिभेदो ह्यसंसृतौ ब्रह्मणि साध्यमिष्टम् ।
त्वयेष्यते ब्रह्मधियाऽऽत्मभेदो बाध्यो घटादिप्रमया त्वबाध्यः॥१०८

मण्डन—मेरा नया अनुमान इस प्रकार है—"ब्रह्मजीवप्रतियोगिक-धर्मिप्रमाऽबाध्यभेदवत् संसृतिशून्यत्वात् घटवत्"। ब्रह्म में संसृति नहीं है। अतः वह जीव से उसी प्रकार भिन्न है जिस प्रकार घट। ब्रह्म इस प्रकार जीव के भेद से युक्त है—वह भेद, जो किसी धर्मी—धर्म-युक्त पदार्थ—के ज्ञान से बाध्य नहीं है। वेदान्तमत में ब्रह्मज्ञान से आत्मभेद बाध्य होता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने पर एकाकार प्रतीति होने से आत्मा की भिन्नता नहीं मानी जा सकती। इस वेदान्तसिद्धान्त से विपरीत द्वैतमत में साध्य होने से 'सिद्ध साधन' दोष नहीं आ सकता। दृष्टान्त की हानि भी नहीं है क्योंकि धर्मी-रूप घट के ज्ञान से आत्मभेद अबाध्य रहता है। आशय यह है कि वेदान्त के मत में भी घट का ज्ञान हो जाय, तो उससे आत्मा की भिन्नता बनी ही रहती है, बाध्य नहीं होती। इस प्रकार 'घटवत्' दृष्टान्त के युक्तियुक्त होने से पूर्वोक्त अनुमान सच्चा है ॥ १०८ ॥

किं कृत्स्नधर्मिप्रमया न बाध्यः किंवा स यत्किंचनधर्मिबोधात् ।
घटादिके ब्रह्मणि चाऽऽत्मभेदस्यैक्यात्पुनः स्यान्ननु पूर्वदोषः॥१०९।

आचार्य—आपके अनुमान में भेद 'धर्मिप्रमाऽवाध्य' (धर्मी के ज्ञान से अवाध्य) माना गया है। अव प्रश्न है कि यह भेद (१) समस्त धर्मी के ज्ञान से अवाध्य है या (२) कतिपय धर्मी के ज्ञान से अवाध्य है। (१) यदि पहला विकल्प माना जाय, तो समस्तधर्मी के भीतर ब्रह्म भी आता है और उस ब्रह्म के ज्ञान से घटगत भेद अवाध्य रहता है अर्थात् ब्रह्मज्ञान होने पर घट की पृथक् सत्ता का बोध नहीं होता। अतः दृष्टान्त नहीं बनता। (२) दूसरे पक्ष के मानने पर सिद्धसाधन (सिद्ध को फिर से व्यर्थ सिद्ध करना) दोष गले पड़ता है। जो लोग भेद को स्वरूप से अतिरिक्त मानते हैं, उनके मत में घटादि में तथा ब्रह्म में आत्मभेद एक ही है। अतः धर्मी-रूप घट के ज्ञान के द्वारा अवाध्य जीव-भेद ब्रह्म में रहता है। यह पक्ष वेदान्त को भी मान्य है। सिद्ध करने की आवश्यकता न होने से 'सिद्धसाधन' दोष बना ही रहता है॥ १०९ ॥

किंचागुणो वा सगुणो मनीषिन् विवक्ष्यते धर्मिपदेन नान्त्यः ।
भेदस्य तद्बुद्ध्यविबाध्यतेष्टेर्नाऽऽद्यश्च तत्रोभयथाऽपि दोषात् ११०

हे मनीषिन्! धर्मी पद से आपका अभिप्राय क्या है? (१) सत्य, ज्ञानरूप निर्गुण पदार्थ (वेदान्त-सम्मत ब्रह्म) से अथवा (२) ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि पदों से वाच्य सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त सगुण से? दूसरे पक्ष में सिद्धसाधन दोष है। सगुण देवता के ज्ञान से भेद बाधित नहीं होता। यदि सगुण ब्रह्मादि देवों का ज्ञान हो भी जाय, तो इससे क्या होता है? आत्मा के भेद का ज्ञान कभी निवृत्त नहीं होता, ज्यों का त्यों बना रहता है। अतः वेदान्त-मत में भी सगुण के ज्ञान से भेद-बुद्धि बाध्य नहीं होती, यही मान्य है। इसे सिद्ध करने की आवश्यकता ही क्या है? पहला पक्ष मानें तो भी दोष है॥११०॥

किं निर्विशेषं प्रमितं न वान्त्ये प्राप्ताऽऽश्रयासिद्धिरथाऽऽद्यकल्पे।
शरीर्यभेदेन परस्य सिद्धेः प्राप्नोति धर्मिग्रहमानकोपः॥ १११ ॥

निर्गुण ब्रह्म प्रमित (प्रमा का विषय) है अथवा अप्रमित ? अन्तिम पक्ष मानने में 'आश्रयासिद्धि' दोष आता है। पहले पक्ष में ब्रह्म की सिद्धि शरीरी जीव के साथ अभिन्न मानी गई है अतः धर्मी ग्राहक वेदान्त का सङ्कोच उत्पन्न हो जायगा॥ १११ ॥

टिप्पणी—'आश्रयासिद्ध' हेत्वाभास में पक्ष बिल्कुल असिद्ध रहता है जैसे गगनारविन्दं सुरभि अरविन्दत्वात् सरोजारविन्दवत्। आकाश का कमल असिद्ध पदार्थ है। इसी प्रकार ब्रह्म को अप्रमित (प्रमा का अविषय) मानेंगे, तो वह आकाश-फूल के समान असिद्ध हो जायगा। जिस वस्तु की प्रमा नहीं होती वह असिद्ध है—असत्य है। पहला पक्ष मानें अर्थात् ब्रह्म को प्रमित मानें, तो ब्रह्म को बतलानेवाले वेदान्त-प्रमाण का सङ्कोच होने लगेगा। वेदान्त में ब्रह्मपद का लक्ष्य अर्थ त्रिविध-भेद-शून्य सच्चिदानन्द ब्रह्म है। उसका ज्ञान-स्वरूप जीव के साथ अभेद है जिसका प्रतिपादन 'तत्त्वमसि' आदि वाक्य किया करते हैं। ऐसे ब्रह्म को 'पक्ष' मानने पर उक्त वेदान्त-वाक्यों का उपयोग ही क्या रहा ? ये वाक्य भेद के भञ्जक हैं और यह अनुमान भेद का साधक है। ऐसी दशा में इन उपनिषद्-वाक्यों की व्यर्थता सिद्ध होने लगेगी। श्रुति-विरुद्ध अनुमान के नितरां गर्हणीय होने से मण्डन मिश्र का यह पक्ष भी नितान्त दुर्बल है और त्याज्य है।

तृतीय पूर्वपक्ष

(अभेद-श्रुति का भेद-श्रुति से विरोध)

भो द्वा सुपर्णा सयुजा सखायेत्याद्या श्रुतिर्भेदमुदीरयन्ती।
जीवेशयोः पिप्पलभोक्त्रभोक्त्रोस्तयोरभेदश्रुतिबाधिकाऽस्तु॥ ११२॥

[अब तक प्रत्यक्ष तथा अनुमान से अभेद-बोधक श्रुति के विरोध का परिहार किया गया है परन्तु मण्डन मिश्र यह दिखलाने का उद्योग कर रहे

हैं कि उपनिषद् में भी ऐसे बहुत-से मन्त्र हैं जिनमें द्वैतवाद का स्पष्टतः वर्णन किया गया है। उन मन्त्रों में तत्त्वमसि वाक्य का विरोध बिल्कुल स्पष्ट है।]

मण्डन—हे यतिराज! "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" यह श्रुति जीव और ईश्वर में भेद प्रकट करती है। जीव कर्मफल का भोक्ता है परन्तु ईश्वर कर्मफल से तनिक भी सम्बन्ध नहीं रखता। यह द्वैत-वादिनी श्रुति अभेद श्रुति की बाधिका है॥ ११२॥

टिप्पणी—इस श्लोक में निर्दिष्ट पूरा मन्त्र यह है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्यो अभिचाकशीति॥

—ऋग्वेद १।१६४।२०; अथर्व ९।९।२०

प्रत्यक्षसिद्धे विफले परात्मभेदे श्रुतिर्नो नयचित्प्रमाणम्।
स्यादन्यथा मानमतत्परोऽपि स्वार्थेऽर्थवादः सकलोऽपि विद्वन्॥११३॥

आचार्य—जीव और आत्मा का भेद नितान्त फल-शून्य है। इस ज्ञान से न तो स्वर्ग की ही प्राप्ति हो सकती है और न अपवर्ग की। इसलिये इसको हम प्रमाण नहीं मानते। इसके विपरीत अभेद श्रुति नितान्त स्पष्ट है—मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति। यही श्रुति हमारे लिये प्रमाण है। यदि ऐसा न होगा तो स्वार्थ में तात्पर्य न रखनेवाले जितने अर्थवाद होंगे वे सब प्रमाण माने जायँगे॥ ११३॥

स्मृतिप्रसिद्धार्थविबोधि वाक्यं यथेष्यते मूलतया प्रमाणम्।
प्रत्यक्षसिद्धार्थकवाक्यमेवं स्यादेव तन्मूलतया प्रमाणम्॥ ११४॥

मण्डन—स्मृति-वाक्यों की प्रामाणिकता श्रुतिवाक्यों के ऊपर निर्भर है। श्रुति ही मूल है, उस पर अवलम्बित सब स्मृति-वाक्य प्रमाण माने जायँगे। उसी प्रकार प्रत्यक्ष सिद्ध अर्थ को कहनेवाले वाक्य प्रत्यक्षमूलक होने के कारण प्रमाण माने जायँगे। अतः 'द्वासुपर्णा' इस वाक्य की ही प्रामाणिकता है क्योंकि यह प्रत्यक्षमूलक है॥ ११४॥

श्रुतिः स्मृतेऽर्थे यदि वेदविद्भिर्भवेन्न तन्मूलतया प्रमाणम् ।
कथं भवेद्भेदकथानभिज्ञैर्ज्ञातेऽपि भेदे परजीवयोः सा ॥ ११५ ॥

शङ्कर—यदि वेदज्ञों के द्वारा 'स्मृत' अर्थ में श्रुति प्रमाण न मानी जायगी तो वेद के अर्थ (कर्म तथा ब्रह्म) को न जाननेवाले लोगों के द्वारा 'ज्ञात' भी भेद में वह प्रमाण कैसे हो सकती है ? अर्थात् जीव और ईश्वर का भेद वेद से अनभिज्ञ पामर जन बतलाते हैं। श्रुति-विरुद्ध होने से ऐसे ज्ञान का कुछ मूल्य नहीं है ॥ ११५ ॥

जीवेश्वरौ सा वदतीत्युपेत्य प्रावोचमेतत् परमार्थतस्तु ।
विविच्य सत्त्वात् पुरुषं समस्तसंसारराहित्यममुष्य वक्ति ॥११६॥

यह हमारा कहना तब है जब पूर्व श्रुति को जीव और ईश्वर की प्रतिपादिका मानें, परन्तु वास्तव में वह श्रुति यह प्रतिपादित करती है कि कर्मफल का भोक्ता बुद्धि है, पुरुष उससे नितान्त भिन्न है। अतएव सुख-दुःख के भोगने का फलाफल उसे कथमपि प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार 'द्वा सुपर्णा' यह मन्त्र बुद्धि और जीव के भेद का प्रतिपादक है। आत्मा और ईश्वर के भेद का प्रतिपादक नहीं है ॥ ११६ ॥

यदीयमाख्यात्यथ सत्त्वजीवौ विहाय सर्वज्ञशरीरभाजौ ।
जडस्य भोक्तृत्वमुदाहरन्ती प्रामाण्यमर्हन् कथमश्नुवीत ॥ ११७ ॥

मण्डन—यदि यह श्रुति ईश्वर और जीव को छोड़कर जीव और बुद्धि का प्रतिपादन करती तो इससे जड़ को भी भोक्ता होने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है क्योंकि बुद्धि जड़ होती है। परन्तु भोक्ता चेतन हो सकता है, जड़ नहीं। ऐसी दशा में जड़ पदार्थ को भोक्ता बतलानेवाले पूर्वमन्त्र को हम कैसे प्रमाण मान सकते हैं ? ॥ ११७ ॥

न चोदनीया वयमत्र विद्वन् यतस्त्वया पैङ्ग्यरहस्यमेव ।
अत्तीति सत्त्वं त्वभिपश्यति ज्ञ इति स्म सम्यग् विवृणोति मन्त्रम् ११८

शङ्कर—हे पण्डितराज ! यह आपका आक्षेप युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि 'पैङ्ग्य रहस्य' नामक ब्राह्मण ने इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए

यही लिखा है कि 'बुद्धि' (सत्त्व) कर्मफल को भोगती है और 'जीव' केवल साक्षीमात्र रहता है। यह अर्थ हमारे वेदान्त पक्ष को पुष्ट कर रहा है। अतः हमारा ही अर्थ श्रुति-प्रतिपादित तथा समीचीन है॥ ११८॥

टिप्पणी—जिस ब्राह्मण-वाक्य का श्लोक में निर्देश है वह यह है—"तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति इति सत्त्वं, अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति इति अनश्नन् अन्यः अभिपश्यति ज्ञस्तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ इति"।

शारीरवाची ननु सत्त्वशब्दः क्षेत्रज्ञशब्दः परमात्मवाची।
तत्राप्यतो नान्यपरत्वमस्य वाक्यस्य पैङ्ग्योदितवर्त्मनाऽपि॥११९॥

मण्डन—उक्त ब्राह्मणवाक्य में 'सत्त्व' शब्द जीव का वाचक है तथा 'क्षेत्रज्ञ' शब्द परमात्मा का वाचक है। अतः ब्राह्मण-ग्रन्थ में दिये गये अर्थ के अनुसार भी उक्त मन्त्र जीव और ईश्वर के ही भेद का प्रतिपादक है॥ ११९॥

तदेतदित्यादिगिरा हि चित्ते प्रदर्शिता सत्त्वपदस्य वृत्तिः।
क्षेत्रज्ञशब्दस्य च वृत्तिरुक्ता शारीरके द्रष्टरि तत्र विद्वन्॥१२०॥

[मण्डन का कथन ठीक नहीं है। क्योंकि वहीं पर दिये गये स्पष्टीकरण से यह विरुद्ध पड़ता है। पैङ्ग्य रहस्य का कहना है कि 'तदेतत्सत्त्वं येन स्वप्नं पश्यति अथ योऽयं शारीर उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञः तावेतौ सत्त्वक्षेत्रज्ञौ। इसका अर्थ है कि 'सत्त्व' वह है जिसके द्वारा स्वप्न देखा जाता है और 'क्षेत्रज्ञ' वह है जो शरीर में रहते हुए साक्षी हो। इसी वाक्य को लेकर शङ्कराचार्य मण्डन के पूर्वपक्ष का खण्डन कर रहे हैं।]

शङ्कर—'तदेतत्' इस वाक्य के द्वारा 'सत्त्व' शब्द का अर्थ चित्त मालूम पड़ता है और 'क्षेत्रज्ञ' शब्द द्रष्टा जीव के अर्थ में है। अतः आप के द्वारा किया गया अर्थ नितान्त श्रुति-विरुद्ध होने से हेय है॥ १२०॥

येनेति हि स्वप्नदृशिक्रियायाः कर्तोच्यते तत्र स जीव एव।
क्षेत्रज्ञशब्दाभिहितश्च योगिन् स्यात् स्वप्नदृक्सर्वविदीश्वरोऽपि१२१

[पूर्व ब्राह्मण-वाक्य का अर्थ इन श्लोकों में चल रहा है]

मण्डन—उक्त वाक्य में 'सत्त्व' शब्द का अर्थ स्वप्न और दर्शन क्रिया का करनेवाला जीव है। इसी प्रकार क्षेत्रज्ञ शब्द का अर्थ है स्वप्न का द्रष्टा सर्वज्ञ, ईश्वर। अतः मेरा अर्थ अयुक्त नहीं माना जा सकता ॥ १२१ ॥

तिङ्प्रत्ययेनाभिहितोऽत्र कर्ता ततस्तृतीया करणेऽभ्युपेया ।
द्रष्टा च शारीरतया मनीषिन् विशेष्यते तेन स नेश्वरः स्यात् १२२

शङ्कर—'येन स्वप्नं पश्यति' इस वाक्य की क्रिया है पश्यति। यह कर्तृवाच्य में है। 'येन' पद में तृतीया करण अर्थ को सूचित करती है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि 'सत्त्व' दर्शन का कर्त्ता नहीं है, बल्कि करण है। अर्थात् इसका अर्थ जीव नहीं है बुद्धि है। उक्त वाक्य में द्रष्टा का विशेषण है शारीरः—शरीर में रहनेवाला। अतः क्षेत्रज्ञ ईश्वर का वाचक कभी नहीं हो सकता, बल्कि वह शरीर में रहनेवाले जीव का ही बोधक है ॥ १२२ ॥

वृत्तिः शरीरे भवतीत्यमुष्मिन्नर्थे हि शारीरपदस्य योगिन् ।
तस्मिन् भवन् सर्वगतो महेशः कथं न शारीरपदाभिधेयः ॥१२३॥

मण्डन—हे मनीषी ! 'शारीर' पद का अर्थ सर्वव्यापक महेश्वर क्यों नहीं हो सकता ? शारीर पद का तो यही अर्थ है—शरीर में वृत्ति रखनेवाला और ईश्वर शरीर में रहता ही है। ऐसी दशा में 'शारीर' पद से ईश्वर के बोध होने में कोई आपत्ति नहीं है ॥ १२३ ॥

भवञ्शरीरादितरत्र चेशः कथं न शारीरपदाभिधेयः ।
नभः शरीरेऽपि भवत्यथापि न केऽपि शारीरमितीरयन्ति ॥१२४॥

शङ्कर—यह आपका अर्थ ठीक नहीं है। सर्वव्यापी होने से ईश्वर शरीर के बाहर भी तो रहता है। ऐसी दशा में उसे 'शारीर' कैसे कहा जा सकता है ? आकाश भी सर्वव्यापक है, शरीर में भी

उसकी सत्ता है। तो क्या इसी लिये आकाश का बोध 'शारीर' पद से कभी होता है ? ॥ १२४ ॥

यद्येष मन्त्रोऽनभिधाय जीवप्राज्ञौ वदेद्‌ बुद्धिशरीरभाजौ ।
अत्तीति भोक्तृत्वमचेतनाया बुद्धेर्वदेत्तर्हि कथं प्रमाणम् ॥१२५॥

मण्डन—मान लीजिए आपका कहना सत्य ही हो। यह मन्त्र बुद्धि और जीव के विषय में ही कहता हो, तब भी आपका पक्ष उचित नहीं है क्योंकि अचेतन बुद्धि क्या कभी फल की भोगनेवाली हो सकती है ? इस बात को प्रमाण कैसे माना जाय ? भोक्ता तो चेतन पदार्थ होता है, अचेतन पदार्थ कभी नहीं होता ॥ १२५ ॥

अदाहकस्याप्ययसः कृशानोराश्लेषणाद्‌ दाहकता यथाऽऽस्ते ।
तथैव भोक्तृत्वमचेतनाया बुद्धेरपि स्याच्चिदनुप्रवेशात् ॥ १२६ ॥

आचार्य—लोहा कभी जलाता नहीं परन्तु आग के संसर्ग से उसमें दाहिका शक्ति उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार अचेतन बुद्धि कभी भोक्ता नहीं होती परन्तु चेतन आत्मा के इसमें प्रवेश करने से वह चेतन के समान होकर फल भोगनेवाली हो जाती है ॥ १२६ ॥

छायातपौ यद्वदतीव भिन्नौ जीवेश्वरौ तद्वदिति ब्रुवाणा ।
ऋतं पिबन्ताविति काठकेषु श्रुतिस्त्वभेदश्रुतिबाधिकास्तु ॥१२७॥

['द्वा सुपर्णा' इस मन्त्र पर अब तक शास्त्रार्थ होता रहा। मण्डन मिश्र की सब शङ्काओं का आचार्य ने उत्तर दे दिया तब वे दूसरे भेद-प्रतिपादक मन्त्र को लेकर अपने पक्ष का समर्थन कर रहे हैं।]

मण्डन—काठक श्रुति कहती है कि कर्मफल को भोगनेवाले जीव और ईश्वर छाया और आतप (धूप) के समान एक दूसरे से भिन्न हैं। यह श्रुति स्पष्टतः भेद-बोधिका है। यह तो अभेद श्रुति की बाधिका बने ॥ १२७ ॥

टिप्पणी—पद्य में निर्दिष्ट कठोपनिषत् (१।३।१) का पूरा मन्त्र यह है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥

इसका अर्थ है--ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं कि शरीर में बुद्धिरूपी गुहा के भीतर प्रकृष्ट ब्रह्मस्थान में प्रविष्ट हुए, कर्मफल को भोगनेवाले छाया और घाम के समान परस्पर विलक्षण दो तत्त्व हैं। जिन्होंने तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन किया है वे पञ्चाग्नि के उपासक लोग भी यही बात कहते हैं। ऋत = अवश्यभावी कर्मफल।

भेदं वदन्ती व्यवहारसिद्धं न बाधतेऽभेदपरश्रुतिं सा।
एषा त्वपूर्वार्थतया बलिष्ठा भेदश्रुतेः प्रत्युत बाधिका स्यात् ॥१२८॥

आचार्य—यह भी श्रुति अद्वैतसिद्धान्त में बाधा नहीं पहुँचा सकती। क्योंकि यह व्यवहारसिद्ध भेद का प्रतिपादन करती है। सच तो यह है कि अभेद श्रुति अपूर्व अर्थ को प्रकट करती है इसलिये वह अधिक बलवान् है, प्रत्युत वही भेदश्रुति की बाधिका है। भेद जगत् में सर्वत्र दीख पड़ता है। अतः उसे ही प्रकट करने के लिये श्रुति प्रयास नहीं कर सकती। श्रुति सदा अपूर्व वस्तु के वर्णन में निरत रहती है। अपूर्व बात है अभेद-प्रतिपादन अतः अभेदश्रुति भेदश्रुति को बाधेगी ॥ १२८ ॥

मानान्तरोपोद्बलिता हि भेदश्रुतिर्बलिष्ठा यमिनां वरेण्य।
तद्बाधितुं सा प्रभवत्यभेदश्रुतिं प्रमाणान्तरबाधितार्थाम् ॥१२९॥

मण्डन—हे संन्यासियों में श्रेष्ठ! मेरी बुद्धि में तो भेदश्रुति ही दोनों में बलवान् है। क्योंकि यह अन्य प्रमाणों के द्वारा पुष्ट की जाती है। इसके विपरीत अभेदश्रुति अन्य प्रमाणों के द्वारा बाधित की जाती है। ऐसी अवस्था में इसको हम बलवान् कैसे मानें? ॥ १२९ ॥

प्राबल्यमापादयति श्रुतीनां मानान्तरं नैव बुधाग्रयायिन्।
गतार्थतादानमुखेन तासां दौर्बल्यसंपादकमेव किंतु ॥ १३० ॥

शङ्कर—श्रुतियों की प्रबलता के विचार करने के समय यही सिद्धान्त है कि दूसरे प्रमाणों के द्वारा पुष्ट होने पर कोई श्रुति प्रबल नहीं हो सकती

बल्कि उन प्रमाणों के द्वारा गतार्थ हो जाने के कारण वह श्रुति नितान्त दुर्बल हो जायगी। हे पण्डित-शिरोमणि! इस प्रकार भेदश्रुति अभेद-श्रुति की अपेक्षा कथमपि प्रबल नहीं हो सकती ॥ १३० ॥

इत्याद्या दृढयुक्तिरस्य शुशुभे दत्तानुमोदा गिरां
देव्या तादृशविश्वरूपरभसावष्टम्भमुष्टिंधया ।
भर्तृन्यासविलक्ष्यसूक्तिजननीसाक्षित्वकुक्षिंभरिः
स श्लाघाद्भुतपुष्पवृष्टिलहरीसौगन्ध्यपाणिंधया ॥ १३१ ॥

[इस समाधान के बाद मण्डन मिश्र निरुत्तर होकर चुप हो गये तथा आचार्य ने अपना पक्ष युक्ति और तर्क की सहायता से सप्रमाण सिद्ध कर दिया। इस प्रकार शङ्कर ने मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया।]

इस प्रकार आचार्य की इन दृढ़ युक्तियों का सरस्वती ने स्वयं अनुमोदन किया। इसने मण्डन मिश्र के हर्ष को खेद में परिणत कर दिया। पति के भावी संन्यास ग्रहण करने के कारण खिन्न होकर सरस्वती ने अपने साक्षी होने का प्रमाण भी दे दिया और प्रसन्न होकर देवताओं ने सुगन्धित पुष्पों की वृष्टि की ॥ १३१ ॥

इत्थं यतिक्षितिपतेरनुमोद्य युक्तिं
मालां च मण्डनगले मलिनामवेक्ष्य ।
भिक्षार्थमुच्चलतमद्य युवामितीमा-
वाचष्ट तं पुनरुवाच यतीन्द्रमम्बा ॥ १३२ ॥

इस प्रकार यतिराज की युक्तियों का अनुमोदन कर और मण्डन के गले की माला को मलिन देखकर 'उभयभारती' ने कहा कि आप दोनों आदमी भिक्षा के लिये चलिए और शङ्कर से वह विशेष रूप से फिर बोली—॥ १३२ ॥

कोपातिरेकवशतः शपता पुरा मां
दुर्वाससा तदवधिर्विहितो जयस्ते ।

साऽहं यथागतमुपैमि शमिप्रवीरे-
त्युक्त्वा ससंभ्रममम़ुं निजधाम यान्तीम् ॥ १३३ ॥

प्राचीन काल में क्रुद्ध होकर दुर्वासा ने मुझे शाप दिया था। उस शाप की अवधि आपका यह विजय है। अब मेरा शाप समाप्त हो गया। हे यतिवर! अब मैं अपने स्थान को जा रही हूँ ॥ १३३ ॥

ववन्ध निःशङ्कमरण्यदुर्गा-
मन्त्रेण तां जेतुमना मुनीन्द्रः ।
जयोऽपि तस्याः स्वमतैक्यसिद्ध्यै
सार्वज्ञतः स्वस्य न मानहेतोः ॥ १३४ ॥

इतना कहकर जब सरस्वती अपने धाम को जल्दी जाने लगी तब यतिराज ने 'वनदुर्गा' मन्त्र के द्वारा उन्हें बाँध रक्खा; क्योंकि वे उनके ऊपर भी विजय पाने के अभिलाषी थे। शङ्कर का सरस्वती के ऊपर यह विजय पाना अपनी सर्वज्ञता दिखलाकर प्रतिष्ठा पाने की इच्छा से नहीं था, प्रत्युत अपने अद्वैत मत की सिद्धि करने के अभिप्राय से था ॥ १३४ ॥

टिप्पणी—वनदुर्गा नामक कोई विशिष्ट देवी हैं। इनकी उपासना के सम्बन्ध में एक उपनिषद् भी मिलता है जिसको वनदुर्गोपनिषद् कहते हैं। यह अड्यार लाइब्रेरी मद्रास से प्रकाशित उपनिषद्-संग्रह में छप चुका है। इसमें कुछ विलक्षण शब्द उपलब्ध होते हैं जो आपाततः देखने पर अरबी-फारसी के शब्दों की तरह मालूम पड़ते हैं। परन्तु वस्तुतः ये संस्कृत शब्द ही हैं।

जानामि देवीं भवतीं विधातु-
र्देवस्य भार्यां पुरभित्सगर्भ्याम् ।
उपात्तलक्ष्म्यादिविचित्ररूपां
गुप्त्यै प्रपञ्चस्य कृतावताराम् ॥ १३५ ॥

आचार्य सरस्वती से बोले—"आपको मैं भली भाँति जानता हूँ। आप शिव की सहोदरा बहिन हैं तथा ब्रह्मा की धर्मपत्नी हैं। इस संसार की रक्षा करने के लिये आपने अवतार ग्रहण किया है और लक्ष्मी आदि विचित्र रूपों को धारण किया है ॥ १३५ ॥

व्रज जननि तदा त्वं भक्तचूडामणिस्ते
निजपदमनुदास्याम्यभ्यनुज्ञां यदैतुम् ।
इति निजवचनेऽस्मिन् शारदासंमतेऽसौ
मुनिरथ मुदितोऽभून् माण्डनं हृद्‌ बुभुत्सुः ॥१३६॥

हे माता ! आप तब जाना, जब यह आपका भक्तचूड़ामणि दास, अपने लोक के जाने के लिये आपको आज्ञा देगा।" मुनि के इस वचन को सुनकर जब सरस्वती ने अपनी सम्मति दे दी तब वे आनन्द से गद्‌गद हो गये और मण्डन मिश्र के हृद्‌गत भावों को जानने के लिये उत्सुक हुए ॥ १३६ ॥

इति श्रीमाधवीये तन्मण्डनार्यकथापरः ।
संक्षेपशंकरजये सर्गोऽसावष्टमोऽभवत् ॥ ८ ॥

माधवीय संक्षिप्तशङ्करविजय में मण्डन मिश्र तथा शङ्कर के शास्त्रार्थ का वर्णन करनेवाला अष्टम सर्ग समाप्त हुआ।

नवम सर्ग

शङ्कर और भारती का शास्त्रार्थ

अथ संयमिक्षितिपतेर्वचनैर्निगमार्थनिर्णयकरैः सनयैः ।
शमिताग्रहोऽपि पुनरप्यवदत् कृतसंशयः सपदि कर्मजडः ॥ १ ॥

इसके बाद यतिश्रेष्ठ शङ्कर के वेदार्थ को निर्णय करनेवाले, न्याय से युक्त वचनों से मण्डन मिश्र का द्वैत के विषय में आग्रह शान्त हो गया तिस पर भी उन्होंने फिर सन्देह कर यह कहा; क्योंकि कर्म के उपासक जड़ होते हैं ॥ १ ॥

यतिराज संप्रति ममाभिनवान्न विषादितोऽस्म्यपजयादपि तु ।
अपि जैमिनीयवचनान्यहहोन्मथितानि हीति भृशमस्मि कृशः ॥२॥

हे यतिराज ! मैं इस समय अपने अभिनव पराजय से दुःखित नहीं हूँ। मुझे दुःख तो इस बात का है कि आपने जैमिनि के वचनों का खण्डन किया है ॥ २ ॥

स हि वेत्त्यनागतमतीतमपि प्रियकृत् समस्तजगतोऽधिकृतः ।
निगमप्रवर्तनविधौ स कथं तपसां निधिर्वितथसूत्रपदः ॥ ३ ॥

जैमिनि मुनि भूत तथा भविष्य को जानते हैं; समस्त संसार के कल्याण करनेवाले हैं। वे तपोनिधि वेदों के प्रचार में जब लगे थे तो ऐसे सूत्रों को क्यों बनाया जिनका अर्थ यथार्थ नहीं है ॥ ३ ॥

इति सन्दिहानमवदत् तमसौ न हि जैमिनावपनयोऽस्ति मनाक् ।
प्रमिमीमहे न वयमेव मुनेर्हृदयं यथावदनभिज्ञतया ॥ ४ ॥

इस प्रकार से सन्देह करने पर मण्डन मिश्र से शङ्कर बोले—जैमिनि के सिद्धान्त में कहीं पर अन्याय नहीं है किन्तु हमीं लोग अनभिज्ञ होने के कारण उनके अभिप्राय को ठीक-ठीक नहीं समझते ॥ ४ ॥

यदि विद्यते कविजनाविदितं हृदयं मुनेस्तदिह वर्णय भोः ।
यदि युक्तमत्र भवता कथितं हृदि कुर्महे दलदहंकृतयः ॥ ५ ॥

मण्डन—यदि कविजनों के द्वारा अज्ञात जैमिनि मुनि का कोई अभिप्राय है तो उसे आप वर्णन कीजिए। यदि आपका कहना ठीक होगा तो अभिमान छोड़कर मैं उसको ग्रहण कर लूँगा ॥ ५ ॥

अभिसन्धिमानपि परे विषयप्रसरन्मतीननुजिघृक्षुरसौ ।
तदवाप्तिसाधनतया सकलं सुकृतं न्यरूपयदिति स्म परम् ॥६॥

शङ्कर—जैमिनि का अभिप्राय परब्रह्म के प्रतिपादन में ही था। इसी लिये उन्होंने विषय-प्रवाह में बहनेवाले मनुष्यों पर दया करने के लिये ब्रह्म की प्राप्ति के साधन होने से केवल पुण्य कर्म का ही वर्णन किया है ॥ ६ ॥

वचनं तमेतमिति धर्मचयं विदधाति बोधजनिहेतुतया ।
तदपेक्षयैव स च मोक्षपरो निरधारयन्न परथेति वयम् ॥ ७ ॥

श्रुति का वचन है कि 'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति, यज्ञेन, दानेन, तपसाऽनाशकेन' अर्थात् ब्रह्मज्ञानी लोग यज्ञ, दान, तप द्वारा उस ब्रह्म को जानते हैं। यह वचन ज्ञान के उत्पन्न करने के लिये ही धर्माचरण को बतलाता है। इसी वचन के अनुरोध से मोक्ष को

परम पुरुषार्थ बतलानेवाले जैमिनि ने कर्म का प्रतिपादन किया है, किसी दूसरे अभिप्राय से नहीं ॥ ७ ॥

टिप्पणी—आचार्य का अभिप्राय यह है कि कर्म के द्वारा चित्त-शुद्धि होती है और यह चित्त-शुद्धि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति में सहायक है। कर्म-मीमांसा का यही तात्पर्य है।

श्रुतयः क्रियार्थकतया सफला अतदर्थकानि तु वचांसि वृथा ।
इति सूत्रयन्नु कथं मुनिराडपि सिद्धवस्तुपरतां मनुते ॥ ८ ॥

मण्डन—जैमिनि का सूत्र है 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' (जैमिनि सू० १।२।१) जिसका अभिप्राय है कि क्रिया को बतलानेवाली श्रुतियाँ ही सफल हैं। अक्रियार्थक वचन मिथ्या हैं। जो वचन किसी प्रकार की क्रिया को नहीं बतलाते वे अनर्थक हैं। ऐसी दशा में वह मुनिराज वेदवचनों को सिद्ध वस्तुओं के वर्णन करनेवाले कैसे बतलाते हैं ? ॥ ८ ॥

मीमांसा में ईश्वर

श्रुतिराशिरद्वयपरोऽपि परम्परयाऽऽत्मबोधफलकर्मणि च ।
प्रसरत्कटाक्ष इति कार्यपरत्वमसूचि तत्प्रकरणस्थगिराम् ॥ ९ ॥

शङ्कर—श्रुति का तात्पर्य अद्वैत ब्रह्म-प्रतिपादन में ही है। परन्तु परम्परया आत्मज्ञान के उत्पन्न करनेवाले कर्म में भी श्रुति का ध्यान है। इस प्रकार कर्म-प्रकरण के सूत्रों का अर्थ कार्य-परक मानना चाहिए ॥९॥

ननु सच्चिदात्मपरताऽभिमता यदि कृत्स्नवेदनिचयस्य मुनेः ।
फलदातृतामपुरुषस्य वदन् स कथं निराह परमेशमपि ॥१०॥

मण्डन—समस्त वेद सच्चिदानन्द ब्रह्म का ही प्रतिपादन करता है तब परमात्मा से भिन्न कर्म ही फल का दाता है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर मुनि ने ईश्वर का निराकरण कैसे किया ? ॥ १० ॥

टिप्पणी—दार्शनिकों के सामने यह प्रश्न है कि कर्म का फल कौन देता है। वेदान्त का कहना है कि कर्म स्वयं जड़ होने के कारण क्रिया-रहित

हैं। वे स्वयं फल नहीं दे सकते। फल का देनेवाला स्वयं ईश्वर है। परन्तु मीमांसा इस मत को नहीं मानती। उसकी दृष्टि में कर्म में ही इतनी योग्यता है कि वह स्वयं अपने फल को उत्पन्न कर सकता है। ऐसी अवस्था में कर्म-फलदाता ईश्वर मानने की आवश्यकता नहीं। द्रष्टव्य ब्रह्मसूत्र (३।२।४०)

ननु कर्तृपूर्वकमिदं जगदित्यनुमानमागमवचांसि विना।
परमेश्वरं प्रथयति श्रुतयस्त्वनुवादमात्रमिति काणभुजाः ॥११॥

शङ्कर—यह संसार किसी कर्ता के द्वारा रचित है और वह कर्ता परमेश्वर ही है, यही अनुमान आगम वचनों के बिना परमेश्वर को सिद्ध करता है। श्रुतियाँ इस अनुमान का ही अनुवाद करती हैं। यह वैशेषिकों का मत है ॥ ११ ॥

न कथंचिदौपनिषदं पुरुषं मनुते बृहन्तमिति वेदवचः।
कथयत्यवेदविदगोचरतां गमयेत् कथं तमनुमानमिदम् ॥ १२ ॥

परन्तु यह शुष्क अनुमान ईश्वर-सिद्धि में पर्याप्त नहीं है। क्योंकि श्रुति का स्पष्ट वचन है कि "नावेदवित् मनुते तं बृहन्तम्" (बृहदारण्यक) अर्थात् वेद को न जाननेवाला उस बृहत् औपनिषद् ब्रह्म को नहीं जान सकता। यह श्रुतिवचन ईश्वर को वेद के न जाननेवालों के लिये अगोचर बतला रहा है। ऐसी दशा में अनुमान ईश्वर को कैसे बतला सकता है? ॥ १२ ॥

इति भावमात्मनि निधाय मुनिः स निराकरोन्निशितयुक्तिशतैः।
अनुमानमीश्वरपरं जगतः प्रभवं लयं फलमपीश्वरतः ॥ १३ ॥

इसी भाव को अपने मन में रखकर जैमिनि मुनि ने ईश्वर-परक अनुमान का तथा ईश्वर से जगत् का उदय तथा लय होता है इन सिद्धान्तों का सैकड़ों तीक्ष्ण युक्तियों से खण्डन किया है। आशय है कि जैमिनि श्रुतिसिद्ध ईश्वर का अपलाप नहीं करते। केवल तार्किक-सम्मत, श्रुति-हीन, शुष्क अनुमान का ही खण्डन करते हैं ॥ १३ ॥

टिप्पणी — ईश्वरसिद्धि — ईश्वर की सिद्धि नैयायिक लोग जगत् के कर्तृत्व-रूपी अनुमान से प्रधानतया करते हैं, परन्तु वेदान्त को यह मत सम्मत नहीं है। अनुमान की सत्ता तथा प्रामाणिकता बिना आगम के सिद्ध नहीं होती। इसी लिये वेदान्त श्रुति को ही ईश्वरसिद्धि में प्रधान साधन मानता है। द्रष्टव्य जन्माद्यस्य यतः (ब्रह्मसूत्र १।१।२) पर शाङ्करभाष्य।

तदिहास्मदुक्तविधया निषदा न विरुद्धमण्वपि मुनेर्वचसि।
इति गूढभावमनवेक्ष्य बुधास्तमनीशवाद्ययमिति ब्रुवते ॥ १४ ॥

इस तरह मेरी समझ में उपनिषद्रहस्य से जैमिनि का सिद्धान्त लेश मात्र भी विरुद्ध नहीं है। इस गूढ़ भाव को बिना जाने हुए विद्वान् लोग जैमिनि को अनीश्वरवादी बतलाते हैं ॥ १४ ॥

किमु तावतैव स निरीश्वरवाद्यभवत् परात्मविदुषां प्रवरः।
न निशाटनाहिततमः क्वचिदप्यहनि प्रभां मलिनयेत् तरणेः॥१५॥

परन्तु क्या इतने ही से वे ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ जैमिनि निरीश्वरवादी सिद्ध हो सकते हैं? क्या कहीं पर भी उल्लुकों के द्वारा स्थापित अन्धकार दिन में सूर्य की प्रभा को मलिन बना सकता है? ॥ १५ ॥

इति जैमिनीयवचसां हृदयं कथितं निशम्य यतिकेसरिणा।
मनसा ननन्द कविराण्नितरां स सशारदाश्च सदसस्पतयः॥१६॥
विदिताशयोऽपि परिवर्तिमनाग्विशयः स जैमिनिमवाप हृदा।
अवगन्तुमस्य वचसाऽपि पुनः स च संस्मृतः सविधमाप कवेः॥१७॥

इस प्रकार जैमिनि के अभिप्राय को शङ्कर के द्वारा प्रतिपादित सुनकर शारदा के साथ मण्डन मिश्र तथा सब सभासद अत्यन्त प्रसन्न हुए। शङ्कर के कथन से मीमांसा के आशय को समझ लेने पर भी मण्डन के हृदय में कुछ सन्देह बना हुआ था। मुनि के वचन से ही उनके अभिप्राय को जानने के लिये मण्डन ने जैमिनि का ध्यान किया जिससे ऋषि शीघ्र ही प्रकट हो गये ॥ १६-१७ ॥

अवदच्च शृण्विदति स भाष्यकृति प्रजहाहि संशयमिमं सुमते ।
यदवोचदेष मम सूत्रततेर्हृदयं तदेव मम नापरथा ॥ १८ ॥

जैमिनि—हे सुमते ! भाष्यकार शङ्कर के वचनों में सन्देह मत करो। मेरे सूत्रों का जो अभिप्राय इन्होंने कहा है, वह इससे भिन्न नहीं है ॥ १८ ॥

न ममैव वेद हृदयं यमिराडपि तु श्रुतेः सकलशास्त्रततेः ।
यदभूद्भविष्यति भवत्तदपि ह्ययमेव वेद न तथा त्वितरः ॥१९॥

ये यतिराज केवल मेरे ही अभिप्राय को नहीं जानते बल्कि श्रुति और समस्त शास्त्रों के अभिप्राय को भी जानते हैं। भूत, भविष्य तथा वर्त्तमान को जितना ये जानते हैं, उतना कोई भी नहीं जानता ॥ १९ ॥

गुरुणा चिदेकरसतत्परता निरणायि हि श्रुतिशिरोवचसाम् ।
कथमेकसूत्रमपि तद्विमतं कथयाम्यहं तदुपसादितधीः ॥ २० ॥

मेरे गुरु वेदव्यास ने उपनिषदों का तात्पर्य चित् रूप, एकरस, ब्रह्म के प्रतिपादन में बतलाया है। मैंने उन्हीं से ज्ञान प्राप्त किया है। भला मेरा एक भी सूत्र उनके इस सिद्धान्त के विपरीत हो सकता है ॥२०॥

अलमाकलय्य विशयं सुयशः शृणु मे रहस्यमिममेव परम् ।
त्वमवेहि संसृतिनिमग्नजनोत्तरणे गृहीतवपुषं पुरुषम् ॥ २१ ॥

हे यशस्वी ! सन्देह न करो, इस रहस्य को सुनो। संसार में निमग्न पुरुषों के उद्धार करने के लिये शरीर धारण करनेवाला इन्हें शिव समझो ॥ २१ ॥

आद्ये सत्त्वमुनिः सतां वितरति ज्ञानं द्वितीये युगे
दत्तो द्वापरनामके तु सुमतिर्व्यासः कलौ शङ्करः ।
इत्येवं स्फुटमीरितोऽस्य महिमा शैवे पुराणे यत-
स्तस्य त्वं सुमते मते त्ववतरेः 'संसारवार्धिं' तरेः ॥ २२ ॥

सत्ययुग में कपिल ने विद्वानों को ज्ञान दिया था; त्रेता में दत्तात्रेय ने, द्वापर में सुमति व्यास ने और इस कलि में आचार्य शङ्कर ने। यह महिमा 'शैव पुराण' में वर्णित है। हे सुमति! तुम उनके मत में प्रविष्ट हो जाओ और संसार को पार करो ॥ २२॥

इति बोधितद्विजवरोऽन्तरधान्मनसोपगुह्य यमिनामृषभम् ।
स च यायजूकपरिषत्प्रमुखः प्रणिपत्य शङ्करमवोचदिदम् ॥२३॥

इतना कहकर और यतिवर शङ्कर को मन से आलिङ्गन कर जैमिनि अन्तर्ध्यान हो गये। याज्ञिकों की सभा में प्रमुख मण्डन ने शङ्कर को प्रणाम कर यह वचन कहा ॥ २३ ॥

मण्डन के द्वारा शङ्कर की स्तुति

विदितोऽस्ति संप्रति भवाञ्जगतः प्रकृतिर्निरस्तसमतातिशयः ।
अवबोधमात्रवपुरप्यबुधोद्धरणाय केवलमुपात्ततनुः ॥ २४ ॥

मण्डन—हे भगवन्! मैंने आपको जान लिया। आप संसार के कारणभूत हैं। समता तथा अतिशय को दूर करनेवाले हैं, ज्ञान-मात्र शरीरधारी आपने अज्ञानियों के उद्धार के लिये यह शरीर धारण किया है। वस्तुतः तो आप शरीर-विहीन हैं ॥ २४ ॥

यदेकमुदितं पदं यतिवर त्रयीमस्तकै-
स्तदस्य परिपालकस्त्वमसि तत्त्वमस्यायुधः ।
परं गलितसौगतप्रलपितान्धकूपान्तरे
पतत्कथमिवान्यथा प्रलयमद्य नाऽऽपत्स्यते ॥ २५ ॥

हे यतिराज! उपनिषद् जिस एक अद्वितीय सच्चिदानन्द ब्रह्म का वर्णन करते हैं, उसका 'तत् त्वमसि' वाक्य आयुध है, और आप उसके परिपालक हैं। यदि ऐसा न होता तो वह ब्रह्म पथभ्रष्ट बौद्धों के प्रलाप-रूपी अन्धे कूप में गिरकर न जाने कब का प्रलय पा चुका होता—नष्ट

हो गया रहता। आपने ही ब्रह्म को बौद्धों के प्रलाप से बचाकर उसकी सच्ची रक्षा की है ॥ २५ ॥

प्रबुद्धोऽहं स्वप्नादिति कलमतिः स्वप्नमपरं
यथा मूढः स्वप्ने कलयति तथा मोहवशगाः ।
विमुक्तिं मन्यन्ते कतिचिदिह लोकान्तरगतिं
हसन्त्येतान् दासास्तव गलितमायाः परगुरोः ॥२६॥

प्रायः देखा जाता है कि मैं स्वप्न से जगा हुआ हूँ, यह विचार कर कोई आदमी स्वप्न के भीतर एक दूसरे स्वप्न को देखता है। यही दशा कुछ वैष्णवमानी भक्तों की है जो मोह के वशीभूत होकर लोकान्तर-गमन को—वैकुण्ठ-प्राप्ति को—मुक्ति मान बैठते हैं। आपके माया तथा मोह के बन्धन से रहित दास लोग ऐसे लोगों पर हँसते हैं। लोकान्तर-प्राप्ति-मात्र को मुक्ति मान बैठना नितान्त हास्यकर है ॥ २६ ॥

मुहुर्धिग्धिग्भेदिप्रलपितविमुक्तिं यदुदयेऽ-
प्यसारः संसारो विरमति न कर्तृत्वमुखरः ।
भृशं विद्वन् मोदे स्थिरतमविमुक्तिं त्वदुदितां
भवातीता येयं निरवधिचिदानन्दलहरी ॥२७॥

भेदवादियों के द्वारा अङ्गीकृत मुक्ति को बारम्बार धिक्कार है जिसके उदय होने पर भी कर्तृत्व-भोक्तृत्व से युक्त यह असार संसार शान्त नहीं हो जाता। हे विद्वन्, आपके द्वारा प्रतिपादित स्थिरतम मुक्ति को ही मैं अच्छा समझता हूँ जो संसार का अतिक्रमण करनेवाली है तथा जो अवधिरहित चिदानन्द की लहरी रूप है ॥ २७ ॥

अविद्याराक्षस्या गिलितमखिलेशं परगुरो
पिचण्डं भित्त्वाऽस्या सरभसममुष्मादुदहरः ।
वृतां पश्यन् रक्षोयुवतिभिरमुष्य प्रियतमां
हनूमाँल्लोकेऽभ्यस्तव तु कियती स्यान्महितता ॥ २८ ॥

हे परम गुरो ! अविद्यारूपी राक्षसी ने जगत् के अधिपति ईश्वर को निगल डाला था। आपने उसके पेट को फाड़कर उसमें से ईश्वर को निकाल बाहर किया है। आपके सामने हनुमान् का महत्त्व भला किस गिनती में है ? हनुमान ने राक्षसियों के द्वारा घिरी हुई, रामचन्द्र की प्रियतमा का केवल उद्धार किया था। इतने ही पर वे लोक में पूज्य हो गये। इधर शङ्कर ने तो राक्षसी के पेट से साक्षात् ईश्वर को निकाला था, अर्थात् अज्ञान को दूर कर ईश्वर की प्राप्ति का उपाय बतलाया। अतः आचार्य की महिमा हनुमान् से कहीं अधिक है ॥ २८ ॥

जगदार्तिहन्ननवगम्य पुरा महिमानमीदृशमचिन्त्यमहम् ।
तव यत्पुरोऽब्रुवमसांप्रतमप्यखिलं क्षमस्व करुणाजलधे ॥२९॥

हे जगत् की पीड़ा को दूर करनेवाले ! तुम्हारी इस प्रकार की अचिन्त्य महिमा को बिना जाने मैंने आपके सामने जो कुछ अनुचित बातें कही हैं उन्हें हे कृपासागर ! आप क्षमा कर दें ॥ २९ ॥

कपिलाक्षपादकणभुक्प्रमुखा अपि मोहपीयुरमितप्रतिभाः ।
श्रुतिभावनिर्णयविधावितरः प्रभवेत् कथं परशिवांशभृते ॥३०॥

विपुल प्रतिभावाले कपिल, कणाद, गौतम आदि ऋषि लोग भी जिस श्रुति के अर्थ का निर्णय करने में असमर्थ हैं, उसे परम शिव के अंसभूत आपको छोड़कर कौन दूसरा समझ सकता है ? ॥ ३० ॥

समेतैरेतैः किं कपिलकणभुग्गौतमवच-
स्तमस्तोमैश्चेतोमलिनिमसमारम्भणचणैः ।
सुधाधारोद्गारप्रचुरभगवत्पादवदन-
प्ररोहद्व्याहारामृतकिरणपुञ्जे विजयिनि ॥३१॥

सुधा की धारा को प्रवाहित करनेवाले आचार्य शङ्कर के मुख-रूपी चन्द्रमा से निकलनेवाले वचन-रूपी अमृत-किरण जगत् में विजयी हैं ऐसी दशा में कपिल, कणाद, गौतम के वचन अन्धकार के समान हैं। वे

मन में केवल मलिनता उत्पन्न करते हैं। उनसे लाभ ही क्या? आशय यह है कि जिस प्रकार चन्द्रमा के उदय होने पर अन्धकार का नाश हो जाता है उसी प्रकार शङ्कर के वचनों के आगे कपिल, कणाद के वचन तिरस्कृत हो जाते हैं ॥ ३१ ॥

भिन्दानैर्देवमेतैरभिनवयवनैः सद्गवीभञ्जनोत्कै-
र्व्याप्ता सर्वेयमुर्वी क्व जगति भजतां क्वैव मुक्तिप्रसक्तिः।
यद्वा सद्वादिराजा विजितकलिमला विष्णुतत्त्वानुरक्ता
उज्जृम्भन्ते समन्ताद्दिशि दिशि कृतिनः किं तया चिन्तया मे ॥३२॥

जिस प्रकार यवन लोग देवप्रतिमा के तोड़नेवाले तथा सुन्दर गाय को मार डालनेवाले थे, उसी प्रकार भेदवादियों ने ईश्वर तथा जीव में भेद दिखलाकर गो-रूपी श्रुति के अर्थ को तोड़ डाला है। संसार में ऐसी कोई भूमि नहीं है जो इनके द्वारा व्याप्त न हो। इनकी सेवा करनेवाले लोगों को मुक्ति का प्रसङ्ग कहाँ? वादियों में श्रेष्ठ आप जिनके गुरु हैं ऐसे, कलि-मल को दूर करनेवाले, विष्णु-तत्त्व में अनुरक्त विद्वान् जब प्रत्येक दिशा में चारों ओर उल्लसित हो रहे हैं तब मुझे चिन्ता करने की क्या जरूरत? ॥ ३२ ॥

कथमल्पबुद्धिविवृतिप्रचयप्रबलोरगक्षतिहताः श्रुतयः।
न यदि त्वदुक्त्यमृतसेकधृता विहरेयुरात्मविधृतानुशयाः ॥३३॥

अल्पबुद्धि टीकाकारों की टीकाएँ प्रबल साँपों के समान हैं। उनके काटने से श्रुतियाँ जर्जर हो गई हैं। यदि वे तुम्हारे वचन-रूपी अमृत के सिञ्चन से जीवित न हों तो आत्मा में विश्वास रखनेवाले विद्वान् लोग कैसे विहार कर सकते हैं? ॥ ३३ ॥

भवदुक्तसूक्त्यमृतभानुकरा न चरेयुरार्य यदि कः शमयेत्।
अतितीव्रदुःसहभवोष्णकरप्रचुरातपप्रभवतापमिमम् ॥ ३४ ॥

यदि आपके वचन-रूपी चन्द्रमा की किरणें प्रकाशित न हों, तो अत्यन्त तीव्र, दुःसह, संसार-रूपी सूर्य की प्रचुर धूप से उत्पन्न सन्ताप को कौन शान्त करेगा ? ॥ ३४ ॥

बत कर्मयन्त्रमधिरुह्य तपःश्रुतगेहदारसुतभृत्यधनैः ।
अतिरूढमानभरितः पतितो भवतोद्धृतोऽस्मि भवकूपबिलात् ॥३५॥

कर्म-रूपी यन्त्र पर चढ़कर मैं तपस्या, शास्त्र, घर, स्त्री, पुत्र, भृत्य तथा धन में अभिमान रखकर संसार-रूपी कूप में गिरा हुआ था। उससे आपने मेरा उद्धार कर दिया है ॥ ३५ ॥

अहमाचरं बहु तपोऽसुकरं ननु पूर्वजन्मसु न चेदधुना ।
जगदीश्वरेण करुणानिधिना भवता कथा मम कथं घटते ॥३६॥

पूर्व जन्म में मैंने अवश्य ही बहुत सा दुष्कर तप किया था, नहीं तो इस समय करुणानिधि जगदीश्वर के समान आपके साथ मेरी बातचीत क्योंकर हो सकती थी ? ॥ ३६ ॥

शान्तिप्राक्सुकृताङ्कुरं दमसमुल्लासोल्लसत्पल्लवं
वैराग्यद्रुमकोरकं सहनतावल्लीप्रसूनोत्करम् ।
ऐकाग्रीसुमनोमरन्दविसृतिं श्रद्धासमुद्यत्फलं
विन्देयं सुगुरोर्गिरां परिचयं पुण्यैरगण्यैरहम् ॥३७॥

मैंने आपकी वाणी से अगणित पुण्यों के बल पर वह परिचय प्राप्त किया है, जो परिचय शान्तिरूप से परिणत होनेवाले पूर्व पुण्य का अङ्कुर है, दम का विकसित पल्लव है, वैराग्य-रूपी वृक्ष की कली है, तितिक्षा-रूपी लता का पुष्प-समुदाय है, ध्यान-रूपी फूल के मकरन्द का विस्तार है और श्रद्धा का निकलता हुआ फल है ॥ ३७ ॥

त्रिदिवौकसामपि पुमर्थकरीमिह संसरज्जनविमुक्तिकरीम् ।
करुणोर्मिलां तव कटाक्षझरीमवगाहतेऽत्र खलु धन्यतमः ॥ ३८ ॥

आपके करुणा-कटाक्ष देवताओं के भी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूपी पुरुषार्थ को करनेवाले हैं तथा इस जगत् में क्लेश पानेवाले लोगों को मुक्ति देनेवाले हैं। आपके करुणारूपी प्रवाह में अत्यन्त भाग्यशाली पुरुष ही स्नान करते हैं ॥ ३८ ॥

केचिच्चञ्चललोचनाकुचतटीचेलाञ्चलोच्चालन-
स्पर्शद्राक्परिरम्भसंभ्रमकलालीलासु लोलाशयाः ।
सन्त्वेते कृतिनस्तु निस्तुलयशःकोशादयः श्रीगुरु-
व्याहारक्षरितामृताब्धिलहरीदोलासु खेलन्त्यमी ॥३९॥

इस संसार में कुछ लोग चञ्चलनयनी सुन्दरियों की कुचतटी से वस्त्र के अञ्चल को हटाने, स्पर्श करने तथा झटपट आलिङ्गन की कलामयी लीलाओं के रसिक हैं। उनका चित्त इन शृङ्गारिक लीलाओं में ही सदा रमा करता है। ऐसे लोग इस प्रपञ्च में लगे रहें, पचें, मरें। परन्तु अनुपम यश के पात्रभूत ऐसे भी जितेन्द्रिय विद्वज्जन हैं जो आचार्य के वचनों से झरनेवाले अमृत-समुद्र की लहरियों के झूले में सदा विहार किया करते हैं। शङ्कराचार्य की सुधामयी वाणियों के रसिक ऐसे सज्जन धन्य हैं ॥ ३९ ॥

चिन्तासन्तानतन्तुग्रथितनवभवत्सूक्तिमुक्ताफलौघै-
रुद्यद्वैशद्यसद्यःपरिहृततिमिरैर्हारिणो हारिणोऽमी ।
सन्तः सन्तोषवन्तो यतिवर किमतो मण्डनं पण्डितानां
विद्या हृद्या स्वयं तान् शतमखमुखरान् वारयन्ती वृणीते ॥४०॥

हे यतिराज, आपकी सूक्ति मुक्ताफलों का हार है जो विचार के समुदायरूपी डोरों से गूँथा गया है। यह हार इतना निर्मल तथा विशद है कि यह अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर करनेवाला है। यह सज्जनों के गले का हार है जिससे वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं। भला पण्डितों के लिये इससे बढ़कर भूषण हो ही क्या सकता है? यही कारण है

कि हृदय-हारिणी विद्या इन्द्र आदिक देवताओं को छोड़कर इन्हें ही स्वयं वरण करती है ॥ ४० ॥

सन्तः संतोषपोषं दधतु तव कृताम्नायशोभैर्यशोभिः
सौरालोकैरुलूका इव निखिलखला मोहमाहो वहन्तु ।
धीरश्रीशङ्करार्यप्रणतिपरिणतिभ्रश्यदन्तर्दुरन्त-
ध्वान्ताः सन्तो वयं तु प्रचुरतरनिजानन्दसिन्धौ निमग्नाः॥४१॥

सन्त लोग उपनिषद् के उपदेशों से सुशोभित आपके यश से सन्तोष प्राप्त करें। जिस प्रकार उल्लू सूर्य की किरणों से मोह प्राप्त करते हैं उसी प्रकार समस्त खलमण्डली मोह धारण करे। हमारे हृदय का दुरन्त अन्धकार धीर शङ्कराचार्य के प्रणाम के समुदाय से बिल्कुल नष्ट हो जाय जिससे हम लोग प्रचुर स्वकीय आनन्दसागर में निमग्न हो जायँ ॥ ४१ ॥

चिन्तासन्तानशाखी पदसरसिजयोर्वन्दनं नन्दनं ते
सङ्कल्पः कल्पवल्ली मनसि गुणनुतेर्वर्णना स्वर्णदीयम् ।
स्वर्गो दृग्गोचरस्त्वत्पदभजनमतः संविचार्येदमार्या
मन्यन्ते स्वर्गमन्यं तृणवदतिलघुं शङ्करार्य त्वदीयाः ॥४२॥

हे शङ्करार्य, आपका चिन्तन सब मनोरथों को देने के कारण कल्प-वृक्ष है; आपके पादपद्मों का वन्दन नन्दनवन है; मन में आपका सङ्कल्प कल्पलता है; आपके गुणों की वर्णना आकाश-नदी गङ्गा है, आपका कटाक्ष सुखद होने से स्वर्ग है। इस प्रकार आपके चरणों की सेवा संसार में सब वस्तुओं में श्रेष्ठ है। यही विचार कर आपके भक्त सज्जन लोग स्वर्ग को तृण के समान अत्यन्त लघु समझते हैं ॥ ४२ ॥

तदहं विसृज्य सुतदारगृहं द्रविणानि कर्म च गृहे विहितम् ।
शरणं वृणोमि भगवच्चरणावनुशाधि किंकरममुं कृपया ॥४३॥

इसलिये मैं अपने पुत्र, स्त्री, घर, धन, गृहस्थाश्रम, कर्तव्य कर्म—इन सबों को छोड़कर आपके चरण की शरण में आता हूँ। कृपया तत्त्वों को बतलाइए। मैं आपका किंकर हूँ ॥ ४३ ॥

इति सूनृतोक्तिभिरुदीर्णगुणः सुधियाऽऽत्मवाननुजिघृक्षुरसौ ।
समुदैक्षतास्य सहधर्मचरीं विदिताशया मुनिमवोचत सा ॥४४॥

इस प्रकार बुद्धिमान् मण्डन ने मधुर शब्दों में आचार्य के गुणों का वर्णन किया। जितेन्द्रिय शङ्कर ने मुनि पर दया करने के लिये उनकी स्त्री की ओर देखा। उनके आशय को समझकर मण्डन की पत्नी बोली ॥ ४४ ॥

यतिपुण्डरीक तव वेद्मि मनो ननु पूर्वमेव विदितं च मया ।
इह भावि तापसमुखादखिलं तदुदीर्यते शृणु ससभ्यजनः ॥४५॥

भारती—हे यतिश्रेष्ठ! मैं आपकी इच्छा को जानती हूँ। इस भावी बात को मैंने तापस के मुख से पहिले ही जान रक्खा था। उसको मैं कहती हूँ, सभ्यों के साथ सुनिए ॥ ४५ ॥

मयि जातु मातुरुपकण्ठजुषि प्रभया तडित्प्रतिभटोच्चजटः ।
सितभूतिरूषितसमस्ततनुः श्रमणोऽभ्ययादपरसूर्य इव ॥ ४६ ॥

[भारती यहाँ से तपस्वी का हाल सुनाती हैं] वे कह रही हैं कि जब कभी मैं अपनी माता के पास बैठी हुई थी तब एक तपस्वी वहाँ आये जिनकी प्रभा के कारण बिजली के समान जटा थी। श्वेत भस्म से उनका शरीर सुशोभित था तथा दूसरे सूर्य के समान वे कान्तिमान् थे॥४६॥

परिगृह्य पाद्यमुखयाऽर्हणया रचिताञ्जलिर्नमितपूर्वतनुः ।
जननी तदाऽऽत्तवरिवस्यममुं मुनिमन्वयुङ्क्त मम भाव्यखिलम्॥४७॥

पाद्य आदि पूजा से उनका सत्कार कर अञ्जलि बाँधकर सिर नवाकर, माता ने पूजा की। अनन्तर उसे ग्रहण करनेवाले उस मुनि से मेरे भविष्य के बारे में पूछा ॥ ४७ ॥

भगवन्न वेद्मि दुहितुर्मम भाव्यखिलं च वेत्ति तपसा हि भवान् ।
प्रणते जने हि सुधियः कथयन्त्यपि गोप्यमार्यसदृशाः कृपया॥४८॥

हे भगवन् ! मैं अपनी पुत्री के भाग्य को नहीं जानती हूँ। परन्तु तपस्या के बल पर आप सब जानते हैं। आपके समान विद्वान् लोग नम्र जनों को कृपया गोपनीय वस्तु भी प्रकट कर देते हैं ॥ ४८ ॥

कियदायुराप्स्यति सुतान् कति वा दयितं कथंविधमुपैष्यति च।
अथ च क्रतूनपि करिष्यति मे दुहिता प्रभूतधनधान्यवती ॥४९॥

कितनी इसकी आयु होगी? कितने पुत्रों को तथा कैसे पति को यह प्राप्त करेगी? धन-धान्य सम्पन्न होकर यह कितने यज्ञ करेगी? ॥ ४९ ॥

इति पृष्टभाविचरितः प्रसुवा क्षणमात्रमीलितविलोचनकः।
सकलं क्रमेण कथयन्निदमप्यपरं जगाद सुरहस्यमपि ॥ ५० ॥

माता से मेरे भावी के बारे में इतना पूछे जाने पर मुनि ने एक क्षण के लिये आँखें बन्द कीं। उसके बाद क्रमशः मेरे समस्त भविष्य के बारे में कहना शुरू किया। एक रहस्य की बात भी उन्होंने बतलाई ॥ ५० ॥

निगमाध्वनि प्रबलबाह्यमतैरमितैरधिक्षिति खिले द्रुहिणः।
पुनरुद्दिधीर्षुरवतीर्य खलु प्रतिभाति मण्डनकवीन्द्रमिषात् ॥५१॥

विपुल, अवैदिक मतों के द्वारा वेदमार्ग के इस पृथ्वी पर उच्छिन्न हो जाने पर स्वयं ब्रह्मा वेदमार्ग के उद्धार के लिये मण्डन पण्डित के व्याज से उत्पन्न होंगे ॥ ५१ ॥

तमवाप्य रुद्रमिव साऽद्रिसुता दुहिता तवाच्युतमिवाब्धिसुता।
अनुरूपमाहृतसमस्तमखा ससुता भविष्यति चिरं मुदिता ॥५२॥

जिस प्रकार पार्वती ने शिव को प्राप्त किया, लक्ष्मी ने विष्णु को, उसी प्रकार तुम्हारी कन्या अनुरूप मण्डन को अपना पति पाकर समस्त यज्ञ करेगी और पुत्रों के साथ बहुत दिनों तक प्रसन्न रहेगी ॥ ५२ ॥

अथ नष्टमौपनिषदं प्रबलैः कुमतैः कृतान्तमिह साधयितुम् ।
ननु मानुषं वपुरुपेत्य शिवः समलङ्करिष्यति धरां स्वपदैः ॥५३॥

अनन्तर इस लोक में प्रबल दुष्ट मतियों के द्वारा नष्ट हुए उपनिषद्-सिद्धान्त को स्थिर करने के लिये महादेव नर का रूप धारण कर अपने चरणों से इस भूतल को अलंकृत करेंगे ॥ ५३ ॥

सह तेन वादमुपगम्य चिरं दुहितुः पतिस्तु यतिवेषजुषा ।
विजितस्तमेव शरणं जगतां शरणं गमिष्यति विसृष्टगृहः ॥५४॥

उस यतिवेषधारी शङ्कर के साथ तुम्हारी कन्या के पति का शास्त्रार्थ होगा जिसमें विजित होने पर वे गृहस्थाश्रम छोड़कर संसार को शरण देनेवाले उस तापस की शरण में जायँगे ॥ ५४ ॥

इति गामुदीर्य स मुनिः प्रययौ सकलं यथातथमभूच्च मम ।
भवदीयशिष्यपदभस्य कथं वितथं भविष्यति मुनेर्वचसि ॥५५॥

इस वाणी को कहकर वह मुनि चले गये। मेरा सब भविष्य उनके कथनानुसार यथार्थ हुआ। ऐसी दशा में मेरे पति का आपका शिष्य बनना क्या मुनि के वचन के विरुद्ध होगा ? ॥ ५५ ॥

अपि तु त्वयाऽद्य नसमग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहम् ।
वपुरर्धमस्य न जिता मतिमन्नपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम् ॥५६॥

हे विद्वन् ! अब तक तुमने पण्डितों में श्रेष्ठ मेरे पति को पूरी तरह से नहीं जीत लिया है; क्योंकि मैं उनकी अर्धाङ्गिनी हूँ और उसे आपने अभी नहीं जीता है। इसलिये मुझे जीतकर आप इन्हें शिष्य बनाइए ॥५६॥

यदपि त्वमस्य जगतः प्रभवो ननु सर्वविच्च परमः पुरुषः ।
तदपि त्वयैव सह वादकृते हृदयं बिभर्ति मम तूत्कलिकाम् ॥५७॥

यद्यपि तुम (शङ्कर) इस जगत् के उत्पत्ति-स्थल हो, सर्ववेत्ता परम पुरुष हो तथापि तुम्हारे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये मेरा हृदय उत्कण्ठित हो रहा है ॥ ५७ ॥

इति यायजूकसहधर्मचरीकथितं वचोऽर्थवदगर्ह्यपदम् ।
मधुरं निशम्य मुदितः सुतरां प्रतिवक्तुमैहत यतिप्रवरः ॥५८॥

यतिराज शङ्कर ने यज्ञकर्ता मण्डन की सहचरी उभयभारती के अर्थ-सम्पन्न, अनिन्दित पदवाले वचन को सुनकर उत्तर देने की इच्छा प्रकट की—॥ ५८ ॥

यदवादि वादकलहोत्सुकतां प्रतिपद्यते हृदयमित्यबले ।
तदसांप्रतं न हि महायशसो महिलाजनेन कथयन्ति कथाम् ॥५९॥

हे अबले ! तुम्हारा हृदय मेरे साथ शास्त्रार्थ करने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है, यह जो वचन तुमने कहा वह अनुचित है, क्योंकि यशस्वी पुरुष महिला जनों के साथ वाद-विवाद नहीं करते ॥ ५९ ॥

स्वमतं प्रभेत्तुमिह यो यतते स वधूजनोऽस्तु यदि वाऽस्त्वितरः।
यतितव्यमेव खलु तस्य जये निजपक्षरक्षणपरैर्भगवन् ॥ ६० ॥

उभयभारती—भगवन् ! अपने मत के खण्डन करने के लिये जो चेष्टा करता है, चाहे वह स्त्री हो; या पुरुष; उसके जीतने में प्रयत्न अवश्य करना चाहिए, यदि अपने पक्ष की रक्षा करनी अभीष्ट हो ॥ ६० ॥

अत एव गार्ग्यभिधया कलहं सह याज्ञवल्क्यमुनिराडकरोत् ।
जनकस्तथा सुलभयाऽबलया किममी भवन्ति न यशोनिधयः ६१

इसीलिये गार्गी के साथ याज्ञवल्क्य ऋषि ने शास्त्रार्थ किया था, तथा जनक ने सुलभा के साथ वाद-विवाद किया था। क्या स्त्री से शास्त्रार्थ करने पर भी ये लोग यशस्वी नहीं हुए ? ॥ ६१ ॥

टिप्पणी—(१) गार्गी—ये वचक्नु ऋषि की कन्या थीं। इसलिये इनका नाम 'गार्गी वाचक्नवी' था। ये ब्रह्मवादिनी थीं। याज्ञवल्क्य के साथ इनका शास्त्रार्थ हुआ था जिनका वर्णन बृहदारण्य के तीसरे अध्याय ६वें ब्राह्मण में किया गया है। इन्होंने याज्ञवल्क्य से उस मूलतत्त्व के विषय में पूछा था जिससे यह जगत् जल, वायु, अन्तरिक्ष, लोक, गन्धर्वलोक आदि ओतप्रोत

है। याज्ञवल्क्य ने इनका यथार्थ उत्तर देकर इन्हें हराया। (२) सुलभा— ये 'प्रधान' नामक राजर्षि की कन्या थीं। ये अत्यन्त विदुषी तथा ब्रह्मवादिनी थीं। बचपन से ही इन्हें मोक्षधर्म की शिक्षा मिली थी। इनके समान कोई भी विद्वान् पुरुष न मिला जिससे इनका विवाह संपन्न होता। इस प्रकार ये नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी थीं। जनकपुर के राजा 'धर्मध्वज जनक' के साथ अध्यात्म-विषय पर गहरा शास्त्रार्थ हुआ था जिसका वर्णन महाभारत शान्तिपर्व के ३२०वें अध्याय में किया गया है। यह शास्त्रार्थ बहुत ही गम्भीर तथा पाण्डित्यपूर्ण है।

इति युक्तिमद्गदितमाकलयन् मुदितान्तरः श्रुतिसरिज्जलधिः।
स तया विवादमधिदेवतया वचसामियेष विदुषां सदसि ॥६२॥

इस प्रकार युक्तियुक्त वचन सुनकर श्रुतिरूपी नदियों से पूर्ण समुद्र के समान आचार्य प्रसन्न हुए तथा विद्वानों की सभा में उस भारती के साथ शास्त्रार्थ करना चाहा ॥ ६२ ॥

शङ्कर तथा भारती का शास्त्रार्थ

अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोरुभयोः परस्परजयोत्सुकयोः।
मतिचातुरीरचितशब्दझरी श्रुतिविस्मयीकृतविचक्षणयोः ॥६३॥

इसके अनन्तर एक दूसरे को जीतने के लिये उत्सुक, श्रवण मात्र से विद्वानों को विस्मित कर देनेवाले, शङ्कर और सरस्वती में वह शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ जिसमें बुद्धि की चतुरता से शब्दों की झड़ी लग रही थी ॥६३॥

अनयोर्विचित्रपदयुक्तिभरैर्निशमय्य संकथनमाकलितम्।
न फणीशमप्यतुलयन्न पपीं न गुरुं कविं किमपरं जगति ॥६४॥

इन दोनों के विचित्र पद और युक्तियों से भरे हुए कथनों को सुनकर लोगों ने न तो शेषनाग को ही कुछ गिना, न सूर्य को, न बृहस्पति को, न शुक्राचार्य को। संसार में दूसरे की तो बात ही क्या ? ॥ ६४ ॥

न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम नैयमिककालमृते ।
इति जल्पतोः सममनल्पधियोर्दिवसाश्च सप्त दश चात्यगमन् ॥६५॥

सन्ध्या-वन्दन आदि में निश्चित काल को छोड़कर न दिन में और न रात में ही यह शास्त्रार्थ रुका। इस प्रकार इन दोनों विशेष विद्वानों में सत्तरह दिन बीत गये ॥ ६५ ॥

अथ शारदाऽकृतकवाक्प्रमुखेष्वखिलेषु शास्त्रनिचयेषु परम् ।
तमजय्यमात्मनि विचिन्त्य मुनिं पुनरप्यचिन्तयदिदं तरसा ॥६६॥

इसके बाद शारदा ने अनादिसिद्ध वेद आदि समस्त शास्त्रों में शङ्कर को अपने हृदय में अजेय समझकर अपने मन में झट से यह विचार किया ॥ ६६ ॥

अतिबाल्य एव कृतसंन्यसनो नियमैः परैरविधुरश्च सदा ।
मदनागमेष्वकृतबुद्धिरसौ तदनेन संप्रति जयेयमहम् ॥ ६७ ॥

अत्यन्त बालकपन में ही इन्होंने संन्यास ग्रहण किया है, श्रेष्ठ नियमों से ये कभी हीन नहीं हुए। अतः कामशास्त्र में इनकी बुद्धि प्रवेश नहीं कर सकती। इसलिये मैं इसी शास्त्र के द्वारा इन्हें जीतूँगी ॥ ६७ ॥

इति संप्रधार्य पुनरप्यमुना कथने प्रसङ्गमथ संगतितः ।
यमिनं सदस्यमुपपृच्छदसौ कुसुमास्त्रशास्त्रहृदयं विदुषी ॥६८ ॥

इस प्रकार हृदय में विचार कर प्रसङ्गतः सभा में इस संन्यासी से कामशास्त्र के रहस्य को जाननेवाली भारती ने यह प्रश्न किया—॥ ६८ ॥

कलाः कियन्त्यो वद पुष्पधन्वनः
किमात्मिकाः किं च पदं समाश्रिताः ।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थितिः
कथं युवत्यां कथमेव पूरुषे ॥ ६९ ॥

काम की कलायें कितनी हैं ? उनका स्वरूप कैसा है ? किस स्थान पर वे निवास करती हैं ? शुक्ल पक्ष वा कृष्ण पक्ष में उनकी स्थिति कहाँ-कहाँ

रहती है ? युवती में तथा पुरुष में इन कलाओं का निवास किस प्रकार से है ? ॥ ६९ ॥

नेतीरितः किंचिदुवाच शङ्करो विचिन्तयन्नत्र चिरं विचक्षणः ।
तासामनुक्तौ भविताऽल्पवेदिता भवेत्तदुक्तौ मम धर्मसंक्षयः ॥७०॥

ऐसा कहे जाने पर इस विषय पर बहुत विचार करके भी चतुर शङ्कर कुछ नहीं बोले । 'यदि मैं नहीं कहता हूँ तो अल्पज्ञ बनता हूँ और यदि उत्तर देता हूँ तो मेरे यति-धर्म का विनाश होता है' ॥ ७० ॥

इति संविचिन्त्य स हृदाऽऽशु तदाऽनवबुद्धपुष्पशरशास्त्र इव ।
विदितागमोऽपि सुरिरक्षयिषुर्नियमं जगाद जगति व्रतिनाम् ॥७१॥

यह हृदय से विचार कर कामशास्त्र को जानने पर भी शङ्कर, संन्यासियों के नियम की रक्षा के लिये कामशास्त्र से अनभिज्ञ की तरह बोले—॥ ७१ ॥

इह मासमात्रमवधिः क्रियतामनुमन्यते हि दिवसस्य गणः ।
तदनन्तरं सुदति हास्यसि भोः कुसुमास्त्रशास्त्रनिपुणत्वमपि ॥७२॥

आप मुझे इस विषय में एक मास की अवधि दीजिए । वादी लोग अवधि देने की प्रथा को मानते हैं । हे सुन्दरी ! उसके बाद तुम कामशास्त्र में अपनी निपुणता छोड़ दोगी ॥ ७२ ॥

उररीकृते सति तथेति तयाऽऽक्रमते स्म योगिमृगराड् गगनम् ।
श्रुतविग्रहः श्रुतविनेययुतो दधदभ्रचारमथ योगदशा ॥ ७३ ॥

सरस्वती ने इस बात को स्वीकार कर लिया । तब वे योगिराज आकाश में उड़ गये । शङ्कर अपने विद्वान् शिष्यों के साथ योगबल से आकाश में भ्रमण करने लगे ॥ ७३ ॥

स ददर्श कुत्रचिदमर्त्यमिव त्रिदिवच्युतं विगतसत्त्वमपि ।
मनुजेश्वरं परिवृतं प्रलपत्प्रमदाभिरार्तिमदमात्यजनम् ॥ ७४ ॥

उन्होंने किसी स्थान पर स्वर्ग से गिरे देवता के समान, प्रलाप करने-वाली युवती स्त्रियों से घिरे हुए, दुःखी मन्त्रियों से युक्त मरे हुए किसी राजा को देखा ॥ ७४ ॥

अथो निशाखेटवशादटव्यां मूले तरोर्मोहवशात् परासुम् ।
तं वीक्ष्य मार्गेऽमरकं नृपालं सनन्दनं प्राह स संयमीन्द्रः ॥७५॥

इस राजा का नाम अमरुक था जो जंगल में शिकार करने गया था और रात को पेड़ के नीचे मूर्च्छा के कारण मर गया था। उस राजा को देखकर यतिराज शङ्कर सनन्दन से बोले—॥ ७५ ॥

सौन्दर्यसौभाग्यनिकेतसीमाः परःशता यस्य पयोरुहाक्ष्यः ।
स एष राजाऽमरकाभिधानः शेते गतासुः श्रमतो धरण्याम् ॥७६॥

जिसके घर में सौन्दर्य तथा सौभाग्य के आश्रयभूत सौ से ऊपर सुन्दरियाँ निवास करती हैं वही यह अमरुक नामक राजा पृथ्वी-तल पर श्रम के कारण मरा पड़ा है ॥ ७६ ॥

प्रविश्य कायं तमिमं परासोर्नृपस्य राज्येऽस्य सुतं निवेश्य ।
योगानुभावात् पुनरप्युपैतुमुत्कण्ठते मानसमस्मदीयम् ॥७७॥

मेरा मन इस मृत राजा के शरीर में प्रवेश कर तथा सिंहासन पर इसके पुत्र को रखकर योग के प्रभाव से फिर लौट आने के लिये उत्कण्ठित हो रहा है ॥ ७७ ॥

अन्यादृशानामदसीयनानाकुशेशयाक्षीकिलकिंचितानाम् ।
सर्वज्ञतानिर्हरणाय सोऽहं साक्षित्वमप्याश्रयितुं समीहे ॥ ७८ ॥

सर्वज्ञता के निर्वाह के लिये इस राजा की अनेक प्रकार की कमलनयनी स्त्रियों के विलक्षण हाव-भाव को साक्षात् देखने की भी मेरी इच्छा है ॥७८॥

इत्यूचिवांसं यतितल्लजं तं सनन्दनः प्राह ससान्त्वमेनम् ।
सर्वज्ञ नैवाविदितं तवास्ति तथाऽपि भक्तिर्मुखरं तनोति ॥७९॥

इस प्रकार कहने पर उस यति-प्रवर से सनन्दन शान्ति से बोले—हे सर्वज्ञ ! आपको कोई विषय अज्ञात नहीं है, तथापि आपकी भक्ति मुझे वाचाल बना रही है अर्थात् बोलने के लिये बाधित कर रही है ॥७९॥

मत्स्येन्द्रनाथ की कथा

मत्स्येन्द्रनामा हि पुरा महात्मा गोरक्षमादिश्य निजाङ्गगुप्त्यै ।
नृपस्य कस्यापि तनुं परासोः प्रविश्य तत्पत्तनमाससाद ॥८०॥

सुनते हैं कि प्राचीन काल में महात्मा मत्स्येन्द्र अपने शरीर की रक्षा के लिये गोरखनाथ को आज्ञा देकर मरे हुए किसी राजा के शरीर में प्रवेश कर उनके नगर में गये ॥ ८० ॥

टिप्पणी—**मत्स्येन्द्रनाथ**—आप 'नाथ सम्प्रदाय' के प्रवर्तक हैं। सिद्ध पुरुष हैं। इनके प्रादुर्भाव की कथा स्कन्दपुराण नागर खण्ड (२६२ अध्याय) तथा नारदपुराण उत्तर भाग (वसु-मोहिनी-संवाद के ६९ अध्याय) में दी गई है। इसके विषय में अनेक दन्तकथाएँ हैं। कहा जाता है कि किसी ऋषि के वीर्य को निगल जाने पर एक मछली के उदर से इनका जन्म हुआ। इसी लिये ये मत्स्यनाथ, मीननाथ, सिद्धनाथ आदि भिन्न भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। गर्भावस्था में ही इन्होंने शिवजी के पार्वती के प्रति दिये गये अध्यात्मविद्या के उपदेशों को सुना। जन्म लेते ही प्राक्तन पुण्य के कारण इन्हें सिद्धि प्राप्त हो गई। ये भगवान् 'आदिनाथ' शङ्कर के साक्षात् शिष्य तथा गोरखनाथ के गुरु थे। इनके विषय में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः ।
मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम् ॥

कहा जाता है कि एक बार इन्होंने अपने शरीर को छोड़कर सिंहलद्वीप के राजा के शरीर में प्रवेश किया। कहीं-कहीं किसी स्त्रीराज्य में जाने तथा उस देश की महारानी के चंगुल में फँसने की बात भी कही जाती है। इनके शरीर की रक्षा का भार 'गोरखनाथ' के ऊपर था। जब बहुत दिन बीत गये और गुरु न लौटे, तब गोरखनाथ को चिन्ता हुई। वे अपने गुरु की खोज में

निकले और जालन्धरनाथ के शिष्य 'कानीफनाथ' के कथनानुसार ये उस स्त्रीराज्य में (या सिंहलद्वीप में) गये और अपने गुरु के हृदय में, तबले पर विचित्र ठेका बजाकर, स्मृति जाग्रत की। सुनते हैं, उस तबले से "जाग मुछन्दर गोरख आया" की सार्थक ध्वनि निकलती थी। मत्स्येन्द्र को होश हुआ और वे अपने पूर्व शरीर में लौट आये। मत्स्येन्द्रनाथ ने गोरखनाथ की सिद्धियों की परीक्षा के लिये ऐसा किया था। वे 'कायव्यूह' की रचना कर एक काय से यह लीला दिखाते और दूसरे से भँवरगुफा में बैठकर निर्विकल्प समाधि में लीन थे। इनके गुरु-भाई का नाम 'जालन्धरनाथ' था जिनके दो प्रिय शिष्य हुए—'कानीफनाथ' और बङ्गाल के काञ्चनपुर राज्य के राजा 'त्रैलोक्यचन्द्र' की महारानी तथा राजा गोपीचन्द की माता मैनावती। समस्त उत्तर भारत में ही नहीं, प्रत्युत महाराष्ट्र में भी इनके नाम से सम्बद्ध स्थान पाये जाते हैं। महाराष्ट्र में सतारा ज़िले में 'मत्स्येन्द्रगढ़' नामक एक पर्वत है जहाँ से मत्स्येन्द्रनाथ की पालकी पण्ढरपुर आया करती है। 'मत्स्येन्द्रासन' आपके ही नाम से सम्बद्ध है। मत्स्येन्द्रसंहिता आपकी योगशास्त्र-विषयक रचना है। इसके विषय में विपुल साहित्य है। द्रष्टव्य—ज्ञानेश्वरचरित्र पृष्ठ ६७-७५; कल्याण—सन्तांक, पृष्ठ ४७९-८१; नाथलीलामृत तथा भक्तिविजय (मराठी)।

भद्रासनाध्यासिनि योगिवर्ये भद्राण्यनिद्राण्यभवन् प्रजानाम्।
ववर्ष कालेषु बलाहकोऽपि सस्यानि चाऽऽशास्यफलान्यभूवन्॥८१॥

उन योगियों में श्रेष्ठ महात्मा के राज्यसिंहासन पर बैठने पर प्रजाओं का कल्याण सावधानता से सम्पन्न हुआ। उचित समय पर मेघ भी बरसता था तथा अन्न इच्छानुसार ही फल देता था॥ ८१ ॥

विज्ञाय विज्ञाः सचिवा नृपस्य काये प्रविष्टं कमपीह दिव्यम्।
समादिशन् राजसरोरुहाक्षीः सर्वात्मना तस्य वशीक्रियायै॥८२॥
संगीतलास्याभिनयादिमेषु संसक्तचेता ललितेषु तासाम्।
स एष विस्मृत्य मुनिः समाधिं सर्वात्मना प्राकृतवद् बभूव॥८३॥

विज्ञ मन्त्रियों ने राजा के शरीर में प्रविष्ट किसी दिव्य पुरुष को जान-कर राजा की सुन्दरी स्त्रियों को सब तरह से उन्हें वश में करने की आज्ञा दी। उन स्त्रियों के संगीत, नृत्य, अभिनय आदि लीलाओं में आसक्त होकर मुनि ने अपनी समाधि को भुला दिया और सब तरह से साधारण पुरुषों की तरह व्यवहार करने लगे ॥ ८२-८३ ॥

गोरक्ष एषोऽथ गुरोः प्रवृत्तिं विज्ञाय रक्षन् बहुधाऽस्य देहम् ।
निशान्तकान्तानटनोपदेष्टा नितान्तमस्याभवदन्तरङ्गः ॥ ८४ ॥

इसके अनन्तर गोरखनाथ गुरु का वृत्तान्त जानकर अनेक प्रकार से गुरु के देह की रक्षा करते हुए अन्तःपुर में रहनेवाले, स्त्रियों के नृत्य-विद्या के शिक्षक बनकर गुरु के अत्यन्त अन्तरङ्ग बन गये ॥ ८४ ॥

तत्रैकदा तत्त्वनिबोधनेन निवृत्तरागं निजदेशिकं सः ।
योगानुपूर्वीमुपदिश्य निन्ये यथापुरं प्राक्तनमेव देहम् ॥ ८५ ॥

वहाँ एक दिन तत्त्वज्ञान के बतलाने से राग-रहित होनेवाले अपने गुरु को गोरख ने योग का उपदेश देकर फिर से पुराने देह में प्रवेश करा दिया ॥ ८५ ॥

हन्तेदृशोऽयं विषयानुरागः किंचोर्ध्वरेतोव्रतखण्डनेन ।
किं नोदयेत् किल्बिषमुल्बणं ते कृत्यं भवानेव कृती विवेक्तुम् ॥ ८६ ॥

अहो ! यह विषय का अनुराग इतना विलक्षण है। संन्यासी के व्रत के खण्डित हो जाने पर क्या आपको महान् पातक न लगेगा ? इसलिये आप अपने कार्य का विचार स्वय करने में समर्थ हैं ॥ ८६ ॥

व्रतमस्मदीयमतुलं क्व महत्क्व च कामशास्त्रमतिगर्ह्यमिदम् ।
तदपीष्यते भगवतैव यदि ह्यनवस्थितं जगदिहैव भवेत् ॥ ८७ ॥

कहाँ तो यह हमारा अनुपम संन्यास व्रत ! और कहाँ यह अति निन्दनीय कामशास्त्र ! तो भी यदि आप उसी कामशास्त्र की चर्चा करना चाहते हैं तो जगत् में बड़ी अव्यवस्था हो जायगी ॥ ८७ ॥

अधिमेदिनि प्रथयितुं शिथिलं धृतकङ्कणस्य यतिधर्ममिमम् ।
भवतः किमस्त्यविदितं तदपि प्रणयान्मयोदितमिदं भगवन् ॥८८॥

इस पृथ्वी-मण्डल पर संन्यासधर्म पहले से ही शिथिल हो गया है। आप उसे प्रकट करने की प्रतिज्ञा करनेवाले हैं। आप क्या इस बात को नहीं जानते? तथापि हे भगवन्! मैंने ये सब बातें प्रेम से कही हैं ॥ ८८ ॥

स निशम्य पद्मचरणस्य गिरं गिरति स्म गीष्पतिसमप्रतिभः ।
अविगीतमेव भवता फणितं शृणु सौम्य वच्मि परमार्थमिदम् ॥८९॥

पद्मपाद के ये वचन सुनकर बृहस्पति के समान शङ्कर बोले—आपके वचन अत्यन्त प्रशंसनीय हैं। तो भी हे सौम्य! सावधान होकर परमार्थ की इस बात को सुनो ॥ ८९ ॥

असङ्गिनो न प्रभवन्ति कामा हरेरिवाऽऽभीरवधूसखस्य ।
वज्रोलियोगप्रतिभूः स एष वत्सावकीर्णित्वविपर्ययो नः ॥९०॥

जिस प्रकार गोपियों के संग रहने पर भी श्रीकृष्णचन्द्र में किसी प्रकार की काम-वासना उत्पन्न नहीं हुई थी उसी प्रकार आसक्ति-रहित मनुष्य के हृदय में काम उत्पन्न नहीं होता। हे वत्स! इस वज्रोली नामक योग से हमारे व्रत में किसी प्रकार की क्षति नहीं होगी ॥ ९० ॥

टिप्पणी—वज्रोली हठयोग की बड़ी उन्नत साधना है। जिसे यह सिद्ध हो जाती है उसे स्त्री-प्रसंग करने पर भी वीर्यक्षय नहीं होता। यह कठिन साधना अन्य साधनाओं के समान गुरु-कृपा से ही संवेद्य है। इसके विषय में 'हठयोग-प्रदीपिका (३।८५) कहती है—

मेहनेन शनैः सम्यक्, ऊर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषो वापि नारी वा, वज्रोलिं सिद्धिमाप्नुयात् ॥

संकल्प एवाखिलकाममूलं स एव मे नास्ति समस्य विष्णोः ।
तन्मूलहानौ भवपाशनाशः कर्तुः सदा स्याद् भवदोषदृष्टेः ॥९१॥

अविचार्य यस्तु वपुराद्यहमित्यभिमन्यते जडमतिः सुदृढम् ।
तमबुद्धतत्त्वमधिकृत्य विधिप्रतिषेधशास्त्रमखिलं सफलम् ॥ ९२ ॥

सङ्कल्प ही समस्त इच्छाओं का मूल है। वह सङ्कल्प कृष्ण के समान मुझमें नहीं है। संसार में दोष-दृष्टि रखनेवाला पुरुष यदि किसी कार्य का कर्ता भी हो तो भी संकल्प के अभाव में यह संसार उसे बन्धन में नहीं डालता; इसका नाश अवश्यंभावी है। जो जड़बुद्धि पुरुष बिना विचार किये इस शरीर को ही चैतन्यमय आत्मा मानता है, तत्त्व को न जाननेवाले उसी मनुष्य के विषय में समग्र विधि तथा निषेध बतलानेवाला शास्त्र सफल है ॥ ९१-९२ ॥

कृतधीस्त्वनाश्रममवर्णमजात्यवबोधमात्रमजमेकरसम् ।
स्वतयाऽवगत्य न भजेन्निवसन्निगमस्य मूर्ध्नि विधिकिंकरताम् ९३

वेदान्त का अध्ययन करनेवाला मनुष्य आश्रमहीन, वर्ण-रहित, जातिहीन, ज्ञान मात्र, अज, एकरस, आत्मा को अपना ही स्वरूप जान लेता है तब वेद के उन्नत उपदेशों में रमण करनेवाला वह विद्वान् विधि-विधानों का दास नहीं बनता ॥ ९३ ॥

कलशादि मृत्प्रभवमस्ति यथा मृदमन्तरा न जगदेवमिदम् ।
परमात्मजन्यमपि तेन विना समयत्रयेऽपि न समस्ति खलु ॥९४॥

घड़ा आदि वस्तुएँ मिट्टी से बनी हुई हैं। वे मिट्टी को छोड़कर एक क्षण के लिये भी अलग नहीं रह सकतीं, उसी प्रकार परमात्मा से उत्पन्न होनेवाला यह संसार परमात्मा को छोड़कर त्रिकाल में भी अपनी पृथक् सत्ता को नहीं धारण कर सकता ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—संसार का यह नियम है कि कल्पित वस्तु की सत्ता अधिष्ठान को छोड़कर पृथक् नहीं रह सकती। रस्सी में कल्पित सर्प की भावना रस्सी को छोड़कर अलग नहीं टिक सकती। उसी प्रकार यह जगत् भी परमात्मा में कल्पित है। उसे छोड़कर यह एक क्षण के लिये अलग नहीं ठहर सकता।

इस विषय के विशेष प्रतिपादन के लिये देखिए "तदन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" सूत्र (ब्रह्मसूत्र २।१।१४) पर आचार्य शङ्कर का भाष्य।

कथमज्यते जगदशेषमिदं कलयन् मृषेति हृदि कर्मफलैः।
न फलाय हि स्वपनकालकृतं सुकृतादि जात्वनृतबुद्धिहतम्॥९५॥

यह सम्पूर्ण संसार झूठा है, इस विषय को हृदय में जाननेवाले पुरुष को कर्मों के फल उसी प्रकार लिप्त नहीं करते, जिस प्रकार स्वप्न में किये गये पुण्य और पाप जागृत अवस्था में झूठे होने के कारण किसी प्रकार का बुरा या भला फल नहीं फलते॥ ९५॥

तदयं करोतु हयमेधशतान्यमितानि विप्रहननान्यथवा।
परमार्थविन्न सुकृतैर्दुरितैरपि लिप्यतेऽस्तमितकर्तृतया॥ ९६॥

चाहे वह सौ अश्वमेध यज्ञ करे, चाहे ब्राह्मणों की अगणित हत्या करे परन्तु परमार्थ को जाननेवाला पुरुष सुकृत या दुष्कृत से लिप्त नहीं होता क्योंकि इन कार्यों के करने में उसका कर्तृत्व-भाव नष्ट हो गया रहता है॥ ९६॥

टिप्पणी—कर्म का फल उसे ही प्राप्त होता है जो उन कर्मों के करने में अहङ्कार रखता है। परन्तु ज्ञान के द्वारा इस अहङ्कार-बुद्धि के नष्ट हो जाने पर कर्ता को किसी प्रकार का फल नहीं मिलता। पतञ्जलि ने परमार्थसार में क्या ही ठीक कहा है—

हयमेधसहस्राण्यप्यथ कुरुते ब्रह्मघातलक्षाणि।
परमार्थविन्न पुण्यैर्न च पापैः लिप्यते क्वापि॥ ७७॥

अवधीत् त्रिशीर्षमददाच्च यतीन् वृकमण्डलाय कुपितः शतशः।
बत लोमहानिरपि तेन कृता न शतक्रतोरिति हि बह्वृचगीः॥९७॥

इन्द्र ने त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरस विश्वरूप को मार डाला तथा अनेक यतियों को भेड़ियों के सामने खाने के लिये दे दिया। इस कर्म से इन्द्र का एक भी बाल बाँका न हुआ। ऐसा ऋग्वेद का स्पष्ट कथन है॥ ९७॥

टिप्पणी—**त्रिशिरा**—इन्द्र के द्वारा त्रिशिरा के वध की सूचना ऋग्वेद के मन्त्रों में पाई जाती है। त्रिशिरा ऋषि के तीन सिर थे। ये त्वष्टा के पुत्र थे—अतः 'त्वाष्ट्र' कहलाते थे। वृहद्देवता (६-१-१४९) के अनुसार ये असुरों की भगिनी के पुत्र थे। इस प्रकार असुरों के भागिनेय लगते थे। इन्होंने देवताओं की आँख बचाकर अपने मामा के मङ्गल के लिये दुष्ट कार्य करना चाहा। इस पर इन्द्र ने अपने वज्र से इनके तीनों सिरों को काट गिराया। सोम पीनेवाले मुख से कपिञ्जल, सुरा पीनेवाले मुख से कलविङ्क, अन्न खानेवाले मुख से तित्तिरि की उत्पत्ति हुई। उसी समय आकाशवाणी ने इन्द्र को 'ब्रह्महा' बतलाकर दोषी ठहराया। तब सिन्धुद्वीप ऋषि ने आपो हि ष्ठाः (ऋग्वेद १० । ९) सूक्त के द्वारा अभिषेक कर इन्द्र को पापमुक्त कर दिया।

त्वाष्ट्रवध-बोधक मन्त्र यह है—

स पित्र्याण्यायुधानि विद्वान् इन्द्रेषित आप्त्यो अभ्ययुध्यत् ।
त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिं जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन्निः ससृजे त्रितो गाः ॥
—ऋ० वे० १० । ८ । ८०

सांख्यायन श्रौत सूत्र (१४ । ५० । १), सांख्यायन आरण्यक (५ । १) तथा कौषीतकि उप० (३ । १) में इसका स्पष्ट निर्देश है। उपनिषद् के कथनानुसार ज्ञानी होने से इन्द्र को यह पातक नहीं लगा। 'त्रिशीर्षाणं त्वाष्ट्रमहनम-वाङ्मुखान्यतीञ्शालावृकेभ्यः प्रायच्छं तस्य मे तत्र लोमानि न मीयते स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन न भ्रूणहत्यया।' अतः इन्द्र के रहस्य को जाननेवाला पुरुष भी किसी प्रकार के पातक से लिप्त नहीं होता। आचार्य के कथन का भी यही अभिप्राय है।

बहुदक्षिणैरयजत क्रतुभिर्विबुधानतर्पयदसंख्यधनैः ।
जनकस्तथाऽप्यभयमाप परं न तु देहयोगमिति काण्ववचः ॥९८॥

जनक ने बहुत सी दक्षिणा देकर अनेक यज्ञ किये थे। असंख्य धन देकर ब्राह्मणों को तृप्त किया था तथा उन्होंने भयरहित ब्रह्म को प्राप्त किया। इन कर्मों के फल भोगने के लिये उन्हें संसार में फिर से नहीं आना पड़ा। ऐसा काण्व शाखा का वचन है॥ ९८ ॥

टिप्पणी—ब्रह्मवादी जनक के चरित्र का वर्णन 'बृहदारण्यक' उपनिषद् के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में विस्तार के साथ दिया हुआ है। इनके गुरु ऋषि याज्ञवल्क्य थे। ये परम कर्मयोगी थे। राजा होने पर भी इतने ममताहीन थे कि इन्होंने स्पष्ट रूप से कहा था कि इस पूरी मिथिला के जल जाने पर मेरा कुछ भी नहीं जल जायगा। 'मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दहति किञ्चन' ॥

न विहीयतेऽहिरिपुवद्द दुरितैर्न च वर्धते जनकवत् सुकृतैः ।
न स तापमेत्यकरवं दुरितं किमहं न साध्वकरवं त्विति च ॥९९॥

तत्त्ववेत्ता पुरुष वृत्र के शत्रु इन्द्र के समान न तो पापों से अवनति को प्राप्त करता है और न जनक के समान पुण्यों से वृद्धि पाता है। वह पाप मैंने क्यों किया तथा क्यों अच्छा काम किया ? इस प्रकार का सन्ताप उसे कभी नहीं होता ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक को प्रतिपादन करनेवाली श्रुति इस प्रकार है—

तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुत एवं ह वाव न तपति किमहं साधु नाकरवं किमहं पापमकरवम् ।

तदनङ्गशास्त्रपरिशीलनमप्यमुनैव सौम्य करणेन कृतम् ।
न हि दोषकृत्तदपि शिष्टसरण्यवनार्थमन्यवपुरेत्य यते ॥१००॥

इसलिये हे सौम्य ! इस शरीर से काम-शास्त्र का परिशीलन करने पर भी वह मुझे किसी प्रकार का दोष उत्पन्न नहीं करेगा तथापि शिष्ट लोगों के मार्ग का पालन करने के लिये मैं दूसरे शरीर को प्राप्त कर यत्न करूँगा ॥ १०० ॥

इति सत्कथाः स कथनीययशा भवभीतिभञ्जनकरीः कथयन् ।
सुदुरासदं चरणचारिजनैर्गिरिशृङ्गमेत्य पुनरेव जगौ ॥ १०१ ॥

यशस्वी शङ्कर संसार के भय को दूर करनेवाली इन कथाओं को कहकर पैदल चलनेवाले लोगों के लिये दुर्गम पर्वत शिखर पर चढ़कर फिर बोले—॥ १०१ ॥

अथ साऽनुपश्यत विभाति गुहा पुरतः शिला समतला विपुला ।
सरसी च तत्परिसरेऽच्छजला फलभारनम्रतरुरम्यतटा ॥१०२॥

हे शिष्यो ! यह देखो । यह सुन्दर गुफा दिखाई पड़ रही है जिसके आगे एक विशाल समतल शिला पड़ी हुई है । उसके पास ही स्वच्छ जलवाली, फलों के भार से झुके हुए पेड़ों से रमणीय तटवाली, यह सरसी शोभित हो रही है ॥ १०२ ॥

परिपाल्यतामिह वसद्भिरिदं वपुरप्रमादमनवद्यगुणाः ।
अहमास्थितस्तदुचितं करणं कलयामि यावदसमेषुकलाम् ॥१०३॥

हे पूजनीय गुणवाले ! यहीं पर रहकर आप लोग मेरे इस शरीर को सावधनता से देखें, जब तक मैं राजा के शरीर में घुसकर काम की कला का अनुभव प्राप्त करता हूँ ॥ १०३ ॥

इति शिष्यवर्गमनुशास्य यमिप्रवरो विसृष्टकरणोऽधिगुहम् ।
महिपस्य वर्ष्म गुरुयोगबलोऽविशदातिवाहिकशरीरयुतः ॥१०४॥

इस प्रकार अपने विद्यार्थियों को सिखलाकर उस गुफा में अपने शरीर को छोड़कर शङ्कर ने केवल लिङ्गशरीर से युक्त हो, योगबल से राजा के शरीर में प्रवेश किया ॥ १०४ ॥

टिप्पणी—लिङ्गशरीर–श्लोक के 'आतिवाहिक शरीर' का अर्थ है लिङ्गशरीर जिसे ग्रहण कर जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करता है । पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सत्रह वस्तुओं के समुदाय को 'लिङ्गशरीर' कहते हैं । इस लिङ्गशरीर का वर्णन 'सांख्यकारिका' में इस प्रकार है—

पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।
संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ॥ ४० ॥

अङ्गुष्ठमारभ्य समीरणं नयन् करन्ध्रमार्गाद् बहिरेत्य योगवित् ।
करन्ध्रमार्गेण शनैः प्रविष्टवान् मृतस्य यावच्चरणाग्रमेकधीः॥१०५॥

उस योगी शङ्कर ने अपने शरीर के अङ्गुष्ठ से आरम्भ कर, दशम द्वार तक अपने प्राण-वायु को पहुँचाया और ब्रह्मरन्ध्र से बाहर जाकर मरे हुए राजा के शरीर में ब्रह्मरन्ध्र से होकर पैर के अँगूठे तक धीरे धीरे प्रवेश किया॥ १०५॥

टिप्पणी--करन्ध्रमार्ग=ब्रह्मरन्ध्रमार्ग।

गात्रं गतासोर्वसुधाधिपस्य शनैः समास्पन्दत हृत्प्रदेशे।
तथोदमीलन्नयनं क्रमेण तथोदतिष्ठत् स यथा पुरैव॥ १०६॥

मरे हुए राजा का हृदय-प्रदेश हिलने लगा। उसने आँख खोल दी और पहले की तरह उठ खड़ा हुआ॥ १०६॥

आदौ तदङ्गमुदयन्मुखकान्ति पश्चात्
नासान्तनिर्यदनिलं शनकैः परस्तात्।
उन्मीलदङ्घ्रिचलनं तदनूद्यदक्षि-
व्याकोचमुत्थितमुपात्तबलं क्रमेण॥ १०७॥

पहले शरीर के ऊपर मुख की कान्ति आई, पीछे नाक से धीरे धीरे वायु निकलने लगा, फिर पैर हिलने-डुलने लगे, अनन्तर नेत्र खुल गये। इस प्रकार धीरे-धीरे शरीर में प्राण का संचार हो गया॥ १०७॥

तं प्राप्तजीवमुपलभ्य पतिं प्रभूत-
हर्षस्वनाः प्रमुदिताननपङ्कजास्ताः।
नार्यो विरेजुररुणोदयसंप्रफुल्ल-
पद्माः ससारसरवा इव वारिजिन्यः॥ १०८॥

इस प्रकार पति को जीवित देखकर खिले हुए कमल के समान मुख-वाली अनेक स्त्रियाँ आनन्द के मारे शोर मचाने लगीं तथा उसी प्रकार शोभित हुईं जिस प्रकार अरुण के उदय होने पर खिले हुए कमलवाली, सारस के शब्दों से गुञ्जारित होनेवाली कमलिनी॥ १०८॥

हर्षं तासामुदितमतुलं वीक्ष्य वामेक्षणाना-

मात्तप्राणं नृपमपि महामात्यमुख्याः प्रहृष्टाः ।

दध्मुः शङ्खान् पणवपटहान् दुंदुभीश्चाभिजघ्नु-

स्तेषां घोषाः सपदि बधिरीचक्रिरे द्यां भुवं च॥१०९॥

उन वामनयनी स्त्रियों के अतुल हर्ष को जानकर तथा राजा को जीवित देखकर प्रधान मन्त्री लोग प्रसन्न हुए और उन्होंने शङ्खों को फूँका तथा पणव, पटह और दुन्दुभियों को बजाया। इन बाजों की तुमुल ध्वनि आकाश और पृथ्वी में गूँज उठी ॥ १०६ ॥

इति श्रीमाधवीये तत्सार्वज्ञ्योपायगोचरः ।

संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽयं नवमोऽभवत् ॥ ९ ॥

माधवीय शङ्कर-विजय में शङ्कराचार्य की सर्वज्ञता के उपाय

को बतलानेवाला नवम सर्ग समाप्त हुआ ।



दशम सर्ग

शङ्कर का काम-कला-शिक्षण

अथ पुरोहितमन्त्रिपुरःसरैर्नरपतिः कृतशान्तिककर्मभिः ।
विहितमाङ्गलिकः स यथोचितं नगरमास्थितभद्रगजो ययौ ॥१॥

इसके अनन्तर राजा शान्ति कर्म करनेवाले मन्त्री और पुरोहितों के साथ शास्त्र-विहित माङ्गलिक कृत्य समाप्त कर कल्याणकारक हाथी पर बैठकर नगर में गया ॥ १ ॥

समधिगम्य पुरं परिसान्त्वितप्रियजनः सचिवैः सह संमतैः ।
भुवमपालयदादृतशासनो नृपतिभिर्दिवमिन्द्र इवाधिराट् ॥ २ ॥

नगर में जाकर राजा ने अपने प्रियजनों को सान्त्वना दी। अन्य राजाओं के द्वारा उसका शासन आदर के साथ माना जाता था। उसने अपने अनुकूल मन्त्रियों के साथ पृथ्वी की उसी प्रकार रक्षा की जिस प्रकार इन्द्र स्वर्ग का पालन करते हैं ॥ २ ॥

इति नृपत्वमुपेत्य वसुंधरामवति संयमिभूभृति मन्त्रिणः ।
तमधिकृत्य परं कृतसंशया इति जजल्पुरनल्पधियो मिथः ॥३॥

इस प्रकार संयमियों में श्रेष्ठ शङ्कर के, राजा का रूप धारण कर पृथ्वी की रक्षा करने पर उनके विषय में मन्त्रियों ने सन्देह किया और उन लोगों ने आपस में इस प्रकार बातचीत की—॥ ३॥

मृतिमुपेत्य यथा पुनरुत्थितः प्रकृतिभाग्यवशेन तथा स्वयम् ।
नरपतिः प्रतिभाति न पूर्ववत् समुदिताखिलदिव्यगुणोदयः ॥४॥

राजा मर गया था लेकिन प्रजाओं के भाग्य से फिर से उठ बैठा। यह राजा पहिले की तरह नहीं मालूम पड़ता है, प्रत्युत समस्त दिव्य गुणों के उदय होने से यह अपूर्व प्रतीत हो रहा है ॥ ४ ॥

वसु ददाति ययातिवदर्थिने वदति गीष्पतिवद्ग गिरमर्थवित् ।
जयति फाल्गुनवत् प्रतिपार्थिवान् सकलमप्यवगच्छति शर्ववत्॥५॥

ययाति के समान याचकों को यह धन देता है; अर्थ को जाननेवाला यह राजा बृहस्पति के समान वचन बोलता है; अर्जुन के समान शत्रुओं को जीतता है और शङ्कर के समान सब कुछ जानता है ॥ ५ ॥

अनुसवननिसृत्वरैरपूर्वैर्वितरणपौरुषशौर्यधैर्यपूर्वैः ।
अनितरसुलभैर्गुणैर्विभाति क्षितिपतिरेष परः पुमानिवाऽऽद्यः ॥६॥

सवन (यज्ञ में सोमरस का निकालना) के बाद चारों ओर फैलनेवाले दान, पौरुष, शौर्य, धैर्य आदि अन्यत्र दुर्लभ आदर्श गुणों के द्वारा यह राजा साक्षात् परम पुरुष परमात्मा के समान प्रतीत होता है ॥ ६ ॥

अनृतुषु तरवः सुपुष्पिताग्रा बहुतरदुग्धदुघाश्च गोमहिष्यः ।
क्षितिरभिमतवृष्टिराढ्यसस्या स्वविहितधर्मरताः प्रजाश्च सर्वाः॥७॥

इसका प्रभाव प्रकृति (प्रजा) के ऊपर देखने ही योग्य है। वृक्ष अपनी उचित ऋतु के बिना ही फूलों के भार से लद गये हैं, गाय और भैंसें अधिक दूध देती हैं, पृथ्वी पर खूब वृष्टि हो रही है जिससे अन्न की वृद्धि होती है। समस्त प्रजा अपने विहित धर्म में लगी हुई हैं ॥ ७ ॥

कालस्तिष्यः सर्वदोषाकरोऽपि त्रेतामत्येत्यद्य राज्ञः प्रभावात् ।
तस्मादस्माद्राजवर्ष्म प्रविश्य प्राप्तैश्वर्यः शास्ति कश्चिद्धरित्रीम् ॥८॥

और क्या कहा जाय ? आज इस राजा के प्रभाव से सब दोषों का करनेवाला भी यह कलिकाल त्रेतायुग को अतिक्रमण कर वर्तमान है अर्थात् इस कलि में त्रेता से भी अधिक धर्म का आचरण हो रहा है। इससे जान पड़ता है कि कोई ऐश्वर्यशाली पुरुष राजा के शरीर में प्रवेश कर पृथ्वी का पालन कर रहा है ॥ ८ ॥

तदयं गुणवारिधिर्यथा प्रतिपद्येत न पूर्वकं वपुः ।
करवाम तथेति निश्चयं कृतवन्तः सचिवाः परस्परम् ॥ ९ ॥

"यह पुरुष गुणों का समुद्र है। हमें ऐसा करना चाहिए जिसमें यह अपने पूर्व शरीर को न प्राप्त करे"—ऐसा निश्चय मन्त्रियों ने आपस में किया ॥ ९ ॥

अथ ते भुवि यस्य कस्यचिद्व विगतासोर्वपुरस्ति देहिनः ।
अविचार्य तदाशु दह्यतामिति भृत्यान् रहसि न्ययोजयन् ॥१०॥

अनन्तर उन्होंने नौकरों को पृथ्वी पर पड़े हुए जिस किसी मृतक प्राणी के शरीर को बिना विचारे हुए शीघ्र जला देने की आज्ञा दी ॥१०॥

अथ राज्यधुरं धराधिपः परमाप्तेषु निवेश्य मन्त्रिषु ।
बुभुजे विषयान् विलासिनीसचिवोऽन्यक्षितिपालदुर्लभान् ॥११॥

तब राजा ने अपने विश्वस्त मन्त्रियों के ऊपर राज्य का भार रखकर विलासिनो स्त्रियों के साथ अन्य राजाओं के लिये दुर्लभ विषयों को भोगा ॥ ११ ॥

स्फटिकफलके ज्योत्स्नाशुभ्रे मनोज्ञशिरोगृहे
वरयुवतिभिर्दीव्यन्नक्षैर्दुरोदरकेलिषु ।
अधरदशनं बाहाबाहं महोत्पलताडनं
रतिविनिमयं राजाऽकार्षीद्व ग्लहं विजये मिथः॥१२॥

(इसके अनन्तर कवि उन भोगों का वर्णन कर रहा है) चाँदनी के समान चमकनेवाले, स्फटिक शिला पर सुन्दर तकियावाले घर में, सुन्दर स्त्रियों के साथ राजा जुआ खेलता था और एक दूसरे के जीत लेने पर अधर-दशन (होठों का चूमना), गोदी में लेना, बड़े-बड़े कमलों से मारना और विपरीत रति की बाजी रखता था ॥ १२ ॥

अधरजसुधाश्लेषाढ्‌च्यं सुगन्धि मुखानिल-
व्यतिकरवशात् कामं कान्ताकरात्तमतिप्रियम् ।
मधु मदकरं पायं पायं प्रियाः समपाययत्
कनकचषकैरिन्दुच्छायापरिष्कृतमादरात् ॥१३॥

वह स्त्री के होठों के स्पर्श होने से अत्यन्त मधुर, मुख वायु के संसर्ग से अत्यन्त सुगन्धित, कान्ता के हाथ से स्वयं लाये गये, मद करनेवाले, चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब पड़ने से चमकनेवाले, मद्य को बारम्बार स्वयं सोने के प्यालों में पीता था और अपनी प्यारी स्त्रियों को भी पिलाता था ॥ १३ ॥

मधुमदकलं मन्दस्विन्नं मनोहरभाषणं
निभृतपुलकं सीत्काराढ्यं सरोरुहसौरभम् ।
दरमुकुलिताक्षीषल्लज्जं विसृत्वरमन्मथं
प्रचरदलकं कान्तावक्त्रं निपीय कृती नृपः ॥१४॥

शराब की मस्ती में स्त्रियाँ अस्फुट अक्षर कहती थीं। उनके मुखों पर कुछ पसीने के बूँद थे। वे मुख मनोहर बोलनेवाले, रोमाञ्चित, सीत्कार करनेवाले, कमल के समान सुगन्धित, काम को प्रकट करनेवाले, लज्जा के मारे नेत्रों को कुछ बन्द करनेवाले थे तथा दोनों ओर लटकनेवाले बालों से सुसज्जित थे। स्त्रियों के ऐसे मुखों का बारम्बार चुम्बन कर राजा कृतकृत्य हुआ ॥ १४ ॥

विवृतजघनं संदष्टोष्ठं प्रणुन्नपयोधरं
प्रसृतभणितं प्राप्तोत्साहं रणन्मणिमेखलम् ।

निभृतकरणं नृत्यद्गात्रं गतेतरभावनं
प्रसृमरसुखं प्रादुर्भूतं किमप्यपदं गिराम् ॥१५॥

इसके बाद ऐसा सुरत आरम्भ हुआ जो वाणी के द्वारा नहीं प्रकट करने योग्य था; जिसमें जाँघें खुली हुई थीं; ओष्ठ दन्तक्षत से घायल थे; स्तन अत्यन्त पीड़ित थे; जो सुरतकालीन शब्द से युक्त, उत्साह से युक्त, मणि की करधनी के शब्दों से व्याप्त था। उस सुरत में गात्र नाच रहे थे तथा सुख चारों तरफ़ फैल रहा था ॥ १५ ॥

मनसिजकलातत्त्वाभिज्ञो मनोज्ञविचेष्टितः
सकलविषयव्यावृत्ताक्षः सदानुसृतोत्तमः।
कृतकुचगुरूपास्त्याऽत्यन्तं सुनिर्वृतमानसो
निधुवनवरब्रह्मानन्दं निरर्गलमन्वभूत् ॥ १६ ॥

काम-कलाओं के पण्डित तथा रमणीय चेष्टावाले राजा की इन्द्रियाँ सब विषयों में लगी हुई थीं। उत्तम स्त्रियों की सङ्गति से तथा स्तन-रूपी गुरु की सेवा करने से उनका हृदय अत्यन्त आह्लादित हो गया। उन्होंने मैथुनरूपी ब्रह्मानन्द को बिना किसी बाधा के अनुभव किया ॥ १६ ॥

पुरेव भोगान् बुभुजे महीभृत् स भोगिनीभिः सहितोऽप्यरंस्त।
कन्दर्पशास्त्रानुगतः प्रवीणैर्वात्स्यायने तच्च निरैक्षताद्धा ॥ १७ ॥

पहिले की तरह राजा ने भोगों को भोगा। स्त्रियों के साथ रमण किया। कामशास्त्र के रहस्य को जाननेवाले राजा ने कामशास्त्र में निपुण मित्रों के साथ बातचीत का आनन्द उठाया तथा उस शास्त्र का स्वयं अभ्यास किया ॥ १७ ॥

टिप्पणी—'कामशास्त्र' को यहाँ पर उसके कर्ता के नाम पर 'वात्स्यायन' कहा गया है। वात्स्यायन एक नितान्त प्राचीन ऋषि थे जिन्होंने प्राणियों पर दया कर काम के रहस्यों को समझाने के लिये 'कामसूत्र' नामक पुस्तक लिखी है। इसमें हैं सात अधिकरण, छत्तीस अध्याय, ६४ प्रकरण तथा १६६४

सूत्र। स्थान-स्थान पर प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किये हैं। यह ग्रन्थ प्राचीन है। लगभग तृतीय शतक में इसकी रचना की गई थी।

वात्स्यायनप्रोदितसूत्रजातं तदीयभाष्यं च निरीक्ष्य सम्यक्।
स्वयं व्यधत्ताभिनवार्थगर्भं निबन्धमेकं नृपवेषधारी ॥ १८ ॥

वात्स्यायन के विरचित सूत्रों को तथा उनके भाष्य को भली भाँति विचारकर राजा के वेश को धारण करनेवाले शङ्कर ने अभिनव अर्थ से युक्त एक निबन्ध स्वयं बनाया ॥ १८ ॥

पाराशर्यवनिभृति प्रविश्य राज्ञो
वर्ष्मैवं विहरति तद्विलासिनीभिः।
दृष्ट्वा तत्समयमतीतमस्य शिष्या
रक्षन्तो वपुरितरेतरं जजल्पुः ॥ १९ ॥

संन्यासियों में श्रेष्ठ शङ्कर को राजा के शरीर में घुसकर उसकी सुन्दरियों के साथ इस प्रकार विहार करते हुए बहुत दिन बीत गये। पर शिष्यों ने शरीर की रक्षा करते हुए देखा कि निश्चित अवधि बीत गई। इसलिये वे आपस में इस प्रकार बातचीत करने लगे—॥ १९ ॥

आचार्यैरवधिरकारि मासमात्रं
सोऽतीतः पुनरपि पञ्चषाश्च घस्राः।
अद्यापि स्वकरणमेत्य नः सनाथान्
कर्तुं तन्मनसि न जायतेऽनुकम्पा ॥ २० ॥

गुरुजी ने तो केवल एक मास की अवधि निश्चित की थी। वह तो बीत ही गई, साथ ही साथ पाँच, छः दिन और भी बीत चले। अब भी अपने शरीर में आकर हम लोगों को कृतार्थ करने की दया उनके हृदय में उत्पन्न नहीं हो रही है ॥ २० ॥

किं कुर्मः क्व नु मृगयामहे क्व यामः
को जानन्निह वसतीति नोऽभिदध्यात्।

विज्ञातुं कथमिममीशमहे विचिन्त्या-
प्यासिन्धु क्षितितलमन्यगात्रगूढम् ॥ २१ ॥

हम लोग क्या करें ? कहाँ ढूँढ़े ? कहाँ जायँ ? वे कहाँ रहते हैं ? यह बात हमको कौन बतावेगा ? हम समुद्र से लेकर चारों ओर भूतल में खोजकर उन्हें जानने में कैसे समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि वे दूसरे शरीर में छिपे हुए हैं ॥ २१ ॥

गुरुणा करुणानिधिना ह्यधुना
यदि नो निहिता विहितास्त्यजिताः ।
जगति क्व गतिर्भजतां त्यजतां
स्वपदं विपदन्तकरं तदिदम् ॥ २२ ॥

गुरु करुणा के समुद्र ठहरे । उन्होंने यदि इस समय हम लोगों के ऊपर कृपा नहीं की और हमको छोड़ दिया, तो विपत्ति के नाश करनेवाले उनके चरणों की सेवा के निमित्त अपने सर्वस्व को छोड़नेवाले हम लोगों की गति इस संसार में कहाँ होगी ? ॥ २२ ॥

निःशेषेन्द्रियजाड्यहृन्नवनवाह्लादं मुहुस्तन्वती
नित्याश्लिष्टरजोयतीशचरणाम्भोजाश्रया श्रेयसी ।
निष्प्रत्यूहविजृम्भमाणवृजिनस्योद्वासना वासना
निःसीमा हृदयेन कल्पितपरीरम्भा चिरं भाव्यते ॥२३॥

रजोगुण से रहित आचार्य के चरण-कमल की वासना ही हमारे जीवन का परम आधार है । वह समग्र इन्द्रियों की जड़ता को दूर करनेवाली है । नये-नये आनन्दों को सदा देनेवाली है, कल्याणकारिणी है, निर्विघ्न उत्पन्न होनेवाले पातकों को दूर भगानेवाली है । उसी भावना का आलिङ्गन कर हम लोगों का हृदय दिन-रात जीवित है ॥ २३ ॥

फलितैरिव सत्त्वपादपैः परिणामैरिव योगसम्पदाम् ।
समयैरिव वैदिकश्रियां सशरीरैरिव तत्त्वनिर्णयैः ॥ २४ ॥

सघनैर्निजलाभवैभवात् सकुटुम्बैरुपशान्तिकान्तया ।
अतदन्यतयाऽखिलात्मकैरनुगृह्येय कदा नु धामभिः ॥ २५ ॥

फलनेवाले सत्त्वरूपी वृक्षों के समान, योग-सम्पत्ति के फलों के समान, वैदिक लक्ष्मी की शोभा के समान, शरीर को धारण करनेवाले तत्त्वों के निर्णय के समान, अपने लाभ की प्राप्ति से धन-युक्तों के समान, शान्ति-रूपी सुन्दरी से कुटुम्बयुक्त पुरुष के समान, उनसे पृथक् न होने के कारण, समस्त संसार के स्वरूप को धारण करनेवाले तेजस्वी गुरु के द्वारा हम लोग कब अनुगृहीत होंगे? आशय है कि ऐसे विशेष गुणों से मण्डित आचार्य शङ्कर हम लोगों पर कब दया करेंगे? ॥ २४-२५ ॥

अविनयं विनयन्नसतां सतामतिरयं तिरयन् भवपावकम् ।
जयति यो यतियोगभृतां वरो जगति मे गतिमेष विधास्यति॥२६॥

दुर्जनों के अविनय को दूर करते हुए, सज्जनों के अत्यन्त वेगवाले संसाराग्नि को शान्त करते हुए जो यतिराज जगत् में विजय प्राप्त करते हैं वे ही मेरी गति हैं ॥ २६ ॥

विगतमोहतमोहतिमाप्य यं विधुतमायतमा यतयोऽभवन् ।
अमृतदस्य तदस्य दृशः सृतावकतरेम तरेम शुगर्णवम् ॥ २७ ॥

मोह तथा अज्ञान को दूर करनेवाले जिन शङ्कराचार्य को पाकर संन्यासियों ने माया का तिरस्कार कर दिया उन्हीं शङ्कराचार्य के सुधा बरसानेवाले नेत्रों के मार्ग में जब हम लोग आयेंगे तभी हम लोग इस शोक के समुद्र को पार करेंगे अर्थात् आचार्य की दृष्टि जब पड़ेगी तब हम लोग कृतार्थ हो जायँगे ॥ २७ ॥

शुभाशुभविभाजकस्फुरणदृष्टिमुष्टिंधयः
क्षपान्धमतपान्थदुष्कथकदम्भकुक्षिंभरिः ।
कदा भवसि मे पुनः पुनरनाद्यविद्यातमः
प्रमृद्य गलितद्वयं पदमुदञ्चयन्नद्वयम् ॥ २८ ॥

द्वैत की भावना जिससे बिल्कुल दूर हो गई है, ऐसे अद्वैत-पद को प्रकाशित करते हुए वे अनादि अविद्या-रूपी अन्धकार को दूर करनेवाले शङ्कर मेरे नेत्रों के सामने कब आवेंगे? रात्रि के अन्धकार के समान भेदवादी मतों के ऊपर चलनेवाले राहियों को कुमार्ग में ले जानेवाले जो तार्किक लोग हैं उनके दम्भ को वे दूर करनेवाले हैं तथा शुभ और अशुभ के विभाग करनेवाली दृष्टि के सार को खींच लेनेवाले हैं॥ २८॥

मर्त्यानां निजपादपङ्कजजुषामाचार्य वाचा यया
रुन्धानो मतिकल्मषं त्वमिह किङ्कुर्वाणनिर्वाणया।
द्राङ् नाऽऽयास्यसि चेत् सुधीकृतपरीहासस्य दासस्य ते
दुःखान्तो नं भवेदितीड्य स पुनर्जानीहि मीनीहि मा॥२९॥

हे आचार्य, मुक्ति को भी किङ्करी बनानेवाली अपनी वाणी से आप अपने चरणसेवक मानवों के मति-दोष को दूर कर देते हैं। यदि आप शीघ्र न आवेंगे तो विद्वान् लोग हमारी हँसी उड़ावेंगे और किसी प्रकार हमारे दुःख का अन्त न हो पावेगा। अतः हे पूज्यचरण! आप इसे जान रखिए। हमें मत मारिए, शीघ्र पधारिए॥ २९॥

इति खेदमुपेयुषि मित्रजने प्रतिपन्नयतिक्षितिभृन्महिमा।
शुचमर्थवता शमयन् वचसा निजगाद सरोरुहपाद इदम्॥ ३०॥

इस तरह मित्र जनों के खिन्न होने पर यतिराज शङ्कर की महिमा को भली भाँति जाननेवाले पद्मपाद ने अर्थ-युक्त वचन से उनके शोक को दूर किया और वे यह कहने लगे—॥ ३०॥

पद्मपाद के विचार

पर्याप्तं नः क्लैब्यमुपेत्यात्र सखायः
कृत्वोत्साहं भूमिमशेषामपिधानात्।

अन्वेष्यामो भूविवराण्यप्यथ च द्यां
यद्वद्देवं देवमनुष्यादिषु गूढम् ॥ ३१ ॥

हे मित्र ! हम लोगों की नपुंसकता पर्याप्त हो चुकी। आओ, हम लोग मिलकर उत्साह के साथ समग्र भूमण्डल को खोज डालें। उसके बाद पाताललोक तथा आकाश को भी खोजेंगे, जिस प्रकार देवताओं और मनुष्यों में छिपे हुए देवता को कोई खोजता है ॥ ३१ ॥

अनिर्विण्णचेताः समास्थाय यत्नं
सुदुष्पापमप्यर्थमाप्नोत्यवश्यम् ।
मुहुर्विघ्नजालैः सुरा हन्यमानाः
सुधामप्यवापुर्ह्यनिर्विण्णचित्ताः ॥ ३२ ॥

क्या आप लोग नहीं जानते कि उत्साही आदमी यत्न करने से दुष्प्राप्य अर्थ को अवश्य प्राप्त कर लेता है। विघ्नों से बारम्बार ताड़ित किये जाने पर भी उत्साह-भरे देवताओं ने अति दुर्लभ सुधा को भी प्राप्त कर लिया ॥ ३२ ॥

यदप्यन्यगात्रप्रतिच्छन्नरूपो
दुरन्वेषणः स्याद्ध गुरुर्नस्तथाऽपि ।
स्वभानूदरस्थः शशीव प्रकाशै-
स्तदीयैर्गुणैरेव वेत्तुं स शक्यः ॥ ३३ ॥

यद्यपि हमारे गुरु दूसरे के शरीर में छिपे हैं अतएव उनका खोजना बहुत ही कठिन काम है तथापि अपने गुणों से वे उसी प्रकार जाने जा सकते हैं जिस प्रकार राहु के उदर में रहनेवाले चन्द्रमा अपने प्रकाश से ॥ ३३ ॥

इक्षुचापागमापेक्षया निर्गतो
वर्ष्म तस्योचितं कृष्णवर्त्मद्युतिः ।

विभ्रमाणां पदं सुभ्रुवां भूपतेः
प्राप्तुमर्हत्यकामाग्रणीः संयमी ॥ ३४ ॥

अग्नि के समान द्युतिवाले हमारे गुरु कामशास्त्र की प्राप्ति करने के लिये इस यतिवेश से निकलकर बाहर गये हैं। वे स्वयं संयमी हैं तथा कामहीन पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उन्होंने कामकला के जानने के लिये सुन्दरियों के विलासों के स्थानभूत किसी राजा के शरीर को प्राप्त किया होगा ॥ ३४ ॥

नित्यतृप्ताग्रयाय्याश्रिते निर्वृताः
प्राणिनो रोगशोकादिना नेक्षिताः ।
दस्युपीडोज्झिताः स्वस्वधर्मे रताः
कालवर्षी स्वराण्मेदिनी कामसूः ॥ ३५ ॥

हमारे गुरु नित्य तृप्त होनेवाले पुरुषों में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनके द्वारा आश्रित देश में सब प्राणी सुखी होंगे, रोग-शोकादि की उन पर दृष्टि न होगी; चोरों की पीड़ा से रहित होकर वे लोग अपने काम में निरत होंगे, इन्द्र ठीक समय पर वृष्टि करते होंगे, तथा पृथ्वी वाञ्छित फलों को देनेवाली होगी ॥ ३५ ॥

तदिहाऽऽलस्यमपास्य विचेतुं निरवधिसंसृतिजलधेः सेतुम् ।
देशिकवरपदकमलं यामो न वृथाऽनेहसमत्र नयामः ॥ ३६ ॥

आचार्य अनन्त संसाररूपी समुद्र के पार लगानेवाले सेतु के समान हैं। अब आलस्य छोड़कर गुरुवर शङ्कर के चरण-कमल को खोजने के लिये हम लोग बाहर निकल चलें। यहाँ व्यर्थ समय न बितावें ॥३६॥

इति जलरुहपदवचनं सर्वे मनसि निधाय निराकृतगर्वे ।
कांश्चित्तत्र निवेश्य शरीरं रक्षितुमन्ये निरगुरुदारम् ॥ ३७ ॥

इस प्रकार पद्मपाद के वचन को गर्वहीन सब शिष्यों ने ध्यान से सुना तथा उदार गुरु के शरीर की रक्षा करने में कुछ आदमियों को रखकर दूसरे लोग खोजने के लिये बाहर निकले ॥ ३७ ॥

ते चिन्वन्तः शैलाच्छैलं विषयाद्विषयं भुवमनुवेलम् ।
प्रापुर्धिक्कृतविबुधनिवेशान् स्फीतानमरकनृपतेर्देशान् ॥ ३८ ॥

वे लोग एक पहाड़ से दूसरे पर, एक देश से दूसरे देश में, समग्र पृथ्वी पर गुरु को खोजते हुए देवताओं के निवासों को तिरस्कृत करनेवाले अमरुक राजा के विशाल जनपद में पहुँचे ॥ ३८ ॥

मृत्वा पुनरभ्युत्थितमेनं श्रुत्वा वैन्यदिलीपसमानम् ।
त्यक्त्वा विरहजदैन्यममन्दं मत्वाऽऽचार्यं धैर्यमविन्दन् ॥ ३९ ॥

मरकर फिर से जीनेवाले, पृथु तथा दिलीप के समान गुणी राजा को सुनकर उन्होंने इसे अपना आचार्य शङ्कर समझा; विरह से उत्पन्न अधिक दीनता छोड़ी, धैर्य्य धारण किया ॥ ३९ ॥

ते च ज्ञात्वा गानविलोलं तरुणीसक्तं धरणीपालम् ।
विविशुः स्वीकृतगायकवेषा नगरं विदितसमस्तविशेषाः ॥ ४० ॥

जब उन्होंने जाना कि यह राजा युवतियों का प्रेमी तथा गान-विद्या में आसक्ति रखता है तब उन्होंने समस्त विशेष को जानकर गायक का वेश धारण कर नगर में प्रवेश किया ॥ ४० ॥

राज्ञे ज्ञापितविद्यातिशयास्ते तत्संग्रहविधृतातिशयाः ।
रमणीशतमध्यगमवनीन्द्रं ददृशुस्ताराहृतमिव चन्द्रम् ॥ ४१ ॥

उन शिष्यों ने राजा को वश में करने के लिये उसके सामने अपनी उत्कृष्ट विद्याएँ कह सुनाईं। शिष्यों ने राजा को सैकड़ों रमणियों से घिरा हुआ इसी प्रकार देखा जिस प्रकार चन्द्रमा तारों से घिरा हुआ हो ॥ ४१ ॥

वरचामरकरतरुणीकङ्कणरवणमनोहरपश्चाद्भागम् ।
गीतिगतिज्ञोद्गीतश्रुतिसुखतानसमुल्लसदग्रिमदेशम् ॥ ४२ ॥

सुन्दर चामर धारण करनेवाली स्त्रियों के कङ्कण से उसका मनोहर पिछला भाग रञ्जित हो रहा था तथा सङ्गीत के जाननेवाले कलावन्तों

के द्वारा गाई हुई कर्ण-सुखद तान से उसका अगला भाग चमक रहा था ॥ ४२ ॥

धृतचामीकरदण्डसितातपवारणरञ्जितरत्नकिरीटम् ।
श्रितविग्रहमिव रतिपतिमाश्रितभुवमिव सान्तःपुरममरेशम् ॥४३॥

रत्न का बना मुकुट सोने की डण्डीवाले सफ़ेद छाते से रञ्जित हो रहा था, जिससे जान पड़ता था मानों कामदेव ने शरीर धारण कर लिया है अथवा देवराज इन्द्र ने भूतल का आश्रय लिया है ॥ ४३ ॥

रुचिरवेषाः समासाद्य तां संसदं नयनसंज्ञावितीर्णासना भूभुजा ।
समतिसृष्टास्ततः सुस्वरं मूर्छनापदविदस्ते जगुर्मोहयन्तः सभाम् ॥४४

रुचिर वेशवाले शिष्यों ने उस सभा में उपस्थित होकर राजा के इशारे पर आसन ग्रहण किया तथा उनकी आज्ञा पाकर मूर्च्छना के जाननेवाले इन कलावन्तों ने सभा को मोहित करते हुए मधुर गाना गाया ॥ ४४ ॥

टिप्पणी--स्वरों के क्रम से आरोह तथा अवरोह को मूर्च्छना कहते हैं :—

क्रमात् स्वराणां सप्तानां आरोहश्चावरोहणम् । सा मूर्च्छेति उच्यते ।

भृङ्ग तव संगतिमपास्य गिरिशृङ्गे तुङ्गविटपिनि संगमजुषि त्वदङ्गे ।
स्वाङ्गरचिताः सकलुषान्तरङ्गाः संगमकृते भङ्गमुपयन्ति भृङ्गाः ॥४५।

(इस गान के व्याज से शिष्य लोग अपने गुरु का प्रबोध कर रहे हैं) उनका कहना है—हे भृङ्ग (श्रुति, स्मृति आदि पुष्प-रस के आस्वाद लेनेवाले) ! तुम्हारा साथ छोड़कर ऊँचे ऊँचे पेड़वाले पहाड़ की चोटी पर तुम्हारा निर्जीव शरीर पड़ा हुआ है। तुम्हारे शिष्यों का हृदय दुःख से भर गया है। वे लोग उस शरीर की रक्षा करने में बहुत क्लेश उठा रहे हैं ॥ ४५ ॥

पञ्चशरसमयसंचयकृते प्राज्ञं
मुञ्चन्निवेह संचरसि प्रपञ्चम् ।

पञ्चजनमुख पञ्चमुखमप्यनञ्चं-

स्त्वं च गतिरिति किंच किल वञ्चितोऽसि ॥ ४६ ॥

आप पञ्चशर कामदेव के सिद्धान्तों को ग्रहण करने के लिये प्राचीन शरीर को छोड़कर इस नये प्रपञ्च में घूम रहे हैं। हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! तुम अपने पञ्चमुखत्व अर्थात् शिव-स्वरूप को नहीं प्राप्त कर रहे हो। तुम हमारी गति हो, तुम क्यों ठग लिये गये हो ? ॥ ४६ ॥

पर्वशशिमुख सर्वमपहाय पूर्वं

कुर्वदिह गर्वमनुसृत्य हृदपूर्वम् ।

न स्मरसि वस्त्वस्मदीयमिति

कस्मात् संस्मर तदस्मर परमस्मदुक्त्या ॥ ४७ ॥

पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान सुन्दर मुखवाले हे शङ्कर ! आप शम. दम· आदि सब प्राचीन गुणों को भूलकर इस नये शरीर से अपना तादात्म्य समझ अभिमानी हो गये हैं। अपूर्व· हृदय को धारण कर रहे हैं। हमको आपने बिल्कुल भुला दिया। हे अकाम ! आप मेरे वचनों से अपने श्रेष्ठ स्वरूप को स्मरण कीजिए। इस नवीन वेश में आप अभिमान धारण न कर, अपने असली स्वरूप को धारण कीजिए ॥४७॥

आध्यात्मिक गायन

नेतिनेत्यादिनिगमवचनेन

निपुणं निषिध्य मूर्तामूर्तराशिम् ।

यदशक्यनिह्नवं स्वात्मरूपतया

जानन्ति कोविदास्तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ४८ ॥

[पद्मपाद का आध्यात्मिक गान यहीं से आरम्भ होता है जिसके द्वारा गीति के व्याज से परमतत्त्व का शास्त्रीय वर्णन प्रस्तुत किया गया है। यह गायन अद्वैत वेदान्त के रहस्यों से ओत-प्रोत है। इसे सुनते ही राजा

अमरुक को अपने शुद्ध रूप का परिचय मिल जाता है। राज्य पाने तथा भोग-विलास में लिप्त रहने की वाञ्छा समाप्त हो जाती है। यह गायन साहित्य तथा दर्शन दोनों दृष्टियों से नितान्त रमणीय है।]

उपनिषद् 'नेति' 'नेति' (यह नहीं, यह नहीं) वचनों के द्वारा मूर्त तथा अमूर्त समग्र पदार्थों का भली भाँति निषेध कर उसे इस जगत् का अधिष्ठान बतलाते हैं; सब प्राणियों के आत्मरूप होने के कारण उसका निषेध कथमपि नहीं किया जा सकता। जो पुरुष ब्रह्म का निषेध भी करता है तो उस निषेध का कोई साक्षी अवश्य ही होगा। साक्षीरूप से वही परमतत्त्व सर्वत्र अवभासमान हो रहा है। विद्वान् लोग जिसे आत्मस्वरूप जानते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो॥ ४८॥

खाद्यमुत्पाद्य विश्वमनुप्रविश्य
गूढमन्नमयादिकोशतुषजाले।
कवयो विविच्य युक्त्यवघाततो
यत्तण्डुलवदाददति तत्त्वमसि तत्त्वम्॥ ४९॥

चावल तुष (भूसी) के भीतर छिपा रहता है। चतुर लोग उसे कूटकर भूसी को अलग कर देते हैं और चावल को निकाल लेते हैं। परब्रह्म के साक्षात्कार की कथा इसी प्रकार की है। ब्रह्म ने आकाश आदि भूतों को उत्पन्न कर उसके भीतर प्रवेश किया। अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पाँचों कोशों के भीतर वह ऐसा छिपा हुआ है कि बाहरी दृष्टि रखनेवाले व्यक्तियों के लिये उसकी सत्ता का पता ही नहीं चलता। विद्वान् लोग युक्तियों से इसकी विवेचना कर चावल की भाँति जिस आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो॥ ४९॥

विषमविषयेषु संचारिणोऽक्षा-
श्वान् दोषदर्शनकशाभिघाततः।

स्वैरं संनिवर्त्य स्वान्तरश्मिभिर्धीरा
बध्नन्ति यत्र तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ५० ॥

सब इन्द्रियों के आश्रयभूत तत्त्व तुम्हीं हो। ऊँची-नीची भूमि पर मनमाना दौड़नेवाले घोड़ों को कोड़े मारकर रस्सियों से अच्छी तरह रोक-कर एक स्थान में खूँटे में बाँध दिया जाता है। उसी प्रकार हमारी इन्द्रियाँ विषम विषयों में लिप्त होकर सञ्चरण कर रही हैं। विद्वान् लोग विषयों में दोष दिखलाकर कोड़े मारकर उन्हें रोकते हैं तथा चित्त-वृत्ति रूपी रस्सियों से इन इन्द्रियरूपी अश्वों को जिस परमतत्त्व रूपी शङ्कु (खूँटे) में बाँधते हैं, वह तत्त्व तुम्हीं हो ॥ ५० ॥

टिप्पणी—इन्द्रियरूपी अश्वों का सुन्दर वर्णन कठोपनिषद् (३।३) में मिलता है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ॥
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ।

व्यावृत्तजाग्रदादिष्वनुस्यूतं
तेभ्योऽन्यदिव पुष्पेभ्य इव सूत्रम् ।
इति यदौपाधिकत्रयपृथक्त्वेन
विदन्ति सूरयस्तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ५१ ॥

तीन अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति (गाढ़ी नींद)। आत्मा इन तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत होकर भी इनसे पृथक् रहता है जिस प्रकार पुष्पमाला में डोरा सब फूलों में विद्यमान रहने पर भी उन सब से अलग रहता है। इन तीनों उपाधियों से पृथक् कर विद्वान् लोग जिस तत्त्व को जानते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो ॥ ५१ ॥

पुरुष एवेदमित्यादिवेदेषु
सर्वकारणतया यस्य सार्वात्म्यम् ।
हाटकस्येव मुकुटादितादात्म्यं
सरसमाम्नायते तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ५२ ॥

पुरुष के विषय में श्रुति कहती है—'पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्' (ऋ० वे० १० । ९० । २)=जो कुछ वर्तमान है, भूतकाल में था तथा भविष्यकाल में उत्पन्न होगा वह सब पुरुष (ब्रह्म) ही है; 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्' (छान्दोग्य ३ । १४ । १)=यह सब कुछ ब्रह्म ही है, उसी से इस विश्व की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय होता है। इन वचनों के द्वारा वह तत्त्व सब का कारण तथा सबका आत्मा बतलाया गया है जिस प्रकार सुवर्ण अपने कार्यरूप मुकुट आदि का कारण भी है तथा आत्मा भी है। वह परम तत्त्व तुम्हीं हो ॥ ५२ ॥

यश्चाहमत्र वर्ष्मणि भामि सोऽसौ योऽसौ
विभाति रविमण्डले सोऽहमिति ।
वेदवादिनो व्यतिहारतो यदध्यापयन्ति
यत्नतस्तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ५३ ॥

इस शरीर में जो चमक रहा है वही सूर्य-मण्डल में भी विद्यमान है और जो सूर्य-मण्डल में चमक रहा है वही इस शरीर में भी आत्मरूप से चमक रहा है। इस प्रकार व्यतिहार (परिवर्तन) के द्वारा वेदवादी लोग जिस तत्त्व को बतलाते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो ॥ ५३ ॥

टिप्पणी—उपनिषद् का यह स्पष्ट कथन है कि सूर्य-मण्डल के भीतर जो पुरुष प्रकाशित हो रहा है वही मनुष्य की दहिनी आँख में भी चमक रहा है। और पुरुष की दहिनी आँख में जो चमक रहा है सूर्य में वही विद्यमान है।—'असौ स आदित्यो य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः तावेतावन्योन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ ।'

वेदानुवचनसद्दानमुखधर्मैः
श्रद्धयाऽनुष्ठितैर्विद्यया युक्तैः ।
विविदिषन्त्यत्यन्तविमलस्वान्ता
ब्राह्मणा यद्ब्रह्म तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ५४ ॥

वेद के अध्ययन, दान, यज्ञ, तप आदि कर्मों को श्रद्धापूर्वक करने तथा उपासना करने से जिन ब्राह्मणों का हृदय अत्यन्त निर्मल हो जाता है वे ही ब्राह्मण जिस ब्रह्म को शुद्ध चित्त से जानने की इच्छा करते हैं वह तत्त्व तुम्हीं हो ॥ ५४ ॥

टिप्पणी—उपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि ब्राह्मण लोग वेद के अध्ययन, यज्ञ, दान, तपस्यादि के द्वारा उस परम तत्त्व के जानने की इच्छा करते हैं। इन धर्मों के सम्पादन करने से जब ज्ञानी पुरुष का चित्त निर्मल हो जाता है तब वह ब्रह्म के जानने में समर्थ होता है।—'तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन' (बृहदा० उपनिषद् ४ । ४ । २२)

शमदमोपरमादिसाधनैर्धीराः
स्वात्मनाऽऽत्मनि यदन्विष्य कृतकृत्याः ।
अधिगतामितसच्चिदानन्दरूपा
न पुनरिह खिद्यन्ते तत्त्वमसि तत्त्वम् ॥ ५५ ॥

विद्वान् लोग शम (मन का निग्रह), दम (इन्द्रियों का निग्रह), उपरम (वैराग्य) आदि साधनों के द्वारा अपनी बुद्धि में अपने स्वरूप से खोजकर अनन्त सच्चिदानन्द-रूप जिस तत्त्व के पाने में समर्थ होते हैं तथा उसे पाकर जन्म-मरण से रहित होकर आवागमन के क्लेश से मुक्त हो जाते हैं वह तत्त्व आप ही हैं ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में प्रतिपादित अर्थ का वर्णन श्रुति इस प्रकार करती है—'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहित आत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्येत् ।'

—बृहदारण्यक ४ । ४ । २३

अविगीतमेवं नरपतिराकर्ण्य वर्णितात्मार्थम् ।
विससर्ज पूरिताशानेताभ्भिर्ज्ञातकर्तव्यः ॥ ५६ ॥

राजा ने आत्मतत्त्व का वर्णन करनेवाले इस अनिन्दित गीत को सुनकर अपने कर्तव्य को भली भाँति पहिचान लिया और इनकी आशाओं को पूरा कर, इन्हें विदा किया ॥ ५६ ॥

उद्बोधितः सदसि तैरवलम्ब्य मूर्च्छां
निर्गत्य राजतनुतो निजमाविवेश ।
गात्रं पुरोदितनयेन स देशिकेन्द्रः
संज्ञामवाप्य च पुरेव समुत्थितोऽभूत् ॥ ५७ ॥

सभा में उन कलावन्तों के द्वारा समझाये जाने पर शङ्कर मूर्च्छित हो गये। उन्होंने राजा के शरीर को छोड़ दिया और अपने शरीर में पहले कहे गये प्रकार से घुस गये। चेतना को प्राप्त कर फिर वे उठ खड़े हुए ॥ ५७ ॥

तदनु कुहरमेत्यपूर्वदृष्टं नरपतिभृत्यविसृष्टपावकेन ।
निजवपुरवलोक्य दह्यमानं झटिति स योगधुरन्धरो विवेश ॥५८॥

इसके बाद पहिले देखी गई गुफा में जाकर योग-धुरन्धर शङ्कराचार्य ने देखा कि राजा के नौकरों ने उनके शरीर में आग लगा दी है तथा वह जल रही है। यह देखकर उन्होंने उसी जलते हुए शरीर में प्रवेश कर लिया ॥ ५८ ॥

सपदि दहनशान्तये महान्तं नरमृगरूपमधोक्षजं शरण्यम् ।
स्तुतिभिरधिकलालसत्पदाभिस्त्वरितमतोषयदात्मवित्प्रधानः॥५९॥

ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ शङ्कर ने इन्द्रियजन्य ज्ञान से अगम्य, शरण देनेवाले, नरसिंह भगवान् को सुन्दर पदवाली श्रुतियों से आग शीघ्र बुझा देने के लिये तुरन्त प्रसन्न किया ॥ ५९ ॥

नरहरिकृपया ततः प्रशान्ते प्रबलतरे स हुताशने प्रविष्टः ।
निरगमदचलेन्द्रकन्दरान्ताद्विधुरिव वक्त्रबिलाद्विधुन्तुदस्य ॥६०॥

उसके बाद नरसिंह की कृपा से आग शान्त हो गई। उस गुफा में घुसकर शङ्कर कन्दरा के भीतर से यों निकले जिस प्रकार चन्द्रमा राहु के मुँह के छेद से निकलता है ॥ ६० ॥

तदनु शमधनाधिपो विनेयैश्चिरविरहादतिवर्धमानहार्दैः ।
सनक इव वृतः सनन्दनाद्यैर्जिगमिषुराजनि मण्डनस्य गेहम् ॥६१॥

तत्पश्चात् तपस्वियों में श्रेष्ठ शङ्कर बहुत दिनों के विरह से अत्यन्त शोकाकुल होनेवाले सनन्दन आदि शिष्यों के साथ सनक ऋषि के समान मण्डन मिश्र के घर गये ॥ ६१ ॥

तदनु सदनमेत्य पूर्वदृष्टं गगनपथाद् गलितक्रियाभिमानम् ।
विषयविषनिवृत्ततर्षमुच्चैरतनुत मण्डनमिश्रमक्षिपात्रम् ॥ ६२ ॥

अनन्तर पहिले से पहचाने हुए घर में जाकर उन्होंने मण्डन मिश्र को देखा। उनका कर्मकाण्ड में अभिमान बिल्कुल नष्ट हो गया था और विषय-रूपी विष से उनकी अभिलाषा नितान्त दूर हो गई थी ॥ ६२ ॥

तं समीक्ष्य नभश्च्युतं स च प्राञ्जलिः प्रणतपूर्वविग्रहः ।
अर्हणाभिरभिपूज्य तस्थिवानीक्षणैरनिमिषैः पिबन्निव ॥ ६३ ॥

उन्हें आकाश से उतरे हुए देखकर मिश्रजी ने शरीर का अगला भाग झुकाकर प्रणाम किया और पलक न गिरानेवाले नेत्रों से उन्हें अनवरत देखकर उनकी पूजा करने के लिये वे खड़े रहे ॥ ६३ ॥

स विश्वरूपो बत सत्यवादी पपात पादाम्बुजयोर्यतीशः ।
गृहं शरीरं मम यच्च सर्वं तवेति वादी मुदितो महात्मा ॥ ६४ ॥

सत्यवादी विश्वरूप शङ्कर के चरण-कमलों पर गिर पड़े तथा 'यह घर, यह शरीर, मेरा सर्वस्व आपका ही है' यह कहते हुए वे नितान्त प्रसन्न हुए ॥ ६४ ॥

प्रेयसा प्रथममर्चितं मुनिं प्राप्तविष्टरमुपस्थितं बुधैः ।
प्रश्रयावनतमूर्तिरब्रवीच्छारदाऽभिवदने विशारदा ॥ ६५ ॥

बात चीत करने में अत्यन्त कुशल, प्रेम से प्रणाम करनेवाली मण्डन की पत्नी शारदा प्रिय पति के द्वारा पहिले पूजा किये गये, आसन पर बैठे हुए, पण्डितों के द्वारा चारों ओर से घिरे हुए, मुनि से बोली ॥ ६५ ॥

ईशानः सर्वविद्यानामीश्वरः सर्वदेहिनाम् ।
ब्रह्मणोऽधिपतिर्ब्रह्मन् भवान् साक्षात् सदाशिवः ॥ ६६ ॥

शारदा—समस्त विद्याओं के आप स्वामी हैं, सब प्राणियों के आप ईश्वर हैं, ब्रह्मा के आप स्वामी हैं। हे ब्रह्मन्! आप साक्षात् सदाशिव हैं ॥ ६६ ॥

सदसि मामविजित्य तथैव यन्मदनशासनकामकलास्वपि ।
तदवबोधकृते कृतिमाचरस्तदिह मर्त्यचरित्रविडम्बनम् ॥ ६७ ॥

सभा में मुझे न जीतकर कामशास्त्र में कथित कामकलाओं के जानने लिये आपने जो कुछ प्रयत्न किया है, वह मानव-चरित्र का अनुकरण मात्र है। अन्यथा आप सर्वज्ञ हैं, जगत् की कोई विद्या नहीं जो आपसे अपरिचित हो ॥ ६७ ॥

त्वया यदावां विजितौ परात्मन्न तत्त्रपामावहतीड्य सर्वथा ।
कृताऽभिभूतिर्न मयूखशालिना निशाकरादेरपकीर्तये खलु ॥ ६८ ॥

हे पूजनीय! आपने हम दोनों स्त्री-पुरुषों को पराजित किया है उससे हम लोगों को किसी प्रकार की लज्जा नहीं है। क्या सूर्य के द्वारा किया गया पराभव चन्द्रमा की अपकीर्ति फैलाता है? ॥ ६८ ॥

आदावात्म्यं धाम कामं प्रयास्याम्यर्हस्यच्छं मामनुज्ञातुमर्हन् ।
इत्यामन्त्र्यान्तर्हिता योगशक्त्या पश्यन् देवीं भाष्यकर्ता बभाषे ६९

अब मैं अपने निर्मल लोक अर्थात् ब्रह्मलोक को अवश्य जाऊँगी। हे पूज्य! आप कृपया मुझे जाने को आज्ञा दीजिए। इतना कहकर

अन्तर्धान होनेवाली शारदा से—योग-शक्ति से देखते हुए—भाष्यकार (शङ्कर) बोले—॥ ६९ ॥

जानामि त्वां देवि देवस्य धातुर्भार्यामिष्टामष्टमूर्तेः सगर्भ्याम् ।
वाचामाद्यां देवतां विश्वगुप्त्यै चिन्मात्रामप्यात्तलक्ष्म्यादिरूपाम् ७०

हे देवि ! मैं तुम्हें ब्रह्मा की प्रिय भार्या, अष्टमूर्ति शङ्कर की भगिनी, वाणी की आद्या देवता, चिन्मयी होने पर भी संसार के पालन के लिये लक्ष्मी, उमा आदि रूपों को धारण करनेवाली समझता हूँ ॥ ७० ॥

तस्मादस्मत्कल्पितेष्वर्च्यमाना स्थानेषु त्वं शारदाख्या दिशन्ती ।
इष्टानर्थानृष्यशृङ्गादिकेषु क्षेत्रेष्वास्स्व प्राप्तसत्संनिधाना ॥ ७१ ॥

इसलिये ऋष्यशृङ्गादि क्षेत्रों में मेरे द्वारा बनाये गये मन्दिरों में शारदा नाम से पूजा प्राप्त करो तथा अभिलषित वस्तुओं को देती हुई सज्जनों के पास सदा निवास करो ॥ ७१ ॥

टिप्पणी—जिस ऋष्यशृङ्ग क्षेत्र का उल्लेख इस पद्य में है उसे आजकल शृङ्गेरी कहते हैं। यह स्थान मैसूर राज्य के पश्चिम भाग में एक आदरणीय तीर्थस्थान है। शङ्कराचार्य द्वारा स्थापित पीठों में यह सर्वश्रेष्ठ है।

तथेति संश्रुत्य सरस्वती सा प्रायात् प्रियं धाम पितामहस्य ।
अदर्शनं तत्र समीक्ष्य सर्व आकस्मिकं विस्मयमीयुरुच्चैः ॥ ७२ ॥

ऐसा ही हो—यह प्रतिज्ञा कर वह सरस्वती ब्रह्मा के लोक में चली गई। वहाँ शारदा के अकस्मात् अन्तर्धान हो जाने से सब लोग अत्यन्त विस्मित हुए ॥ ७२ ॥

तस्या यतीशजितभर्तृ यतित्वजात-
वैधव्यसंभवशुचा भुवमस्पृशन्त्याः ।
अन्तर्धिमेक्ष्य मुदितोऽजनि मण्डनोऽपि
तत्साधु वीक्ष्य मुमुदे यतिशेखरश्च ॥ ७३ ॥

यतिराज शङ्कर के द्वारा अपने पति के जीते जाने पर तथा उनके संन्यासी बन जाने से वैधव्य-शोक के कारण शारदा पृथ्वी को बिना स्पर्श किये अन्तर्धान हो गई। इससे मण्डन मिश्र भी प्रसन्न हुए और इस अद्भुत घटना को देखकर यतिवर शङ्कर भी प्रसन्न हुए ॥ ७३ ॥

मण्डनमिश्रोऽप्यथ विधिपूर्वं दत्त्वा वित्तं यागे सर्वम्।
आत्मारोपितशोचिष्केशो भेजे शङ्करमस्तमिताशः ॥ ७४ ॥

मण्डन मिश्र ने भी विधिपूर्वक यज्ञ में अपना धन दे डाला। अपने ऊपर अग्निहोत्र की आग रखकर अर्थात् गृहस्थ धर्म से सब नाता तोड़ और संसार की आशा छोड़ वे शङ्कर की सेवा करने लगे ॥ ७४ ॥

संन्यासगृह्यविधिना सकलानि कर्मा-
ण्यह्नाय शङ्करगुरुर्विदुषोऽस्य कुर्वन्।
कर्णे जगौ किमपि तत्त्वमसीति वाक्यं
कर्णेजपं निखिलसंसृतिदुःखहानेः ॥ ७५ ॥

गुरु शङ्कर ने मण्डन पण्डित के समस्त कार्यों को संन्यास-प्रतिपादक गृह-सूत्र की विधि से झट से निपटाया और इनके कान में 'तत्त्वमसि' वाक्य कह सुनाया जो संसार के दुःखों की हानि का सूचक है ॥ ७५ ॥

संन्यासपूर्वं विधिवद्द बिभिक्षे पश्चादुपादिक्षदथाऽऽत्मतत्त्वम्।
आचार्यवर्यः श्रुतिमस्तकस्थं तदादिवाक्यं पुनराबभाषे ॥ ७६ ॥

मण्डन ने भी संन्यास लेने के बाद विधिवत् भिक्षा माँगी तथा पीछे आत्मतत्त्व को सीखा। आचार्य शङ्कर ने फिर उनसे उपनिषदों के 'तत्त्वमसि' वाक्य का अर्थ-सहित विवेचन किया ॥ ७६ ॥

[यहाँ से लेकर १०२ श्लोकों तक आचार्य शङ्कर ने मण्डन मिश्र को अद्वैत वेदान्त का तत्त्व बड़ी सुगमता के साथ सिखलाया है। पहले आत्मा को देह, इन्द्रिय, मन तथा बुद्धि से पृथक् दिखलाकर उसकी स्वतन्त्र सत्ता और स्वरूप का परिचय दिया गया है। अनन्तर वैराग्य धारण कर ब्रह्मवादी गुरु से

आत्मा के श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश दिया गया है। वेदान्त दर्शन व्यावहारिक दर्शन है। इसलिये अद्वैत-तत्त्व को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर जीवन को कैसे सुधारा जा सकता है, इस बात का वर्णन इन श्लोकों में बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।]

मण्डन मिश्र को वेदान्त का उपदेश

त्वं नासि देहो घटवद्ध्यनात्मा रूपादिमत्त्वादिह जातिमत्त्वात् ।
ममेति भेदप्रथनादभेदसंप्रत्ययं विद्धि विपर्ययोत्थम् ॥ ७७ ॥

तुम यह देह नहीं हो। देह तो घट के समान चैतन्यहीन होने से जड़ है। यह शरीर रूपादि गुणों से युक्त है तथा मनुष्य, पशु आदि जातियों से भी युक्त है। परन्तु आत्मा रूप, स्पर्श आदि गुणों से हीन है तथा जाति से रहित है। शरीर के विषय में यह हमारी दृढ़ धारणा है कि यह शरीर मेरा है। इस प्रकार यह शरीर आत्मा से भिन्न है ही ॥७७॥

लोप्यो हि लोप्यव्यतिरिक्तलोपको
दृष्टो घटादिः खलु तादृशी तनुः ।
दृश्यत्वहेतोर्व्यतिरेकसाधने
त्वत्तः शरीरे कथमात्मतागतिः ॥ ७८ ॥

डण्डे की चोट लगने से घड़ा फूट जाता है। यह हमारा नित्य का अनुभव है। यहाँ पर दो पदार्थ हैं। एक वह घट है जो नष्ट हो जाता है (लोप्य)। दूसरा वह दण्ड है जो उसे नष्ट कर देता है (लोपक)। इस प्रकार लोपक, लोप्य से हमेशा भिन्न हुआ करता है। उसी प्रकार इस शरीर की भी दशा है। यह शरीर दृश्य है अतः इसका द्रष्टा जो पदार्थ होगा वह उससे भिन्न होगा। अर्थात् द्रष्टा आत्मा दृश्य जीव से सदा पृथक् है। ऐसी दशा में शरीर में आत्म-ज्ञान कैसे किया जा सकता है ? ॥ ७८ ॥

नापीन्द्रियाणि खलु तानि च साधनानि
दात्रादिवत् कथममीषु तवाऽऽत्मभावः ।

चक्षुर्मदीयमिति भेदगतेरमीषां
स्वप्नादिभावविरहाच्च घटादिसाम्यम् ॥७९॥

इन्द्रियाँ भी आत्मा नहीं हो सकतीं क्योंकि वे काटने के साधन परशु तथा हँसुवे के समान केवल साधन मात्र हैं तो उन्हें आत्मा कैसे कहा जायगा ? "मेरी यह आँख है" ऐसी प्रतीति यह बतलाती है कि नेत्र आत्मा से भिन्न है तथा स्वप्न और सुषुप्ति में इन्द्रियों की वृत्ति न होने के कारण वे घट आदि जड़ पदार्थों के समान हैं ॥ ७९ ॥

यद्यात्मतैषां समुदायगा स्यादेकव्ययेनापि भवेन्न तद्धीः ।
प्रत्येकमात्मत्वमुदीर्यते चेन्नश्येच्छरीरं बहुनायकत्वात् ॥८०॥

यदि इन्द्रिय-समुदाय को आत्मा मानें तो एक इन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर समुदाय के विकल होने के कारण उसको आत्मा कैसे माना जायगा ? यदि प्रत्येक इन्द्रिय को आत्मा कहा जाय तो एक ही शरीर में विरुद्ध क्रिया करनेवाले अनेक आत्माओं के रहने के कारण शरीर नष्ट हो जायगा ॥ ८० ॥

आत्मत्वमन्यतमगं यदि चक्षुरादे-
श्चक्षुर्विनाशसमये स्मरणं न हि स्यात् ।
एकाश्रयत्वनियमात् स्मरणानुभूत्यो-
र्दृष्टश्रुतार्थविषयावगतिश्च न स्यात् ॥ ८१ ॥

यदि चक्षु आदि इन्द्रियों में से किसी एक को आत्मा माना जाय तो चक्षु के नष्ट हो जाने पर स्मरण नहीं होगा। स्मरण और अनुभव का नियम यह है कि ये दोनों एक ही आश्रय में रहते हैं। ऐसी दशा में अनुभव करनेवाली नेत्र इन्द्रिय नष्ट हो गई तब उस विषय का स्मरण नहीं हो सकेगा। इस प्रकार देखे गये और सुने गये विषय का ज्ञान नहीं होगा। अतः इन्द्रियों को आत्मा मानना उचित नहीं है ॥ ८१ ॥

मनोऽपि नाऽऽत्मा करणत्वहेतोर्मनो मदीयं गतमन्यतोऽभूत् ।
इति प्रतीतेर्व्यभिचारितायाः सुप्तौ च तच्चिन्मनसोर्विविक्तता॥८२॥

मन भी आत्मा नहीं है क्योंकि ज्ञान उत्पन्न करने में यह करण मात्र है तथा मन के विषय में यह भी प्रतीति होती है कि यह मेरा मन दूसरी जगह चला गया था। सुषुप्ति में मन का लय भी हो जाता है। इस प्रकार मन और आत्मा भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं ॥ ८२ ॥

अनयैव दिशा निराकृता न च बुद्धेरपि चाऽऽत्मता स्फुटम् ।
अपि भेदगतेरनन्वयात् करणादाविव बुद्धिमुज्झ भोः ॥ ८३ ॥

इसी प्रकार बुद्धि को आत्मा भी नहीं माना जा सकता। एक तो उसमें भेद ज्ञान होता है और दूसरे वह भी सुषुप्ति में लीन हो जाती है। इस प्रकार इन्द्रियों के समान बुद्धि को भी आत्मा नहीं मान सकते ॥ ८३ ॥

नाहंकृतिश्चरमधातुपदप्रयोगात् प्राणा मदीया इति लोकवादात् ।
प्राणोऽपि नाऽऽत्मा भवितुं प्रगल्भः सर्वोपसंहारिणि सन् सुषुप्ते ८४

अहङ्कार भी आत्मा नहीं है, क्योंकि उस शब्द के अन्तवाला 'कृति' या 'कार' शब्द क्रियावाची है। लोक में यह अनुभव है कि प्राण मेरे हैं। सुषुप्ति में प्राणों के रहने पर भी इस अनुभव के कारण उन्हें हम आत्मा नहीं मान सकते ॥ ८४ ॥

एवं शरीराद्यविविक्त आत्मा त्वंशब्दवाच्योऽभिहितोऽत्र वाक्ये ।
तदोदितं ब्रह्म जगन्निदानं तथा तथैक्यं पदयुग्मबोध्यम् ॥८५॥

इस प्रकार आत्मा शरीर इन्द्रिय आदि से भिन्न है। 'तत्त्वमसि' इस वाक्य में वही 'त्वं' पद के द्वारा कहा गया है तथा 'तद्' पद के द्वारा जगत् के कारण ब्रह्म का बोध होता है और इन दोनों पदों के द्वारा बोध्य वा गम्य अर्थ की एकता यह वाक्य बतलाता है ॥ ८५ ॥

कथं तदैक्यं प्रतिपादयेद्व वचः सर्वज्ञसंमूढपदाभिषिक्तयोः ।
न ह्येकता संतमसप्रकाशयोः संदृष्टपूर्वा न च दृश्यतेऽधुना ॥८६॥

प्रश्न—परन्तु विचारणीय प्रश्न यह है कि ब्रह्म सर्वज्ञ है और आत्मा अल्पज्ञ है। ऐसी दशा में दोनों की एकता कैसे मानी जाय? प्रकाश और अन्धकार में एकता न तो पहले देखी गई है और न इसी समय वर्तमान है। आत्मा है अन्धकार-रूप और ब्रह्म है प्रकाश-रूप। दोनों की एकता कैसे? ॥ ८६ ॥

सत्यं विरोधगतिरस्ति तु वाच्यगेयं
सोऽयं पुमानितिवदत्र विरोधहानेः ।
आदाय वाच्यमविरोधि पदद्वयं तत्
लक्ष्यैकबोधनपरं ननु को विरोधः ॥ ८७ ॥

उत्तर—ठीक ही है। वाच्यार्थ के विचार करने पर दोनों में अवश्य विरोध है। जिस प्रकार 'यह वही पुरुष है' "सोऽयं पुरुषः" इस वाक्य के वाच्यार्थ में विरोध है। इसलिये वाच्य के अविरोधी अंश को लेकर ये दोनों पद लक्ष्यार्थ को बोधन करते हैं और इस लक्ष्यार्थ में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥ ८७ ॥

टिप्पणी—भागवृत्तिलक्षणा—'सोऽयं पुरुषः' यह वही पुरुष है। इस वाक्य में तत् शब्द का अर्थ है 'तत्कालविशिष्ट पुरुष' तथा इदं शब्द का अर्थ है 'एतद्कालविशिष्ट पुरुष।' यहाँ पर विरोधी अंश को छोड़कर केवल पुरुष रूप को ग्रहण करने पर किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' में तत् और त्वं का अर्थ है। 'तत्' का अर्थ है सर्वज्ञतादि गुण-विशिष्ट ब्रह्म और 'त्वं' का अर्थ है अल्पज्ञत्वादि-विशिष्ट जीव। यहाँ सर्व और अल्प विरोध अंश है। इन दोनों अंशों के छोड़ देने पर केवल 'ज्ञ' रूप अर्थात् चेतन रूप से जीव और ब्रह्म की एकता मानने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं है। इसी को वेदान्त में "भागवृत्तिलक्षणा" या "जहदजहत् लक्षणा" कहते हैं। द्रष्टव्य—वेदान्त-सार पृष्ठ ९६—१०२।

जहीहि देहादिगतामहंधियं चिरार्जितां कर्मशठैः सुदुस्त्यजाम् ।
विवेकबुद्ध्या परमेव संततं ध्यायाऽऽत्मभावेन यतो विमुक्तता॥८८॥

कर्मं में लगनेवाले लोग जिसे कष्ट से छोड़ सकते हैं ऐसी देह गेह में विद्यमान अहं-बुद्धि को विवेक के द्वारा छोड़ो। परम तत्त्व का ध्यान आत्मभाव से सदा करो। इस प्रकार चिन्तन करने से तुम्हें शीघ्र ही मुक्ति प्राप्त हो जायगी ॥ ८८ ॥

साधारणे वपुषि काकसृगालवह्नि-
　मात्रादिकस्य ममतां त्यज दुःखहेतुम् ।
तद्वज्जहीहि बहिरर्थगतां च विद्वन्
　चित्तं बधान परमात्मनि निर्विशङ्कम् ॥ ८९ ॥

यह शरीर मृतक हो जाने पर कौआ, शृगाल और अग्नि का भक्ष्य है। इसमें दुःख उत्पन्न करनेवाली ममता छोड़ो तथा बाहरी पदार्थों में भी ममता का परित्याग करो। हे ब्रह्मन्! समस्त शङ्काओं को छोड़कर अपने चित्त को परमात्मा में ही लगाओ ॥ ८६ ॥

तीरात् तीरं संचरन् दीर्घमत्स्यस्तीराद्भिन्नो लिप्यते नापि तेन ।
एवं देही संचरन् जाग्रदादौ तस्माद्भिन्नो नापि तद्धर्मको वा॥९०॥

महामत्स्य एक तीर से दूसरे तीर पर तैर कर जाता है। वह तीर से स्वयं भिन्न है और वह तीर से किसी प्रकार लिप्त नहीं होता। आत्मा की दशा ठीक ऐसी ही है। वह भी जाग्रत, स्वप्न आदि अवस्थाओं में अवश्य संचरण करता है तो भी उन अवस्थाओं से भिन्न है और इसमें इन अवस्थाओं के किसी धर्म से लिप्त नहीं होता ॥ ९० ॥

टिप्पणी—इस श्लोक का दृष्टान्त उपनिषद् से लिया गया है। वह वाक्य बृहदारण्यक उपनिषद् में इस प्रकार है—

तद् यथा महामत्स्य उभे कूले अनुसञ्चरति पूर्वं चापरं च अयमेवाऽयं पुरुषः एतावुभावन्तावनुसञ्चरति। स्वप्नान्तं च बुद्धान्तं च।

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिलक्षणमदोऽवस्थात्रयं चित्तगौ
　त्वय्येवानुगते मिथो व्यभिचरद्धीसंभ्रमज्ञानतः ।

क्लृप्तं रज्ज्विदमंशके वसुमतीछिद्राहिदण्डादिवत्

तद्ब्रह्मासि तुरीयमुज्झितभयं मा त्वं पुरेव भ्रमीः ॥९१॥

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। ये अज्ञान के कारण अनुगत होनेवाले चित् स्वरूप आत्मा में सदा कल्पित की जाती हैं। इन्द्रिय से उत्पन्न ज्ञानावस्था को 'जाग्रत्' अवस्था कहते हैं। इन्द्रिय से अजन्य विषय के परोक्ष ज्ञान की अवस्था को 'स्वप्न' कहते हैं तथा अविद्या जिस अवस्था में विद्यमान रहती है उसे 'सुषुप्ति' अवस्था कहते हैं। आत्मा इन तीनों अवस्थाओं में अनुगत होने पर भी इन तीनों से भिन्न है। जिस प्रकार रज्जु में साँप, दण्ड, भूमिछिद्र आदि की कल्पना की जाती है उसी प्रकार आत्मा में इन अवस्थाओं की कल्पना है। इन तीनों अवस्थाओं से परे होने के कारण ब्रह्म तुरीय, अभय तथा शिव रूप है। तुम भी वही हो। अतः पहले के समान किसी प्रकार का भ्रम मत करो ॥ ९१ ॥

प्रत्यक्तमं परपदं विदुषोऽन्तिकस्थं

दूरं तदेव परिमूढमतेर्जनस्य ।

अन्तर्बहिश्च चितिरस्ति न वेत्ति कश्चित्

चिन्वन् बहिर्बहिरहो महिमाऽऽत्मशक्तेः ॥ ९२ ॥

आत्मा सबसे सूक्ष्म है। वह जड़, तथा दुःख-रूप अहंकारादि से विपरीत होकर सच्चिदानन्द रूप से प्रकाशित होता है। अतः उसे 'प्रत्यग्' कहते हैं। विद्वान् के वह पास है परन्तु मूढ़ मतिवाले मनुष्यों से वह बहुत दूर है। वह चैतन्य रूप भीतर और बाहर है। जो मूढ़ उसे केवल बाहर ही ढूँढ़ता है वह उसे नहीं प्राप्त कर सकता। आत्म-शक्ति की महिमा अनुपम है ॥ ९२ ॥

यथा प्रपायां बहवो मिलन्ते क्षणे द्वितीये बत भिन्नमार्गाः ।

प्रयान्ति तद्वद् बहुनामभाजो गृहे भवन्त्यत्र न कश्चिदन्ते ॥९३॥

जिस प्रकार प्याऊ की जगह पर पानी पीने के लिये बहुत से आदमी एकत्र होते हैं, परन्तु दूसरे क्षण में ही वे लोग अलग अलग रास्ते पर चले जाते हैं उसी प्रकार घर में भी भिन्न भिन्न नामधारी बहुत से पुरुष निवास करते हैं परन्तु मरने के बाद इस घर में कोई भी नहीं रहता ॥९३॥

सुखाय यद्यत् क्रियते दिवानिशं सुखं न किंचिद्ब बहुदुःखमेव तत् ।
विना न हेतुं सुखजन्म दृश्यते हेतुश्च हेत्वन्तरसंनिधौ भवेत् ॥९४॥

सुख-प्राप्ति के लिये जो जो काम रात-दिन किया जाता है उससे सुख न होकर नाना प्रकार के दुःख ही पैदा होते हैं; क्योंकि पुण्य के बिना सुख की उत्पत्ति नहीं देखी जाती और यह हेतु भी दूसरे जन्म में होने-वाले हेतु से सम्बद्ध है ॥ ९४ ॥

परिपक्वमतेः सकृच्छ्रुतं जनयेदात्मधियं श्रुतेर्वचः ।
परिमन्दमतेः शनैः शनैर्गुरुपादाब्जनिषेवणादिना ॥ ९५ ॥

जिसकी बुद्धि परिपक है उसके लिये वेद का वचन एक बार सुनने पर भी आत्मा का साक्षात्कार उत्पन्न कर सकता है। परन्तु मन्द बुद्धि-वाले पुरुष के लिये गुरु के चरण-कमलों की सेवा करने से धीर धीरे आत्म-साक्षात्कार होता है ॥ ९५ ॥

प्रणवाभ्यसनोक्तकर्मणोः करणेनापि गुरोर्निषेवणात् ।
अपगच्छति मानसं मलं क्षमते तत्त्वमुदीरितं ततः ॥ ९६ ॥

ओङ्कार की उपासना से, सन्ध्या-वन्दन आदि वेद-विहित कर्मों के अनुष्ठान से तथा गुरु की सेवा से मन का मल दूर हट जीता है। उसके अनन्तर तत्त्व के ग्रहण करने की योग्यता उत्पन्न होती है ॥ ९६ ॥

गुरु की महिमा

मनोऽनुवर्तेत दिवानिशं गुरौ
गुरुर्हि साक्षाच्छिव एव तत्त्ववित् ।

निजानुवृत्त्या परितोषितो गुरु-
विनेयवक्त्रं कृपया हि वीक्षते ॥ ९७ ॥

[यहाँ पर ग्रन्थकार आत्मा के प्रत्यक्ष करने के लिये गुरु के महत्त्व का वर्णन कर रहा है—]

रात-दिन गुरु में अपने मन को लगाना चाहिए; क्योंकि तत्त्ववेत्ता गुरु साक्षात् शिव है। सेवा से प्रसन्न होनेवाला गुरु शिष्य के मुख को कृपा से देखता है ॥ ९७ ॥

टिप्पणी—आत्मज्ञान के लिये गुरु की महिमा अत्यधिक है। शास्त्र के श्रवण अथवा मनन का उतना फल नहीं होता जितना गुरु के सत् उपदेश का। इसी लिये वैदिक धर्म में गुरु परमात्मा का ही रूप समझा जाता है—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः ।
गुरुः पिता गुरुर्माता, गुरुरेव परः शिवः ॥

सा कल्पवल्लीव निजेष्टमर्थं फलत्यवश्यं किमकार्यमस्याः ।
आज्ञा गुरोस्तत्परिपालनीया सा मोदमानीय विधातुमिष्टा॥९८॥

गुरु की आज्ञा का अवश्य पालन करना चाहिए, क्योंकि वह कल्पलता के समान मनोवाञ्छित फल को फलती है। उसके लिये कौन वस्तु अकार्य है ? इसलिये गुरु की आज्ञा को प्रसन्नता से मानना चाहिए॥९८॥

गुरूपदिष्टा निजदेवता चेत् कुप्येत्तदा पालयिता गुरुः स्यात् ।
रुष्टे गुरौ पालयिता न कश्चिद्गुरौ न तस्माज्जनयेत कोपम्॥९९॥

गुरु के द्वारा उपदेश दिये गये देवता यदि रुष्ट हो जायँ तो इनसे गुरु ही हमारी रक्षा करता है। परन्तु गुरु के रुष्ट हो जाने पर कोई भी रक्षक नहीं है। इसलिये गुरु के हृदय में कभी क्रोध न उत्पन्न करे ॥ ९९ ॥

टिप्पणी—ब्रह्मवैवर्त पुराण का यह वचन इसी अर्थ की पुष्टि करता है—

"शिवे रुष्टे गुरुस्त्राता, गुरौ रुष्टे न कश्चन ।"

पुमान् पुमर्थं लभतेऽपि चोदितं भजन्निवृत्तः प्रतिषिद्धसेवनात् ।
विधिं निषेधं च निवेदयत्यसौ गुरोरनिष्टच्युतिरिष्टसंभवः॥१००॥

निषिद्ध वस्तु के सेवन करने से निवृत्त होनेवाला पुरुष विहित कार्य करता हुआ पुरुषार्थ को प्राप्त कर लेता है। तो भी ये विधि-निषेध स्वयं नहीं जाने जा सकते किन्तु गुरु ही इन्हें बतलाता है। इसलिये गुरु से अनिष्ट को हानि तथा इष्ट की प्राप्ति होती है ॥ १०० ॥

आराधितं दैवतमिष्टमर्थं ददाति तस्याधिगमो गुरोः स्यात् ।
नो चेत् कथं वेदितुमीश्वरोऽयमतीन्द्रियं दैवतमिष्टदं नः ॥१०१॥

आराधना करने पर देवता इष्ट फल अवश्य देते हैं। परन्तु देवता की प्राप्ति तो गुरु की कृपा से होती है। यदि ऐसा न होता तो हमारे मनोरथ को देनेवाले तथा इन्द्रियों से अगोचर देवता को जानने के लिये आदमी कैसे समर्थ हो सकता है ? ॥ १०१ ॥

तुष्टे गुरौ तुष्यति देवतागणो
रुष्टे गुरौ रुष्यति देवतागणः ।
सदाऽऽत्मभावेन सदात्मदेवताः
पश्यन्नसौ विश्वमयो हि देशिकः ॥ १०२ ॥

गुरु के तुष्ट (प्रसन्न) होने पर देवता लोग प्रसन्न होते हैं और गुरु के रुष्ट होने पर देवता लोग रुष्ट हो जाते हैं। इसलिये सद्रूप देवताओं को आत्म-भाव से सदा देखनेवाला गुरु निश्चय ही जगत्-रूप है ॥१०२॥

एवं पुराणगुरुणा परमात्मतत्त्वं
शिष्टो गुरोश्चरणयोर्निपपात तस्य ।
धन्योऽस्म्यहं तव गुरो करुणाकटाक्ष-
पातेन पातिततमा इति भाषमाणः ॥ १०३ ॥

इस प्रकार शङ्कर के द्वारा परमात्म-तत्त्व की शिक्षा पा लेने पर मण्डन मिश्र यह कहते हुए गुरु के चरण पर गिर पड़े कि भगवन् ! आज मैं धन्य हुआ। आपने अपने करुणा-कटाक्ष से मेरे अन्धकार को दूर कर दिया ॥ १०३ ॥

ततः समादिश्य सुरेश्वराख्यां
दिगङ्गनाभिः क्रियमाणसख्याम् ।
सच्छिष्यतां भाष्यकृतश्च मुख्या-
मवाप तुच्छीकृतधातृसौख्याम् ॥ १०४ ॥

इसके वाद शङ्कर ने दिशा-रूपी स्त्रियों से मित्रता उत्पन्न करनेवाले (दिशाओं में चारों ओर व्याप्त होनेवाले) मण्डन का 'सुरेश्वर' यह नामकरण किया। मण्डन ने भी ब्रह्मा के सुख को तिरस्कृत कर देनेवाले, आचार्य के शिष्यों में प्रथम स्थान पाया ॥ १०४ ॥

निखिलनिगमचूडाचिन्तया हन्त यावत्
स्वमनवधिकसौख्यं निर्विशन्निर्विशङ्कम् ।
बहुतिथमभितोऽसौ नर्मदां नर्मदां तां
मगधभुवि निवासं निर्ममे निर्ममेन्द्रः ॥ १०५ ॥

वेदान्त के चिन्तन से आनन्दरूप अपने स्वरूप को बिना किसी शङ्का के अनुभव करते हुए, ममताहीन पुरुषों में अग्रणी, सुरेश्वर ने कौतुक उत्पन्न करनेवाली नर्मदा नदी के दोनों ओर फैले मगध देश में निवास किया ॥ १०५ ॥

इति वशीकृतमण्डनपण्डितः, प्रणतसत्करणत्रयदण्डितः ।
सकलसद्गुणमण्डलमण्डितः स निरगात् कृतदुर्मतखण्डितः १०६

इस मण्डन पण्डित को अपने वश में कर नम्रीभूत सज्जनों के तीन इन्द्रियों को वश में करनेवाले, सकल सद्गुणों से मण्डित, दुष्ट मतों को खण्डित करनेवाले आचार्य शङ्कर वहाँ से आगे बढ़े ॥ १०६ ॥

टिप्पणी—आचार्य ने शिष्यों के मन को प्राणायाम के उपदेश से, वाणी को मौन रहने के उपदेश से, कर्म को वासना-हीन करने का उपदेश देकर शिष्यों के मन, वाणी और कर्म को अपने वश में कर लिया। इसी का उल्लेख इस श्लोक के द्वितीय पाद में है।

कुसुमितविविधपलाशभ्रमदलिकुलगीतमधुरस्वनम् ।
पश्यन् विपिनमयासीदाशां कीनाशपालितामेषः ॥ १०७ ॥

फूले हुए अनेक पलाशों पर घूमनेवाले भँवरों के द्वारा जहाँ पर मधुर शब्द का गुञ्जार हो रहा था, ऐसे जङ्गल को देखते हुए आचार्य यम के द्वारा पालित दक्षिण दिशा में गये ॥ १०७ ॥

तत्र महाराष्ट्रमुखे देशे ग्रन्थान् प्रचारयन् प्राज्ञतमः ।
शमितमतान्तरमानः शनकैः सनकोपमोऽगमच्छ्रीशैलम् ॥१०८॥

वहाँ महाराष्ट्र देश में अपने ग्रन्थों का प्रचार कर अत्यन्त विद्वान् शङ्कर दूसरे मतों के अभिमान का खण्डन कर सनक ऋषि के समान 'श्रीशैल' पर पहुँचे ॥ १०८ ॥

टिप्पणी—श्रीपर्वत—यह स्थान मद्रास प्रान्त के कर्नूल ज़िले में एक प्रसिद्ध देवस्थान है। यहाँ का शिव-मन्दिर बड़ा विशाल और भव्य है जिसकी लम्बाई ६६० फ़ुट तथा चौड़ाई ५१० फ़ुट है। इसकी दीवालों के ऊपर रामायण और महाभारत के सुन्दर चित्र अङ्कित किये गये हैं। मन्दिर के बीच में मल्लिकार्जुन शिवलिङ्ग की स्थापना है। यह शिवलिंग समग्र भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध बारह लिङ्गों में है। इस मन्दिर की व्यवस्था आजकल 'पुष्पगिरि' के शङ्कराचार्य की ओर से होती है। प्राचीन काल से यह स्थान सिद्धि का प्रधान क्षेत्र माना जाता है। सुनते हैं कि माध्यमिक मत के विख्यात आचार्य नागार्जुन ने इसी पर्वत पर तपस्या की और सिद्धि प्राप्त की। बाणभट्ट के समय में भी यह स्थान सिद्धि-क्षेत्र माना जाता था। उन्होंने राजा हर्षवर्धन की प्रशंसा में लिखा है :—

जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्रकारकृतजगद्रक्षः ।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धि—श्रीपर्वतो हर्षः ॥

किसी समय बौद्ध लोगों का भी यह प्रधान अड्डा था। चैत्यवादी निकाय के पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भेदों के नाम इसी श्रीपर्वत के कारण दिये गये थे।

[कवि श्रीशैल पर्वत की शोभा का वर्णन कर रहा है—]

प्रफुल्लमल्लिकावनप्रसङ्गसङ्गतामित-
प्रकाण्डगन्धबन्धुरप्रवातधूतपादपम् ।
सदामदद्विपाधिपप्रहारशूरकेसरि-
व्रजं भुजंगभूषणप्रियं स्वयंभुकौशलम् ॥ १०९ ॥

खिली हुई जूही के वन से निकलनेवाले अत्यधिक गन्ध को लेकर बहनेवाला रमणीय वायु जहाँ वृक्षों को हिला रहा था, जहाँ मतवाले गजेन्द्रों के मारने में शूर सिंहों का समुदाय निवास कर रहा था, जो शिवजी को प्यारा और ब्रह्मा के कौशल को दिखलानेवाला था ऐसे श्रीशैल पर्वत पर शङ्कर पहुँचे ॥ १०९ ॥

कलिकल्मषभङ्गायां सोऽद्रेराराच्चलत्तरङ्गायाम् ।
अधरीकृततुङ्गायां सस्नौ पातालगामिगङ्गायाम् ॥ ११० ॥

पहाड़ के पास चञ्चल तरङ्गवाली, कलि-कल्मष को दूर करनेवाली, ऊँचे ऊँचे पहाड़ों को तिरस्कृत करनेवाली पातालगङ्गा में स्नान किया ॥११०॥

नमन्मोहभङ्गं नभोलेहिशृङ्गं त्रुटत्पापसङ्गं रटत्पक्षिभृङ्गम् ।
समाश्लिष्टगङ्गं प्रहृष्टान्तरङ्गं तमारुह्य तुङ्गं ददर्शेशलिङ्गम् ॥१११॥

शङ्कर ने प्रणाम करनेवाले लोगों के मोह को दूर करनेवाले, आकाश को छूनेवाली चोटी को धारण करनेवाले, पाप के संङ्ग को छिन्न-भिन्न करनेवाले, बोलते हुए पक्षियों और भ्रमरों से युक्त पातालगङ्गा से आलिङ्गित, मन को प्रसन्न करनेवाले उस पहाड़ पर चढ़कर शिवलिङ्ग को देखा ॥ १११ ॥

प्रणमद्भवबीजभर्जनं प्रणिपत्यामृतसंपदार्जनम् ।
प्रमुमोद स मल्लिकार्जुनं भ्रमराम्बासचिवं नतार्जुनम् ॥ ११२ ॥

प्रणाम करनेवाले मनुष्यों के संसार के बीज रूप अविद्या, काम, कर्म, वासना आदि को भूँज डालनेवाले, मोक्ष-रूपी सम्पत्ति को देनेवाले,

भ्रमराम्बा नामक देवी (पार्वती) से युक्त, मल्लिकार्जुन नामक शिवलिङ्ग को देखा जिसके आगे अर्जुन स्वयं नत हो गये थे ॥ ११२ ॥

टिप्पणी—मल्लिकार्जुन महादेव द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक हैं। इनके विषय में द्वादशज्योतिर्लिङ्गस्तोत्र में ऐसा कहा गया है—

श्रीशैलशृङ्गे विबुधातिसङ्गे तुलाद्रितुङ्गेऽपि मुदा वसन्तम् ।
तमर्जुनं मल्लिकपूर्वमेकं नमामि संसारसमुद्रसेतुम् ॥

तीररुहैः कृष्णायास्तीरेऽवात्सीत्तिरोहितोष्णायाः ।
आवर्जिततृष्णाया आचार्येन्द्रो निरस्तकार्ष्ण्यायाः ॥ ११३ ॥

आचार्य शङ्कर ने वृक्षों के द्वारा गर्मी को दूर करनेवाली, पिपासा (प्यास) को उत्पन्न करनेवाली, कालिमा को दूर भगानेवाली, कृष्णा नदी के किनारे निवास किया ॥ ११३ ॥

तत्रातिचित्रपदमत्रभवान् पवित्र-
कीर्तिर्विचित्रसुचरित्रनिधिः सुधीन्द्रान् ।
अग्राहयत् कृतमसद्ग्रहनिग्रहार्थ-
मग्र्यान् समग्रसुगुणान् महदग्रयायी ॥ ११४ ॥

उस नदी के किनारे पवित्रकीर्ति, विचित्र चरित्र के घर, सज्जनों के अग्रगामी पूज्य शङ्कर ने अत्यन्त विचित्र पदवाले, दुराग्रहियों को परास्त करने के लिये बनाये गये अपने ग्रन्थ समग्र गुणों से युक्त श्रेष्ठ पण्डितों को पढ़ाये ॥ ११४ ॥

अध्यापयन्तमसदर्थनिरासपूर्वं
किंत्वन्यतीर्थयशसं श्रुतिभाष्यजातम् ।
आक्षिप्य पाशुपतवैष्णववीरशैव-
माहेश्वराश्च विजिता हि सुरेश्वराद्यैः ॥ ११५ ॥

जब आचार्य दूसरे शास्त्रों के यश को तिरस्कृत करनेवाले, श्रुति के भाष्य-ग्रन्थों को मिथ्या अर्थ दूर करके पढ़ा रहे थे तब पाशुपत, वैष्णव,

वीरशैव, माहेश्वर मतावलम्बियों ने जो जो आक्षेप किये उन्हें सुरेश्वर आदि शिष्यों ने खण्डन कर परास्त कर दिया ॥ ११५ ॥

केचिद्विसृज्य मतमात्म्यममुष्य शिष्य-
भावं गता विगतमत्सरमानदोषाः ।
अन्ये तु मन्युवशमेत्य जघन्यचित्ता
निन्युः क्षणं निधनमस्य निरीक्षमाणाः ॥ ११६ ॥

मत्सर और अभिमान को छोड़कर कुछ लोग अपने मत का परित्याग कर शङ्कर के शिष्य बन गये परन्तु दूसरे लोग क्रुद्ध होकर इनकी मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए अपना समय बिताने लगे ॥ ११६ ॥

वेदान्तीकृतनीचशूद्रवचसो वेदः स्वयंकल्पनाः
पापिष्ठाः स्वमपि त्रयीपथमपि प्रायो दहन्तः खलाः ।
साक्षाद्ब्रह्मणि शंकरे विदधति स्पर्धानिबद्धां मतिं
कृष्णे पौण्ड्रकवत् तथा न चरमां किं ते लभन्ते गतिम् ।११७।

नीच शूद्रों के वचन को वेदान्त का रूप देनेवाले, अपनी कल्पना को ही वेद माननेवाले, आत्मा को तथा वेदों को जलानेवाले जिन पापी दुष्टों ने साक्षात् ब्रह्म-रूप शङ्कर से स्पर्धा की, उन्होंने अपनी अन्तिम गति (नाश) को उसी प्रकार प्राप्त किया जिस प्रकार कृष्ण से स्पर्धा करनेवाले मिथ्या वासुदेव के नाम से प्रसिद्ध पौण्ड्रक राजा ने ॥ ११७ ॥

टिप्पणी—पौण्ड्रक राजा—यह करूष देश (काशी तथा पटना के बीच के देश) का राजा था। यह अपने को विष्णु का अवतार समझता था और विष्णु के शङ्ख-चक्रादि चिह्नों को धारण करता था। इसने दूत के द्वारा कृष्णचन्द्र को कहला भेजा कि सच्चा वासुदेव मैं हूँ, तुम झूठे अपने को वासुदेव का अवतार बतला रहे हो। कृष्ण ने इसके ऊपर चढ़ाई की तथा इसे मार डाला। द्रष्टव्य—श्रीमद्भागवत दशम स्कन्ध, ६६ अध्याय।

वाणी काणभुजी च नैव गणिता लीना क्वचित् कापिली
शैवं चाशिवभावमेति भजते गर्हापदं चाऽऽर्हतम् ।

दौर्गं दुर्गतिमश्नुते भुवि जनः पुष्णाति को वैष्णवं
निष्णातेषु यतीशसूक्तिषु कथाकेलीकृतासूक्तिषु ॥११८॥

आचार्य शङ्कर के ग्रन्थों में निष्णात (कुशल) शिष्यों के चारों ओर फैल जाने पर कणाद की वाणी तिरस्कृत हो गई ; कपिल की वाणी कहीं पर छिप गई ; शैव मत अशिव (अमङ्गल रूप) भाव को प्राप्त हो गया ; आर्हत मत (जैनमत) गर्हणीय बन गया ; शाक्त मत दुर्गति में पड़ गया और वैष्णव मत के पालन को कोई भी न पूछने लगा ॥ ११८ ॥

तथागतकथा गता तदनुयायि नैयायिकं
वचोऽजनि न चोदितो वदति जातु तौतातितः ।
विदग्धति न दग्धधीर्विदितचापलं कापिलं
विनिर्दयविनिर्दलद्विमतसंकरे शंकरे ॥ ११९ ॥

जब शङ्कर ने प्रतिपक्षियों के सिद्धान्त को निर्दयता से छिन्न-भिन्न कर दिया तब तथागत (बुद्ध) की कथा नष्ट हो गई (उन्हें कोई नहीं पूछता था); नैयायिक वचन भी लुप्त हो गया, प्रेरित करने पर भी भाट्ट लोग नहीं बोले ; चपलता को प्रकट करनेवाले कपिल के मत को कोई भी विद्वान् न मानता था । (इस श्लोक में शङ्कर के द्वारा पराजित होने पर प्रतिपक्षियों के मतों की दुरवस्था का वर्णन है) ॥ ११९ ॥

टिप्पणी—तुतातित = कुमारिल । अनेक प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित 'इति तौताः' या 'तौतातित' मत से अभिप्राय कुमारिल के सिद्धान्त से है । मङ्ख कवि (ई० १२वें शतक के पूर्वार्ध) के श्रीकण्ठचरित (यः श्रीतुतातितस्येव पुनर्जन्मान्तरग्रहः २५ । ६५) में जोनराज ने तुतातित का अर्थ कुमारिल किया है । बड़ों का नाम ज्यों का त्यों न लेना चाहिए । अतः इस सङ्केत-शब्द की कल्पना की गई है । 'महतां सम्यङ् नामग्रहणमयुक्तमिति तुतातितशब्दः प्रयुक्तः' ।

इति श्रीमाधवीये तत्कलाज्ञत्वप्रपञ्चनम् ।
संक्षेपशंकरजये सर्गोऽयं दशमोऽभवत् ॥ १० ॥

माधवीय शङ्करदिग्विजय में शङ्कर के कामकला-ज्ञान को सूचित करनेवाला दशम सर्ग समाप्त हुआ ।

एकादश सर्ग

उग्रभैरव का पराजय

तत्रैकदाऽऽच्छादितनैजदोषः पौलस्त्यवत् कल्पितसाधुवेषः
निर्मानमायं स्थितकार्यशेषः कापालिकः कश्चिदनल्पदोषः ॥ १ ॥
असावपश्यन् मदनाद्यवश्यं वश्येन्द्रियाश्वैर्मुनिभिर्विमृग्यम् ।
आदिश्य भाष्यं सपदि प्रशस्यमासीनमाश्रित्य मुनिं रहस्यम् ॥२॥

वहाँ पर एक समय अपने दोष को छिपा देनेवाले, रावण के समान कपट साधु-वेश को बनानेवाले, अत्यन्त दोषों से युक्त, अवशिष्ट कर्मवाले, किसी कापालिक ने काम के वश में न होनेवाले, इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को वश में करनेवाले, विद्यार्थियों से पूजित प्रशस्त भाष्य का उपदेश देनेवाले, एकान्त में बैठे हुए, मान और माया से रहित आचार्य शङ्कर को देखा ॥ १-२ ॥

टिप्पणी—कापालिक—एक उग्र शैवतान्त्रिक सम्प्रदाय । इस सम्प्रदाय के लोग माला, अलङ्कार, कुण्डल, चूडामणि, राख और यज्ञोपवीत—ये ६ मुद्रिकाएँ धारण करते थे । भवभूति ने मालतीमाधव में श्रीशैल पर्वत को

कापालिकों का मुख्य स्थान बतलाया है। प्रबोधचन्द्रोदय के तृतीय अङ्क में कापालिक मत का परिचय है। ये लोग आदमियों की हड्डियों की माला पहनते थे, श्मशान में रहते थे, आदमी की खोपड़ी में भोजन करते थे। परन्तु योगाभ्यास से विलक्षण सिद्धियों को प्राप्त किया करते थे। इनकी पूजा बड़े उग्र रूप की थी। ये लोग शङ्कर के उग्र रूप भैरव के उपासक थे और उनकी पूजा में मद्य-मांस का नैवेद्य चढ़ाते थे। शिवपुराण में इन्हें 'महाव्रतधर' कहा गया है। किसी समय इनका इस देश में ख़ूब बोलबाला था। ६३९ ई० का एक शिलालेख है जिसमें पुलकेशी द्वितीय के पुत्र नागवर्धन के कापालेश्वर की पूजा के निमित्त कुछ ज़मीन देने का उल्लेख है। कापालिकों के उपास्य देव महाभैरव की स्तुति इस प्रकार है—

मस्तिष्कान्त्रवसाभिपूरितमहामांसाहुतीर्जुह्वतां,
वह्नौ ब्रह्मकपालकल्पितसुरापानेन नः पारणा।
सद्यःकृत्तकठोरकण्ठविगलत्कीलालधारोज्ज्वलै-,
रर्च्यो नः पुरुषोपहारबलिभिर्देवो महाभैरवः ॥ (प्रबोधचन्द्रोदय ३ । १३)

दृष्ट्वैव हृष्टः स चिरादभीष्टं निर्धार्य संसिद्धमिव स्वमिष्टम् ।
महद्विशिष्टं निजलाभतुष्टं विस्पष्टमाचष्ट च कृत्यशिष्टम् ॥ ३ ॥

वह कापालिक बहुत दिनों के बाद अपने अभीष्ट को देखकर, अपने मनोरथ को सिद्ध जानकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने महज्जनों से श्रेष्ठ, अपने लाभ से सन्तुष्ट होनेवाले शङ्कर से अपना कर्तव्य शेष प्रकट किया ॥ ३ ॥

गुणांस्तवाऽऽकर्ण्य मुनेऽनवद्यान् सार्वज्ञसौशील्यदयालुताद्यान् ।
द्रष्टुं समुत्कण्ठितचित्तवृत्तिर्भवन्तमागां विदितप्रवृत्तिः ॥ ४ ॥

वह बोला—हे मुनि ! आपके अनिन्दनीय सर्वज्ञता, सुशीलता, दयालुता आदि गुण सुनकर आपको देखने की मुझे बहुत ही उत्कण्ठा थी। आज आपके समाचार को जानकर मैं आपके पास उपस्थित हुआ हूँ ॥ ४ ॥

त्वमेक एवात्र निरस्तमोहः पराकृतद्वैतिवचःसमूहः ।
आभासि दूरीकृतदेहमानः शुद्धाद्वये योजितसर्वमानः ॥ ५ ॥

इस लोक में मोह को दूर करनेवाले, द्वैतवादियों के वचनों का खण्डन करनेवाले, देह के अभिमान को छोड़ अद्वैतवाद में सब प्रमाणों को योजित करनेवाले, आप ही इस संसार में अकेले शोभित हो रहे हैं ॥५॥

[यहाँ पर वह कापालिक अपने मनोरथ को सिद्ध करने के लिये आचार्य की बड़ी लम्बी-चौड़ी स्तुति कर रहा है।]

परोपकृत्यै प्रगृहीतमूर्तिरमर्त्यलोकेष्वपि गीतकीर्तिः ।
कटाक्षलेशार्दितसज्जनार्तिः सदुक्तिसंपादितविश्वपूर्तिः ॥ ६ ॥

आपने परोपकार के लिये शरीर धारण किया है, स्वर्गलोक में भी आपकी कीर्ति गाई जाती है, कटाक्ष के अंश मात्र से आप सज्जनों की पीड़ा को दूर भगाते हैं और सदुपदेशों से आप प्राणियों के समस्त मनोरथ को पूर्ण कर देते हैं ॥ ६ ॥

गुणाकरत्वाद्भुवनैकमान्यः समस्तवित्त्वादभिमानशून्यः ।
विजित्वरत्वाद्गलहस्तितान्यः स्वात्मप्रदत्वाच्च महावदान्यः ॥७॥

गुणों की खान होने से संसार में आप सर्वमान्य हैं। सर्वज्ञ होने से अभिमानशून्य हैं। शास्त्रार्थ में विजयी होने के कारण प्रतिपक्षियों को खदेड़नेवाले हैं। अपने स्वरूप के उपदेश देने से आप अत्यन्त दानशील हैं ॥ ७ ॥

अशेषकल्याणगुणालयेषु परावरज्ञेषु भवादृशेषु ।
कार्यार्थिनः क्वाप्यनवाप्य कामं न यान्ति दुष्प्रापमपि प्रकामम् ॥८

अशेष कल्याण-गुणों के निकेतन, पर और अपर, कार्य और कारण को भली भाँति जाननेवाले आप जैसे लोगों के पास आकर कार्यार्थी मनुष्य दुष्प्राप्य भी मनोरथ को बिना पाये हुए क्या किसी अवस्था में जाता है ? नहीं, वह मनोरथ को सिद्ध करके ही जाता है ॥ ८ ॥

तस्मान्महत्कार्यमहं प्रपद्य निर्वर्तितं सर्वविदा त्वयाऽद्य ।
कपालिनं प्रीणयितुं यतिष्ये कृतार्थमात्मानमतः करिष्ये ॥ ९ ॥

इसलिये आप जैसे सर्वज्ञ के द्वारा सिद्ध किये गये कार्य को पाकर आज मैं भगवान् भैरव को प्रसन्न करने की चेष्टा करूँगा और अपने को कृतार्थ भी करूँगा ॥ ९ ॥

अनेन देहेन सहैव गन्तुं कैलासमीशेन समं च रन्तुम् ।
अतोषयं तीव्रतपोभिरुग्रं सुदुष्करैरब्दशतं समग्रम् ॥ १० ॥

इसी देह से कैलाश में जाने के लिये, और वहाँ महादेव के साथ रमण करने के लिये मैंने लगातार सौ वर्षों तक अत्यन्त तीव्र और दुष्कर तपस्या करके शिव को प्रसन्न किया है ॥ १० ॥

तुष्टोऽब्रवीन् मां गिरिशः पुमर्थमभीप्सितं प्राप्स्यसि मत्प्रियार्थम्
जुहोषि चेत् सर्वविदः शिरो वा हुताशने भूमिपतेः शिरो वा ॥११

प्रसन्न होकर महादेव ने मुझसे कहा कि यदि तुम मेरी भलाई के लिये आग में सर्वज्ञ विज्ञानी के सिर को या किसी राजा के सिर को हवन करोगे तो अपने ईप्सित पुरुषार्थ को अवश्य प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥

एतावदुक्त्वाऽन्तरधान्महेशस्तदादि तत्संग्रहणे धृताशः ।
चराम्यथापि क्षितिपो न लब्धो न सर्ववित् तत्र मयोपलब्धः॥१२॥

इतना कहकर भगवान् शङ्कर अन्तर्धान हो गये । उसी दिन से मैं सर्वज्ञ के और राजा के सिर के संग्रह करने में लगा हुआ हूँ परन्तु न तो मुझे कोई राजा ही मिला और न मुझे किसी सर्वज्ञ की ही प्राप्ति हुई ॥ १२ ॥

दिष्ट्याऽद्य लोकस्य हिते चरन्तं सर्वज्ञमद्राक्षमहं भवन्तम् ।
इतः परं सेत्स्यति मेऽनुबन्धः संदर्शनान्तो हि जनस्य बन्धः॥१३

आज मेरे भाग्य का उदय है । संसार का हित करनेवाले सर्वज्ञ आपको मैंने देखा है । अब मेरा हठ अवश्य सिद्ध होगा क्योंकि मनुष्यों का बन्धन तभी तक है जब तक वे आपका दर्शन नहीं करते ॥ १३ ॥

मूर्धाभिषिक्तस्य शिरःकपालं मुनीशितुर्वा मम सिद्धिहेतुः ।
आद्यं पुनर्मे मनसाऽप्यलभ्यं ततः परं तत्रभवान् प्रमाणम् ॥१४॥

मूर्धाभिषिक्त चक्रवर्ती राजा का सिर या किसी मुनिराज का सिर मेरी सिद्धि का एकमात्र कारण है। पहिले को पाना मन से भी दुष्प्राप्य है और दूसरे के विषय में आप स्वयं प्रमाण हैं (आप स्वयं सर्वज्ञ हैं और मुझे सर्वज्ञ के ही सिर की जरूरत है ।) ॥ १४ ॥

शिरः प्रदानेऽद्भुतकीर्तिलाभस्तवापि लोके मम सिद्धिलाभः ।
आलोच्य देहस्य च नश्वरत्वं यद्द रोचते सत्तम तत् कुरु त्वम्१५

सिर के देने पर संसार में आपको अद्भुत कीर्ति मिलेगी और मुझे सिद्धि प्राप्त हो जायगी। हे सज्जनों में श्रेष्ठ! आप इस शरीर की अनित्यता का ध्यान रखकर जो आपको अच्छा लगे वह कीजिए ॥ १५ ॥

तद्याचितुं न क्षमते मनो मे को वेष्टदायि स्वशरीरमुज्झतु ।
भवान् विरक्तो न शरीरमानी परोपकाराय धृतात्मदेहः ॥१६॥

परन्तु उसे माँगने के लिये मेरी हिम्मत नहीं हो रही है। भला कोई आदमी इष्ट वस्तुओं को देनेवाले इस शरीर को देने के लिये तैयार होगा ? आप परोपकार के लिये शरीर धारण करते हैं, विरक्त हैं, देह के अभिमान से शून्य हैं ॥ १६ ॥

जनाः परक्लेशकथानभिज्ञा नक्तं दिवा स्वार्थकृतात्मचित्ताः ।
रिपुं निहन्तुं कुलिशाय वज्री दाधीचमादात् किल वाञ्छितास्थि१७

इस संसार के मनुष्य रात-दिन अपने स्वार्थ में ही चित्त को लगाये हुए हैं। इसलिये वे दूसरों के क्लेश की बात से नितान्त अनभिज्ञ हैं। शत्रु को मारने के लिये, वज्र बनाने के निमित्त इन्द्र ने दधीचि ऋषि से चाही गई हड्डी पाई थी ॥ १७ ॥

दधीचिमुख्याः क्षणिकं शरीरं त्यक्त्वा परार्थे स्म यशःशरीरम् ।
प्राप्य स्थिरं सर्वगतं जगन्ति गुणैरनर्घ्यैः खलु रञ्जयन्ति ॥१८॥

दधीचि आदि ऋषि दूसरे के उपकार के लिये इस क्षणिक शरीर को छोड़कर स्थिर यश:शरीर को पाकर अनुपम गुणों के द्वारा आज भी लोक का अनुरञ्जन कर रहे हैं ॥ १८ ॥

वपुर्धरन्ते परतुष्टिहेतोः केचित् प्रशान्ता दयया परीताः ।
अस्मादृशाः केचन सन्ति लोके स्वार्थैकनिष्ठा दयया विहीनाः ।१९।

कुछ दयालु, शान्तचित्त पुरुष, दूसरों की तुष्टि के लिये शरीर धारण करते हैं, लेकिन हमारे समान इस लोक में ऐसे भी आदमी हैं जो दया से हीन होकर अपने स्वार्थ के साधन में ही जुटे रहते हैं ॥ १९ ॥

परोपकारं न विनाऽस्ति किंचित् प्रयोजनं ते विधुतैषणस्य ।
अस्मादृशाः कामवशास्तु युक्तायुक्ते विजानन्ति न हन्त योगिन्२०

आप कामना को दूर करनेवाले हैं, परोपकार के बिना आपका इस जगत् में रहने का प्रयोजन ही क्या है ? हे योगिन् ! हमारे समान लोग तो काम के वश होकर न्यायान्याय का कुछ भी विचार नहीं करते ॥ २० ॥

जीमूतवाहो निजजीवदायी दधीचिरप्यस्थि मुदा ददानः ।
आचन्द्रतारार्कमपायशून्यं प्राप्तौ यशः कर्णपथं गतौ हि ॥२१॥

जीमूतवाहन ने अपना जीवन आनन्द के साथ दे दिया और दधीचि ने अपनी हड्डी दे दी। जब तक चन्द्र और तारा हैं तब तक टिकनेवाला विनाश-रहित उनका यश स्थिर है। उनका नाम सब किसी के कान में पड़ा है ॥ २१ ॥

यदप्यदेयं ननु देहवद्भिर्मयाऽर्थितं गर्हितमेव सद्भिः ।
तथाऽपि सर्वत्र विरागवद्भिः किमस्त्यदेयं परमार्थविद्भिः ॥२२॥

यद्यपि मेरी प्रार्थना सज्जनों के द्वारा अमाननीय है और देहधारियों के द्वारा अदेय है तथापि सर्वत्र वैराग्य धारण करनेवाले, परमार्थवेत्ता, पुरुषों के द्वारा ऐसी कौन वस्तु है जो देने लायक न हो ? ॥ २२ ॥

अखण्डमूर्धन्यकपालमाहुः संसिद्धिदं साधकपुंगवेभ्यः ।
विना भवन्तं बहवो न सन्ति तद्वत् पुमांसो भगवन् पृथिव्याम् ।२३।

लोग कहते हैं कि पूर्ण ब्रह्मचारी का सिर साधक मनुष्यों को सिद्धि देता है। हे भगवन्! आपको छोड़कर इस भूतल पर पूर्ण ब्रह्मचारी मनुष्य बहुत नहीं हैं ॥ २३ ॥

प्रयच्छ शीर्षं भगवन् नमः स्तादितीरयित्वा पतितं पुरस्तात् ।
तमब्रवीद् वीक्ष्य सुधीरधस्तात् कृपालुराकृष्टमनाः समस्तात् ॥२४॥

"इसलिये हे भगवन्! आप अपना सिर दीजिए। मैं आपको नमस्कार करता हूँ।" यह कहकर वह कापालिक उनके सामने पृथ्वी पर लोटने लगा। उसे देख चारों ओर से अपने मन को आकृष्ट कर कृपालु शङ्कर ने कहा—॥ २४ ॥

नैवाभ्यसूयामि वचस्त्वदीयं प्रीत्या प्रयच्छामि शिरोऽस्मदीयम् ।
को वाऽर्थिसात्प्राज्ञतमो नृकायं जानन्न कुर्यादिह बह्वपायम् ॥२५॥

मैं तुम्हारे वचन में असूया नहीं करता—किसी प्रकार का दोष नहीं निकालता। मैं अपना सिर आनन्द के साथ दे रहा हूँ। इस लोक में कौन ऐसा विद्वान् है जो नाना प्रकार के अपाय को उत्पन्न करनेवाले इस मनुष्य-शरीर को जानकर उसे याचकों को नहीं दे देता ॥ २५ ॥

पतत्यवश्यं हि विकृष्यमाणं कालेन यत्नादपि रक्ष्यमाणम् ।
वर्ष्मामुना सिध्यति चेत् परार्थः स एव मर्त्यस्य परः पुमर्थः ॥२६॥

यह शरीर यत्न से रक्षा किये जाने पर भी काल के द्वारा खींचे जाने पर एक दिन अवश्य नष्ट हो जाता है। यदि इस शरीर से किसी दूसरे का अर्थ सिद्ध हो जाय तो यह मनुष्य का बड़ा भारी पुरुषार्थ है ॥२६॥

वर्ते विविक्तेऽधिसमाधि सिद्धिविन्मिथः समायाहि करोमि ते मतम्
नाहं प्रकाशं वितरीतुमुत्सहे शिरःकपालं विजनं समाश्रय ॥२७॥

हे समाधि के जाननेवाले ! मैं एकान्त में समाधि को धारण किया करता हूँ। एकान्त में आओ तो मैं तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर लूँगा अर्थात् सिर दे दूँगा। मैं सबों के सामने अपना सिर देने का उत्साह नहीं करता। इसलिये एकान्त में आओ ॥ २७ ॥

[इसका कारण भी सुन लो।]

शिष्या विदन्ति यदि चिन्तितकार्यमेतद्
योगिन् मदेकशरणा विहतिं विदध्युः ।
को वा सहेत वपुरेतदपोहितुं स्वं
को वा क्षमेत निजनाथशरीरमोक्षम् ॥ २८ ॥

हे योगिन् ! यदि इस चिन्तित कार्य को हमारे विद्यार्थी—जो हमारे ऊपर ही आश्रित हैं—जान लेंगे तो वे इसे होने न देंगे। कौन आदमी अपने शरीर को छोड़ देने के लिये तैयार है और कौन पुरुष अपने स्वामी को शरीर छोड़ने देगा ? ॥ २८ ॥

तौ संविदं वितनुतामिति संप्रहृष्टौ
योगी जगाम मुदितो निलयं मनस्वी ।
श्रीशंकरोऽपि निजधामनि जोषमास
प्रोचे न किंचिदपि भावमसौ मनोगम् ॥ २९ ॥

इस प्रकार वे दोनों आनन्दपूर्वक बातचीत करते थे। इसके बाद प्रसन्न होकर मनस्वी योगी अपने घर चला गया और शङ्कर भी अपने घर में चुपचाप बैठे रहे। उन्होंने अपने मनोगत भाव को ज़रा भी प्रकट नहीं किया ॥ २९ ॥

शूली त्रिपुण्ड्री पुरतोवलोकी कंकालमालाकृतगात्रभूषः ।
संरक्तनेत्रो मदघूर्णिताक्षो योगी ययौ देशिकवासभूमिम् ॥ ३० ॥

हाथ में त्रिशूल लेकर, माथे में त्रिपुण्ड्र धारण कर, आगे देखनेवाला, अस्थियों की माला को गले में पहिने हुए, शराब की मस्ती में लाल लाल आँखें घुमाता हुआ वह योगी आचार्य के निवासस्थान पर गया ॥ ३० ॥

शिष्येषु शिष्टेषु विदूरगेषु स्नानादिकार्याय विविक्तभाजि ।
श्रीदेशिकेन्द्रे तु सनन्दनाख्यभीत्या स्वदेहं व्यवधाय गूढे ॥३१॥

उस समय श्रेष्ठ विद्यार्थी लोग स्नानादि कार्यों के लिये दूर चले गये थे और आचार्य भी सनन्दन के डर से अपने शरीर को छिपाकर एकान्त में बैठे थे ॥ ३१ ॥

तं भैरवाकारमुदीक्ष्य देशिकस्त्यक्तुं शरीरं व्यधित स्वयं मनः ।
आत्मानमात्मन्युदयुङ्क्त यो जपन्समाहितात्मा करणानि संहरन् ३२

उस भैरवाकार कापालिक को देखकर आचार्य ने अपना शरीर छोड़ने का निश्चय कर लिया। अपने अन्तःकरण को एकाग्र कर प्रणव का जप करते हुए इन्द्रियों को उनके व्यापार से हटाया; अपने आत्मा को उन्होंने ब्रह्म में लीन कर दिया ॥ ३२ ॥

[अब समाधि अवस्था में शङ्कर के रूप का वर्णन कवि कर रहा है—]

तं भैरवोऽलोकत लोकपूज्यं स्वसौख्यतुच्छीकृतदेवराज्यम् ।
योगीशमासादितनिर्विकल्पं सनत्सुजातप्रभृतेरनल्पम् ॥ ३३ ॥

अपने आनन्द से देवलोक को भी तिरस्कृत करनेवाले, निर्विकल्प समाधि को धारण करनेवाले, सनत्सुजात आदि ऋषियों से अधिक पूजनीय शङ्कर को भैरव ने देखा ॥ ३३ ॥

जत्रुप्रदेशे चिबुकं निधाय व्यात्तास्यमुत्तानकरौ निधाय ।
जानूपरि प्रेक्षितनासिकान्तं विलोचने सामि निमील्य कान्तम् ३४

शङ्कर ने कण्ठ के नीचे अपना चिबुक (ठुड्डी) रक्खा था। मुँह खुला था ; हाथों को जाँघों के ऊपर उत्तान कर रक्खा था ; नासिका के अग्रभाग पर उनकी दृष्टि लगी थी, नेत्रों को आधा बन्द किये वे अत्यन्त सुन्दर प्रतीत हो रहे थे ॥ ३४ ॥

आसीनमुच्चीकृतपूर्वगात्रं सिद्धासने शेषितबोधमात्रम् ।
चिन्मात्रविन्यस्तहृषीकवर्गं समाधिविस्मारितविश्वसर्गम् ॥ ३५ ॥

वे सिद्धासन पर बैठे थे और अपने अगले भाग को ऊँचा कर रक्खा था। ज्ञान मात्र अवशिष्ट था। चैतन्य में ही उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियों को केन्द्रीभूत कर दिया था और समाधि के द्वारा सम्पूर्ण सृष्टि को भुला दिया था॥ ३५ ॥

विलोक्य तं हन्तुमपास्तशङ्कः स्वबुद्धिपूर्वार्जिततीव्रपङ्कः ।
प्रापोद्यतासिः सविधं स यावद् विज्ञातवान् पद्मपदोऽपि तावत् ३६

शङ्कर को एकान्त में देखकर निडर भाव से वह कापालिक जान-बूझकर पाप की इच्छा करनेवाला तलवार उठाकर ज्योंही उनके पास पहुँचा त्योंही पद्मपाद ने इस बात को जान लिया ।। ३६ ।।

त्रिशूलमुद्यम्य निहन्तुकामं गुरुं यतात्मा समुदैक्षतान्तः ।
स्थितश्चुकोप ज्वलिताग्निकल्पः स पद्मपादः स्वगुरोर्हितैषी ।३७।

त्रिशूल उठाकर, गुरु को मारने की इच्छा करनेवाले उस कापालिक को एकाग्रचित्त होकर पद्मपाद ने अपने ध्यान में देख लिया तथा वहीं पर उन्होंने क्रोध किया। वे जलती हुई आग के समान प्रकाशमान अपने गुरु के हितैषी थे ॥ ३७ ॥

स्मरन्नथैष स्मरदार्तिहारि प्रह्लादवश्यं परमं महस्तत् ।
स मन्त्रसिद्धो नृहरेर्नृसिंहो भूत्वा ददर्शोग्रदुरीहचेष्टाम् ॥ ३८॥

अनन्तर स्मरण करनेवालों के क्लेश को दूर करनेवाले, प्रह्लाद के वश में होनेवाले नृसिंह के उस परम तेज का ध्यान करते हुए मन्त्रसिद्ध पद्मपाद ने नृसिंह का रूप धारण कर लिया और उसकी उग्र दुष्ट चेष्टाओं को देखा ॥ ३८ ॥

[यहाँ कवि नृसिंह-रूप-धारी पद्मपाद का वर्णन कई श्लोकों में कर रहा है—]

स तत्क्षणक्षुब्धनिजस्वभावः प्रवृद्धरुड्विस्मृतमर्त्यभावः ।
आविष्कृतात्युग्रनृसिंहभावः समुत्पपातातुलितप्रभावः ।। ३९ ।।

उस क्षण में अपने स्वभाव के क्षुब्ध हो जाने से उनका रोष बढ़ गया था। मर्त्यभाव को भुलाकर और उग्र नृसिंह भाव को प्रकट कर अतुल प्रभावशाली पद्मपाद उस कापालिक के ऊपर कूद पड़े ॥ ३९ ॥

सटाछटास्फोटितमेघसंघस्तीव्रारवत्रासितभूतसंघः ।
संवेगसंमूर्छितलोकसंघः किमेतदित्याकुलदेवसंघः ॥ ४० ॥

नृसिंह अपनी सटा (गर्दन पर उगनेवाले बालों) से मेघों को फाड़ रहे थे। भयानक गर्जन से प्राणियों के हृदय को दहला रहे थे। वेग के कारण भुवनों को मूर्च्छित कर रहे थे। उनको देखकर 'यह कौन है' इस प्रकार देवताओं में व्याकुलता बढ़ गई ॥ ४० ॥

क्षुभ्यत्समुद्रं समुदूढरौद्रं रटन्निशाटं स्फुटदद्रिकूटम् ।
ज्वलद्दिशान्तं प्रचलद्धरान्तं प्रभ्रश्यदक्षं दलदन्तरिक्षम् ॥ ४१॥
जवादभिद्रुत्य शितस्वरुग्रैर्दैत्येश्वरस्येव पुरा नखाग्रैः ।
क्षिपत् त्रिशूलस्य स तस्य वक्षो ददार विक्षिप्तसुरारिपक्षः ॥४२॥

समुद्रों को क्षोभित करते हुए, भयानक रूप से निशाचरों के शब्द को पैदा करते हुए, पहाड़ों के शिखरों को तोड़ते हुए, दिशाओं के अन्त भाग को जलाते हुए, पृथ्वी को कँपाते हुए, इन्द्रियों को नष्ट करते हुए, आकाश को तोड़ते हुए, वह नृसिंह वेग से कापालिक पर दौड़े। जिस प्रकार पहिले हिरण्य-कशिपु के हृदय को राक्षसों के पक्ष को परास्त करनेवाले नृसिंह ने तीक्ष्ण और भयानक नखों की नोकों से फाड़ डाला था, उसी प्रकार इन्होंने त्रिशूल के ऊपर कापालिक को फेंककर उसकी छाती को फाड़ डाला ॥ ४१-४२ ॥

तत्तादृगत्युग्रनखायुधाढ्यो दंष्ट्रान्तरप्रोतदुरीहदेहः ।
निन्ये तदानीं नृहरिर्विदीर्णद्युपट्टनाट्टालिकमट्टहासम् ॥४३॥

तब अत्यन्त उग्र नख धारण करनेवाले सिंहों में श्रेष्ठ नृसिंह ने अपनी दाढ़ों के भीतर उस दुष्ट की देह चूर चूर कर, स्वर्ग-नगरी की अट्टालिका को गिरा देनेवाला भयङ्कर अट्टहास किया ॥ ४३ ॥

आकर्ण्य तं निनदं बहिर्गता उपागमन्नाकुलचित्तवृत्तयः ।
व्यलोकयन्भैरवमग्रतो मृतं ततो विमुक्तं च गुरुं सुखोषितम् ॥४४॥

वह आवाज सुनकर बाहर जानेवाले शिष्य व्याकुल होकर लौट आये और उन्होंने उस भैरव नामक कापालिक को आगे मरा हुआ और उससे मुक्त हुए अपने गुरु को सुखपूर्वक बैठे हुए देखा ॥ ४४ ॥

प्रह्लादवश्यो भगवान् कथं वा प्रसादितोऽयं नृहरिस्त्वयेति ।
सविस्मयैः स्निग्धजनैः स पृष्टः सनन्दनः सस्मितमित्यवादीत् ॥४५॥

प्रह्लाद के वश्य भगवान् नृसिंह को आपने कैसे प्रसन्न किया, इस प्रकार विस्मित बन्धु जनों के द्वारा पूछे जाने पर सनन्दन मुसकराते हुए बोले—॥ ४५ ॥

पुरा किलाहो बलभूधराग्रे पुण्यं समाश्रित्य किमप्यरण्यम् ।
भक्तैकवश्यं भगवन्तमेनं ध्यायन्ननेकान दिवसाननैषम् ॥४६॥

पहले मैंने 'बल' नामक पहाड़ की चोटी पर पुण्यदायक किसी जङ्गल में निवास कर भक्तों के वश में होनेवाले भगवान् नृसिंह की उपासना में बहुत दिन बिताये ॥ ४६ ॥

किमर्थमेको गिरिगह्वरेऽस्मिन् वाचंयम त्वं वससीति शश्वत् ।
केनापि पृष्टोऽत्र किरातयूना प्रत्युत्तरं प्रागहमित्यवोचम् ॥४७॥

हे मौनी ! तुम इस पहाड़ की गुफा में अकेले क्यों रहते हो ? इस प्रकार किसी किरात युवक से पूछे जाने पर मैंने उसे यह उत्तर दिया ॥ ४७ ॥

आकण्ठमत्यद्भुतमर्त्यमूर्तिः कण्ठीरवात्मा परतश्च कश्चित् ।
मृगो वनेऽस्मिन् मृगयो वसन् मे भवत्यहो नाक्षिपथे कदाऽपि ४८

कण्ठ तक अद्भुत मनुष्य की मूर्ति धारण करनेवाला और उसके ऊपर सिंह के रूप को धारण करनेवाला कोई भी मृग इस जङ्गल में रहकर मेरे नेत्रों के सामने कभी नहीं आ सकता (मेरी तपस्या का यही फल है) ॥ ४८ ॥

इतीरयत्येव मयि क्षणेन वनेचरोऽयं प्रविशन् वनान्तम् ।
निबध्य गाढं नृहरिं लताभिः पुण्यैरगण्यैः पुरतो न्यधान्मे ॥४९॥

मैंने यह वचन ज्योंही कहा त्योंही वह वनचर जङ्गल के भीतर घुस गया और एक सिंह को लताओं से खूब बाँधकर मेरे सामने लाकर रक्खा ॥ ४९ ॥

महर्षिभिस्त्वं मनसाऽप्यगम्यो वनेचरस्यैव कथं वशेऽभूः ।
इत्यद्भुताविष्टहृदा मयाऽसौ विज्ञाप्यमानो विभुरित्यवादीत् ॥५०॥

आश्चर्य से चकित होकर मैंने उससे पूछा—तुम तो महर्षियों के मन के द्वारा भी अगम्य हो। इस वनेचर के वश में तुम कैसे आये ? इस प्रकार पूछे जाने पर वे व्यापक नरसिंह मुझसे बोले—॥ ५० ॥

एकाग्रचित्तेन यथाऽमुनाऽहं ध्यातस्तथा धातृमुखैर्न पूर्वैः ।
नोपालभेथास्त्वमितीरयन् मे कृत्वा प्रसादं कृतवांस्तिरोधिम् ॥५१॥

इसने जिस प्रकार एकाग्र चित्त से मेरा ध्यान किया है वैसा ध्यान ब्रह्मा आदि पूर्व देवताओं ने भी नहीं किया। इस प्रकार कहते हुए मुझे अपना प्रसाद देकर नृसिंह अन्तर्धान हो गये ॥ ५१ ॥

आकर्ण्य तां पद्मपदस्य वाणीमानन्दमग्नैरखिलैरभावि ।
जगर्ज चोच्चैर्जगदण्डभाण्डं भूम्ना स्वधाम्ना दलयन्नृसिंहः ॥५२॥

पद्मपाद की इस वाणी को सुनकर सब लोग आनन्द-मग्न हो गये। इस संसार-रूपी ब्रह्माण्ड को अपने अधिक तेज से विदलित करते हुए नरसिंह भगवान् जोरों से गरज उठे ॥ ५२ ॥

ततस्तदाभीटचलत्समाधिः स्वात्मप्रबोधोन्मथितत्र्युपाधिः ।
उन्मील्य नेत्रे विकरालवक्त्रं व्यलोकयन् मानवपञ्चवक्त्रम् ॥५३॥

उनके गर्जन के बाद, अहंकारपूर्ण हुंकार से शङ्कर की समाधि विचलित हुई। अपने आत्मा के साक्षात्कार करने से तीनों उपाधियों

को दूर करनेवाले शङ्कर ने अपने नेत्रों को खोलकर, भयानक मुखवाले नरसिंह को देखा ॥ ५३ ॥

[यहाँ कवि नरसिंह के विकट रूप का वर्णन कर रहा है।]

चन्द्रांशुसोदर्यसटाजटालतार्तीयनेत्राब्जकनन्निटालम् ।
सहोद्यदुष्णांशुसहस्रभासं विध्यण्डविस्फोटकृदट्टहासम् ॥ ५४ ॥

उनकी सटाएँ चन्द्र की किरण के समान शोभित थीं। तीसरे नेत्र से ललाट चमक रहा था। वे एक साथ उदय लेनेवाले हजार सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान थे। उनका अट्टहास ब्रह्माण्ड को फोड़ देनेवाला था ॥ ५४ ॥

नखाग्रनिर्भिन्नकपालिवक्षःस्थलोच्चलच्छोणितपङ्किलाङ्गम् ।
श्रीवत्सवत्सं गलवैजयन्तीश्रीरत्नसंस्पर्धितदन्त्रमालम् ॥ ५५ ॥

उनका अङ्ग नख के अग्रभाग से विदीर्ण किये गये वक्षःस्थल से छलकते हुए रक्त से पङ्किल था। श्रीवत्स का चिह्न छाती पर था। वैजयन्ती और कौस्तुभ मणि से स्पर्धा करनेवाली आँतों की माला गले में शोभित थी ॥ ५५ ॥

सुरासुरत्रासकरातिघोरस्वाकारसारव्यथिताण्डकोशम् ।
दंष्ट्राकरालाननिर्यदग्निज्वालालिसंलीढनभोवकाशम् ॥५६॥

सुरों और असुरों, देवताओं और दानवों के हृदय में डर पैदा करनेवाले अपने भयानक शरीर के बल से उन्होंने इस भूमण्डल को व्यथित कर दिया था और दाढ़ों के द्वारा विकराल मुख से निकलनेवाली आग की ज्वालाओं से अन्तरिक्ष को व्याप्त कर लिया था ॥ ५६ ॥

स्वरोमकूपोद्गतविस्फुलिङ्गप्रचारसंदीपितसर्वलोकम् ।
जम्भद्विडुज्जृम्भितशंभुदम्भसंस्तम्भनारम्भकदन्तपेषम् ॥ ५७ ॥

उन्होंने अपने रोम-कूप से निकलनेवाली चिनगारियों के छिटकने से सब लोक को प्रकाशित कर दिया था और उनके दाँतों का पीसना जम्भ नामक असुर के शत्रु इन्द्र तथा महादेव के दम्भ को रोकनेवाला था ॥५७॥

[इस भयानक रूप को देखकर जगत् के मङ्गल करने की प्रार्थना यहाँ की जा रही है—]

मा भूदकाण्डे प्रलयो महात्मन् कोपं नियच्छेति गृणद्भिराराात् ।
ससाध्वसैः प्राञ्जलिभिः सगात्रकम्पैर्विरिञ्च्यादिभिरर्थ्यमानम् ५८

हे महात्मन् ! आप अपने क्रोध को रोक लीजिए। ऐसा न हो कि अकस्मात् प्रलय हो जाय। इस प्रकार हाथ जोड़ कहनेवाले, भय से शरीर के कम्पन के साथ, ब्रह्मा आदि देवता नरसिंह की स्तुति कर रहे थे ॥ ५८ ॥

विलोक्य विद्युच्चपलोग्रजिह्वं यतिक्षितीशः पुरतो नृसिंहम् ।
अभीतिरैडिष्ट तदोपकण्ठं स्थितोऽपि हर्षाश्रुविनद्धकण्ठः ॥ ५९ ॥

नरसिंह की बिजली के समान चञ्चल जीभ लपलपा रही थी। उनको अपने सामने खड़ा हुआ देखकर शङ्कराचार्य निडर होकर उनके पास खड़े हुए। आनन्द के आँसुओं से गला रुँध जाने पर भी उन्होंने स्तुति करना आरम्भ किया—॥ ५९ ॥

नरसिंह की स्तुति

नरहरे हर कोपमनर्थदं तव रिपुर्निहतो भुवि वर्तते ।
कुरु कृपां मयि देव सनातनीं जगदिदं भयमेति भवद्दृशा ॥६०॥

हे नरसिंह ! अपने अनर्थकारी क्रोध को रोकिए। तुम्हारा मरा हुआ शत्रु जमीन पर पड़ा है। हे देव ! मुझ पर अपनी सनातनी कृपा कीजिए। आपको देखकर संसार डर के मारे काँप रहा है ॥ ६० ॥

तव वपुः किल सत्त्वमुदाहृतं तव हि कोपनमण्वपि नोचितम् ।
तदिह शान्तिमवाप्नुहि शर्मणे हरगुणं हरिराश्रयसे कथम् ॥६१॥

आपका शरीर सत्त्वमय है, इसलिये थोड़ा भी क्रोध करना आपको शोभा नहीं देता। संसार के कल्याण के लिये शान्ति धारण कीजिए। हरि होकर भी आप हर के गुणों का आश्रय क्यों कर रहे हैं ? आशय है कि विष्णु का काम शान्ति-स्थापन करना है, क्रोध करना नहीं। अतः आप इतना क्रोध क्यों कर रहे हैं ॥ ६१ ॥

सकलभीतिषु दैवतम स्मरन् सकलभीतिमपोह्य सुखी पुमान् ।
भवति किं प्रवदामि तवेक्षणे परमदुर्लभमेव तवेक्षणम् ॥ ६२ ॥

हे देवताओं में श्रेष्ठ ! भय के अवसरों पर आपके नाम को स्मरण करने पर मनुष्य समस्त भयों को दूर कर सुखी होता है। आपके देखने पर उसका कितना कल्याण होता है उसके विषय में हम क्या कहें। आपका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ६२ ॥

स्मृतवतस्तव पादसरोरुहं मृतवतः पुरुषस्य विमुक्तता ।
तव कराभिहतोऽमृत भैरवो न हि स एष पुनर्भवमेष्यति ॥६३॥

आपके चरणकमल का ध्यान कर प्राण छोड़नेवाले मनुष्य की मुक्ति अवश्य हो जाती है। हे अमृत ! यह भैरव आपके हाथ से मारा गया है। अतः यह फिर जन्म ग्रहण नहीं करेगा ॥ ६३ ॥

दितिजसूनुममुं व्यसनार्दितं सकृदरक्षदुदारगुणो भवान् ।
सकलगत्वमुदीरितमस्फुटं प्रकटमेव विधित्सुरभूत् पुरः ॥ ६४ ॥

हे उदार गुणों से युक्त ! आपने विपत्ति में पड़े हुए हिरण्यकशिपु के पुत्र प्रह्लाद की एक बार रक्षा की थी। पिता के द्वारा पूछे जाने पर जब बालक ने आपको सब प्राणियों में रहनेवाला बतलाया था तो इस अस्फुट बात को स्फुट करने के लिये आप उसके सामने स्वयं प्रकट हुए थे ॥ ६४ ॥

सृजसि विश्वमिदं रजसाऽऽवृतः स्थितिविधौ श्रितसत्त्व उदायुधः ।
अवसि तद्धरणे तमसाऽऽवृतो हरसि देव तदा हरसंज्ञितः ॥६५॥

रजोगुण से युक्त होने पर आप इस संसार की सृष्टि करते हैं। स्थिति-काल में सत्त्वगुण को धारण कर आप हाथ में अस्त्र लेकर संसार की रक्षा करते हैं। नाश के समय तमोगुण से आच्छादित होकर संसार का हरण करते हैं। तब आपकी संज्ञा 'हर' होती है ॥ ६५ ॥

तव जनिर्न गुणास्तव तत्त्वतो जगदनुग्रहणाय भवादिकम् ।
तव पदं खलु वाङ्मनसातिगं श्रुतिवचश्चकितं तव बोधकम् ॥६६॥

आपका जन्म नहीं होता; वस्तुतः आप निर्गुण हैं, तथापि संसार के ऊपर अनुग्रह करने के लिये आप जनमते हैं और गुणों को धारण करते हैं। आपका स्थान वाणी और मन से अगोचर है। वेदमन्त्र भी चकित होकर आपका बोध कराते हैं ॥ ६६ ॥

टिप्पणी—परमात्मा के विषय में श्रुति कहती है कि वाणी उसको प्रकट नहीं कर सकती, मन वहाँ से लौट आता है—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

वेदान्त का यह मुख्य सिद्धान्त है कि ईश्वर की सिद्धि वेद-वचनों पर ही अवलम्बित है। अनुमान के द्वारा वह कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकती। इसलिये इस पद्य में श्रुति-वचन को परमात्मा का बोधक बतलाया गया है।

नरहरे तव नामपरिश्रवात् प्रमथगुह्यकदुष्टपिशाचकाः।
अपसरन्ति विभोऽसुरनायका न हि पुरःस्थितये प्रभवन्त्यपि ॥६७॥

हे नरसिंह! आपके नाम के सुनने से ही प्रमथ, गुह्यक, दुष्ट पिशाच सब भाग खड़े होते हैं। हे विभो! दैत्यों में श्रेष्ठ लोग तो आपके सामने खड़े होने में भी समर्थ नहीं होते ॥ ६७ ॥

त्वमेव सर्गस्थितिहेतुरस्य त्वमेव नेता नृहरेऽखिलस्य।
त्वमेव चिन्त्यो हृदयेऽनवद्ये त्वामेव चिन्मात्रमहं प्रपद्ये ॥ ६८ ॥

तुम्हीं इस समस्त संसार की सृष्टि और स्थिति के कारण हो। तुम्हीं नेता हो। तुम्हारा ही ध्यान पाप-रहित हृदय में किया जाता है। तुम चिन्मात्र हो। मैं तुम्हारी शरण में आता हूँ ॥ ६८ ॥

हतो वराको हि रुषं नियच्छ विश्वस्य भूमन्नभयं प्रयच्छ।
एते हि देवाः शमभर्थयन्ते निरीक्ष्य भीताः प्रतिखेदयन्ते ॥६९॥

बेचारा वह कापालिक मर गया। क्रोध को रोकिए। हे भूमन्! संसार को अभय दीजिए। ये देवता लोग आपको देखकर अत्यन्त खिन्न हो गये हैं। ये कल्याण की प्रार्थना कर रहे हैं ॥ ६९ ॥

द्रष्टुं न शक्या हि तवानुकम्पा हीनैर्जनैर्निहृतकोटिशंपाम्।
मूर्तिं तदात्मन्नुपसंहरेमां पाहि त्रिलोकीं समतीतसोमाम् ॥७०॥

पापियों के द्वारा तुम्हारी दया देखी नहीं जा सकती। इसलिये हे भगवन्! करोड़ों बिजलियों की चमक को छिपानेवाली इस मूर्ति को आप बटोर लीजिए। भय के मारे सीमा के पार जानेवाली इस त्रिलोकी को अब बचा लीजिए ॥ ७० ॥

कल्पान्तोज्जृम्भमाणप्रमथपरिवृढप्रौढलालाटवह्नि-
ज्वालालीढत्रिलोकीजनितचटचटाध्वानधिक्कारधुर्यः।
मध्ये ब्रह्माण्डभाण्डोदरकुहरमनैकान्त्यदुःस्थामवस्थां
स्त्यानस्त्यानो ममायं दलयतु दुरितं श्रीनृसिंहाट्टहासः ७१

भगवान् नरसिंह का अट्टहास मेरे पापों को दूर करे—वह अट्टहास जो प्रलय के अन्त में प्रयत्नशील भगवान् रुद्र के ललाट की आग की ज्वालाओं से व्याप्त त्रिलोकी में उत्पन्न 'चटचटा' शब्द को तिरस्कृत करने में समर्थ है और जो ब्रह्माण्ड-रूपी भाण्ड के बीच में स्थित इस भूतल पर सदा बिना किसी रुकावट के रहनेवाली जन्म, मरण आदि अवस्थाओं को जला डालने में आग के समान समर्थ है ॥ ७१ ॥

मध्येऽव्यानद्धवातंधयगुणवलनाधानमन्थानभूभृ-
न्मन्थेनोत्क्षोभिदुग्धोदधिलहरिमिथः स्फालनाचारघोरः।
कल्पान्तोन्निद्ररुद्रोच्चतरडमरुकध्वानवद्धाभ्यसूयो
घोषोऽयं कर्णघोरः क्षपयतु नृहरेरंहसां संहतिं नः ।।७२।।

यह अट्टहास हमारे पापों को छिन्न-भिन्न (नष्ट) कर दे—वह अट्टहास जो समुद्र-मन्थन के समय बीच में बाँधे गये वासुकिरूपी रस्सी को धारण करनेवाले मन्दर पर्वत के द्वारा मन्थन किये जाने से क्षुब्ध क्षीर-सागर की तरङ्गों के आपस में टक्कर खाने की आवाज़ के समान भयानक था; जो प्रलय के अन्त में जगे हुए रुद्र के प्रचण्ड डमरू की आवाज़ के साथ डाह करनेवाला तथा अत्यन्त कर्ण-कटु था ॥ ७२ ॥

क्षुन्दानो मङ्क्षु कल्पावधिसमयसमुज्जृम्भदम्भोदगुम्फ-
स्फूर्जदम्भोलिसंघस्फुरदुरुटिताखर्वगर्वप्ररोहान्।

क्रीडाक्रोडेन्द्रघोणासरभसविसरद्घोरघुर्घोरवश्री-
गम्भीरस्तेऽट्टहासो हर हर नृहरे रंहसांऽहांसि हन्यात् ॥७३॥

हे नरसिंह! तुम्हारा यह गम्भीर अट्टहास हमारे पापों को अति शीघ्र ही नष्ट कर दे—वह अट्टहास जो कल्प के अन्त में प्रकट होनेवाली मेघपंक्तियों के ऊपर चमकनेवाले वज्रों की गम्भीर गर्जना के बड़े-बड़े गर्व के अंकुरों को शीघ्र चूर्ण कर देनेवाला था; जो क्रीड़ा में लगे हुए वराह भगवान् की नासिका से बड़े वेग से निकलनेवाली घर्घर-ध्वनि की शोभा को धारण करनेवाला था ॥ ७३ ॥

एवं विशिष्टनुतिभिर्नृहरौ प्रशान्ते
स्वं भावमेत्य मुनिरेष बभूव शान्तः ।
स्वप्नानुभूतमिव शान्तमनाः स्मरंस्त-
मात्मानमात्मगुरवे प्रणतिं चकार ॥ ७४ ॥

इस प्रकार विशेष स्तुति से नरसिंह भगवान् के शान्त हो जाने पर पद्मपाद अपने प्राचीन स्वरूप को प्राप्त कर शान्त हो गये। शान्त-चित्त होकर इस बात को स्वप्न के अनुभव के समान स्मरण करते हुए उन्होंने गुरु को प्रणाम किया ॥ ७४ ॥

चारित्र्यमेतत् प्रयतस्त्रिसन्ध्यं भक्त्या पठेद्व यः शृणुयादवन्ध्यम् ।
तीर्त्वाऽपमृत्युं प्रतिपद्य भक्तिं स भुक्तभोगः समुपैति मुक्तिम् ॥७५॥

जो आदमी इस चरित्र को एकाग्र मन से तीनों सन्ध्याओं में भक्ति से पढ़ता तथा सुनता है वह अपमृत्यु को पार कर, भक्ति पाकर, भोगों को भोगकर मुक्ति प्राप्त करता है ॥ ७५ ॥

इति श्रीमाधवीये तदुग्रभैरवनिर्जयः ।
संक्षेपशङ्करजये सर्ग एकादशोऽभवत् ॥ ११ ॥

माधवीय शङ्कर-दिग्विजय में उग्रभैरव के पराभव को सूचित करनेवाला यह एकादश सर्ग समाप्त हुआ ।

—

द्वादश सर्ग

हस्तामलक और तोटकाचार्य की कथा

अथैकदाऽसौ यतिसार्वभौमस्तीर्थानि सर्वाणि चरन् सतीर्थ्यैः ।
घोरात् कलेर्गोपितधर्ममागाद् गोकर्णमभ्यर्णचलार्णवौघम् ।। १ ।।

एक बार यतियों में चक्रवर्ती शङ्कर अपने शिष्यों के साथ सब तीर्थों में घूमते हुए घोर कलि से धर्म की रक्षा करनेवाले 'गोकर्ण' नामक तीर्थ में पहुँचे जिसके पास ही समुद्र बड़े वेग से बह रहा था ।। १ ।।

टिप्पणी—गोकर्ण बम्बई प्रान्त का सुप्रसिद्ध शिवक्षेत्र है। गोवा से उत्तर लगभग तीस मील पर यह नगर समुद्र के किनारे पर स्थित है। यहाँ के महादेव का नाम 'महाबलेश्वर' है जिनके दर्शन के लिये शिवरात्रि के अवसर पर यहाँ बड़ा भारी मेला लगता है। इसकी प्रसिद्धि प्राचीन काल से है। कुबेर के समान सम्पत्ति पाने की इच्छा से, अपनी माता कैकसी के द्वारा प्रेरित किये जाने पर, रावण ने यहीं घोर तपस्या की और अपना मनोरथ सिद्ध किया (वाल्मीकि-रामायण, उत्तरकाण्ड, ९।४६)—

आगच्छात्मसिद्ध्यर्थं गोकर्णस्याश्रमं शुभम् ।

महाभारत में भी पुलस्त्य की तीर्थयात्रा में इसका उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत यह ब्रह्मादि देवों की भी तपस्या का स्थल माना गया है, जहाँ तीन रात रहने से मनुष्यों को अश्वमेध के करने का फल मिलता है (वनपर्व, ८५।२४—२७)—

अथ गोकर्णमासाद्य त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
समुद्रमध्ये राजेन्द्र सर्वलोकनमस्कृतम् ।। २४ ॥

अनुशासनपर्व में यहाँ अर्जुन के जाने का वर्णन मिलता है। पिछले काल में भी इसकी पवित्रता अक्षुण्ण बनी रही। कालिदास (प्रथम शतक विक्रमी) ने भी गोकर्णेश्वर को वीणा बजाकर प्रसन्न करने के लिये आकाशमार्ग से नारद जी के वहाँ जाने का उल्लेख किया है —

अथ रोधसि दक्षिणोदधेः श्रितगोकर्णनिकेतमीश्वरम् ।
उपवीणयितुं ययौ रवेरुदगावृत्तिपथेन नारदः ॥—रघुवंश ॥ ८ । ३३ ॥

ऐसे प्रख्यात तीर्थ में आचार्य का अपने शिष्यों के साथ जाना उचित ही प्रतीत होता है।

विरिञ्चिनाम्भोरुहनाभवन्द्यं प्रपञ्चनाट्याद्भुतसूत्रधारम् ।
तुष्टाव वामार्धवधूटिमस्तदुष्टावलेपं प्रणमन् महेशम् ।। २ ।।

ब्रह्मा और विष्णु के द्वारा पूजित इस जगत्-रूपी नाटक के अद्भुत सूत्रधार, वामार्ध में पार्वती से आलिङ्गित तथा दुष्टों के गर्व को चूर चूर करनेवाले महेश्वर को प्रणाम कर प्रसन्न किया ।। २ ।।

वपुः स्मरामि क्वचन स्मरारेर्बलाहकाद्वैतवदावदश्रि ।
सौदामनीसाधितसंप्रदायसमर्थनादेशिकमन्यतश्च ।। ३ ।।

मैं कामदेव-शत्रु शङ्कर के उस शरीर का स्मरण करता हूँ जिसके दक्षिण भाग में मेघों के समान शोभा चमक रही थी तथा वाम भाग में जो बिजली के द्वारा साधित मेघ का सतत सङ्गरूपी सम्प्रदाय के समर्थन करने का उपदेशक था अर्थात् जिस प्रकार मेघ के साथ बिजली का सदा सम्बन्ध रहता है उसी प्रकार पार्वती शिव के बायें अङ्ग में सदा विराजमान थीं ॥ ३ ॥

वामाङ्गसीमाङ्कुरदंशुतृण्याचञ्चन्मृगाञ्चत्तरदक्षपाणि-
सव्यान्यशोभाकलमाग्रभक्षसाकाङ्क्षकीरान्यकरं महोऽस्मि ।।४।।

कवि शिव-पार्वती के रूप का वर्णन करते हुए कह रहा है कि शिवजी के हाथ में मृग है तथा पार्वतीजी के हाथ में शुक है। कवि अर्धनारीश्वर रूप का वर्णन कर रहा है। जिसके दक्षिण हाथ में चमकनेवाला मृग वाम-भागरूपी खेत में उत्पन्न होनेवाले किरणरूपी तृण को खाने के लिये लालायित है तथा दहिने हाथ में विद्यमान रहनेवाला शुक दक्षिण भाग की शोभारूपी धान की बालियों को खाने के लिये इच्छुक है। यह शिव-रूपी तेज मैं ही हूँ ॥ ४ ॥

महीध्रकन्यागलसङ्गतोऽपि माङ्गल्यतन्तुः किल हालहालम् ।
यत्कण्ठदेशेऽकृत कुण्ठशक्तिमैक्यानुभावादयमस्मि भूमा ॥ ५ ॥

हिमाचल की कन्या पार्वती के गले में विवाह का मङ्गल-सूत्र चमक रहा है। वह इतना शक्तिशाली है कि अपने प्रभाव से शिवजी के कण्ठ में रहनेवाले हलाहल विष को भी उसने शक्तिहीन कर दिया है। पार्वतीजी के साथ विवाह करने का ही यह फल है कि विष पी लेने पर भी शिवजी में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न नहीं हुआ। शिवजी भूमा हैं—सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मरूप हैं। उनके साथ मैं भी वही रूप हूँ। एकता के अनुभव करने से मैं भी शिव-रूप हूँ ॥ ५ ॥

गुणत्रयातीतविभाव्यमित्थं गोकर्णनाथं वचसाऽर्चयित्वा ।
तिस्रः स रात्रीस्त्रिजगत्पवित्रे क्षेत्रे मुदैप क्षिपति स्म कालम् ॥६॥

गुणातीत (सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के प्रभाव से रहित) पुरुषों के द्वारा सदा चिन्तनीय गोकर्णनाथ का इस प्रकार वचनों से पूजन कर शङ्कर ने तीनों लोकों में पवित्र क्षेत्र में तीन रातें आनन्द से बिताईं ॥ ६ ॥

वैकुण्ठकैलासविवर्तभूतं हरन्नताघं हरिशङ्कराख्यम् ।
दिव्यस्थलं देशिकसार्वभौमस्तीर्थप्रवासी नचिरादयासीत् ॥ ७ ॥

वहाँ से गुरुओं में श्रेष्ठ तीर्थ-प्रवासी शङ्कर बहुत ही शीघ्र हरिशङ्कर नामक पवित्र क्षेत्र में पधारे जो वैकुण्ठ और कैलाश का नामान्तर मात्र

था, अर्थात् वैकुण्ठ और कैलाश के ही समान था; जो प्रणाम करनेवाले लोगों के पापों को हरनेवाला था ॥ ७ ॥

हरिशङ्कर की स्तुति

भ्रमापनोदाय भिदावदानामद्वैतमुद्रामिह दर्शयन्तौ ।
आराध्य देवौ हरिशङ्करौ स द्व्यर्थाभिरित्यर्चयति स्म वाग्भिः॥८॥

भेदवादियों के भ्रम को दूर करने के लिये इस लोक में अद्वैतवाद को दिखलानेवाले हरि और शङ्कर इन दोनों देवताओं की पूजा कर शङ्कर ने दो अर्थवाले वचनों से इनकी स्तुति की ॥ ८ ॥

[यहाँ पर कवि एक ही श्लोक के द्वारा विष्णु और शङ्कर की स्तुति कर रहा है। प्रत्येक श्लोक के दो दो अर्थ हैं—एक विष्णुपरक जिसमें दशावतार का वर्णन है, और दूसरा शिवपरक। काव्य-दृष्टि से यह स्तुति बहुत सरस और चमत्कारपूर्ण है।]

वन्द्यं महासोमकलाविलासं गामादरेणाऽऽकलयन्ननादिम् ।
मैनं महः किंचन दिव्यमङ्गीकुर्वन् विशुमे कुशलानि कुर्यात्॥ ९ ॥

शिव-परक अर्थ—देवताओं के द्वारा वन्दनीय, चन्द्रमा की कला के विलासों से सम्पन्न, अनादि श्रुति को आदर से विचार करनेवाले, मेना (हिमालय की पत्नी) से उत्पन्न दिव्य पार्वती-रूप तेज से युक्त वृषभचारी भगवान् शङ्कर मेरा कुशल करें।

विष्णुपरक अर्थ—सप्तर्षियों के द्वारा वन्दित, बड़े भारी प्रलयकाल के समुद्र के जल में विलास करनेवाले, अनादि दिव्य मत्स्यरूप को धारण करनेवाले नाव का रूप धारण करनेवाली इस पृथिवी को खींचनेवाले भगवान् विष्णु मेरा सदा कुशल करें ॥ ९ ॥

टिप्पणी—मत्स्यावतार के समय भगवान् ने जब मत्स्य का रूप धारण किया था तब उनके माथे में एक छोटा सा सींग निकल आया था। इस पृथ्वी ने नौका का रूप धारण किया था। उसी नाव को मत्स्य के सींग में बाँधकर वैवस्वत

मनु ने अपनी रक्षा की थी। यदि ऐसा नहीं होता तो इतने ज़ोरों का जल-प्लावन था कि यह संसार कभी का नष्ट हो गया रहता। इस अवतार का वर्णन भागवत (१।३।१५) में इस प्रकार है—

रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसंप्लवे।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद्वैवस्वतं मनुम्॥

मत्स्यावतार की सूचना वैदिक ग्रन्थों में भी मिलती है। शतपथ ब्राह्मण (१।८।१) में यह कथा बड़े विस्तार के साथ दी गई है।

यो मन्दरागं दधदादितेयान् सुधाभुजः स्माऽऽतनुतेऽविषादी।
स्वामद्रिलीलोचितचारुमूर्तें कृपामपारां स भवान् वधत्ताम्॥१०॥

कच्छप अवतार का वर्णन—आपने मन्दर नामक पहाड़ को धारण कर देवताओं को अमृत भोजन कराया है। आप स्वयं खेदरहित हैं तथा मन्दराचल के धारण करने योग्य सुन्दर मूर्ति को ग्रहण किया है। हे कच्छपरूपी नारायण, आप अपनी अपार कृपा मुझ पर कीजिए।

शिवपरक—आप मन्दर नामक वृक्ष को धारण करनेवाले तथा विष-भक्षण (विषादी) करनेवाले हैं। कैलाश पहाड़ के ऊपर अपने सुन्दर मूर्ति से नाना प्रकार के विलास करते हैं। हे भगवन् शङ्कर, आप अपनी अपार कृपा मुझ पर कीजिए॥ १०॥

उल्लासयन् यो महिमानमुच्चैः स्फुरद्वराहीशकलेवरोऽभूत्।
तस्मै विदध्मः करयोरजस्रं सायंतनाम्भोरुहसामरस्यम्॥ ११॥

वराह अवतार—जिन्होंने पृथ्वी के विस्तार को अपनी दंष्ट्रा से ऊपर उठा दिया है तथा सुन्दर वराह रूप को धारण करनेवाले हैं, ऐसे भगवान् विष्णु को हम लोग सायङ्काल में सम्पुटित होनेवाले कमल के समान अंजलि बाँधकर प्रणाम करते हैं।

शिव—अत्यन्त महिमा का विस्तार कर शङ्कर ने सर्पों के स्वामी वासुकि को अपने शरीर पर धारण कर लिया है। उन्हें हम लोग अञ्जलि बाँध-कर प्रणाम करते हैं॥ ११॥

टिप्पणी—शङ्कर पक्ष में 'वराहीशकलेवरः' का अर्थ है—वर (श्रेष्ठ)+अहीश (सर्पराज, वासुकि शरीर पर जिसके) तथा विष्णुपक्ष में इसका अर्थ है—वाराहीश (सूकर) के शरीर को धारण करनेवाला।

समावहन् केसरितां वरां यः सुरद्विषत्कुञ्जरमाजघान।
प्रह्लादमुल्लासितमादधानं पञ्चाननं तं प्रणुमः पुराणम् ॥ १२ ॥

नरसिंहावतार—आपने श्रेष्ठ सिंहरूप को धारण कर, देवताओं के शत्रु हिरण्यकशिपु-रूपी हाथी को मार डाला और प्रह्लाद को आनन्दित किया। ऐसे सिंह-रूपी पुराण-पुरुष! आपको हमारा प्रणाम है।

शिव—आप पञ्चमुख धारण करनेवाले हैं, सिर पर नदियों में श्रेष्ठ गङ्गा विराजती हैं। गजासुर को आपने मारा है जिससे आप अत्यन्त आनन्दित हुए। आप को मेरा प्रणाम है ॥ १२ ॥

टिप्पणी—विष्णु के अर्थ में 'केसरितां वरां' का अर्थ है श्रेष्ठ सिंह का रूप। शिव के विषय में इसका अर्थ है—के (सिर पर)+सरितां (नदियों में) वरां (श्रेष्ठ) अर्थात् नदियों में श्रेष्ठ गङ्गाजी।

उदैत्तु बल्याहरणाभिलाषो यो वामनो हार्यजिनं वसानः।
तपांसि कान्तारहितो व्यतानीदाद्योऽव्रतादाश्रमिणामयं नः ॥१३॥

वामन—आपने राजा बलि से त्रैलोक्य के हरण करने की इच्छा से सुन्दर मृगचर्म को धारण किया। स्त्री के विना किसी सम्पर्क से ब्रह्मचर्य को धारण कर आपने तपस्या की। वामनरूपी आपको नमस्कार है।

शिव—आप दक्ष प्रजापति के यज्ञ में बलि (पूजा) के ग्रहण करने के अभिलाषी हैं। आपने मनोहर मृगचर्म धारण किया है। कान्ता से रहित होकर आपने घोर तपस्या की है। आप ब्रह्मचारी हैं। आपको नमस्कार है ॥ १३ ॥

टिप्पणी—शिव पक्ष में 'वामनो हार्यजिनम्' पद का खण्ड इस प्रकार है—वा+मनोहारि+अजिनं। विष्णु पक्ष में वामनः+हारि+अजिनं ऐसा खण्ड है। अर्थ स्पष्ट है।

येनाधिकोद्यत्तरवारिणाऽऽशु जितोऽर्जुनः संगररङ्गभूमौ ।
नक्षत्रनाथस्फुरितेन तेन नाथेन केनापि वयं सनाथाः ॥ १४ ॥

परशुराम—तलवार उठाकर आपने भी कार्त्तवीर्य अर्जुन को युद्ध-क्षेत्र में जीता था। चन्द्रमा के समान चमकनेवाले आपको पाकर हम लोग सनाथ हैं।

शिव—आपके सिर पर जल चमक रहा है। लड़ाई में आपने अर्जुन को भी जीत लिया है। आपके माथे पर चन्द्रमा चमक रहा है। आपके द्वारा हम लोग सनाथ हैं ॥ १४ ॥

टिप्पणी—'उद्यत्तरवारिणा' का विष्णु पक्ष में अर्थ है—तलवार उठाकर लड़नेवाला तथा शिव-पक्ष में अर्थ है उद्यत्तर + वारि अर्थात् उछलनेवाला जल।

विलासिनाऽलीकभवेन धाम्ना कामं द्विषन्तं स दशास्यमस्यन् ।
देवो धरापत्यकुचोष्मसाक्षी देयादमन्दात्मसुखानुभूतिम् ॥१५॥

रामावतार—जिसके सामने यह संसार झूठा है उस प्रकाशित होनेवाले अपने तेज से आपने सबसे द्वेष करनेवाले दशमुख रावण को मार गिराया। आप पृथ्वी की कन्या जानकी के स्तन को आलिङ्गन करनेवाले हैं। आप मुझे अनन्त ब्रह्मानन्द का अनुभव करावें।

शिव—आपने दस इन्द्रियों के द्वारा प्रवृत्त होनेवाले कामदेव को अपने तेज से जला डाला है। आप पार्वती को आलिङ्गन करते हैं। हमें ब्रह्मानन्द का अनुभव करावें ॥ १५ ॥

टिप्पणी—'दशास्य' का विष्णुपरक अर्थ है दस मुखवाला रावण। शिव-परक अर्थ है दस इन्द्रियाँ हैं मुख जिसका ऐसा अर्थात् दस इन्द्रियों से प्रवृत्त होनेवाला। 'धरापत्य' का अर्थ है धरा + अपत्य = पृथ्वी की कन्या = सीता तथा धर + अपत्य = पर्वत की कन्या पार्वती। धर शब्द का अर्थ है पहाड़। "धरो गिरौ कार्पासतूलके कूर्मराजे वस्वन्तरे अपि इति मेदिनी"।

उत्तालकेतुः स्थिरधर्ममूर्तिर्हालाहलस्वीकरणोग्रकण्ठः ।
स रोहिणीशानिशचुम्ब्यमाननिजोत्तमाङ्गोऽवतु कोपि भूमा ॥१६।

बलराम—आपकी पताका ऊँचे तालवृक्ष के समान है। आपने धर्म के लिये मूर्ति धारण की है। सुरा तथा हल के ग्रहण करने पर भी आपका कण्ठ अत्यन्त सुन्दर है। बलरामजी का सुरापान प्रसिद्ध है। उनका हथियार हल है जिसे वे हमेशा कन्धे पर रक्खा करते थे। इन दोनों वस्तुओं को धारण करने पर भी उनका कण्ठ अत्यन्त रमणीय है। रोहिणी के पति वसुदेवजी सदा आपके सिर का चुम्बन किया करते हैं। आप मन, वाणी से अगोचर साक्षात् ब्रह्मरूप हैं।

शिव—आपने धर्म के लिए मूर्ति धारण की है। हलाहल विष के पीने पर भी आप उग्रकण्ठ हैं। रोहिणी के ईश चन्द्रमा आपके मस्तक पर विराजमान हैं। आप परमात्मा रूप हैं ॥ १६ ॥

टिप्पणी—हालाहल = हाला(= सुरा) + हल। दूसरा अर्थ विष है। रोहिणीश = (१) रोहिणी (बलराम की माता) + ईश (स्वामी) अर्थात् वसुदेव। (२) रोहिणी (नक्षत्र) + ईश (चन्द्रमा)।

विनायकेनाऽऽकलिताहितापं निषेदुषोत्सङ्गभुवि प्रहृष्यन् ।
यः पूतनामोहकचित्तवृत्तिरव्यादसौ कोऽपि कलापभूषः ॥ १७ ॥

कृष्णावतार—कालिय-मर्दन के समय साँप का विष किसी प्रकार आपके ऊपर प्रभाव नहीं जमा सका। पास की भूमि पर बैठनेवाले गरुड़ आपका सेवा में उपस्थित थे। आपने पूतना नामक राक्षसी को मोह लिया था। आपके सिर पर मयूर-पुच्छ शोभित होता है। आप प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें।

शिव—गणेशजी अपनी सूँड़ से आपके सिर पर जल का धारा गिराते हैं। आपकी गोदी में गणेशजी शोभित हैं। आपका नाम 'पवित्र' है। आपके जो भक्त हैं उनके कल्याण करने में आपकी चित्तवृत्ति सदा

लगी रहती है। आपके मस्तक को चन्द्रमा भूषित कर रहा है। आप प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें ॥ १७ ॥

टिप्पणी—विनायक = (१) वि + नायक (पक्षियों का राजा गरुड़) (२) गणेश। पूतनामोहक = (१) पूतना का मोहक (२) पूत + नाम + ऊहक (चिन्ता करनेवाले भक्त)। कलापभूषः—(१) मयूर-पुच्छ से सुशोभित, (२) चन्द्रमा से सुशोभित।

पाठीनकेतोर्जयिने प्रतीतसर्वज्ञभावाय दयैकसीम्ने ।
प्रायः क्रतुद्वेषकृतादराय बोधैकधाम्ने स्पृहयामि भूम्ने ॥ १८ ॥

बुद्धावतार—आपने मीनकेतु कामदेव को जीत लिया है। आपकी सर्वज्ञता सब जगह प्रसिद्ध है। आप दया की सीमा हैं। मैं यज्ञ से द्वेष करनेवाले पुरुषों को आदर देनेवाले ज्ञान के धाम आपके दर्शन चाहता हूँ।

शिव—कामदेव को जीतनेवाले, सर्वज्ञता से सब जगह प्रसिद्ध, दया के आधार, दक्ष प्रजापति के यज्ञ से द्वेष करनेवाले लोगों को आदर देनेवाले, ज्ञान के निधान, ब्रह्म-रूप आप हैं। आपको पाने की मेरी बड़ी इच्छा है ॥ १८ ॥

व्यतीत्य चेतोविषयं जनानां विद्योतमानाय तमोनिहन्त्रे ।
भूम्ने सदावासकृताशयाय भूयांसि मे सन्तुतमां नमांसि ॥१९॥

कल्कि—मनुष्यों के मन से अगम्य प्रकाशमान होनेवाले तम को दूर करनेवाले आप हैं। सज्जनों को आश्रय देने की इच्छा आपको रहती है। परमात्मारूप आपको मैं प्रणाम कर रहा हूँ।

शिव—मनुष्यों के चित्त-विषय के परे प्रकाशित होनेवाले, अन्धकार को दूर करनेवाले, सब मनुष्यों के अन्तःकरण में निवास करनेवाले आपको मेरे अनेक प्रणाम ॥ १९ ॥

वृषाकपायीवरयोः सपर्यां वाचाऽतिमोचारसयेति तन्वन् ।
मुनिप्रवीरो मुदितात्मकामो मूकाम्बिकायाः सदनं प्रतस्थे ॥२०॥

अङ्के निधाय व्यसुमात्मजातं महाकुलौ हन्त मुहुः प्ररुद्य ।
तदेकपुत्रौ द्विजदंपती स दृष्ट्वा दयाधीनतया शुशोच ॥ २१ ॥

इस प्रकार कदली-फल के समान मीठे वचनों से शिव और विष्णु दोनों की पूजा कर प्रसन्नचित्त मुनिराज 'मूकाम्बिका' के मन्दिर की ओर चले। गोदी में मरे हुए लड़के को रखकर बारम्बार रोनेवाले, अत्यन्त व्याकुल, एकलौते पुत्रवाले, एक ब्राह्मण-दम्पती को देख वे दयावश होकर अत्यन्त शोक करने लगे ॥ २०-२१ ॥

अपारमञ्चत्यथ शोकमस्मिन्नभूयतोच्चैरशरीरवाचा ।
जायेत संरक्षितुमक्षमस्य जनस्य दुःखाय परं दयेति ॥ २२ ॥

जब शङ्कर अपार शोक-समुद्र में डूब रहे थे तब यह आकाशवाणी ज़ोर से सुनाई पड़ी कि रक्षा करने में असमर्थ होनेवाले पुरुष की दया केवल दुःख उत्पन्न करती है ॥ २२ ॥

आकर्ण्य वाणीमशरीरिणीं तामसाविति व्याहरति स्म विज्ञः ।
जगत्त्रयीरक्षणदक्षिणस्य सत्यं तवैकस्य तु शोभते सा ॥२३॥

इस आकाशवाणी को सुनकर विद्वान् शङ्कर कहने लगे कि तीनों जगत् की रक्षा करने में चतुर आप ही की दया अच्छी लगती है अर्थात् आप ही इस दुःख को दूर करने में समर्थ हो सकते हैं ॥ २३ ॥

इतीरयत्येव यतौ द्विजातेः सुतः सुखं सुप्त इवोदतिष्ठत् ।
समीपगैः सर्वजनीनमस्य चारित्र्यमालोक्य विसिष्मिये च ॥२४॥

शङ्कर के इतना कहते ही वह ब्राह्मण का बालक सोये हुए की तरह मानों उठ खड़ा हुआ। पास रहनेवाले लोगों ने सब लोगों के हित करनेवाले शङ्कर के इस चरित्र को देखकर विस्मय प्रकट किया ॥ २४ ॥

रम्योपशल्यं कृतमालसालरसालहिंतालतमालशालैः ।
सिद्धिस्थलं साधकसंपदां तन्मूकाम्बिकायाः सदनं जगाहे ॥२५॥

इसके बाद आचार्य 'मूकाम्बिका' के मन्दिर में गये जिसके चारों ओर का प्रदेश साल, रसाल, हिन्ताल, तमाल आदि वृक्षों से नितान्त रमणीय था और जो साधक लोगों की अभिलाषाओं को पूरा करनेवाला सिद्धिस्थल था ॥ २५ ॥

उच्चावचानन्दजबाष्पमुच्चैरुद्दीर्णरोमाञ्चमुदारभक्तिः ।
अम्बामिहापारकृपावलम्बां संभावयन्नस्तुत निस्तुलं सः ॥२६॥

उदारभक्ति शङ्कर ने आँख से आनन्द के आँसू बहाते हुए, शरीर में रोमाञ्च उत्पन्न करते हुए, लोगों पर अपार कृपा करनेवाली भगवती की पूजा की तथा यह निरुपम स्तोत्र पढ़ सुनाया ॥ २६ ॥

मूकाम्बिका की स्तुति

पारेपरार्धं पदपद्मभाःसु षष्ठ्युत्तरं ते त्रिशतं तु भासः ।
आविश्य वह्न्यर्कसुधामरीचीनालोकवन्त्यादधते जगन्ति ॥२७॥

हे भगवति ! आपके चरण-कमल की प्रभा परार्ध से भी ऊपर है अर्थात् गणनातीत है। उसमें से केवल तीन सौ छत्तीस किरणें सूर्य, चन्द्र और अग्नि की किरणों में प्रवेश कर इस संसार में प्रकाश उत्पन्न करती हैं ॥ २७ ॥

अन्तश्चतुःषष्ठ्युपचारभेदैरन्तेवसत्क्राण्डपटप्रदानैः ।
आवाहनाद्यैस्तव देवि नित्यमाराधनामादधते महान्तः ॥ २८ ॥

हे देवि ! महान् पुरुष मन में चौंसठ उपचारों (आवाहन, आसन-दान, सुगन्धित तैल का मर्दन आदि) से और पास में रहनेवाले लोगों को वस्त्रदान से नित्य आपकी आराधना किया करते हैं ॥ २८ ॥

अम्बोपचारेष्वधिसिन्धुषष्टि शुद्धाज्ञयोः शुद्धिदमेकमेकम् ।
सहस्रपत्रे द्वितये च साधु तन्वन्ति धन्यास्तव तोषहेतोः ॥२९॥

हे माता ! इन चौसठ उपचारों के बीच में शुद्धि देनेवाले एक एक उपचार को ग्रहण कर शुद्ध और आज्ञा से दूसरे सहस्रदल कमल पर तुम्हारे सन्तोष के लिये साधु पुरुष पूजा किया करते हैं ॥ २९ ॥

आराधनं ते बहिरेव केचिदन्तर्बहिश्चैकतमेऽन्तरेव ।
अन्ये परे त्वम्ब कदाऽपि कुर्युर्नैव त्वदैक्यानुभवैकनिष्ठाः ॥३०॥

हे देवि ! प्राकृत लोग तुम्हारा पूजन बाहर ही किया करते हैं, मध्यम कोटि के साधक भीतर-बाहर (मानसिक तथा बाह्य) दोनों प्रकार की पूजा करते हैं। उत्तम साधक केवल मानसिक पूजा किया करते हैं परन्तु हे अम्ब ! तुम्हारे साथ एकता के अनुभव करनेवाले अनेक अति उत्तम साधक ऐसे भी हैं जो तुम्हारी पूजा ही कभी नहीं करते ॥ ३० ॥

अष्टोत्तरत्रिंशति याः कलास्तास्वर्ध्याः कलाः पञ्च निवृत्तिमुख्याः ।
तासामुपर्यम्ब तवाङ्घ्रिपद्मं विद्योतमानं विबुधा भजन्ते ॥३१॥

जो अड़तीस कलाएँ तन्त्रशास्त्र में प्रसिद्ध हैं उनमें निवृत्ति प्रदान करनेवाली बोधिनी आदि पाँच कलाएँ मुख्य हैं। हे माता ! उनके भी ऊपर चमकनेवाले तुम्हारे चरण-कमल को पण्डित लोग भजते हैं ॥ ३१ ॥

टिप्पणी—कला—इस श्लोक की व्याख्या में धनपति सूरि ने ३८ कलाओं के नाम दिये हैं। इस विषय के जिज्ञासु लोग इन नामों को इसी संस्कृत टीका को देखकर जान सकते हैं। निवृत्ति-प्रधान पाँचों कलाओं के नाम ये हैं—(१) बोधिनी, (२) धारिणी, (३) क्षमा, (४) अमृता तथा (५) मानदा।

कालाग्निरूपेण जगन्ति दग्ध्वा सुधात्मनाऽऽप्लाव्य समुत्सृजन्तीम् ।
ये त्वामवन्तीममृतात्मनैव ध्यायन्ति ते सृष्टिकृतो भवन्ति ॥३२॥

कालाग्नि का रूप धारण कर आपने जगत् को जलाया, सुधा-रूप से उसे आप्लावित (सिञ्चन) कर उसे पैदा किया तथा अमृत-रूप से आप उसकी रक्षा करती हैं। हे माता ! आपका जो ध्यान करनेवाला है वह स्वयं सृष्टि का करनेवाला बन जाता है ॥ ३२ ॥

ये प्रत्यभिज्ञामतपारविज्ञा धन्यास्तु ते प्राग्विदितां गुरूक्त्या ।
सैवाहमस्मीति समाधियोगात् त्वां प्रत्यभिज्ञाविषयं विदध्युः ॥३३॥

जो पुरुष प्रत्यभिज्ञा मत के पारगामी हैं वे गुरु के उपदेश से पहले जानी गईं आपको समाधि के योग से—वही मैं हूँ—(सा एव अहं अस्मि) यह अनुभव करके आपको प्रत्यभिज्ञा का विषय बनाते हैं। वे लोग धन्य हैं॥ ३३॥

टिप्पणी—प्रत्यभिज्ञा—तत्तेदंतोल्लेखि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा 'वह यही है' इत्याकारक ज्ञान प्रत्यभिज्ञा कहलाता है। 'सा एवाहं' 'वही मैं हूँ' यह सगुण उपासना है। 'अहं ब्रह्मास्मि' यह निर्गुण अहंग्रहोपासना कहलाता है। अहंग्रहोपासना से अभिप्राय है 'ब्रह्मरूप मैं ही हूँ'। इस ज्ञान के सतत चिन्तन या निदिध्यासन का फल मोक्ष की सद्यःप्राप्ति है। कश्मीर प्रत्यभिज्ञा-दर्शन या त्रिकदर्शन का मुख्य स्थान है। इस दर्शन का साहित्य नितान्त गम्भीर तथा विशाल है।

आधारचक्रे च तदुत्तरस्मिन्नांराधयन्त्यैहिकभोगलुब्धाः।
उपासते ये मणिपूरके त्वां वासस्तु तेषां नगराद्बहिस्ते॥३४॥

इस संसार में भोगों के लोभी पुरुष आधारचक्र तथा उसके बादवाले स्वाधिष्ठानचक्र में आपकी आराधना करते हैं। जो लोग आपका मणिपूरचक्र में ध्यान करते हैं उनकी स्थिति तुम्हारे नगर के बाहर ही रहा करती है॥ ३४॥

अनाहते देवि भजन्ति ये त्वामन्तःस्थितिस्त्वन्नगरे तु तेषाम्।
शुद्धाज्ञयोर्ये तु भजन्ति तेषां क्रमेण सामीप्यसमानभोगौ॥३५॥

हे देवि! अनाहत चक्र में जो तुम्हें भजन करनेवाले हैं वे तुम्हारे नगर के भीतर निवास करते हैं। विशुद्धचक्र में जो भजते हैं वे आपका सामीप्य प्राप्त करते हैं। आज्ञाचक्र के पूजकों को तुम्हारे ही समान भोगों की प्राप्ति होती है॥ ३५॥

सहस्रपत्रे ध्रुवमण्डलाख्ये सरोरुहे त्वामनुसंदधानः।
चतुर्विधैक्यानुभवास्तमोहः सायुज्यमम्बाञ्चति साधकेन्द्रः॥३६॥

ध्रुवमण्डल नामक सहस्रदल कमल में जो उपासक आपकी पूजा करता है वह साधक-शिरोमणि चार प्रकार की एकता के अनुभव करने से मोह को दूर कर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

श्रीचक्रषट्चक्रकयोः पुरोऽथ श्रीचक्रमन्त्रयोरपि चिन्तितैक्यम् ।
चक्रस्य मन्त्रस्य ततस्तवैक्यं क्रमादनुध्यायति साधकेन्द्रः ॥३७॥

पहिले साधक श्रीचक्र और षट्चक्र दोनों को योगियों के द्वारा बताई गई एकता का ध्यान करता है। अनन्तर श्रीचक्र और मन्त्र के, तदनन्तर चक्र के साथ तथा मन्त्र के साथ तुम्हारी एकता को धीरे धीरे वह चिन्तन करता है ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—षट्चक्र—इस शरीर में ७२ हज़ार नाड़ियों की स्थिति कही गई है जिनमें इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना मुख्य हैं। इडा नाड़ी मेरुदण्ड के बाहर बाईं ओर से और पिङ्गला दाहिनी ओर से लिपटी हुई हैं। सुषुम्ना नाड़ी मेरुदण्ड के भीतर कन्द भाग से आरम्भ होकर कपाल में स्थित सहस्रदल कमल तक जाती है। कदली-स्तम्भ के समान सुषुम्ना नाड़ी के भीतर तीन परत होते हैं—वज्रा, चित्रिणी तथा ब्रह्मनाडी। जाग्रत् कुण्डलिनी ब्रह्मनाड़ी के द्वारा ब्रह्मरन्ध्र तक जाती और लौट आती है। मेरुदण्ड के भीतर ब्रह्मनाडी में पिरोये गये छः कमलों की कल्पना योगशास्त्र में मानी जाती है। ये ही षट् चक्र हैं। इस प्रकार स्थान-विशेष का नाडीपुञ्ज चक्र के समान प्रतीत होने से 'चक्र' कहलाता है। षट्चक्र का सामान्य वर्णन यह है—

(१) मूलाधारचक्र—इसकी स्थिति रीढ़ की हड्डी के सबसे नीचे के भाग में गुदा और लिङ्ग के मध्य भाग में है। इस चक्र का कमल रक्त वर्ण का है, चार दल हैं जिनके ऊपर वँ, शँ, षँ, तथा सँ की स्थिति है। यह चक्र पृथ्वीतत्त्व का द्योतक है।

(२) स्वाधिष्ठानचक्र लिङ्गस्थान के पास है। इसका कमल सिंदूर रङ्गवाले छः दलों का है जिन पर बँ, भँ, मँ, यँ, रँ, लँ की स्थिति मानी जाती है। इस चक्र का यन्त्र अर्धचन्द्राकार है और जलतत्त्व का द्योतक है।

(३) मणिपूर :नाभि-प्रदेश के सामने मेरुदण्ड में स्थित है। इसका कमल नील वर्णवाले दशदलों का है जिन पर डँ, ढँ, णँ, तँ, थँ, दँ, धँ, नँ, पँ और फँ की स्थिति मानी जाती है। इसका यन्त्र त्रिकोण तथा अग्नितत्त्व का द्योतक है।

(४) अनाहतचक्र हृदय-प्रदेश में स्थित है। अरुणवर्ण के १२ दलों से युक्त कमल है जिन दलों पर कँ, खँ, गँ, घँ, ङँ, चँ, छँ, जँ, झँ, ञँ, टँ तथा ठँ स्थित हैं। यन्त्र धूम्रवर्ण, षट्कोण तथा वायुतत्त्व का सूचक है।

(५) विशुद्धचक्र कण्ठ प्रदेश में स्थित है। कमल धूम्रवर्णवाले १६ दलों का है जिन पर अ से लेकर अः तक १६ स्वरों की स्थिति मानी जाती है। यन्त्र पूर्णचन्द्राकार है तथा आकाशतत्त्व का द्योतक है।

(६) आज्ञाचक्र—यह चक्र भ्रूमध्य के सामने ब्रह्मनाड़ी में स्थित है। इसका कमल श्वेत वर्ण के दो दलों का है जिन पर हँ तथा क्षँ अक्षरों की स्थिति मानी जाती है। यह महत् तत्त्व का सूचक है। इन छः चक्रों के अनन्तर मेरुदण्ड के ऊपरी सिरे पर सहस्रदलवाला 'सहस्रार' चक्र है जहाँ परमशिव विराजमान रहते हैं। इसी परमशिव से कुण्डलिनी का संयोग 'लययोग' का ध्येय है। इस विषय का प्रामाणिक वर्णन 'षट्चक्रनिरूपण' में किया गया है।

इति तां वचनैः प्रपूज्य भैक्षौदनमात्रेण स तुष्टिमान् कृतार्थः।
बहुसाधकसंस्तुतः कियन्तं समयं तत्र निनाय शान्तचेताः ॥३८॥

इस प्रकार भगवती की स्तुति कर भिक्षा से माँगे गये भोजन मात्र से सन्तुष्ट और कृतार्थ होकर अनेक साधकों के द्वारा स्तुति किये गये शङ्कर ने शान्त मन से वहाँ कुछ समय बिताया ॥ ३८ ॥

श्रयति स्म ततोऽग्रहारकं श्रीबलिसंज्ञं स कदाचन स्वशिष्यैः।
अनुगेहहुताग्निहोत्रदुग्धप्रसरत्पावनगन्धशोभनीयम् ॥ ३९ ॥

इसके अनन्तर आचार्य अपने शिष्यों के साथ 'श्रीबलि' नामक अग्रहार (ब्राह्मणों के गाँव) में गये जहाँ पर प्रत्येक घर में अग्निहोत्र होता था तथा उस अग्निहोत्र में दिये गये दूध के हवन से फैलनेवाली हवा सब देशों को पवित्र तथा रमणीय बना रही थी ॥ ३९ ॥

[यहाँ पर कवि उस ब्राह्मण-गाँव का वर्णन कई श्लोकों में कर रहा है।]

अग्रहार का वर्णन

यतोऽपमृत्युर्बहिरेव याति भ्रान्त्वा प्रदेशं शनकैरलब्ध्वा ।
दृष्ट्वा द्विजातीन्निजकर्मनिष्ठान् दूरान्निषिद्धं त्यजतोऽप्रमत्तान् ॥४०॥

वहाँ के ब्राह्मण अपने काम में लगे रहते थे। निषिद्ध कर्म को दूर से ही छोड़ते थे तथा प्रमाद रहित थे। उनको देखकर अपमृत्यु सर्वत्र घूमकर अपने ठहरने के लिये कोई स्थान न पाकर बाहर से ही लौट जाती है ॥ ४० ॥

यस्मिन् सहस्रद्वितयं जनानामग्न्याहितानां श्रुतिपाठकानाम् ।
वसत्यवश्यं श्रुतिचोदितासु क्रियासु दक्षं प्रथितानुभावम् ॥४१॥

उस गाँव में वेद-पढ़नेवाले दो हजार अग्निहोत्री ब्राह्मण निवास करते थे जो वेद के द्वारा विहित अपनी क्रियाओं में निपुण तथा प्रभावशाली थे ॥ ४१ ॥

मध्ये वसन् यस्य करोति भूषां पिनाकपाणिर्गिरिजासहायः ।
हारस्य यष्टेस्तरलो यथा वै रात्रेरिवेन्दुर्गगनाधिरूढः ॥ ४२ ॥

उस नगरी के बीच में रहनेवाले गिरिजा के पति, पिनाकपाणि शङ्कर उसकी उसी प्रकार शोभा बढ़ा रहे थे जिस प्रकार मध्यमणि हार लता की और आकाश में स्थित चन्द्रमा रात्रि की शोभा बढ़ाता है ॥ ४२ ॥

तत्र द्विजः कश्चन शास्त्रवेदी प्रभाकराख्यः प्रथितानुभावः ।
प्रवृत्तिशास्त्रैकरतः सुबुद्धिरास्ते क्रतून्मीलितकीर्तिवृन्दः ॥ ४३ ॥

उस नगर में शास्त्र को जाननेवाले, प्रभावशाली, प्रवृत्ति-मार्ग में सदा लगे रहनेवाले, यज्ञों के द्वारा अपने कीर्ति-समुदाय को प्रकाशित करनेवाले 'प्रभाकर' नामक एक विद्वान् ब्राह्मण रहते थे ॥ ४३ ॥

हस्तामलक का चरित्र

गावो हिरण्यं धरणी समग्रा तद्बान्धवा ज्ञातिजनाश्च तस्य ।
सन्त्येव किं तैर्नु हि तोष एभिः पुत्रो यदस्याजनि मुग्धचेष्टः॥४४॥

उनके घर गाय, धन, पृथ्वी, बन्धु, बान्धव, जाति के लोग सब थे। परन्तु इससे क्या होता है? इससे उन्हें सन्तोष न था, क्योंकि उनका लड़का पागल था ॥ ४४ ॥

न वक्ति किंचिन्न शृणोति किंचिद्ध्यायन्निवाऽऽस्ते किल मन्दचेष्टः।
रूपेषु मारो महसा महस्वान् मुखेन चन्द्रः क्षमया महीसमः ॥४५॥

न तो वह कुछ सुनता था और न कुछ कहता था। आलसी की तरह कुछ विचार करता हुआ सदा पड़ा रहता था। परन्तु था वह बड़ा गुण-सम्पन्न। रूप में कामदेव, तेज में सूर्य, मुख से चन्द्रमा तथा क्षमा में पृथ्वी के समान था ॥ ४५ ॥

ग्रहग्रहात् किं जडवद्विचेष्टते किंवा स्वभावादुत पूर्वकर्मणः।
संचिन्तयंस्तिष्ठति तत्पिताऽनिशं समागतान् प्रष्टुमना बहुश्रुतान् ४६

उसके पिता यह सदा सोचा करते थे और आये हुए लोगों से पूछा करते थे कि क्या किसी ग्रह-बाधा के कारण यह पागल की तरह आचरण करता है या स्वभाव से, अथवा पूर्वजन्म के कर्मों से? ॥ ४६ ॥

शिष्यैः प्रशिष्यैर्बहुपुस्तभारैः समागतं कंचन पूज्यपादम्।
शुश्राव तं ग्राममनिन्दितात्मा निनाय सूनुं निकटं स तस्य ॥४७॥

जब उन्होंने यह सुना कि कोई पूज्यचरण महात्मा शिष्यों के साथ, पुस्तकों की महान् राशि लेकर यहाँ आये हुए हैं, तब निर्मलचित्त प्रभाकर अपने पुत्र को लेकर उनके यहाँ पहुँचे ॥ ४७ ॥

न शून्यहस्तो नृपमिष्टदैवं गुरुं च यायादिति शास्त्रवित् स्वयम्।
सोपायनः प्राप गुरुं व्यशिश्रणत् फलं ननामास्य च पादपङ्कजे४८

शास्त्र का यह सिद्धान्त है कि राजा, देवता और गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। अतः वह ब्राह्मण हाथ में उपहार लेकर शङ्कर के पास पहुँचा, फल दिया और उनके चरणों के ऊपर गिर पड़ा ॥४८॥

अनीनमत् तं च तदीयपादयोर्जडाकृतिं भस्मनिगूढवह्निवत् ।
स नोदतिष्ठत् पतितः पदाम्बुजे प्रायः स्वजाड्यं प्रकटं विधित्सति ४९

भस्म से छिपी हुई आग की तरह जड़ आकृतिवाले अपने पुत्र को उनके पैरों पर गिरा दिया। वह लड़का पैरों पर गिरकर उठा ही नहीं मानों वह अपनी जड़ता को प्रकट करना चाहता था ॥ ४९ ॥

उपात्तहस्तः शनकैरवाङ्मुखं तं देशिकेन्द्रः कृपयोदतिष्ठिपत् ।
उत्थापिते स्वे तनये पिताऽब्रवीद् वद प्रभो जाड्यममुष्य किंकृतम् ५०

आचार्य ने मुँह नीचे करनेवाले उस बालक का हाथ पकड़कर कृपा से ऊपर उठाया। पुत्र के उठाये जाने पर पिता बोले—हे प्रभो! कहिए इसकी जड़ता का कारण क्या है ॥ ५० ॥

वर्षाण्यतीयुर्भगवन्नमुष्य पञ्चाष्ट जातस्य विनाऽवबोधम् ।
नाध्यैष्ट वेदानलिखच्च नार्णानचीकरं चोपनयं कथंचित् ॥५१॥

इसको पैदा हुए आठ पाँच (=तेरह) वर्ष बीत गये, परन्तु अभी तक इसे कुछ ज्ञान नहीं हुआ। न तो इसने कुछ वेदों को पढ़ा, न सब अक्षरों को ही सीखा। किसी प्रकार हमने इसका उपनयन कर दिया था ॥ ५१ ॥

क्रीडापरः क्रोशति बालवर्गस्तथाऽपि न क्रीडितुमेष याति ।
बालाः शठा मुग्धमिमं निरीक्ष्य संताडयन्तेऽपि न रोषमेति ॥५२॥

खेलने के लिये लड़के इसको चिल्ला चिल्लाकर बुलाते हैं परन्तु यह खेलता ही नहीं। दुष्ट लड़के इसे पागल जानकर पीटते भी हैं परन्तु तो भी यह रुष्ट नहीं होता ॥ ५२ ॥

भुङ्क्ते कदाचिन्न तु जातु भुङ्क्ते स्वेच्छाविहारी न करोति चोक्तम् ।
तथाऽपि रुष्टेन न ताड्यतेऽयं स्वकर्मणा वर्धत एव नित्यम् ॥५३॥

कभी यह खाता है और कभी नहीं खाता है। मनमाना आचरण करता है; हमारे कहे हुए वचन नहीं मानता। तो भी मैं रुष्ट होकर इसे मारता नहीं। अपने काम से ही यह बड़ा होता जा रहा है ॥ ५३ ॥

इतीरयित्वोपरते च विप्रे पप्रच्छ तं शंकरदेशिकेन्द्रः ।
कस्त्वं किमेवं जडवत् प्रवृत्तः स चाब्रवीद् बालवपुर्महात्मा ॥५४॥

पिता के इस प्रकार कहकर चुप हो जाने पर शङ्कर ने उससे पूछा कि तुम कौन हो और क्यों इस तरह जड़ के समान आचरण करते हो। तब वह-बाल-रूपधारी महात्मा बोल उठा—॥ ५४ ॥

नाहं जडः किन्तु जडः प्रवर्तते मत्संनिधानेन न सन्दिहे गुरो ।
षडूर्मिषड्भावविकारवर्जितं सुखैकतानं परमस्मि तत्पदम् ॥५५॥

मैं जड़ नहीं हूँ। जड़ आदमी तो मेरे पास रहने से कामों में लग जाता है। मुझे इसमें सन्देह नहीं है। मैं आनन्द-रूप, देह इन्द्रिय आदि से पृथक्, 'तत्'पद के द्वारा बोध्य चैतन्यरूप हूँ जो षट् ऊर्मि (छः क्लेशों) और छः भाव-विकारों से परे है ॥ ५५ ॥

टिप्पणी—ऊर्मि से अभिप्राय क्लेशों से है। ये छः प्रकार के हैं—शोक, मोह, क्षुधा, पिपासा, जरा, मृत्यु। प्रत्येक पदार्थ छः प्रकार के परिवर्तनों को प्राप्त करता है, जिन्हें भाव विकार कहते हैं। वे ये हैं—जायते (उत्पत्ति), अस्ति (सत्ता), वर्धते (वृद्धि), विपरिणमते (एक अवस्था को दूसरी अवस्था की प्राप्ति), अपक्षीयते (ह्रास) तथा नश्यति (नाश)। जगत् के सब पदार्थ इन छः प्रकारों के क्लेशों तथा विकारों से युक्त हैं। एक अविकारी आत्मतत्त्व ही ऐसा है जो इनसे पृथक् है।

ममैव भूयादनुभूतिरेषा मुमुक्षुवर्गस्य निरूप्य विद्वन् ।
पद्यैः परैर्द्वादशभिर्बभाषे चिदात्मतत्त्वं विधुतप्रपञ्चम् ॥ ५६ ॥

हे विद्वन्! मेरा यह अनुभव मोक्ष चाहनेवाले लोगों को हो। यह कहकर बारह श्लोकों में, प्रपञ्च को दूर करनेवाले, चैतन्यरूप आत्मा का वर्णन उस बालक ने किया ॥ ५६ ॥

प्रकाशयन्ते परमात्मतत्त्वं करस्थधात्रीफलवद्यदेकम् ।
श्लोकास्तु हस्तामलकाः प्रसिद्धास्तत्कर्तुराख्याऽपि तथैव वृत्ता ५७

हाथ में रक्खे हुए आँवले की तरह ये श्लोक एक अद्वैत परमात्म-तत्त्व को प्रकाशित करते हैं। इसलिये इन श्लोकों को हस्तामलक स्तोत्र कहते हैं तथा इनके रचयिता की भी संज्ञा हस्तामलक है ॥ ५७ ॥

टिप्पणी—ये बारह श्लोक नितान्त प्रसिद्ध हैं तथा 'हस्तामलकस्तोत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं। विशेष विवरण के लिये भूमिका देखिए।

विनोपदेशं स्वत एव जातः परात्मबोधो द्विजवर्यसूनोः।
व्यस्मेष्ट संप्रेक्ष्य स देशिकेन्द्रो न्यधात् स्वहस्तं कृतयोत्तमाङ्गे ॥५८॥

उस ब्राह्मण के पुत्र को विना उपदेश के ही परमात्म-बोध हो गया। यह देखकर आचार्य स्वयं विस्मित हुए और उन्होंने अपना हाथ उसके मस्तक पर रख दिया ॥ ५८ ॥

सुते निवृत्ते वचनं बभाषे स देशिकेन्द्रः पितरं तदीयम्।
वस्तुं न योग्यो भवता सहायं न तेऽमुनाऽर्थो जडिमास्पदेन ॥५९॥

लड़के के चले जाने पर आचार्य ने उसके पिता से कहा—यह लड़का तुम्हारे साथ रहने योग्य नहीं है। यह जड़ता का घर है। इससे तुम्हारा कौन सा कार्य सिद्ध होगा ? ॥ ५९ ॥

पुराभवाभ्यासवशेन सर्वं स वेत्ति सम्यङ् न च वक्ति किंचित्।
नो चेत् कथं स्वानुभवैकगर्भपद्यानि भाषेत निरक्षरास्यः ॥ ६० ॥

पूर्व जन्म के अभ्यास से वह सब कुछ जानता है परन्तु कुछ कहता नहीं। यदि ऐसा नहीं होता तो यह विना पढ़े उन श्लोकों को कैसे कहता जिनमें उसका निजी अनुभव भरा हुआ है ॥ ६० ॥

न सक्तिरस्यास्ति गृहादिगोचरा नाऽऽत्मीयदेहे भ्रमतोऽस्य विद्यते।
तादात्म्यताऽन्यत्र ममेति वेदनं यदा न सा स्वे किमु बाह्यवस्तुषु ६१

घर आदि वस्तुओं में इसकी किसी प्रकार आसक्ति नहीं है। भ्रम से भी अपने शरीर को यह आत्मा नहीं समझता। यह जानता है कि आत्मा शरीर से भिन्न है। शरीर को छोड़कर किसी पदार्थ में 'यह

मेरा है' ऐसी इसकी बुद्धि नहीं है। जब अपने शरीर की यह दशा है तो बाह्य वस्तुओं को यह आत्मा क्यों समझेगा ॥ ६१ ॥

इतीरयित्वा भगवान् द्विजात्मजं ययौ गृहीत्वा दिशमीप्सितां पुनः ।
विप्रोऽप्यनुव्रज्य ययौ स्वमन्दिरं कियत्प्रदेशं स्थिरधीर्बहुश्रुतः ६२

इतना कहकर उस ब्राह्मण-बालक को अपने साथ लेकर आचार्य अभिलषित दिशा को चले गये और वह बहुश्रुत, स्थिरचित्त ब्राह्मण भी अपने घर चला गया ॥ ६२ ॥

ततः शतानन्दमहेन्द्रपूर्वैः सुपर्ववृन्दैरुपगीयमानः ।
पद्माङ्घ्रिमुख्यैः सममाप्तकामक्षोणीपतिः शृङ्गगिरिं प्रतस्थे ॥६३॥

अनन्तर शतानन्द तथा इन्द्रादि देवता-समूह से स्तुति किये गये और अपनी समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेनेवाले पुरुषों में शिरोमणि शङ्कर, पद्मपाद आदि शिष्यों के साथ शृङ्गगिरि की ओर चले ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—आजकल शृङ्गेरी के नाम से प्रसिद्ध है तथा मैसूर राज्य में स्थित है। यह शङ्कराचार्य के प्रधान पीठों में सर्वश्रेष्ठ है। विशेष विवरण के के लिये भूमिका देखिए।

शृङ्गगिरि का वर्णन

यत्राधुनाऽप्युत्तममृष्यशृङ्गस्तपश्चरत्यात्मभृदन्तरङ्गः ।
संस्पर्शमात्रेण वितीर्णभद्रा विद्योतते यत्र च तुङ्गभद्रा ॥ ६४ ॥

जहाँ ब्रह्म में अपने अन्तःकरण को लगा देनेवाले ऋषिशृङ्ग आज भी उत्तम तपस्या कर रहे हैं और जहाँ पर स्पर्श मात्र से कल्याण को देनेवाली तुङ्गभद्रा सुशोभित होती है ॥ ६४ ॥

अभ्यागतार्चाल्पितकल्पशाखाकूलंकषाधीतसमस्तशाखाः ।
इज्याशतैर्यत्र समुल्लसन्तः शान्तान्तराया निवसन्ति सन्तः ॥६५॥

जहाँ पर अभ्यागत पुरुषों की पूजा से कल्पवृक्ष को भी लज्जित करनेवाले, समस्त वेदों को पढ़नेवाले, सैकड़ों यज्ञों से प्रसन्न होनेवाले, शान्तचित्त, सज्जन लोग निवास करते हैं ॥ ६५ ॥

अध्यापयामास स भाष्यमुख्यान्ग्रंन्थान् निजांस्तत्र मनीषिमुख्यान्
आकर्णनप्राप्यमहापुमर्थानादिष्ट विद्याग्रहणे समर्थान् ॥ ६६ ॥
मन्दाक्षनम्रं कलयन्नशेषं पराणुदत्प्राणितमांस्यशेषम् ।
निरस्तजीवेश्वरयोर्विशेषं व्याचष्ट वाचस्पतिनिर्विशेषम् ॥ ६७ ॥

वहाँ पर आचार्य ने अपने श्रवण मात्र से मोक्ष देनेवाले मुख्य भाष्य विद्या-ग्रहण में समर्थ विद्वान् शिष्यों को पढ़ाये। अपने व्याख्यानों से शङ्कर ने शेषनाग को भी लज्जा के कारण नम्रमुख बना दिया। प्राणि-मात्र के समस्त अज्ञान को शङ्कर ने दूर किया और बृहस्पति के समान जीव और ईश्वर में अभेद का प्रतिपादन किया ॥ ६६-६७ ॥

प्रकल्प्य तत्रेन्द्रविमानकल्पं प्रासादमाविष्कृतसर्वशिल्पम् ।
प्रवर्तयामास स दैवतायाः पूजामजाद्यैरपि पूजितायाः ॥ ६८ ॥

वहाँ इन्द्र के विमान के समान सब शिल्प को प्रकट करनेवाला प्रासाद बनवाया और ब्रह्मा आदि देवताओं के द्वारा पूजित देवता की पूजा स्थापित की ॥ ६८ ॥

या शारदाम्बेत्यभिधां वहन्ती कृतां प्रतिज्ञां प्रतिपालयन्ती ।
अद्यापि शृङ्गेरिपुरे वसन्ती प्रद्योततेऽभीष्टवरान् दिशन्ती ॥६९॥

जो शारदाम्बा के नाम से प्रसिद्ध है; अपनी की हुई प्रतिज्ञा का पालन करती हुई और अभीष्ट वर को देनेवाली आज भी शृङ्गेरी पुर में विद्य-मान है ॥ ६९ ॥

टिप्पणी—आचार्य शङ्कर ने शृङ्गेरी में मठ बनाकर विद्यापीठ की स्थापना की और कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि आचार्य सुरेश्वर को पीठ का अध्यक्ष बनाया। भारती सम्प्रदाय की स्थापना शङ्कर ने सर्वप्रथम इसी स्थान पर की।

तोटकाचार्य का वृत्तान्त

चित्तानुवर्ती निजधर्मचारी भुजानुकम्पी तनुवाग्विभूतिः ।
कश्चिद्विनेयोऽजनि देशिकस्य यं तोटकाचार्यमुदाहरन्ति ॥७०॥

आचार्य की इच्छा के अनुसार चलनेवाले निज-धर्मचारी, भुजानुकम्पी, कम बोलनेवाले, आचार्य के एक शिष्य थे जिन्हें तोटकाचार्य के नाम से पुकारते हैं ॥ ७० ॥

स्नात्वा पुरा क्षिपति कम्बलवस्त्रमुख्यै-
रुच्चासनं मृदु समं स ददाति नित्यम् ।
संलक्ष्य दन्तपरिशोधनकाष्ठमग्र्यं
बाह्यादिकं गतवते सलिलादिकं च ॥ ७१ ॥

तोटकाचार्य सदैव गुरु की सेवा में संलग्न रहते थे। गुरु के स्नान के पहिले स्नान करते, कम्बल वस्त्रादिकों के द्वारा गुरु के लिये कोमल, सम तथा ऊँचा आसन बैठने के लिये बना देते थे। समय को देखकर शास्त्र-विहित दतुवन आदि रख देते थे और जब आचार्य बाहर जाते थे तब उनके लिये जल और मिट्टी रख देते थे ॥ ७१ ॥

श्रीदेशिकाय गुरवे तनुमार्जवस्त्रं विश्राणयत्यनुदिनं विनयोपपन्नः ।
श्रीपादपद्मयुगमर्दनकोविदश्च च्छायेव देशिकमसौ भृशमन्वयाद्यः ७२

विनय से युक्त होकर ये आचार्य शङ्कर के लिये प्रतिदिन शरीर पोंछने के लिये वस्त्र देते थे। ये उनके चरण दबाने में बड़े निपुण थे। ये छाया के समान आचार्य के पीछे चला करते थे ॥ ७२ ॥

गुरोः समीपे न तु जातु जृम्भते प्रसारयन्नो चरणौ निषीदति ।
नोपेक्षते वा बहु वा न भाषते न पृष्ठदर्शी पुरतोऽस्य तिष्ठति ७३

गुरु के पास ये कभी जँभाई नहीं लेते थे और न पैर फैलाकर कभी बैठते थे। कहे गये वचन की कभी उपेक्षा नहीं करते थे अर्थात् प्रत्येक आज्ञा का पालन शीघ्र ही करते थे। ये बहुत नहीं बोलते थे। सदा गुरु के पीछे चलते थे, आगे कभी नहीं खड़े होते थे ॥ ७३ ॥

तिष्ठन् गुरौ तिष्ठति संप्रयाते गच्छन् ब्रुवाणे विनयेन शृण्वन् ।
अनुच्यमानोऽपि हितं विधत्ते यच्चाहितं तच्च तनोति नास्य ७४

गुरु के खड़े होने पर खड़े हो जाते और गुरु के चलने पर चलते थे। गुरु के कहने पर उनके वचनों को विनयपूर्वक सुनते थे। बिना कहे हुए उनका हित-साधन करते थे तथा गुरु का जो अहित (बुराई) था उसके पास वे कभी नहीं जाते थे ॥ ७४ ॥

तस्मिन् कदाचन विनेयवरे स्वशाटी-
प्रक्षालनाय गतवत्यपवर्तनीगाः ।
व्याख्यानकर्मणि तदागममीक्षमाणो
भक्तेषु वत्सलतया विललम्ब एषः ॥ ७५ ॥

एक बार अपनी कौपीन धोने के लिये जब ये नदी में गये तब भक्तों पर प्रेम करनेवाले आचार्य ने इनके आने को प्रतीक्षा कर ग्रन्थ की व्याख्या में विलम्ब कर दिया ॥ ७५ ॥

शान्तिपाठमथ कर्तुमसंख्येषूद्यतेषु स विनेयवरेषु ।
स्थीयतां गिरिरपि क्षणमात्रादेष्यतीति समुदीरयति स्म ॥७६॥

जब असंख्य विद्यार्थी शान्ति पाठ करने के लिये उद्यत थे तब आचार्य ने कहा—ठहरो, एक क्षण में 'गिरि' भी आयेगा ॥ ७६ ॥

तां निशम्य निगमान्तगुरूक्तिं मन्दधीरनधिकार्यपि शास्त्रे ।
किं प्रतीक्ष्यत इति स्म ह भित्तिः पद्मपादमुनिना समदर्शि ॥७७॥

गुरु का वचन सुनकर पद्मपाद ने दीवाल की ओर संकेत किया। उनको आश्चर्य हुआ कि मन्दबुद्धि, शास्त्र के अनधिकारी, नितान्त जड़ शिष्य के लिये आचार्य प्रतीक्षा कर रहे थे। आशय यह है कि आचार्य जिस विद्यार्थी के लिये प्रतीक्षा कर रहे हैं वह नितान्त जड़ है ॥ ७७ ॥

तस्य गर्वमपहर्तुमखर्वं स्वाश्रयेषु करुणातिशयाच्च ।
व्यादिदेश स चतुर्दश विद्याः सद्य एव मनसा गिरिनाम्ने ॥७८॥

पद्मपाद के इस अधिक गर्व को दूर करने के लिये आचार्य ने अपने

शिष्यों पर अधिक दया के वश होकर उस गिरि नामक छात्र को मन में ही शीघ्र चौदहों विद्याओं का उपदेश दे दिया ॥ ७८ ॥

टिप्पणी—विद्याएँ—पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः । वेदास्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥ पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, छः वेदाङ्ग (शिक्षा, कल्प, निरुक्त, छन्द, ज्यौतिष, व्याकरण) तथा चार वेद ये चौदह विद्याएँ हैं।

सोऽधिगम्य तदनुग्रहमग्र्यं तत्क्षणेन विदिताखिलविद्यः ।
ऐष्ट देशिकवरं परतत्त्वव्यञ्जकैर्ललिततोटकवृत्तैः ॥ ७९ ॥

उस शिष्य ने आचार्य का परम अनुग्रह पाकर उसी क्षण समस्त विद्याओं को पा लिया और ब्रह्म-तत्त्व के सूचक, ललित-तोटक छन्द के द्वारा आचार्य की स्तुति की ॥ ७९ ॥

टिप्पणी—तोटक छन्द का लक्षण यह है—'इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम्' अर्थात् जिसमें चार सगण हों वह तोटक छन्द कहलाता है। जिन तोटक छन्दों से शिष्य ने आचार्य की स्तुति की उनमें से एक यह है—

भगवन्नुदधौ मृतिजन्मजले, सुखदुःखझषे पतितं व्यथितम् ।
कृपया शरणागतमुद्धर मामनुशाध्युपसन्नमनन्यगतिम् ॥

श्रीमद्देशिकपादपङ्कजयुगीमूला तदेकाश्रया
तत्कारुण्यसुधावसेकसहिता तद्भक्तिसद्वल्लरी ।
हृद्यं तोटकवृत्तवृन्तरुचिरं पद्यात्मकं सत्फलं
लेभे भोक्तुमनोतिसत्तमशुकैरास्वाद्यमानं मुहुः ॥८०॥

शिष्य की भक्तिरूपी लता ने मनोहर तोटक वृत्त-रूपी वृन्त (डण्ठल) से रमणीय, रस के लोलुप, सज्जन-रूपी शुकों के द्वारा बारम्बार आस्वादित किये जानेवाले पद्यरूपी मनोरम फल को प्राप्त किया। वह भक्ति थी लता—जिसका मूल आचार्य के दोनों चरण-कमल थे, जो आचार्य को ही आश्रित कर खड़ी हुई थी और जिसे आचार्य की कृपा-रूपी सुधा ने सींचकर हरा-भरा बनाया था ॥ ८० ॥

येनौन्नत्यमवापिता कृतपदा कामं क्षमायामियं
 निःश्रेणिः पदमुन्नतं जिगमिषोर्व्योम स्पृशन्ती परम्।
वंश्या काऽप्यधरीकृतत्रिभुवनश्रेणी गुरूणां कथं
 सेवा तस्य यतीशितुर्न विरलं कुर्वीत गुर्वी तमः॥ ८१॥

उन्नत परमपद चाहनेवाले लोगों के लिये आचार्य ने एक सीढ़ी खड़ी कर दी है जो अत्यन्त उन्नत होकर पृथ्वी के ऊपर अच्छी तरह खड़ी है; दूर आकाश को छू रही है; तीनों भुवनों की पंक्ति को तिरस्कृत करनेवाली है। ऐसे आचार्य की बड़ी सेवा किस पुरुष के अज्ञान को दूर नहीं कर देगी? आशय यह है कि आचार्य ने अद्वैत वेदान्त का प्रतिपादन कर परब्रह्म को प्राप्त करनेवाले लोगों के लिये एक सीढ़ी बना दी है। उस पर चढ़कर लोगों को आसानी से परमब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है॥ ८१॥

अथ तोटकवृत्तपद्यजातैरयमज्ञातसुपर्वसूक्तिकोऽपि।
दययैव गुरोस्त्रयीशिरोर्थं स्फुटयन्नैक्षि विचक्षणः सतीर्थ्यैः॥८२॥

तोटक ने सुन्दर प्रस्ताववाली सूक्तियों के अर्थ को बिना जाने हुए ही, गुरु की कृपा से, तोटक वृत्तों के द्वारा वेदान्त का अर्थ अच्छे ढंग से प्रकट कर दिया। इस कारण इनके साथी शिष्यों ने उसकी विचक्षणता देखी॥ ८२॥

अथ तस्य बुधस्य वाक्यगुम्फं निशमय्यामृतमाधुरीधुरीणम्।
जलजाङ्घ्रिमुखाः सतीर्थ्यवर्याः स्मयमन्वस्य सविस्मया बभूवुः ८३

इस शिष्य ने सुन्दर सूक्तियों को न जानकर भी गुरु की केवल कृपा मात्र से वेदान्त के अर्थ को अपने कतिपय तोटक वृत्तों से प्रकट कर दिया। उस विचक्षण शिष्य को आचार्य के शिष्यों ने बड़े आश्चर्य से देखा। उस विद्वान् के अमृत के समान माधुरी से भरे हुए वाक्य-गुम्फ सुनकर पद्मपाद आदि आचार्य के प्रमुख शिष्यों ने गर्व छोड़कर विस्मय धारण कर लिया अर्थात् आश्चर्यित हो गये॥ ८३॥

भक्त्युत्कर्षात् प्रादुरासन् यतोऽस्मात् पद्यान्येवं तोटकाख्यानि सन्ति ।
तस्मादाहुस्तोटकाचार्यमेनं लोके शिष्टाः शिष्टवंश्यं मुनीन्द्रम् ॥८४॥

भक्ति के उत्कर्ष से इनके मुख से तोटक छन्द में श्लोक निकले अतः लोग इस मुनीन्द्र को तोटकाचार्य के नाम से पुकारने लगे ॥ ८४ ॥

अद्यापि तत्प्रकरणं प्रथितं पृथिव्यां
तत्संज्ञया लघु महार्थमनल्पनीति ।
शिष्टैर्गृहीतमतिशिष्टपदानुविद्धं
वेदान्तवेद्यपरतत्त्वनिवेदनं यत् ॥ ८५ ॥

आज भी उनका रचित प्रकरण पृथ्वी पर नितान्त प्रसिद्ध है। यह लघु होने पर भी विशेष अर्थ से युक्त, अधिक युक्तियों से मण्डित, विद्वानों के द्वारा आदरणीय, श्रेष्ठ पदों से युक्त है और वेदान्त के द्वारा प्रकट परम तत्त्व को बतलाता है ॥ ८५ ॥

तोटकाह्वयमवाप्य महर्षेः ख्यातिमाप स दिशासु तदादि ।
पद्मपादसदृशप्रतिभावान्मुख्यशिष्यपदवीमपि लेभे ॥ ८६ ॥

उसी दिन से इन्होंने आचार्य शङ्कर से 'तोटक' संज्ञा पाकर चारों दिशाओं में ख्याति प्राप्त की और पद्मपाद के समान प्रतिभा होने से इनकी गणना आचार्य के मुख्य शिष्यों में होने लगी ॥ ८६ ॥

पुमर्थाश्चत्वारः किमुत निगमा ऋक्प्रभृतयः
प्रभेदा वा मुक्तेर्विमलतरसालोक्यमुखराः ।
मुखान्याहो धातुश्चिरमिति विमृश्याथ विबुधा
विदुः शिष्यान् हस्तामलकमुखराञ्शङ्करगुरोः ॥ ८७ ॥

आचार्य शङ्कर के हस्तामलक आदि चारों शिष्यों को विद्वान् लोग चारों पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष) मानते थे अथवा ऋक्, यजुः, साम तथा अथर्व वेद मानते थे या सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य मुक्ति के भेद स्वीकार करते थे या ब्रह्मा के चारों मुख मानते थे ॥ ८७ ॥

स्फारद्वारप्रघाणद्विरदमदसमुल्लोलकल्लोलभृङ्गी-
संगीतोल्लासभङ्गीमुखरितहरितः संपदोऽर्किपचानैः ।
निष्ठीव्यन्तेऽतिदूरादधिगतभगवत्पादसिद्धान्तकाष्ठा-
निष्ठासंपद्विजृम्भन्निरवधिसुखदस्वात्मलाभैकलोभैः ॥ ८८ ॥

भगवत्पाद श्री शङ्कर के सिद्धान्तों में निष्ठा-रूपी सम्पत्ति से उत्पन्न होनेवाले अनन्त सुख देनेवाले, आत्मा के लाभ में ही लोभ धारण करनेवाले, उदार विद्वान् उस सम्पत्ति का सदा तिरस्कार करते हैं जो बड़े-बड़े महलों के बाहरी आँगन में खड़े होनेवाले हाथियों के मद की जो लहरी बहती है उसका आस्वाद लेनेवाली भ्रमरियों के सङ्गीत के आनन्द से समस्त दिशाओं को सदा मुखरित किया करती है। आशय है कि आचार्य के वेदान्त-उपदेश को सुन जिन लोगों ने अपने स्वरूप का अनुभव कर परम आनन्द प्राप्त कर लिया है उनके सामने संसार की विशाल सम्पत्ति भी तुच्छ है ॥ ८८ ॥

समिन्धानो मन्थाचलमथितसिन्धूदरभवत्-
सुधाफेनाभेनामृतरुचिनिभेनाऽऽत्मयशसा ।
निरुन्धानो दृष्ट्या परमहह पन्थानमसतां
पराधृष्यैः शिष्यैररमत विशिष्यैष मुनिराट् ॥८९॥

मन्दराचल से मथे गये समुद्र के भीतर से निकलनेवाली सुधा के फेन के समान निर्मल तथा अमृत की कान्ति के समान विशद अपने यश से शोभित होनेवाले तथा असज्जनों के मार्ग को अपने केवल दृष्टि मात्र से नष्ट करनेवाले आचार्य शङ्कर दूसरों के द्वारा न पराजित होनेवाले शिष्यों के साथ प्रसन्न हुए ॥ ८९ ॥

इति श्रीमाधवीये तद्धस्तधात्र्यादिसंश्रयः ।
संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽयं द्वादशोऽभवत् ॥ १२ ॥

माधवीय शङ्करविजय में हस्तामलक की प्राप्ति का सूचक
बारहवाँ सर्ग समाप्त हुआ ।

त्रयोदश सर्ग

वार्तिक-रचना का प्रस्ताव

ततः कदाचित् प्रणिपत्य भक्त्या सुरेश्वरार्यो गुरुमात्मदेशम् ।
शारीरकेऽत्यन्तगभीरभावे वृतिं स्फुटं कर्तुमना जगाद ॥ १ ॥

इसके बाद एक बार सुरेश्वर ने ब्रह्म के उपदेश देनेवाले गुरु को भक्ति से प्रणाम किया और अत्यन्त गम्भीर अर्थवाले शारीरक भाष्य पर टीका लिखने की इच्छा प्रकट की ॥ १ ॥

मम यत्करणीयमस्ति ते त्वमिमं मामनुशाध्यसंशयम् ।
तदिदं पुरुषस्य जीवितं यदयं जीवति भक्तिमान् गुरौ ॥ २ ॥

मुझे जो कुछ करना चाहिए उसे आप निःसन्देह आज्ञा दीजिए। तभी तक पुरुष का जीवन है जब तक वह गुरु में भक्ति रखकर जीता है ॥ २ ॥

इतीरिते शिष्यवरेण शिष्यं प्रोचे गरीयानतिहृष्टचेताः ।
मत्कस्य भाष्यस्य विधेयमिष्टं निबन्धनं वार्तिकनामधेयम् ॥ ३ ॥

अपने मुख्य शिष्य के इस प्रकार कहने पर शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले कि मेरे भाष्य के ऊपर वार्तिक नामक ग्रन्थ तुम्हें बनाना होगा ॥ ३ ॥

टिप्पणी—जिस ग्रन्थ में कहे गये, नहीं कहे गये, तथा बुरी तरह से कहे गये सिद्धान्तों की मीमांसा की जाती है उसे वार्तिक कहते हैं। मूल ग्रन्थ के विषयों की केवल व्याख्या ही नहीं रहती, प्रत्युत उसके विरोधी मतों का साङ्गोपाङ्ग खण्डन रहता है।

उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥

द्रष्टुं सतर्कं भवदीयभाष्यं गम्भीरवाक्यं न ममास्ति शक्तिः।
तथाऽपि भावत्ककटाक्षपाते यते यथाशक्ति निबन्धनाय॥ ४॥

सुरेश्वर बोले—तर्कयुक्त, गम्भीर-वाक्य-सम्पन्न, आपके भाष्य को देखने की भी मुझमें शक्ति नहीं है। तो भी आपकी कृपा होने पर मैं यथा-शक्ति ग्रन्थ बनाने की चेष्टा करूँगा॥ ४॥

अस्त्वेवमित्यार्यपदाभ्यनुज्ञामादाय मूर्ध्ना स विनिर्जगाम।
अथाम्बुजाङ्घ्रेर्दयिताः सतीर्थ्यास्तं चित्सुखाद्या रहसीत्थमूचुः॥५॥

'ऐसा ही हो', इस प्रकार शङ्कर की आज्ञा को सिर नवाकर शिष्य ने ग्रहण किया और बाहर चले गये। इसके बाद पद्मपाद के प्रिय सहपाठी चित्सुखादि ने एकान्त में आचार्य से कहा—॥ ५॥

योऽयं प्रयत्नः क्रियते हिताय हिताय नायं विफलत्वनर्थम्।
प्रत्येकमेवं गुरवे निवेद्य बोद्धा स्वयं कर्मणि तत्परश्च॥ ६॥

जो यह यत्न कल्याण के लिये किया जा रहा है वह कल्याण न करके अनर्थ को ही फलेगा, यह बात प्रत्येक ने गुरुजी से कही॥ ६॥

[यहाँ पर शिष्य लोग सुरेश्वर के गृहस्थ-जीवन को लक्ष्य कर उन्हें आचार्य के ग्रन्थों पर टीका लिखने का अनधिकारी बतला रहे हैं।]

यः सार्वलौकिकमपीश्वरमीश्वराणां प्रत्यादिदेश बहुयुक्तिभिरुत्तरङ्गः
कर्मैव नाकनरकादिफलं ददाति नैवं परोऽस्ति फलदो जगदीशितेति७

स्वयं ज्ञानी होने पर भी ये कर्म-मार्ग में सदा निरत हैं। इन्होंने सब लोक में प्रसिद्ध ब्रह्मा आदि देवताओं के प्रभु ईश्वर का अनेक युक्तियों से खण्डन किया है। 'स्वर्ग या नरक का फल कर्म ही देता है, फलों का देनेवाला कोई दूसरा जगत् का प्रभु नहीं है।' मण्डन इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं ॥ ७ ॥

प्रत्येकमस्य प्रलयं वदन्ति पुराणवाक्यानि स तस्य कर्ता।
व्यासो मुनिर्जैमिनिरस्य शिष्यस्तत्पक्षपाती प्रलयावलम्बी ॥ ८ ॥

प्रत्येक पुराण-वाक्य इस जगत् का प्रलय होता है यह प्रतिपादन करते हैं। उन पुराणों के बनानेवाले व्यासजी हैं। उनके शिष्य जैमिनि प्रलय के सिद्धान्त को मानते हैं क्योंकि उन्हें व्यास का पक्ष अभीष्ट है ॥८॥

गुरोश्च शिष्यस्य च पक्षभेदे कथं तयोः स्याद्गुरुशिष्यभावः।
तथाऽपि यद्यस्ति स पूर्वपक्षः सिद्धान्तभावस्तु गुरूक्त एव ॥९॥

यदि गुरु और शिष्य में सिद्धान्त-भेद होता तो दोनों में गुरु-शिष्य-भाव कैसे होता ? यद्यपि यह बात ठीक है, तो भी शिष्य का सिद्धान्त पूर्व-पक्ष है और गुरु-कथन ही सिद्धान्त-रूप है ॥ ९ ॥

आ जन्मनः स खलु कर्मणि योजितात्मा कुर्वन्नवस्थित इहानिशमेव कर्म
ब्रूते परांश्च कुरुतावहिताः प्रयत्नात्स्वर्गादिकं सुखमवाप्स्यथ किं वृथाध्वे

जन्म से लेकर मण्डन ने अपना जीवन कर्म में लगा रक्खा है। इस लोक में कर्म करते हुए ही वे स्थित हैं। वे दूसरों से भी यही कहते हैं कि एकाग्र होकर प्रयत्न करो, स्वर्ग का सुख तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा, व्यर्थ मार्ग में क्यों घूम रहे हो ॥ १० ॥

एवंविधेन क्रियते निबन्धनं यदि त्वदाज्ञामवलम्ब्य भाष्यके।
भाष्यं परं कर्मपरं स योक्ष्यते मा च्यावि मूलादपि वृद्धिमिच्छता ११

ऐसा पुरुष यदि आपकी आज्ञा लेकर भाष्य के ऊपर निबन्ध रचेगा तो वह भाष्य को भी कर्म-परक ही बना देगा। वृद्धि चाहते हुए भी आप इसको मूल से च्युत न होने दीजिए ॥ ११ ॥

संन्यासमप्येष न बुद्धिपूर्वकं व्यधत्त वादे विजितो वशो व्यधात् ।
तस्मान्न विश्वासपदं विभाति नो मा चीकरोऽनेन निबन्धनं गुरो१२

वे शास्त्रार्थ में आपके द्वारा जीते गये थे इसलिये विवश होकर उन्होंने संन्यास लिया है, विचारपूर्वक नहीं। इसलिये वे विश्वासपात्र नहीं प्रतीत होते। अतएव हे गुरो! उनसे ग्रन्थ की रचना न कराइए ॥ १२ ॥

यः शक्नुयात् कर्म विधातुमीप्सितं सोऽयं न कर्माणि विहातुमर्हति ।
यद्यस्ति संन्यासविधौ दुराग्रहो जात्यन्धमूकादिरमुष्य गोचरः १३

कुमारिल भट्ट के अनुयायी मीमांसकों का यह मत है कि जो पुरुष ईप्सित कर्म कर सकता है उसे कर्म न छोड़ना चाहिए। यदि संन्यास-विधि में दुराग्रह हो तो जन्मान्ध और मूक, वधिर आदि पुरुष ही इस संन्यास के अधिकारी होंगे ॥ १३ ॥

टिप्पणी—कुमारिल के मत-प्रतिपादक पद्य ये हैं—

तत्रैवं शक्यते वक्तुं येन पंग्वादयो नराः ।
गृहस्थत्वं न शक्यन्ते कर्तुं तेषामयं विधिः ॥
नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यं वा परिव्राजकतापि च ।
तैरवश्यं ग्रहीतव्या तेनादावेतदुच्यते ॥

एवं सदा भट्टमतानुसारिणो ब्रुवन्त्यसौ तन्मतपक्षपातवान् ।
एवं स्थिते योग्यमदो विधीयतां न नोऽस्ति निर्बन्धनमत्र किंचन१४

इसी प्रकार भट्टमतानुयायी दार्शनिक कहा करते हैं। ये भी उसी मत के माननेवाले हैं। ऐसा होने पर जो उचित हो सो कीजिए। इस विषय में हमारा कुछ भी आग्रह नहीं है ॥ १४ ॥

सनन्दन के द्वारा वार्तिक-रचना

पुरा किलास्मासु सुरापगायाः पारे परस्मिन् विचरत्सु सत्सु ।
आकारयामास भवानशेषान् भक्तिं परिज्ञातुमिवास्मदीयाम् ॥१५॥

पहिले हम लोग गङ्गा के उस पार जब ब्रह्म का विचार कर रहे थे तब हमारी भक्ति को जानने के लिये आपने हम सब को बुलाया था ॥१५॥

तदा तदाकर्ण्य समाकुलेषु नावर्थमस्मासु परिभ्रमत्सु ।
सनन्दनस्त्वेष वियत्तटिन्या झरीमभिप्रस्थित एव तूर्णम् ॥१६॥

आपके वचन सुनकर हम लोग नाव खोजने के लिये इधर-उधर घूमने लगे। तब तक यह 'सनन्दन' गङ्गा के प्रवाह में तुरन्त दुलकर आपकी ओर आने लगे ॥ १६ ॥

अनन्यसाधारणमस्य भावमाचार्यवर्यै भगवत्यवेक्ष्य ।
तुष्टा त्रिवर्त्मा कनकाम्बुजानि प्रादुष्करोति स्म पदे पदे च ॥१७॥

आप जैसे गुरु में इनकी असाधारण भक्ति-भावना देखकर गङ्गा प्रसन्न हुई और उसने पैर रखने के लिये स्थान-स्थान पर सोने के कमल पैदा कर दिये ॥ १७ ॥

पदानि तेषु प्रणिधाय युष्मत्सकाशमागाद्यदयं महात्मा ।
ततोऽतितुष्टो भगवांश्चकार नाम्ना तमेनं किल पद्मपादम् ॥१८॥

यह महात्मा उन्हीं कमलों के ऊपर पैर रखता हुआ आपके पास चला आया। तब आपने प्रसन्न होकर इनका पद्मपाद नाम रख दिया ॥ १८ ॥

स एव युष्मच्चरणारविन्दसेवाविनिर्धूतसमस्तभेदः ।
आजानसिद्धोऽर्हति सूत्रभाष्ये वृत्तिं विधातुं भगवन्नगाधे ॥१९॥

हे भगवन्! आपके चरणकमलों की सेवा से इनकी भेद-बुद्धि दूर हो गई है। ये स्वभाव से सिद्ध हैं। ये ही आपके अगाध सूत्र-भाष्य के ऊपर वृत्ति बनाने में समर्थ हैं ॥ १९ ॥

यद्वाऽयमानन्दगिरिर्यदुग्रतपः प्रसन्ना परमेष्ठिपत्नी ।
भवत्प्रबन्धेषु यथाभिसन्धिव्याख्यानसामर्थ्यवरं दिदेश ॥२०॥

अथवा यह आनन्दगिरि वृत्ति बना सकते हैं जिनके उग्र तेज से प्रसन्न होकर सरस्वती ने इन्हें आपके ग्रन्थों पर, आपके अभिप्राय के अनुसार, व्याख्या लिखने की योग्यता दे दी है ॥ २० ॥

कर्मैकतानमतिरेष कथं गुरो ते विश्वासपात्रमवपद्यत विश्वरूपः।
भाष्यस्य पद्मपद एव करोतु टीकामित्यूचिरे रहसि योगिवरं विधेयाः

हे गुरो! कर्म में लगातार अपनी बुद्धि लगानेवाला यह विश्वरूप आपका विश्वासपात्र कैसे हो सकता है? इसलिये पद्मपाद ही भाष्य के ऊपर टीका बनावें, यह बात एकान्त में शिष्यों ने उन योगी शङ्कर से कही ॥ २१ ॥

हस्तामलक की वार्तिक-रचना का प्रस्ताव

अत्रान्तरेऽभ्यर्णगतः स तूर्णं सनन्दनो वाक्यमुदाजहार।
आचार्य हस्तामलकोऽपि कल्पो भवत्कृतौ वार्तिकमेष कर्तुम् ॥२२॥

इतने ही में पास बैठे हुए सनन्दन ने झट से कहा—हे आचार्य! आपके भाष्य पर ये हस्तामलक भी वार्तिक बनाने में समर्थ हैं ॥ २२ ॥

यतः करस्थामलकाविशेषं जानाति सिद्धान्तमसावशेषम्।
अतोऽस्य तस्मै भवतैव पूर्वमदायि हस्तामलकाभिधानम् ॥ २३ ॥

आपने स्वयं इनको पहिले 'हस्तामलक' नाम इसी लिये दिया है कि ये हाथ पर रक्खे गये आँवले की तरह सम्पूर्ण सिद्धान्त को भली भाँति जानते हैं ॥ २३ ॥

वाणीं समाकर्ण्य सनन्दनस्य सामिस्मितं भाष्यकृदावभाषे।
नैपुण्यमन्यादृशमस्य किंतु समाहितत्वान्न बहिः प्रवृत्तिः ॥२४॥

सनन्दन की यह बात सुनकर आचार्य कुछ मुसकराते हुए बोले—हस्तामलक की निपुणता अनुपम है परन्तु समाहित-(समाधि में लगे) चित्त होने के कारण उनकी प्रवृत्ति बाहरी कामों में नहीं होती ॥ २४ ॥

अयं तु बाल्ये न पपाठ पित्रा नियोजितः सादरमक्षराणि ।
न चोपनीतोऽपि गुरोः सकाशादध्यैष्ट वेदान् परमार्थनिष्ठः ॥२५॥

लड़कपन में इन्होंने न तो पिता के द्वारा लगाये जाने पर भी अक्षरों को पढ़ा और न उपनयन होने पर गुरु से वेदों को सीखा क्योंकि ये सदा ब्रह्म में लीन रहते थे ॥ २५ ॥

बालैर्न चिक्रीड न चान्नमैच्छन्न चारुवाचं ह्यवदत् कदाऽपि ।
निश्चित्य भूतोपहतं तमेनमानिन्यिरेऽस्मन्निकटं कदाचित् ॥२६॥

न तो लड़कों के साथ खेलते थे, न अन्न खाने की इच्छा करते थे और न मीठे वचन बोलते थे। लोग इन्हें पिशाच-ग्रस्त जानकर मेरे पास ले आये ॥ २६ ॥

अस्मानवेक्ष्यैव मुहुः प्रणम्य कृताञ्जलौ तिष्ठति बालकेऽस्मिन् ।
इमामपूर्वां प्रकृतिं विलोक्य विसिष्मिये तत्र जनः समेतः ॥२७॥

मुझे देखते ही इन्होंने बारम्बार प्रणाम किया और हाथ जोड़कर खड़े हो गये। बालक के इस अपूर्व स्वभाव को देखकर वहाँ इकट्ठे होनेवाले सब लोग चकित हो गये ॥ २७ ॥

कस्त्वं शिशो कस्य सुतः कुतो वेत्यस्माभिराचष्ट किलैष पृष्टः ।
आत्मानमानन्दघनस्वरूपं विस्मापयन् वृत्तमयैर्वचोभिः ॥ २८ ॥

जब मैंने उनसे 'कस्त्वं शिशो कस्य सुतोसि' हे बालक! तुम कौन हो और किसके पुत्र हो—ऐसा पूछा तो उन्होंने सबको विस्मित करते श्लोकबद्ध वचनों से आनन्द-रूप आत्मा का वर्णन किया ॥ २८ ॥

टिप्पणी—इस पद्य में हस्तामलक-रचित श्लोकों की ओर संकेत किया गया है।

तदा कदाऽप्यश्रुतिगोचरं तदाकर्ण्य वाग्वैभवमात्मजस्य ।
पिता प्रपद्यास्य परं प्रहर्षं सप्रश्रयां वाचमुवाच विज्ञः ॥ २९ ॥

तब अपने पुत्र के न सुने गये इस वाग्वैभव को देखकर विज्ञ पिता अत्यन्त प्रसन्न हुए और प्रेमपूर्वक बोले—॥ २९ ॥

जनैर्जडत्वेन विनिश्चितोऽपि ब्रवीति यद्येष परात्मतत्त्वम् ।

प्रज्ञोन्नतानामपि दुर्विभाव्यं किं वर्ण्यतेऽर्हन् भवतः प्रभावः ॥३०॥

मनुष्य जिसको अब तक जड़ जानते थे वही यदि आपके सामने आते ही, विद्वानों के द्वारा कठिनता से जानने योग्य परम तत्त्व को कह रहा है तो भगवन्! आपके प्रभाव का वर्णन क्या करूँ ॥ ३० ॥

आ जन्मनः संसृतिपाशमुक्तः शिष्योऽस्त्वयं विश्वगुरोस्तवैव ।

प्रफुल्लराजीववने विहारी कथं रमेत क्षुरके मरालः ॥ ३१ ॥

जन्म से ही संसार के बन्धन से मुक्त होनेवाला यह बालक आप ही का शिष्य हो। खिले हुए कमल के वन में विहार करनेवाला हंस किस प्रकार करील के जङ्गल में आनन्द पा सकता है ? ॥ ३१ ॥

विज्ञाप्य तस्मिन्निति निर्गतेऽसौ तदाप्रभृत्यत्र वसत्युदारः ।

आ शैशवादात्मविलीनचेताः कथं प्रवर्तेत महाप्रबन्धे ॥ ३२ ॥

इतना कहकर जब उनके पिता चले गये तभी से हस्तामलक यहीं पर निवास करते हैं। शैशव से ही आत्मा में लीन रहनेवाले ये बड़े ग्रन्थ के लिखने में कैसे प्रवृत्त हो सकते हैं ? ॥ ३२ ॥

श्रुत्वेति पप्रच्छुरमुं विनेयाः स्वामिन् विनैव श्रवणाद्युपायैः ।

अलब्ध विज्ञानमयं कथं वा भवानिदं साधु विदांकरोतु ॥३३॥

इस बात को सुनकर शिष्यों ने पूछा—हे स्वामी ! श्रवण, मनन आदि उपायों के बिना ही इन्होंने ज्ञान प्राप्त कैसे किया ? आप इस विषय को समझाकर बतलाइए ॥ ३३ ॥

हस्तामलक का पूर्व-जन्मचरित

तानब्रवीत् संयमिचक्रवर्ती कश्चित् पुरा यामुनतीरवर्ती ।

बभूव सिद्धः किल साधुवृत्तः सांसारिकेभ्यः सुतरां निवृत्तः ॥३४॥

संन्यासियों में श्रेष्ठ शङ्कर ने उनसे कहा—यमुना के तीर पर, संसार के विषयों से विलकुल विरक्त, साधुचरित एक सिद्ध रहते थे ॥ ३४ ॥

तस्यान्तिके काचन विप्रकन्या द्विहायनं जातु निवेश्य बालम् ।
क्षणं प्रतीक्षस्व शिशुं द्विजेति स्नातुं सखीभिः सह निर्जगाम ॥३५॥

उनके पास कोई ब्राह्मण की कन्या दो साल के छोटे बालक को रखकर, इस बालक की क्षण भर आप रक्षा कीजिए यह कहकर, सखियों के साथ नहाने चली गई ॥ ३५ ॥

अत्रान्तरे दैववशात् स बालश्चङ्क्रम्यमाणो निपपात नद्याम् ।
मृतं तमादाय शिशुं तदीयाश्चक्रन्दुरुच्चैः पुरतो महर्षेः ॥ ३६ ॥

इसी बीच में वह बालक घिसकता हुआ भाग्य के फेर से नदी में गिर पड़ा। उसके सम्बन्धियों ने उस मरे हुए बच्चे को लेकर महर्षि के सामने जोर ज़ोर से रोना प्रारम्भ कर दिया ॥ ३६ ॥

आक्रोशमाकर्ण्य मुनिः स तेषामत्यन्तखिन्नो निजयोगभूम्ना ।
प्राविक्षदङ्गं पृथुकस्य तस्य स एष हस्तामलकस्तपस्वी ॥ ३७ ॥

उनका हल्लागुल्ला सुनकर मुनि अत्यन्त खिन्न हुए और अपनी योगशक्ति से उस बालक के शरीर में घुस गये। वह तपस्वी ही यह हस्तामलक है ॥ ३७ ॥

तस्मादयं वेद विनोपदेशं श्रुतीरनन्ताः सकलाः स्मृतीश्च ।
सर्वाणि शास्त्राणि परं च तत्त्वमज्ञातमेतेन न किंचिदस्ति ॥३८॥

इसी लिये यह, विना उपदेश किये ही, अनन्त श्रुतियों को, सम्पूर्ण स्मृतियों को, समस्त शास्त्रों को और परम तत्त्व को जानता है। ऐसा कोई विषय नहीं जो इसे ज्ञात न हो ॥ ३८ ॥

तत्त्वादृगात्मा न बहिः प्रवृत्तौ नियोगमर्हत्ययमत्र वृत्तौ ।
स मण्डनस्त्वर्हति बुद्धतत्त्वः सरस्वतीसाक्षिकसर्ववित्त्वः ॥३९॥

इस तरह का पुरुष वाह्य प्रवृत्ति में तथा वृत्ति के लिखने में आज्ञा का पात्र नहीं है। वह मण्डन ही तत्त्वों को जानने के कारण और सरस्वती के सामने सर्वज्ञता प्राप्त कर लेने से इस कार्य के करने के योग्य है ॥ ३९ ॥

तत्तादृशात्युज्ज्वलकीर्तिराशिः समस्तशास्त्रार्णवपारदर्शी ।
आसादितो धर्महितः प्रयत्नात् स चेन्न रोचेत न दृश्यतेऽन्यः॥४०॥

मण्डन उज्ज्वल कीर्तिशाली हैं तथा समस्त शास्त्रों के पारगामी हैं। वे बड़े प्रयत्न से धर्म के कल्याण के लिये प्राप्त किये गये हैं। उन्हें यदि पसन्द न किया जायगा तो उनके समान कोई दूसरा आदमी नहीं दीख पड़ता ॥ ४० ॥

अहं बहूनामनभीष्टकार्यं न कारयिष्ये हि महानिबन्धे ।
किंचात्र संशीतिरभून्ममातो यदेककार्ये बहवः प्रतीपाः ॥४१॥

मैं इस वार्तिक में बहुत से लोगों की इच्छा के विरुद्ध कार्य नहीं करूँगा। इस कार्य में मुझे संशय उत्पन्न हो रहा है, क्योंकि बहुत से लोग इसके प्रतिकूल दीख पड़ते हैं ॥ ४१ ॥

भवन्निदेशाद्भगवन् सनन्दनः करिष्यते भाष्यनिबन्धमीप्सितम् ।
स ब्रह्मचर्यादुररीकृताश्रमो मतिप्रकर्षो विदितो हि सर्वतः ॥४२॥

आप लोगों के कथनानुसार पद्मपाद ही अभीष्ट भाष्य-निबन्ध को लिखेंगे। उन्होंने ब्रह्मचर्य के बाद ही संन्यास आश्रम को ग्रहण किया है। उनकी बुद्धिमत्ता चारों ओर प्रसिद्ध है ॥ ४२ ॥

सनन्दनो नन्दयिता जनानां निबन्धमेकं विदधातु भाष्ये ।
न वार्तिकं तत्तु परप्रतिज्ञं व्यधात् प्रतिज्ञां स हि नूतनदीक्षः॥४३॥

मनुष्यों को आनन्द देनेवाले सनन्दन मेरे भाष्य के ऊपर एक वृत्ति-ग्रन्थ लिखें, वार्तिक न बनावें। उसके लिखने की प्रतिज्ञा नूतन दीक्षा लेकर सुरेश्वर ने स्वयं की है ॥ ४३ ॥

आदिश्येत्थं शिष्यसंघं यतीन्द्रः प्रोवाचेत्थं नूत्नभिक्षुं रहस्तम् ।
भाष्ये भिक्षो मा कृथा वार्तिकं त्वं नेमे शिष्याः सेहिरे दुर्विदग्धाः ४४

इस प्रकार अपने शिष्यों को आदेश देकर यतिराज शङ्कर सुरेश्वर से एकान्त में बोले—हे भिक्षो ! भाष्य के ऊपर तुम वार्तिक मत लिखो ; ये मूर्ख विद्यार्थी इस बात को नहीं सह सकते ॥ ४४ ॥

तात्पर्यं ते गेहिधर्मेषु दृष्ट्वा तत्संस्कारं सांप्रतं शङ्कमानाः ।
भाष्ये कृत्वा वार्तिकं योजयेत् स भाष्यं प्राहुः स्वीयसिद्धान्तशेषम् ४५

गृहस्थ के धर्मों में तुम्हारी लगन देखकर इस समय उसके संस्कार की शङ्का करनेवाले यह कहते हैं कि भाष्य पर वार्तिक लिखकर तुम अपने ही सिद्धान्त (मीमांसा) का प्रतिपादन कर दोगे ॥ ४५ ॥

नास्त्येवासावाश्रमस्तुर्य इत्थं सिद्धान्तोऽयं तावको वेदसिद्धः
द्वारि द्वास्थैर्वारिता भिक्षमाणा वेश्मान्तस्ते न प्रवेशं लभन्ते ४६

वे यह किंवदन्ती फैला रहे हैं कि मण्डन का यह सिद्धान्त है कि यह संन्यास आश्रम वेदविहित नहीं है। द्वार पर द्वारपालों के द्वारा रोके गये भिक्षुकगण तुम्हारे घर में प्रवेश नहीं प्राप्त करते ॥ ४६ ॥

इत्याद्यां तां किंवदन्तीं विदित्वा तेषां नाऽऽसीत् प्रत्ययस्त्वय्यनल्पे
स्वातन्त्र्यात्त्वं ग्रन्थमेकं महात्मन् कृत्वा मह्यं दर्शयाध्यात्मनिष्ठम्।४ ।
विद्वन् यद्वत्प्रत्ययः स्यादमीषां शिष्याणां नो ग्रन्थसंदर्शनेन ।
इत्युक्त्वेमं वार्तिकं सूत्रभाष्ये नाभूद्धाहेत्याप खेदं च किंचित् ४८

इस तरह की किंवदन्ती सुनकर उनके हृदय में तुम्हारे जैसे विशेषज्ञ पर भी श्रद्धा नहीं जमती। इसलिये हे महात्मन् ! परमात्मविषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की ही रचना कर मुझे दिखलाओ, जिस ग्रन्थ के दिखलाने से इन शिष्यों का विश्वास जम जाय। इतनी बात कहकर सुरेश्वर ने शारीरिक भाष्य पर वार्तिक नहीं बनाया। इस कारण आचार्य कुछ खिन्न-से हुए ॥ ४७-४८ ॥

शिष्योक्तिभिः शिथिलिताग्रहमनोरथोऽसा-
वेनं स्वतन्त्रकृतिनिर्मितये न्ययुङ्क्त ।
नैष्कर्म्यसिद्धिमचिराद्‍ विदधत् स चेत्थं
न्याय्यामविन्दत सुरेश्वरदेशिकाख्याम् ॥ ४९ ॥

शिष्यों के कहने पर अपने मनोरथ से शिथिल होकर आचार्य ने सुरेश्वर को स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना करने में लगाया। उन्होंने भी अति शीघ्र "नैष्कर्म्यसिद्धि" की रचना कर अपने सुरेश्वर नाम को सार्थक कर दिया ॥ ४९ ॥

नैष्कर्म्य-सिद्धि की प्रशंसा

नैष्कर्म्यसिद्धिमथ तां निरवद्ययुक्तिं
निष्कर्मतत्त्वविषयावगतिप्रधानाम् ।
आद्यन्तहृद्यपदबन्धवतीमुदारा-
माद्यन्तमैक्षततरां परितुष्टचेताः ॥ ५० ॥

प्रशंसनीय युक्तियों से पूर्ण, नैष्कर्म्य के तत्त्व के ज्ञान को प्रधानतया बतलानेवाली, आदि से अन्त तक मनोज्ञ रचना से युक्त, उदार 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' को सन्तुष्ट होकर शङ्कर ने आदि से अन्त तक देखा ॥ ५० ॥

ग्रन्थं दृष्ट्वा मोदमानो मुनीन्द्रस्तं चान्येभ्यो दर्शयामास हृद्यम् ।
तेषां चाऽऽसीत्प्रत्ययस्तद्वदस्मिन्यद्वच्चान्यस्तत्त्वविद्यः स नेति॥५१॥

ग्रन्थ को देखकर शङ्कर अत्यन्त प्रसन्न हुए। उन्होंने इसे अन्य लोगों को भी दिखलाया जिससे उनको यह विश्वास हो गया कि सुरेश्वर से बढ़कर कोई भी तत्त्ववेत्ता नहीं है ॥ ५१ ॥

यत्राद्यापि श्रूयते मस्करीन्द्रैर्निष्कर्माऽऽत्मा यत्र नैष्कर्म्यसिद्धिः ।
तन्नाम्नाऽयं वृद्धे ग्रन्थवर्यस्तन्माहात्म्यात्सर्वलोकादृतोऽभूत्५२

जिस ग्रन्थ में आज भी संन्यासियों के द्वारा कर्म से रहित आत्मा का वर्णन सुना जाता है, जिसमें मोक्ष की सिद्धि की गई है, उसी नाम से यह ग्रन्थ प्रसिद्ध हुआ तथा सब लोगों में आदृत हुआ ॥ ५२ ॥

आचार्यवाक्येण विधित्सितेऽस्मिन् विघ्नं यदन्ये व्यधुरुत्ससर्ज ।
शापं कृतेऽस्मिन् कृतमप्युदारैस्तद्वार्तिकं न प्रसरेत् पृथिव्याम् ॥५३॥

शङ्कर के कहने पर भी भाष्य-वार्तिक की रचना के विषय में दूसरे लोगों ने विघ्न उपस्थित किया। इसलिये सुरेश्वर ने शाप दिया कि उदार विद्वानों के द्वारा निर्मित वार्तिक भी पृथ्वीतल में नहीं प्रसिद्ध होगा ॥५३॥

नैष्कर्म्यसिद्ध्याख्यनिबन्धमेकं
कृत्वाऽऽत्मपूज्याय निवेद्य चाऽऽप्त्वा ।
विश्वासमुक्त्वाऽथ पुनर्बभाषे
स विश्वरूपो गुरुमात्मदेवम् ॥ ५४ ॥

'नैष्कर्म्य-सिद्धि' को बनाकर, पूजनीय गुरु को समर्पण कर, उनका विश्वास पाकर, विश्वरूप ने अपने गुरु से यह वचन कहा—॥ ५४ ॥

न ख्यातिहेतोर्न च लाभहेतोर्नाप्यर्चनार्थं विहितः प्रबन्धः ।
नोल्लङ्घनीयं वचनं गुरूणां नोल्लङ्घने स्याद्‌ गुरुशिष्यभावः ॥५५॥

यह ग्रन्थ मैंने न तो ख्याति के लिये बनाया है न प्रसिद्धि के लिये, न लाभ के लिये और न पूजा के ही लिये। गुरु लोगों के वचन उल्लंघन न करना चाहिये। उल्लंघन करने पर गुरु-शिष्य का भाव ही नष्ट हो जाता है ॥ ५५ ॥

पूर्वं गृहित्वेऽपि न तत्स्वभावो न बाल्यमन्वेति हि यौवनस्थम् ।
न यौवनं वृद्धमुपैति तद्वद्‌ व्रजन् हि पूर्वस्थितिमोज्झय गच्छेत् ॥५६॥

पहिले गृहस्थ होने पर भी मैं इस समय गृहस्थ के स्वभाववाला नहीं हूँ, क्योंकि युवा पुरुष को बालकपन अनुगमन नहीं करता और वृद्ध पुरुष के साथ युवावस्था नहीं चलती। आशय यह है कि जो अवस्था बीत

गई वह बीत गई। इसी के समान आगे जानेवाला पुरुष पहिली स्थिति को छोड़कर ही आगे बढ़ता है ॥ ५६ ॥

अहं गृही नात्र विचारणीयं किं ते न पूर्वं मन एव हेतुः ।
बन्धे च मोक्षे च मनो विशुद्धो गृही भवेद्वाऽप्युत मस्करी वा ॥५७॥

मैं गृहस्थ था, इसमें विचार करने की कोई बात नहीं। परन्तु क्या वे भी पूर्वजन्म में गृहस्थ नहीं थे? इस विषय में तो मन ही कारण है। बन्धन तथा मोक्ष में भी मन ही हेतु है। पुरुष को निर्मल चरित्र होना चाहिए—चाहे वह गृहस्थ हो या संन्यासी ॥ ५७ ॥

नास्त्येव चेदाश्रम उत्तमाऽऽदिः कथं च तत्प्राप्तिनिवृत्तिगामिनौ ।
प्रतिश्रवौ नौ कथमुत्पकालौ न हि प्रतिज्ञा भगवन्निरुद्धा ॥५८॥

संन्यास आश्रम नहीं है, यदि ऐसा दोष मेरे ऊपर वे लोग लगाते हैं तो उसकी प्राप्ति तथा निवृत्ति के सम्बन्ध में शास्त्रार्थ के समय हमारी और आपकी जो प्रतिज्ञा थी (कि पराजित होने पर एक दूसरे का आश्रम स्वीकार कर लेगा) वह व्यर्थ होती है। हे भगवन्! मैंने अपनी प्रतिज्ञा को नहीं छोड़ा है ॥ ५८ ॥

संभिक्षमाणा न लभन्त एव चेद्गृहप्रवेशं गुरुणा प्रवेशनम् ।
कथं हि भिक्षा विहिता ननूत्तमा को नाम लोकस्य मुखापिधायकः ॥५९॥

यदि मेरे ऊपर यह आरोप हो कि भिक्षु लोग मेरे घर में प्रवेश नहीं करते हैं तो यह भी ठीक नहीं है। आप ही ने मेरे घर में कैसे प्रवेश किया था और कैसे मेरे घर में आपको उत्तम भिक्षा दी गई थी! लोगों के मुँह को कौन बन्द कर सकता है? ॥ ५९ ॥

टिप्पणी—जनता की यह बड़ी बुरी चाल है कि जिसके विरोध की धुन उस पर सवार हो जाती है उसके लाख निषेध करने पर भी वह बिना दोषारोपण किये नहीं रहती। 'को नाम लोकस्य मुखापिधायकः' के समान ही श्रीहर्ष ने भी 'नैषधीयचरित' में कहा है कि 'जनानने कः करमर्पयिष्यति' ॥

तत्त्वोपदेशाद्विदितात्मतत्त्वो व्यधामहं संन्यसनं कृतात्मा ।
विरागभावान्न पराजितस्तु वादो हि तत्त्वस्य विनिर्णयाय ॥६०॥

पहले मैंने अपनी बुद्धि को शास्त्राभ्यास से परिष्कृत किया। तदनन्तर तत्त्व के उपदेश को सुनकर आत्मतत्त्व को भली भाँति जानकर वैराग्य से मैंने संन्यास ग्रहण किया है, पराजित होने से नहीं। शास्त्रार्थ तो तत्त्व के निर्णय के लिये था ॥ ६० ॥

पुरा गृहस्थेन मया प्रबन्धा नैयायिकादौ विहिता महार्थाः ।
इतः परं मे हृदयं चिकीर्षु त्वदङ्घ्रिसेवां न विलङ्घ्य किंचित् ६१

पहले गृहस्थावस्था में मैंने नैयायिकों के खण्डन के लिये बहुत से ग्रन्थ बनाये। अब तो मेरा हृदय आपकी चरण-सेवा को छोड़कर दूसरा काम करने को नहीं चाहता ॥ ६१ ॥

श्रद्धामद्वैतबद्धादरबुधपरिषच्छेमुषीसंनिषण्णा-
मर्वाग्दुर्वादिगर्वानलविपुलतरज्वालमालावलीढाम् ।
सिक्त्वा सूक्तामृतौघैरहह परिहसञ्जीवयस्यद्य सद्यः
को वा सेवापटुः स्याद्रणतरणविधौ सद्गुरोर्नैव जाने ॥६२॥

सूक्तिरूपी अमृत से सिंचन कर हँसते हुए आज आप उस श्रद्धा को जिला रहे हैं जो अद्वैत-तत्त्व में श्रद्धा रखनेवाले पण्डितों की बुद्धि में स्थिर रूप से रहनेवाली है तथा नवीन बकवादियों के गर्वरूपी आग को अधिक जलानेवाली है। संग्राम के पार जाने के समान सद्गुरु की सेवा में कौन समर्थ हो सकता है ॥ ६२ ॥

इत्युक्त्वोपरते सुरेश्वरगुरौ तेनैव शारीरके
नो संभाव्यहहात्र वार्तिकमिति प्रौढं शुगग्निं शनैः ।
धीराग्र्यः शमयन् विवेकपयसा देवेश्वरेण त्रयी-
भाष्ये कारयितुं स वार्तिकयुगं बद्धादरोऽभून्मुनिः ॥६३॥

इतना कहकर सुरेश्वर के चुप हो जाने पर यह शोक की आग उनके हृदय को जलाती रही कि मैंने शारीरक भाष्य के ऊपर वार्तिक नहीं बनाया। धैर्यवान् पुरुषों में श्री शङ्कर ने विवेकरूपी जल से इसे शान्त किया और उपनिषद् के भाष्य पर दो वार्तिक बनाने के लिये सुरेश्वर से कहा ॥ ६३ ॥

टिप्पणी—सुरेश्वर ने उपनिषद्भाष्य तथा शङ्कर के स्तोत्रों पर वार्तिक बनाये हैं—(१) बृहदारण्यक-भाष्य वार्तिक (२) तैत्तिरीय-भाष्य वार्तिक, (३) पञ्चीकरण वार्तिक, तथा (४) दक्षिणामूर्तिस्तोत्रवार्तिक। इन वार्तिकों में बृहदारण्यक तथा तैत्तिरीय के वार्तिक नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन्हीं का निर्देश इस पद्य में है। वे ग्रन्थ अद्वैत तत्त्व के प्रतिपादन करने में नितान्त प्रौढ़ हैं। इन्हीं वार्तिकों की रचना के कारण सुरेश्वर वेदान्त के इतिहास में 'वार्तिककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। विशेष विवरण के लिये भूमिका देखिए।

> भावानुकारिमृदुवाक्यनिवेशितार्थं
> स्वीयैः पदैः स्व निराकृतपूर्वपक्षम्।
> सिद्धान्तयुक्तिविनिवेशिततत्स्वरूपं
> दृष्ट्वाऽभिनन्द्य परितोषवशादवोचत् ॥ ६४ ॥

भाव के अनुसार मृदु वाक्य से युक्त, अपने पदों से पूर्वपक्ष के खण्डन करनेवाले, सिद्धान्त की युक्तियों से सिद्धान्त के स्वरूप को प्रकट करनेवाले ग्रन्थ को देखकर आचार्य ने उसका अभिनन्दन किया और सन्तुष्ट होकर कहा—॥ ६४ ॥

> सत्यं यदीत्थ विनयिन् मम याजुषी या
> शाखा तदन्तगभाष्यनिबन्ध इष्टः।
> तद्वार्तिकं मम कृते भवता प्रणेयं
> सच्चेष्टितं परहितैकफलं प्रसिद्धम् ॥ ६५ ॥

हे विनययुक्त! जो तुमने कहा था सब ठीक हुआ। मेरी तैत्तिरीय शाखा है; उसके सम्बद्ध उपनिषद् का भाष्य मैंने बनाया है। उसका

वार्तिक मेरे लिये अवश्य बनाना। परोपकार के लिये ही सज्जनों की प्रवृत्ति होती है ॥ ६५ ॥

तद्वत्त्वदीया खलु काण्वशाखा ममापि तत्रास्ति तदन्तभाष्यम्।
तद्वार्तिकं चापि विधेयमिष्टं परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः ॥ ६६ ॥

तुम्हारी काण्व शाखा है। उसके उपनिषद् पर भी मेरा भाष्य है। उस पर भी तुम वार्तिक बनाओ क्योंकि सज्जनों की प्रवृत्ति परोपकार के लिये होती है ॥ ६६ ॥

तत्रोभयत्र कुरु वार्तिकमार्तिहारि
कीर्तिं च याहि जितकार्तिकचन्द्रिकाभाम्।
मा शङ्कि पूर्वमिव दुःशठवाक्यरोधो
मद्वाक्यमेव शरणं व्रज मा विचारीः ॥ ६७ ॥

इन दोनों के ऊपर तुम वार्तिक बनाओ। कार्तिक मास के चन्द्रमा को जीतनेवाली कीर्ति का विस्तार करो। पहिले की तरह दुर्जनों के वाक्यों से न डरना। मेरी बात को मानो। अब अधिक विचार मत करो ॥ ६७ ॥

इत्थं स उक्तो भगवत्पदेन श्रीविश्वरूपो विदुषां वरिष्ठः।
चकार भाष्यद्वयवार्तिके द्वे ह्याज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया ॥६८॥

आचार्य के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर विद्वानों में श्रेष्ठ विश्वरूप ने दोनों भाष्यों के ऊपर दो वार्तिक बनाये। गुरु की आज्ञा विना विचारे हुए करनी चाहिए ॥ ६८ ॥

आज्ञा गुरोरनुचरैर्न हि लङ्घनीये-
त्युक्त्वा तयोर्निगमशेखरयोरुदारम्।
निर्माय वार्तिकयुगं निजदेशिकाय
निःसीमनिस्तुलनधीरपदां चकार ॥ ६९ ॥

गुरु की आज्ञा शिष्यों को माननी चाहिए, यह कहकर सुरेश्वर ने तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक भाष्य के ऊपर अर्थगर्भित दो वार्तिकों को बनाया। अतुलनीय तथा असीम बुद्धिवाले शिष्य ने उसे गुरु को उपहार-रूप में दे दिया ॥ ६९।

सनन्दनो नाम गुरोरनुज्ञया भाष्यस्य टीकां व्यधितेरितः-पराम् ।
यत्पूर्वभागः किल पञ्चपादिका तच्छेषगा वृत्तिरिति प्रथीयसी ७०

गुरु की आज्ञा से सनन्दन ने भाष्य के ऊपर टीका बनाई जिसका पूर्वभाग 'पञ्चपादिका' के नाम से तथा उत्तरभाग 'वृत्ति' के नाम से प्रसिद्ध है ॥ ७० ॥

व्यासर्षिसूत्रनिचयस्य विवेचनाय
टीकांभिधं विजयडिण्डिममात्मकीर्तेः ।
निर्माय पद्मचरणो निरवद्ययुक्ति-
हृब्धं प्रबन्धमकरोद्गुरुदक्षिणां सः ॥ ७१ ॥

महर्षि व्यास के सूत्रों की विवेचना के लिये पद्मपाद ने निर्दोष युक्तियों से मण्डित अपनी कीर्ति को उद्घोषित करनेवाले विजय-डिण्डिम के समान टीका-ग्रन्थ लिखकर उसे गुरु-दक्षिणा रूप में दिया ॥ ७१ ॥

आलोचयन्नथ तदा तु गतिं ग्रहाणा-
मूचे सुरेश्वरसमाह्वमुपह्वरे सः ।
पञ्चैव वत्स चरणाः प्रथिता इह स्यु-
स्तत्रापि सूत्रयुगलद्वयमेव भूम्ना ॥ ७२ ॥

इसके बाद ग्रहों की गति का विचार करते हुए आचार्य ने एकान्त में सुरेश्वर से कहा—हे वत्स! इस टीका के पाँच ही चरण प्रसिद्ध होंगे और उसमें भी विशेषतः चार ही सूत्र विख्यात होंगे ॥ ७२ ॥

प्रारब्धकर्मपरिपाकवशात् पुनस्त्वं
वाचस्पतित्वमधिगम्य वसुन्धरायाम् ।

भव्यां विधास्यसितमां मम भाष्यटीका-

माभूतसंप्लवमधिक्षिति सा च जीयात् ॥ ७३ ॥

प्रारब्ध कर्म के परिपाक होने पर तुम फिर इस भूतल पर वाचस्पति मिश्र के रूप में आओगे और मेरे भाष्य पर अत्यन्त भव्य टीका लिखोगे जो प्रलयकाल तक इस भूतल पर स्थिर रहेगी ॥ ७३ ॥

इत्येवमुक्त्वाऽथ यतीश्वरोऽसावानन्दगिर्यादिमुनीन् स हूत्वा ।

कुरुध्वमद्वैतपरान् निबन्धानित्यन्वशान्निर्ममसार्वभौमः ॥ ७४ ॥

निर्मम तपस्वियों के चक्रवर्ती आचार्य ने इतना कहकर आनन्द गिरि आदि मुनियों को बुलाया और उन्हें अद्वैतपरक ग्रन्थों के बनाने की आज्ञा दी ॥ ७४ ॥

ते सर्वेऽप्यनुमतिमाप्य देशिकेन्द्रो-

रानन्दाचलमुखरा महानुभावाः ।

आतेनुर्जगति यथास्वमात्मतत्त्वा-

म्भोजार्कान् विशदतरान् बहून्निबन्धान् ॥ ७५ ॥

आनन्द गिरि आदि महाप्रतापी शिष्यों ने गुरु की आज्ञा पाकर अपनी बुद्धि के अनुसार आत्मतत्त्वरूपी कमलों को विकसित करने के लिये सूर्य के समान अनेक ग्रन्थ बनाये ॥ ७५ ॥

इति श्रीमाधवीये तद्वार्तिकान्तप्रवर्तनः ।

संक्षेपशंकरजये पूर्णः सर्गस्त्रयोदशः ॥ १३ ॥

माधवीय शङ्करविजय में वार्तिक के लिखने की प्रेरणा को बतलाने-वाला त्रयोदश सर्ग समाप्त हुआ ।

चतुर्दश सर्ग

पद्मपाद की तीर्थयात्रा

अथाब्जपात्कर्तुमनाः स तीर्थयात्रामयाचिष्ट गुरोरनुज्ञाम् ।
देया गुरो मे भगवन्ननुज्ञा देशान् दिदृक्षे बहुतीर्थयुक्तान् ॥ १ ॥

इसके अनन्तर पद्मपाद ने तीर्थयात्रा की अभिलाषा से गुरु की आज्ञा माँगी—हे गुरुदेव ! आप मुझे आज्ञा दीजिए। मुझे तीर्थों और देशों को देखने की इच्छा बहुत अधिक है ॥ १ ॥

(शिष्य का यह वचन सुनकर आचार्य ने तीर्थयात्रा के दोष दिखलाते हुए कहा—)

तीर्थयात्रा के दोष

स क्षेत्रवासो निकटे गुरोर्यो वासस्तदीयाङ्घ्रिजलं च तीर्थम् ।
गुरूपदेशेन यदात्मदृष्टिः सैव प्रशस्ताऽखिलदेवदृष्टिः ॥ २ ॥

गुरु के पास रहना ही तीर्थस्थान में रहना है। गुरु के चरण का जल तीर्थ है। गुरु के उपदेश से जो आत्मा का दर्शन होता है वही समस्त देवताओं का प्रशस्त दर्शन है ॥ २ ॥

शुश्रूषमाणेन गुरोः समीपे स्थेयं न नेयं च ततोऽन्यदेशे ।
विशिष्य मार्गश्रमकर्शितस्य निद्राभिभूत्या किमु चिन्तनीयम् ॥३॥

इसलिये शिष्य को चाहिए कि गुरु की सेवा करता हुआ उसके पास रहे, दूसरे देश में न जाय। क्योंकि रास्ते को थकावट से थके हुए आदमी को निद्रा धर दबाती है। उस अवस्था में क्या वेदान्त के किसी तत्त्व का चिन्तन हो सकता है ? ॥ ३ ॥

द्विधा हि संन्यास उदीरितोऽयं विबुद्धतत्त्वस्य च तद्बुभुत्सोः ।
तत्त्वंपदार्थैक्य उदीरितोऽयं यत्नात् त्वमर्थः परिशोधनीयः ॥४॥

संन्यास दो प्रकार का बतलाया गया है—एक संन्यास तत्त्वज्ञान को प्राप्त कर लेनेवाले पुरुष के लिये है (इसी को 'विद्वत्-संन्यास' कहते हैं), दूसरे प्रकार का संन्यास तत्त्व को जानने की इच्छा करनेवाले पुरुष के लिये है (जिसको 'विविदिषा' संन्यास कहते हैं)। तुम्हें 'तत्' और 'त्वम्' पदार्थ की एकता का ज्ञान प्राप्त करना है। ऐसी दशा में तुम्हें 'त्वं' पदार्थ का विवेचन करना चाहिए, तीर्थाटन नहीं ॥ ४ ॥

संभाव्यते क्व च जलं क्व च नास्ति पाथः
शय्यास्थलं क्वचिदिहास्ति न च क्व चास्ति ।
शय्यास्थलीजलनिरीक्षणसक्तचेताः
पान्थो न शर्म लभते कलुषीकृतात्मा ॥ ५ ॥

तीर्थयात्रा में कहीं जल की सम्भावना होती है और कहीं जल बिल्कुल नहीं मिलता। कहीं पर लेटने की जगह मिलती है और कहीं पर वह भी नहीं मिलती। इस प्रकार स्थान, शय्या, जल आदि के दर्शन में चित्त के लगे रहने से तीर्थयात्री का मन सदा कलुषित रहता है। उसे शान्ति प्राप्त नहीं होती ॥ ५ ॥

ज्वरातिसारादि च रोगजालं बाधेत चेत् तर्हि न कोऽप्युपायः ।
स्थातुं च गन्तुं च न पारयेत तदा सहायोऽपि विमुञ्चतीमम् ॥६॥

यदि उसे ज्वर, अतिसार आदि रोग हो जायँ तो उससे बचने का कोई उपाय नहीं रहता। वह न तो ठहर सकता है और न जा ही सकता है। उसके संगी-साथी सब उसे छोड़ देते हैं ॥ ६ ॥

स्नानं प्रभाते न च देवतार्चनं क्व चोक्तशौचं क्व च वा समाधयः।
क्व चाशनं कुत्र च मित्रसंगतिः पान्थो न शाकं लभते क्षुधातुरः॥७॥

प्रातःकाल न तो स्नान हो सकता है और न देवता का पूजन; न शौच हो सकता है और न समाधि। भोजन कहाँ और मित्र की सङ्गति कहाँ? भूखे राही को शाक भी नहीं मिलता ॥ ७ ॥

तीर्थयात्रा-प्रशंसा

नास्त्युत्तरं गुरुगिरस्तदपीह वक्ष्ये
सत्यं यदाह भगवान् गुरुपार्श्ववासः।
श्रेयानिति प्रथम संयमिनामनेकान्
देशाननवीक्ष्य हृदयं न निराकुलं मे ॥ ८ ॥

गुरुजी के ये वचन सुनकर पद्मपाद ने कहा—गुरु के वचनों का उत्तर देना अनुचित है। आपका यह कहना बिल्कुल ठीक है कि गुरु के पास रहना तीर्थयात्रा से बढ़कर है तथापि हे संयमियों में श्रेष्ठ! देशों को बिना देखे मेरे हृदय में चैन नहीं है ॥ ८ ॥

सर्वत्र न क्वापि जलं समस्ति पश्चात् पुरस्तादथवा विदिक्षु।
मार्गो हि विद्येत न सुव्यवस्थः सुखेन पुण्यं क्व नु लभ्यतेऽधुना॥९॥

सब जगह जल नहीं मिलता, यह कथन ठीक है। आगे, पीछे अथवा भिन्न भिन्न दिशाओं में सदा सुगम मार्ग नहीं मिलता। परन्तु क्या सुख से पुण्य की प्राप्ति हो सकती है। अर्थात् तीर्थाटन से जो पुण्य उत्पन्न होता है उसके लिये कुछ कष्ट उठाना ही पड़ेगा ॥ ९ ॥

जन्मान्तरार्जितमघं फलदानहेतो-
र्व्याध्यात्मना जनिमुपैति न नो विवादः।

साधारणादिह च वा परदेशके वा
कर्म ह्यभुक्तमनुवर्तत एव जन्तुम् ॥ १० ॥

पूर्व जन्म में किया गया पाप फल देने के लिये व्याधि रूप से प्रकट होता है, इसके विषय में मुझे कोई विवाद नहीं है। परन्तु उसका उत्पन्न होना स्वाभाविक है। यहाँ भी हो सकता है, परदेश में भी हो सकता है। बिना भोगा हुआ कर्म मनुष्य के पीछे-पीछे लगा रहता है ॥ १० ॥

इह स्थितं वा परतः स्थितं वा कालो न मुञ्चेत् समयागतश्चेत् ।
तद्देशगत्याऽमृत देवदत्त इत्यादिकं मोहकृतं जनानाम् ॥ ११ ॥

आया हुआ काल मनुष्य को नहीं छोड़ता। चाहे वह इस देश में रहे, चाहे परदेस में। किसी देश में जाने से देवदत्त मर गया, ऐसा लोगों का कहना मोह-जनित ही है ॥ ११ ॥

मन्वादयो मुनिवराः खलु धर्मशास्त्रे
धर्मादि संकुचितमाहुरतिप्रवृद्धम् ।
देशाद्यवेक्ष्य न तु तत्सरणिं गतानां
शौचाद्यतिक्रमकृतं प्रभवेदघं नः ॥ १२ ॥

मनु आदि मुनियों ने देश और काल के अनुरोध से अत्यन्त वृहत धर्म को संक्षिप्त रूप से करने को बतलाया है। इसलिये देशाटन करने पर भी शौच आदि के अतिक्रमण होने से हमें किसी प्रकार का पाप नहीं लग सकता ॥ १२ ॥

दैवेऽनुकूले विपिनं गतो वा समाप्नुयाद्वाञ्छितमन्नमेषः ।
ह्रियेत नश्येदपि वा पुरस्थं तस्मिन् प्रतीपे तत एव सर्वम् ॥१३॥

दैव के अनुकूल होने पर जङ्गल में भी जानेवाला पुरुष वाञ्छित अन्न को पा लेता है और उस भाग्य के विपरीत होने पर गाँव में भी रक्खा हुआ अन्न चुरा लिया जाता है अथवा नष्ट हो जाता है ॥ १३ ॥

गृहं परित्यज्य विदेशगो ना सुखं समागच्छति तीर्थदृश्वा ।
गृहं गतो याति मृतिं पुरस्तात् तदागमादत्र च किं निमित्तम्॥१४॥

घर छोड़कर विदेश में जाकर तीर्थों को देखनेवाला पुरुष सुख पाता है। घर में रहनेवाला भी प्राणी यात्रा करने के पहले ही मर जाता है, इसमें क्या कारण है ! ॥ १४ ॥

देशे कालेऽवस्थितं तद्विमुक्तं ब्रह्मानन्दं पश्यतां तत्र तत्र ।
चित्तैकाग्र्ये विद्यमाने समाधिः सर्वत्रासौ दुर्लभो नेति मन्ये ॥१५॥

भिन्न भिन्न देश और समय में देश-काल से अतीत (रहित) ब्रह्मानन्द के अनुभव करनेवाले पुरुष को सब जगह चित्त की एकाग्रता होने पर समाधि दुर्लभ नहीं है। यह मेरा विचार है ॥ १५ ॥

सत्तीर्थसेवा मनसः प्रसादिनी देशस्य वीक्षा मनसः कुतूहलम् ।
क्षिणोत्यनर्थान् सुजनेन संगमस्तस्मान्न कस्मै भ्रमणं विरोचते॥१६॥

अच्छे तीर्थ की सेवा (निवास) मन को प्रसन्न करती है। देशों को देखना मन के कौतूहल को शान्त करता है; सज्जनों का समागम अनर्थों को दूर भगाता है। इसलिये घूमना किसे अच्छा नहीं लगता ? ॥ १६ ॥

अटाट्यमानोऽपि विदेशसङ्गतिं लभेत विद्वान् विदुषाऽभिसङ्गतिम् ।
बुधो बुधानां खलु मित्रमीरितं खलेन मैत्री न चिराय तिष्ठति १७

विदेश में घूमता हुआ विद्वान् अन्य विद्वानों की सङ्गति प्राप्त करता है। विद्वान् पुरुष ही विद्वान् का मित्र कहा गया है। दुष्ट के साथ मित्रता बहुत दिन तक टिक नहीं सकती ॥ १७ ॥

समीपवासोऽयमुदीरितो गुरो-
र्विदेशगो यद्व हृदयेन धारयेत् ।
समीपगोऽप्येष न संस्थितोऽन्तिके
न भक्तिहीनो यदि धारयेद्ध हृदि ॥ १८ ॥

यदि विदेश जानेवाला शिष्य अपने हृदय में गुरु का ध्यान करता है तो इसे गुरु के समीप निवास ही समझना चाहिए। यदि भक्तिहीन होकर गुरु का चिन्तन नहीं करता तो गुरु के पास रहने पर भी समीप में नहीं है ॥ १८ ॥

सुजनः सुजनेन संगतः परिपुष्णाति मतिं शनैः शनैः ।
परिपुष्टमतिर्विवेकवाञ्शनकैर्हेयगुणं विमुञ्चति ॥ १९ ॥

सज्जन के साथ सज्जन की मित्रता धीरे धीरे बुद्धि बढ़ाती है। जिसकी बुद्धि पुष्ट होती है वह विवेक भी पाता है और धीरे धीरे रज, तम आदि गुणों को छोड़ देता है ॥ १९ ॥

यद्याग्रहोऽस्ति तव तीर्थनिषेवणायां
विघ्नो मयाऽत्र न खलु क्रियते पुमर्थे ।
चित्तस्थिरत्वगतये विहितो निषेधो
मा भूद्विशेषगमनं त्वतिदुःखहेतुः ॥ २० ॥

शिष्य के इन वचनों को सुनकर आचार्य शङ्कर बोले—यदि तुम्हें तीर्थयात्रा का विशेष आग्रह हो तो मैं तुम्हारे इस पुरुषार्थ में किसी प्रकार का विघ्न नहीं डालता। चित्त को स्थिर करने के लिये मैंने तीर्थ-यात्रा का निषेध किया है। विशेष स्थानों को जाना कहीं अधिक दुःख का कारण न बने ॥ २० ॥

तीर्थ के लिए आचार्य का उपदेश

नैको मार्गो बहुजनपदक्षेत्रतीर्थानि यातुं
चौराध्वानं परिहर सुखं त्वन्यमार्गेण याहि ।
विप्राग्र्याणां वसतिविततिर्यत्र वस्तव्यमीषन्
नो चेत् सार्धं परिचितजनैः शीघ्रमुद्दिष्टदेशम् ॥ २१ ॥

जनपद, क्षेत्र, तीर्थ में जाने के लिये एक ही रास्ता नहीं होता। इसलिये जिस रास्ते में चोर का भय हो उस रास्ते को छोड़ देना तथा

दूसरे रास्ते से सुखपूर्वक जाना। जहाँ पर अच्छे ब्राह्मणों की बस्ती हो वहाँ पर रहना परन्तु थोड़े ही दिन के लिये। यदि ऐसी जगह न मिले तो अपने परिचितों के साथ गन्तव्य स्थान को जल्दी चले जाना ॥ २१ ॥

सद्भिः सङ्गो विधेयः स हि सुखनिचयं सूयते सज्जनाना-
मध्यात्मैक्ये कथास्ता घटितबहुरसाः श्राव्यमाणाः प्रशान्तैः।
कायक्लेशं विभिद्युः सततभयभिदः श्रान्तविश्रान्तवृक्षाः
स्वान्तश्रोत्राभिरामाः परिमुषिततृषः क्षोभितक्षुत्कलङ्काः ॥२२॥

सज्जनों की सङ्गति करना; क्योंकि यह अत्यधिक सुख पैदा करती है। शान्त पुरुषों के द्वारा कही गई अध्यात्म-विषयक कथाएँ शरीर के क्लेश को दूर करती हैं—वे कथाएँ रस से पूर्ण हैं, भय को सदा दूर करती हैं, श्रान्त पुरुषों की विश्रान्ति के लिये वृक्ष के समान हैं, मन और कानों को सुख देती हैं, प्यास को शान्त करती हैं और भूख के कलङ्क को दूर भगाती हैं ॥ २२ ॥

सत्सङ्गोऽयं बहुगुणयुतोऽप्येकदोषेण दुष्टो
यत्स्वान्तेऽयं तपति च परं सूयते दुःखजालम्।
खल्वासङ्गो वसतिसमये शर्मदः पूर्वकाले
प्रायो लोके सततविमलं नास्ति निर्दोषमेकम् ॥२३॥

सत्सङ्ग में बहुत से गुण हैं परन्तु उसमें एक दोष भी है कि यह समाप्त हो जाने पर अर्थात् सङ्गति के छूट जाने पर चित्त में सन्ताप और दुःख प्रकट करता है। वियोग से पहिले, रहने के समय सत्सङ्ग बड़ा सुख देता है परन्तु पीछे क्लेश पैदा करता है। संसार में एक भी वस्तु सदा विमल और निर्दोष नहीं है ॥ २३ ॥

मार्गे यास्यन्न बहुदिवसान पाथसः संग्रही स्यात्
तस्माद्दोषो जिगमिषुपदप्राप्तिविघ्नस्ततः स्यात्।

प्राप्योद्दिष्टं वस निरसनं तत्र कार्यस्य सिद्धे-
मूलाद्भ्रंशोऽभिलषितपदप्राप्त्यभावोऽन्यथा हि ॥२४॥

बहुत दिनवाली राह पर यदि चलना हो तो जल का भी संग्रह न करना। क्योंकि उससे अनेक दोष उत्पन्न होते हैं जिससे गन्तव्य स्थान की प्राप्ति में अनेक विघ्न पड़ते हैं। अपने उद्दिष्ट स्थान पर पहुँचकर निवास करो, नहीं तो यदि बीच में ही टिक जाओगे तो कार्य की हानि, मूल उद्देश्य से पतन तथा अभिलषित पद का न मिलना—ये सब दोष उत्पन्न हो जाते हैं ॥ २४ ॥

मार्गे चोरा निकृतिवपुषः संवसेयुः सहैव
छन्नात्मानो बहुविधगुणैः संपरीक्ष्याः प्रयत्नात् ।
देवान् वस्त्रं लिखितमथवा दुर्विधा नेतुकामा
विश्वासोऽतोऽपरिचितनृषु प्रोज्झनीयो न कार्यः ॥२५॥

रास्ते में ठगनेवाले बहुत-से चोर छिपे हुए रहते हैं, उनकी खूब परीक्षा करना। ये दुष्ट देवताओं की मूर्तियों को, वस्त्रों को, लिखित पुस्तकों को, चुरा लेते हैं इसलिये अपरिचित लोगों पर विश्वास नहीं करना चाहिए ॥ २५ ॥

मध्येमार्गं योजनाभ्यन्तरे वा
तिष्ठेयुश्चेद्भिक्षवस्तेऽभिगम्याः ।
पूज्याः पूज्यास्तद्व्यतिक्रान्तिरुग्रा
श्रेयस्कार्यं निष्फलीकर्तुमीशाः ॥ २६ ॥

राह के बीच में या एक-दो योजन पर जो संन्यासी लोग टिके हुए हों उनके पास अवश्य जाना चाहिए। वे पूजा के पात्र हैं, उनकी पूजा करनी चाहिए। उनका उल्लङ्घन भयङ्कर होता है। वे भले काम को भी निष्फल करने में समर्थ होते हैं ॥ २६ ॥

यदापदपदं सदा यतिवर स्थितं वस्तु त-
न्मतं भज मितंपचान् मनसि मा कृथाः प्राकृतान् ।
कषायकलुषाशयक्षतिविनिर्वृतः सन्मतः
सुखी चर सुखे चिरात् स्फुरति संततानन्दता ॥ २७ ॥

हे यतिवर ! आपत्तियों से विरहित—अर्थात् अनर्थ से शून्य वस्तु जहाँ हो उस मत को मानना। कायर पामर जनों का ध्यान मन में कभी न लाना। वासना से कलुषित हृदय को स्वच्छ बनाकर आनन्दित तथा सज्जनों से पूजित होकर भ्रमण करना। क्योंकि सुख के रहने पर बहुत दिनों तक आनन्द प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

इत्थं गुरोर्मुखगुहोदितवाक्सुधां ता-
मापीय हृष्टहृदयः स मुनिः प्रतस्थे ।
प्रस्थाप्य तं गुरुवरोऽथ सुरेश्वराद्यैः
कालं कियन्तमनयत् सह शृङ्गकुध्रे ॥ ॥ २८ ॥

गुरु के मुख से निकले हुए इस वचन-रूपी अमृत को पीकर अर्थात् कानों से सुनकर, प्रसन्नवदन होकर पद्मपाद तीर्थ-यात्रा करने के लिये निकल पड़े। आचार्य शङ्कर उन्हें भेजकर सुरेश्वर आदि शिष्यों के साथ कुछ समय तक उस शृङ्गेरी पहाड़ पर निवास करने लगे ॥ २८ ॥

[शङ्कर का अपनी माता के पास जाना और उनका श्राद्ध-कर्म करना ।]

अधिगम्य तदाऽऽत्मयोगशक्तेरनुभावेन निवेद्य चाऽऽश्रवेभ्यः ।
अवलम्बिततारकापथोऽसावचिरादन्तिकमाससाद मातुः ॥ २९॥

आचार्य ने योगबल से अपनी माता का समाचार पाकर उसे अपने विद्यार्थियों से कह सुनाया। वे तुरन्त आकाशमार्ग से माता के पास चले गये ॥ २९ ॥

तत्राऽऽतुरां मातरमैक्षतासौ ननाम तस्याश्चरणौ कृतात्मा ।
सा चैनमुद्वीक्ष्य शरीरतापं जहौ निदाघार्त इवाम्बुदेन ॥३०॥

वहाँ पर अपनी माता को शङ्कर ने बीमार देखा। जितेन्द्रिय शङ्कर ने अपनी माता के चरणों को प्रणाम किया। जिस प्रकार गर्मी से सन्तप्त पुरुष मेघ को देखकर अपने ताप से मुक्त हो जाता है, उसी प्रकार माता ने भी अपने पुत्र को देखकर शरीर के सन्ताप को छोड़ दिया ॥३०॥

असावसङ्गोऽपि तदाऽऽर्द्रचेतास्तामाह मोहान्धतमोपहर्ता ।
अम्बायमस्त्यत्र शुचं जहीहि ब्रवीहि किं ते करवाणि कृत्यम् ॥३१॥

सङ्ग-रहित होने पर भी, आर्द्रचित्त होनेवाले, मोह के घने अन्धकार को दूर करनेवाले शङ्कर ने माता से कहा—देखो, मैं तुम्हारा पुत्र आ गया। शोक को छोड़ो। जो मुझे करना हो उसे शीघ्र बताओ ॥ ३१ ॥

दृष्ट्वा चिरात् पुत्रमनामयं सा
हृष्टान्तरात्मा निजगाद मन्दम् ।
अस्यां दशायां कुशली मया त्वं
दिष्ट्याऽसि दृष्टः किमतोऽस्ति कृत्यम् ॥ ३२ ॥

बहुत दिनों के बाद अपने पुत्र को कुशली देखकर प्रसन्नचित्त होकर माता धीरे-धीरे कहने लगी—मैं तुम्हें इस दशा में भाग्य से ही कुशली देख रही हूँ, अब इससे अधिक मुझे क्या चाहिए ॥ ३२ ॥

इतः परं पुत्रक गात्रमेतद्
वोढुं न शक्नोमि जरातिशीर्णम् ।
संस्कृत्य शास्त्रोदितवर्त्मना त्वं
सद्वृत्त मां प्रापय पुण्यलोकान् ॥ ३३ ॥

हे पुत्र ! अब मैं इस जरा से जीर्ण-शीर्ण शरीर को ढोने में समर्थ नहीं हूँ। हे पुण्यचरित ! शास्त्र में कहे गये मार्ग से मेरा संस्कार कर मुझे स्वर्गलोक पहुँचाओ ॥ ३३ ॥

सुतानुगां सूक्तिमिमां जनन्याः श्रुत्वाऽथ तस्यै सुखरूपमेकम् ।
मायामयाशेषविशेषशून्यं मानातिगं स्वप्रभमप्रमेयम् ॥ ३४ ॥

उपादिशद् ब्रह्म परं सनातनं
न यत्र हस्ताङ्घ्रिविभागकल्पना ।
अन्तर्बहिः संनिहितं यथाऽम्बरं
निरामयं जन्मजरादिवर्जितम् ॥ ३५ ॥

माता की ये बातें सुनकर शङ्कर ने उसे सुखरूप, एक, माया से मुक्त, सम्पूर्ण विशेषों से रहित, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से रहित, स्वयंप्रकाश, अमेय, सनातन परब्रह्म का उपदेश दिया, जिसमें हाथ-पैर आदि शरीर के विभाग की कल्पना नहीं है, जो आकाश के समान भीतर और बाहर सदा सन्निहित (पास) रहनेवाला है तथा जन्म-मरण से रहित और रोगों से विरहित है ॥ ३४-३५ ॥

सौम्यागुणे मे रमते न चित्तं रम्यं वद त्वं सगुणं तु देवम् ।
न बुद्धिमारोहति तत्त्वमात्रं यदेकमस्थूलमनण्वगोत्रम् ॥ ३६ ॥

ऐसा उपदेश सुनकर माता बोली—हे सौम्य ! निर्गुण में मेरा चित्त नहीं रमता, इसलिये तुम सुन्दर सगुण ईश्वर का उपदेश करो । क्योंकि एक, अस्थूल, अनणु, गोत्रहीन तत्त्व मेरी बुद्धि में नहीं आता ॥ ३६ ॥

शिव की स्तुति

निशम्य मातुर्वचनं दयालुस्तुष्टाव भक्त्या मुनिरष्टमूर्तिम् ।
वृत्तैर्भुजंगोपपदैः प्रसन्नः प्रस्थापयामास स च स्वदूतान् ॥ ३७ ॥

माता के वचन सुनकर दयालु शङ्कर ने भक्तिभाव से भुजङ्गप्रयात छन्द में अष्टमूर्ति शिव की स्तुति की । तब प्रसन्न होकर महादेव ने अपने दूतों को भेजा ॥ ३७ ॥

टिप्पणी—इस श्लोक में निर्दिष्ट स्तोत्र को 'शिवभुजङ्ग' कहते हैं । एक नमूना देखिए—

"महादेव देवेश देवादिदेव, स्मरारे पुरारे यमारे हरेति ।
ब्रुवाणः स्मरिष्यामि भक्त्या भवन्तं ततो मे दयाशील ! देव प्रसीद ॥"

विलोक्य ताञ्शूलपिनाकहस्तान् नैवानुगच्छेयमिति ब्रुवत्याम् ।
तस्यां विसृज्यानुनयेन शैवानस्तौदथो माधवमादरेण ॥ ३८ ॥

उन दूतों के हाथ में शूल और पिनाक देखकर माता ने कहा कि मैं इनके साथ नहीं जाऊँगी। तब आचार्य ने विनय से इन दूतों को लौटाकर विष्णु की बड़े आदर से स्तुति की—॥ ३८ ॥

विष्णु-स्तुति

भुजगाधिपभोगतल्पभाजं कमलाङ्कस्थलकल्पिताङ्घ्रिपद्मम् ।
अभिवीजितमादरेण नीलावसुधाभ्यां चलमानचामराभ्याम् ॥३९॥
विहिताञ्जलिना निषेव्यमाणं विनतानन्दकृताऽग्रतो रथेन ।
धृतमूर्तिभिरस्त्रदेवताभिः परितः पञ्चभिरञ्चितोपकण्ठम् ॥ ४० ॥
महनीयतमालकोमलाङ्गं मुकुटीरत्नचयं महार्हयन्तम् ।
शिशिरेतरभानुशीलिताग्रं हरिनीलोपलभूधरं हसन्तम् ॥ ४१ ॥

विष्णु शेषनाग की शय्या पर सोते हैं, लक्ष्मी की गोदी में अपने चरण-कमल रखते हैं। नीला और वसुधा नामक उनकी स्त्रियाँ उन्हें चञ्चल चामरों से पङ्खा करती हैं। विनता-नन्दन गरुड़ आगे हाथ जोड़कर सेवा करते हैं। चारों तरफ़ अपनी पाँचों मूर्तियों को धारण करनेवाले अस्त्र देवता के द्वारा वे सेवित हैं। ऐसे विष्णु भगवान् की स्तुति की जिनका शरीर पूजनीय तमाल वृक्ष के समान कोमल था, जिनका मुकुट रत्नों से सुशोभित था, सूर्य से जिनका अग्रभाग प्रकाशित था, जो अपनी श्यामल शोभा से इन्द्रनील के पर्वत को भी हँस रहे थे ॥ ३९-४१ ॥

तत्तादृशं निजसुतोदितमम्बुजाक्षं
चित्ते दधार मृतिकाल उपागतेऽपि ।
चित्तेन कञ्जनयनं हृदि भावयन्ती
तत्याज देहमबला किल योगिवत् सा ॥ ४२ ॥

मरण-काल उपस्थित होने पर भी माता ने अपने पुत्र के द्वारा वर्णित कमलनयन कृष्ण का हृदय में ध्यान किया और इस प्रकार हृदय में चिन्तन करते हुए उस अवला ने योगियों के समान अपने शरीर को छोड़ दिया ॥ ४२ ॥

ततः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिर्विचित्रपारिप्लवकेतनाढ्यम् ।
विमानमादाय मनोज्ञरूपं प्रादुर्बभूवुः किल विष्णुदूताः ॥ ४३ ॥

तब विष्णु के दूत, शरत्काल के चन्द्रमा के समान चमकनेवाले और हिलती हुई पताका से युक्त सुन्दर विमान को लेकर वहाँ उपस्थित हुए ॥४३॥

वैमानिकांस्तान्नयनाभिरामानवेक्ष्य हृष्टा प्रशशंस पुत्रम् ।
विमानमारोप्य विराजमानमनायि तैः सा बहुमानपूर्वम् ॥४४॥

उन नयनाभिराम देवताओं को देखकर प्रसन्न होकर माता ने पुत्र की प्रशंसा की। चमकते हुए उस विमान पर बैठाकर, दूत लोग आदर-पूर्वक उसे स्वर्गलोक को ले गये ॥ ४४ ॥

इयमर्चिरहर्वलक्षपक्षान् षडुदङ्माससमानिलार्कचन्द्रान् ।
चपलावरुणेन्द्रधातृलोकान् क्रमशोऽतीत्य परं पदं प्रपेदे ॥ ४५ ॥

शङ्कर की माता ने अग्नि, दिन, शुक्ल पक्ष, छः उत्तरायण मास, संवत्सर, वायु, चन्द्र, सूर्य, चपला, वरुण, इन्द्र और ब्रह्मा के लोकों को क्रमशः पार कर परम पद स्वर्ग को प्राप्त किया ॥ ४५ ॥

स्वयमेव चिकीर्षुरेष मातुश्चरमं कर्म समाजुहाव बन्धून् ।
किमिहास्ति यते तवाधिकारः कितवेत्येनममी निनिन्दुरुच्चैः॥४६

माता के दाह आदि अन्तिम कृत्य को स्वयं करने की अभिलाषा से शङ्कर ने अपने बन्धुओं को बुलाया। आने की तो बात अलग रही, वे जोरों से निन्दा करने लगे कि हे ठग संन्यासी! क्या इस कार्य में तुम्हारा अधिकार है? ॥ ४६ ॥

अनलं बहुधाऽर्थिताऽपि तस्मै बत नाऽऽदत्त च बन्धुता तदीया ।
अथ कोपपरीवृतान्तरोऽसावखिलांस्तानशपच्च निर्ममेन्द्रः ॥४७॥

बारम्बार माँगने पर भी बन्धुजनों ने शङ्कर को आग नहीं दी। इस पर ममताहीन पुरुषों के अग्रणी शङ्कर ने क्रुद्ध होकर उन सब भाई-बन्धुओं को शाप दिया ॥ ४७ ॥

संचित्य काष्ठानि सुशुष्कवन्ति गृहोपकण्ठे धृततोयपात्रः ।
स दक्षिणे दोष्णि ममन्थ वह्निं ददाह तां तेन च संयतात्मा ४८

घर के समीप, सूखी हुई लकड़ियाँ बटोरकर जलपात्र (कमण्डलु) रखनेवाले शङ्कर ने माता के दहिने बाहु से मन्थन कर अग्नि को निकाला और संयमी शङ्कर ने इसी आग से अपनी माता का दाह-संस्कार किया ॥ ४८ ॥

न याचिता वह्निमदुर्यदस्मै शशाप तान् स्वीयजनान् सरोषः ।
इतः परं वेदबहिष्कृतास्ते द्विजा यतीनां न भवेच्च भिक्षा ॥ ४९ ॥

चूँकि माँगने पर बन्धु-बान्धवों ने उन्हें आग नहीं दी थी, इसलिये क्रुद्ध होकर शङ्कर ने यह शाप दिया कि ये ब्राह्मण आज से वेद से बहिष्कृत हो जायँगे और संन्यासी लोग यहाँ भिक्षा नहीं ग्रहण करेंगे ॥४९॥

गृहोपकण्ठेषु च वः श्मशानमद्यप्रभृत्यस्त्विति ताञ्शशाप ।
अद्यापि तद्देशभवा न वेदमधीयते नो यमिनां च भिक्षा ॥५०॥

'तुम्हारे घर के पास ही आज से श्मशान बना रहे' इस प्रकार उन लोगों को शङ्कर ने शाप दिया। आज भी उस देश के ब्राह्मण लोग वेद नहीं पढ़ते और न संन्यासी ही वहाँ भिक्षा ग्रहण करते हैं ॥ ५० ॥

तदाप्रभृत्येव गृहोपकण्ठेष्वासीच्छ्मशानं किल हन्त तेषाम् ।
महत्सु धीपूर्वकृतापराधो भवेत् पुनः कस्य सुखाय लोके ॥५१॥

उसी दिन से लेकर उन ब्राह्मणों के घर के पास ही श्मशानभूमि बन गई। इसमें आश्चर्य करने की कौन सी बात है ? महापुरुषों के साथ जान-बूझकर यदि कोई अपराध करेगा तो क्या वह संसार में कभी सुखी रह सकता है ? ॥ ५१ ॥

शान्तः पुमानिति न पीडनमस्य कार्यं

शान्तोऽपि पीडनवशात् क्रुधमुद्वहेत् सः ।

शीतः सुखोऽपि मथितः किल चन्दनद्रु-

स्तीव्राहुताशजनको भवति क्षणेन ॥ ५२ ॥

महापुरुष लोग स्वभावतः शान्त होते हैं इसलिये उन्हें कभी कष्ट नहीं देना चाहिए, क्योंकि कष्ट देने के कारण शान्त पुरुष भी कभी कभी क्रोध कर बैठता है। चन्दन का पेड़ शीतल है और सुखद है परन्तु इस चन्दन को भी यदि रगड़ा जाय तो उससे भयानक आग की चिनगारियाँ निकलने लगती हैं ॥ ५२ ॥

यद्यप्यशास्त्रीयतया विभाति तेजस्विनां कर्म तथाऽप्यनिन्द्यम् ।

विनिन्द्यकृत्यं किल भार्गवस्य ददुः स्वपुत्रान् कतिचिद् वृकाय ५३

तेजस्वी पुरुषों का यदि कोई कार्य शास्त्र के विरुद्ध भी जान पड़े तो भी उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। परशुराम ने अपने भाइयों तथा माता का वध कर डाला परन्तु इसके लिये उनकी कोई निन्दा नहीं करता। सुनते हैं कि कुछ ऋषियों ने अपने पुत्रों को भेड़िये को खाने के लिये दे दिया परन्तु तेजस्वी होने से वे निन्दनीय नहीं हुए ॥ ५३ ॥

इति स्वजननीमसौ मुनिजनैरपि प्रार्थितां

पुनः पतनवर्जितामतनुसौख्यसंदोहिनीम् ।

यतिक्षितिपतिर्गतिं वितमसं स नीत्वा तत-

स्ततोऽन्यमतशातने प्रयतते स्म पृथ्वीतले ॥ ५४ ॥

इस प्रकार शङ्कर ने अपनी माता को मोक्ष-पदवी प्राप्त कराई—यह वह गति है जिसके लिये मुनिजन भी सर्वदा प्रार्थना किया करते हैं; एक बार प्राप्त होने पर जिससे फिर पतन नहीं होता। यह सदा आनन्द देनेवाली है और अन्धकार से हीन सदा प्रकाशमय

है। इस प्रकार आचार्य ने मातृ-कृत्य सम्पादन कर इस भूतल पर विपक्षियों के मत का खण्डन करने के लिये उद्योग किया ॥ ५४ ॥

अथ तत्सहायजलजाङ्घ्रियुपागमेच्छुरभीप्सितेऽत्र विललम्ब एषकः।
जलजांघ्रिरप्यथ पुरा निजाज्ञया कृतवानुदीच्यबहुतीर्थसेवनम् ॥५५॥

परन्तु पद्मपाद के आने में अभी बहुत देर थी, इसलिये आचार्य ने उनके आगमन की प्रतीक्षा करते हुए कुछ दिन बिताये। पद्मपाद ने पहले उत्तर के बहुत से तीर्थों का भ्रमण किया ॥ ५५ ॥

पद्मपाद की दक्षिण यात्रा

आससाद शनकैर्दिशं मुनेर्यस्य जन्म वसुधाघटी स्मृता।
सा श्रुतिः सकलरोगनाशिनी योऽपिबज्जलधिमेकबिन्दुवत् ॥५६॥

अनन्तर वे दक्षिण दिशा में आये जिसका सम्बन्ध अगस्त्य मुनि से है जिन्होंने पूरे समुद्र को जल की एक बूँद के समान पी डाला था ॥५६॥

अद्राक्षीत् सुभगाहिभूषिततनुं श्रीकालहस्तीश्वरं
लिङ्गे संनिहितं दधानमनिशं चान्द्रीं कलां मस्तके।
पार्वत्या करुणारसार्द्रमनसाऽऽश्लिष्टं प्रमोदास्पदं
देवैरिन्द्रपुरोगमैर्जय जयेत्याभाष्यमाणं मुनिः ॥५७॥

यहीं पर पद्मपाद ने 'कालहस्तीश्वर' नामक शिवलिङ्ग को देखा। भगवान् शङ्कर का शरीर साँपों से सुशोभित था, मस्तक के ऊपर चन्द्रमा की कला चमक रही थी, करुणामयी पार्वती ने उसे आलिङ्गित कर रक्खा था और इन्द्र आदि देवता लोग जय जय शब्दों के द्वारा उनकी स्तुति कर रहे थे ॥ ५७ ॥

स्नात्वा सुवर्णमुखरीसलिलाशयेऽन्त-
र्गत्वा पुनः प्रणमति स्म शिवं भवान्या।
आनर्च भावकुसुमैर्मनसा नुनाव
स्तुत्वा च तं पुनरयाचत तीर्थयात्राम् ॥ ५८ ॥

मुनि ने 'सुवर्णमुखरी' नामक नदी के जल में स्नान किया; पार्वती के साथ शिवजी को प्रणाम किया; भक्तिभाव से उनकी पूजा और स्तुति की और उनसे तीर्थयात्रा करने की अनुमति माँगी ॥ ५८ ॥

काञ्ची

लब्ध्वाऽनुज्ञां तज्ज्ञराट् कालहस्तिक्षेत्रात् काञ्चीक्षेत्रमागात्पवित्रम् ।
संसाराब्धिं सन्तितीर्षोः प्रसिद्धं वृद्धाः प्राहुर्यद्धि लोके ह्यमुष्मिन् ॥ ५९ ॥

आज्ञा पाकर पद्मपाद 'कालहस्ती'क्षेत्र से चलकर पवित्र 'काञ्ची'-क्षेत्र में आये। यह काञ्चीक्षेत्र बड़ा ही पवित्र क्षेत्र है। इसके विषय में वृद्ध लोगों का कहना है कि संसार-समुद्र को पार करनेवाले मनुष्य के लिये यह परम पावन साधन है ॥ ५९ ॥

तत्रैकाम्राधीश्वरं विश्वनाथं नत्वा गम्यं स्वीयभाग्यातिशीत्या ।
देवीं धामान्तर्गतामन्तकारेर्हार्दं रुद्रस्येव जिज्ञासमानाम् ॥ ६० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने अतिशय भाग्य के कारण प्राप्त होनेवाले 'काम्राधीश्वर' नामक शिव तथा शिव के हृदयगत भाव को जानने-वाली मन्दिर के भीतर स्थित 'कामाक्षी' देवी को प्रणाम किया। शिव-काञ्ची में शिव और पार्वती को कामेश्वर तथा कामाक्षी नाम से पुकारते हैं। इनका माहात्म्य आज भी अक्षुण्ण है। पद्मपाद ने इन्हीं को प्रणाम किया ॥ ६० ॥

कल्लालेशं द्राक्ततो नातिदूरे लक्ष्मीकान्तं संवसन्तं पुराणम् ।
कारुण्यार्द्रस्वान्तमन्तादिशून्यं दृष्ट्वा देवं सन्तुतोषैकभक्त्या ॥ ६१ ॥

काञ्ची के पास ही कल्लाल नामक ग्राम में स्थित कल्लालेश नामक दयालु, आदि-अन्त-हीन, विष्णु की मूर्ति को मुनि ने देखा और भक्ति-भाव से उनकी स्तुति की ॥ ६१ ॥

पुण्डरीकपुरमाययौ मुनिर्यत्र नृत्यति सदाशिवोऽनिशम् ।
वीक्षते प्रकृतिरादिमा हृदा पार्वतीपरिणतिः शुचिस्मिता ॥ ६२ ॥

अनन्तर वे पुण्डरीकपुर में गये जहाँ सदाशिव सदा नृत्य किया करते हैं और जिस नृत्य को पार्वती के रूप में परिणत होनेवाली आद्या प्रकृति मुसकराती हुई सदा देखा करती है ॥ ६२ ॥

ताण्डवं मुनिजनोऽत्र वीक्षते दिव्यचक्षुरमलाशयोऽनिशम् ।
जन्ममृत्युभयभेदि दर्शनान्नेत्रमानसविनोदकारकम् ॥ ६३ ॥

निर्मल चित्तवाले तथा दिव्यचक्षु से सम्पन्न मुनिजन इसी नगर में उस ताण्डव को सदा देखते हैं जो जन्म-मृत्यु के भय को दर्शन-मात्र से दूर कर देता है और जिसे देखते ही दर्शकों के नेत्र और मन आनन्द से आप्लावित हो उठते हैं ॥ ६३ ॥

किञ्चात्र तीर्थमिति भिक्षुगणेन कश्चित्
पृष्टोऽब्रवीच्छिवपदाम्बुजसक्तचित्तः ।
संप्रार्थितः करुणयाऽस्मरदत्र गङ्गां
देवोऽथ संन्यधित दिव्यसरित् सुतीर्थम् ॥ ६४ ॥

पद्मपाद ने उन लोगों से पूछा कि यह कौन तीर्थ है ? भगवान् शङ्कर के प्रेमी एक ब्राह्मण ने उत्तर दिया कि पुराने समय में शिव से भक्तों ने बड़ी प्रार्थना की तब कृपालु शङ्कर ने गङ्गाजी का स्मरण किया। गङ्गाजी की कृपा से इस तीर्थ का उद्गम हुआ है ॥ ६४ ॥

शिवगङ्गा

शिवाज्ञयाऽभूदिति तीर्थमेतत्
शिवस्य गङ्गां प्रवदन्ति लोके ।
स्नानादमुष्यां विधुतोरुपापाः
शनैः शनैस्ताण्डवमीक्षमाणाः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार यह तीर्थ शिव की आज्ञा से उत्पन्न हुआ है इसलिये इसको शिवगङ्गा कहते हैं। जो आदमी इस तीर्थ में स्नान करता है

और श्रद्धापूर्वक ताण्डव नृत्य को अपनी आँखों देखता है उसके बड़े से बड़े पाप भी धुल जाते हैं। इस तीर्थ की ऐसी ही महिमा है॥ ६५॥

शिवस्य नाट्यश्रमकर्शितस्य श्रमापनोदाय विचिन्तयन्ती।
शिवेति गङ्गापरिणामगाऽभूत् ततोऽथ वैतत्प्रथितं तदाख्यम्॥६६॥

शिवगङ्गा नाम का एक दूसरा भी रहस्य है। शङ्कर नाचते नाचते जब परिश्रम से अत्यन्त खिन्न हो गये तब इस परिश्रम को दूर करने के लिये स्वयं भगवती शिवा गङ्गा के प्रवाह-रूप से परिणत हो गईं। इस कारण भी इस तीर्थ का नाम 'शिवगङ्गा' है॥ ६६॥

नृत्यत्तीरहतस्खलज्जलगतेः पर्यापतद्बिन्दुकं
पार्श्वे स्वावसतेर्विनोदवशतो यज्जह्नुकन्यापयः।
नृत्यं तन्वति धूर्जटौ विगलितं प्रेङ्खज्जटामण्डलात्
तेनैतच्छिवजाह्नवीति कथयन्त्यन्ये विपश्चिज्जनाः॥६७॥

कुछ लोग इस नामकरण का एक तीसरा ही रहस्य बतलाते हैं कि भगवान् शङ्कर ताण्डव-नृत्य कर रहे थे तो उनके मस्तक का जटा-जूट हिल रहा था और मस्तक पर बहनेवाला जल-प्रवाह स्खलित हो रहा था। जल के उछलने से गङ्गाजी के जल की बूँद शिवजी के इस मन्दिर के पास गिरी थीं। इसी कारण लोग इसे 'शिवगङ्गा' कहते हैं॥ ६७॥

स्नायं स्नायं तीर्थवर्येऽत्र नित्यं
वीक्षं वीक्षं देवपादाब्जयुग्मम्।
शोधं शोधं मानसं मानवोऽसौ
वीक्षेतेदं ताण्डवं शुद्धचेताः॥ ६८॥

इस श्रेष्ठ तीर्थ में स्नान करके और भगवान् शङ्कर के चरण-कमल को देखकर जब मनुष्यों का चित्त निर्मल हो जाता है तब वे भगवान् शिव के ताण्डव को अपनी आँखों देखते हैं॥ ६८॥

शुद्धं महद्‌ वर्णयितुं क्षमेत पुण्यं पुरारिः स्वयमेव तस्य ।
निमज्ज्य शम्भुद्युसरित्यमुष्यां दाक्षायणीनाथमुदीक्षते यः ॥६९॥

इस तीर्थ के पुण्य का वर्णन करना अत्यन्त कठिन है। इस शिव-गङ्गा में स्नान कर जो मनुष्य दाक्षायणीनाथ (शिवलिङ्ग का नाम) का दर्शन करता है उसके शुद्ध तथा विशाल पुण्य का वर्णन स्वयं भगवान् शङ्कर ही कर सकते हैं। दूसरे किसी में ऐसी शक्ति कहाँ? ॥ ६९ ॥

इतीरितः शङ्करयोजितात्मा
केनापि भिक्षुर्मुदितो जगाहे ।
तीर्थं तदाप्लुत्य ननाम शम्भो-
रङ्घ्रिं जितात्मा भुवनस्य गोप्तुः ॥ ७० ॥

इस प्रकार इन वचनों को सुनकर पद्मपाद ने शिव में अपना चित्त लगाकर प्रसन्नता से शिवगङ्गा में स्नान किया और संसार के रक्षक महादेव के चरण-कमल को प्रणाम किया ॥ ७० ॥

रामसेतुगमनाय सन्दधे मानसं मुनिरनुत्तमः पुनः ।
वर्त्मनि प्रयतमानसो व्रजन् संददर्श सरितं कवेरजाम् ॥ ७१ ॥

पद्मपाद की इच्छा रामेश्वर-दर्शन की थी। उन्होंने उधर जाने का मार्ग पकड़ा। रास्ते में जाते हुए उन्हें कावेरी नदी दिखलाई पड़ी ॥७१॥

कावेरी

यत्पवित्रपुलिनस्थलं पयः सिन्धुवासरसिकाय विष्णवे ।
अभ्यरोचत हिरण्यवाससे पद्मनाभमुखनामशालिने ॥ ७२ ॥

कावेरी की महिमा असीम है। यह वही नदी है जिसका पवित्र जल क्षीरसागर में रहनेवाले, पीताम्बर से मण्डित, भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) को भी अच्छा लगता है ॥ ७२ ॥

सह्यपर्वतसुतातिनिर्मलाम्भोभिषिक्तभगवत्पदाम्बुजे ।
आकलय्य बहुशिष्यसंवृतः प्रास्थिताभिरुचितस्थलाय सः ॥७३॥

यह कावेरी सह्य पर्वत से निकलती है। इसका जल अत्यन्त निर्मल है। इसी के पवित्र जल से भगवान् विष्णु का अभिषेक होता है। इन्हीं विष्णु का ध्यान करते हुए अनेक शिष्यों के साथ पद्मपाद ने अपने अभिलषित् स्थानों की ओर प्रस्थान किया ॥ ७३ ॥

गच्छन् गच्छन् मार्गमध्येऽभियातं गेहं भिक्षुर्मातुलस्याऽऽजगाम ।
दृष्ट्वा शिष्यैस्तं चिरेणाभियातं मोदं प्रापन् मातुलः शास्त्रवेदी ७४

जब वे बहुत दूर आगे निकल गये तब अपने मामा के घर पहुँचे। उनके मामा बड़े भारी पण्डित थे। उन्होंने अपने भानजे को अनेक शिष्यों के साथ आया हुआ देखकर विशेष आनन्द का अनुभव किया ॥७४॥

शुश्राव तं बन्धुजनः सशिष्यं स्वमातुलागारमुपेयिवांसम् ।
आगत्य दृष्ट्वा चिरमागतं तं जहर्ष हर्षातिशयेन साश्रुः ॥७५॥

जब बन्धु-बान्धवों ने सुना कि पद्मपाद शिष्य-मण्डली के साथ अपने मामा के घर आये हुए हैं तब वे लोग उन्हें देखने के लिये आये। वे बहुत दिनों के बाद इधर आये थे। इसलिये उन्हें देखकर मित्रों की आँखों से आनन्द के आँसू बहने लगे ॥ ७५ ॥

रुरोद कश्चिन्मुमुदेऽत्र कश्चिज्जहास पूर्वाचरितं बभाषे ।
कश्चित् प्रमोदातिशयेन किंचिद्‌ वचः स्खलद्‌गीः प्रणनाम कश्चित् ७६

आनन्द के मारे कोई रो रहा था, कोई हँस रहा था और कोई पहिली बातें कह रहा था। आनन्द के मारे किसी-किसी के मुँह से गद्‌गद वाणी निकल रही थी और कोई कोई उन्हें प्रणाम कर रहा था ७६

ऊचेऽथ तं ज्ञातिजनः प्रमोदो दृष्ट्वा चिरायाक्षिपथं गतोऽभूः ।
दिदृक्षते त्वां जनताऽतिहार्दात् तथाऽपि शक्नोषि न वीक्षणाय ७७

उनकी जाति के लोग आनन्दमग्न होकर उनसे कहने लगे कि आप बहुत दिनों के बाद दिखाई पड़े हैं। आप काशी में विद्याध्ययन करने के लिये गये और संन्यासी बनकर वहाँ से बहुत दिनों के बाद लौटे हैं।

प्रेम से यह जनता आपके दर्शन के लिये उत्सुक है तथापि आप उन्हें देखना क्यों नहीं चाहते ? ॥ ७७ ॥

पुत्राः समित्रा न न बन्धुवर्गो न राजबाधा न च चोरभीतिः ।
कृतार्थतामूलपदं यतित्वं प्रसूनवन्तं फलितं महान्तम् ॥ ७८ ॥
शाखोपशाखाञ्चितमेव वृक्षं बाधन्त आगत्य न तद्विहीनम् ।
यथा तथा वा धनिनं दरिद्रा बाधन्त आगत्य दिने दिने स्म ॥७९॥

संन्यासी होने से मनुष्य सर्वथा कृतार्थ हो जाता है। इस अवस्था में न कोई मित्र है, न पुत्र है, न कोई बन्धुवर्ग है; न राजा से कोई कष्ट, न चोर से भय। फूलने और फलनेवाले, अनेक शाखाओं से युक्त, विशाल वृक्ष के पास आकर मनुष्य उसे बाधा पहुँचाते हैं। वे उसकी शाखाएँ काटकर, फलों को गिराकर, उसकी दुर्दशा कर डालते हैं। परन्तु जो इससे रहित है उसकी दुर्दशा तनिक भी नहीं होती। धनिकों को ठीक ऐसी ही दशा है। दरिद्र लोग प्रतिदिन उनके पास आते हैं और उन्हें क्लेश पहुँचाते हैं ॥ ७८-७९ ॥

कुटुम्बरक्षागतमानसानामायाति निद्राऽपि सुखं न जातु ।
क्व देवतार्चा क्व च तीर्थयात्रा क्व वा निषेवा महतां भवेन्नः ॥८०॥

जिन बेचारे गृहस्थों पर कुटुम्ब की रक्षा करने की चिन्ता लदी है उन्हें न तो कभी नींद आती है और न कभी सुख के ही दर्शन होते हैं। देवताओं का पूजन कहाँ, तीर्थयात्रा की बात कहाँ और बड़ों का सत्कार कहाँ ? यही हमारी दशा है। यही हमारा दुर्भाग्य है ॥ ८० ॥

अश्रौष्म संन्यासकृतं भवन्तं विप्रात् कुतश्चिद् गृहमागतान्नः ।
कालोऽत्यगात् ते बहुरद्य दैवात् तीर्थस्य हेतोर्गृहमागतस्त्वम् ॥८१॥

कभी एक ब्राह्मण इधर आया था। उसके मुख से हमने सुना कि आपने संन्यास ग्रहण कर लिया है। बहुत सा समय बीत गया। यह बड़े भाग्य की बात है कि आप तीर्थयात्रा करते हुए अपने घर पधारे हैं ॥ ८१ ॥

यथा शकुन्ताः परवर्धितान्द्रुमान् समाश्रयन्ते सुखदांस्त्यजन्त्यपि ।
परप्रक्लृप्तान् मठदेवतागृहान् यतिः समाश्रित्य तथोज्झति ध्रुवम् ८२

चिड़ियों का यह स्वभाव है कि वे दूसरों के लगाये गये पेड़ों पर आकर रहती हैं। जब तक उससे सुख मिलता है तब तक निवास करती हैं, पीछे छोड़कर चली जाती हैं। संन्यासियों का भी यही स्वभाव है। वे दूसरों के बनाये हुए मठों और मन्दिरों में रहते हैं और पीछे उन्हें छोड़-कर चले जाते हैं ॥ ८२ ॥

यथा हि पुष्पाण्यमभिगम्य षट्पदाः संगृह्य सारं रसमेव भुञ्जते ।
तथा यतिः सारमवाप्नुवन् सुखं गृहाद्गृहादोदनमेव भिक्षते॥८३॥

भौंरों की भी यही लीला है। वे फूलों के पास आते हैं, उनके मधुर रस को लेकर चखते हैं, उसी प्रकार संन्यासी प्रत्येक गृहस्थ के घर में आता है और उससे भोजन की भिक्षा माँगता है ॥ ८३ ॥

यतेर्विरज्यात्मगतिः कलत्रं देहं गृहं संयतमेव सौख्यम् ।
विरक्तिभाजस्तनयाः स्वशिष्याः किमर्थनीयं यतिनो महात्मन् ८४

हे महात्मा! संन्यासियों के लिये क्या चाहिए? वैराग्य प्राप्त कर लेने पर सब प्राणियों में जो एक आत्मा की भावना है वही उसकी भार्या है, यह देह ही उसका गेह है, संयम ही उसका सौख्य है, विरक्ति धारण करनेवाले शिष्य ही उसके पुत्र हैं। ऐसी दशा में संन्यासी को किस चीज़ की जरूरत है? ॥ ८४ ॥

मनोरथानां न समाप्तिरिष्यते पुनः पुनः संतनुते मनोरथान् ।
दारानभीप्सुर्यतते दिवानिशं तान् प्राप्य तेभ्यस्तनयानभीप्सति८५

मनोरथों की समाप्ति नहीं है। एक मनोरथ के मिल जाने पर मनुष्य दूसरा मनोरथ चाहता है। स्त्री के पाने के लिये वह रात-दिन परिश्रम करता है और भार्या के मिल जाने पर वह पुत्र पाने की इच्छा करता है ॥ ८५ ॥

अनाप्नुवन् दुःखमसौ सुतीव्रं प्राप्नोति चेष्टेन वियुज्यते पुनः ।
सर्वात्मना कामवशस्य दुःखं तस्माद्द विरक्तिः पुरुषेण कार्या॥८६॥

यदि पुत्र नहीं मिलता तो वह अत्यन्त कष्ट पाता है। उसके अभीष्ट की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये काम के वश में होनेवाले मनुष्य के लिये सब तरह से दुःख ही दुःख है। अतः मनुष्य का कर्तव्य है कि वह वैराग्य को ग्रहण करे॥ ८६॥

विरक्तिमूलं मनसो विशुद्धिं तन्मूलमाहुर्महतां निषेवाम् ।
भवादृशास्तेन च दूरदेशे परोपकाराय रसामटन्ति ॥ ८७ ॥

वैराग्य की जड़ है मन की शुद्धि और इस शुद्धि की जड़ है सत्पुरुषों की सेवा। इसी कारण आप जैसे महानुभाव लोग परोपकार करने के लिये तीर्थयात्रा के बहाने पृथ्वी पर भ्रमण किया करते हैं॥८७॥

अज्ञातगोत्रा विदितात्मतत्त्वा लोकस्य दृष्ट्या जडवद्द विभान्तः ।
चरन्ति भूतान्यनुकम्पमानाः सन्तो यदृच्छोपनतोपभोग्याः॥८८॥

सन्त लोग आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं और जो कुछ वस्तु उन्हें अनायास प्राप्त हो जाती है उसे ही खाकर वे दिन बिताते हैं। उनके न गोत्र का पता है और न कुटुम्ब का। लोगों की दृष्टि में वे जड़ उन्मत्त के समान जान पड़ते हैं। प्राणियों पर दया करने ही के लिये वे घूमते रहते हैं॥ ८८॥

चरन्ति तीर्थान्यपि संग्रहीतुं लोकं महान्तो ननु शुद्धभावाः ।
शुद्धात्मविद्याक्षपितोरुपापास्तज्जुष्टमम्भो निगदन्ति तीर्थम्॥८९॥

शुद्ध हृदयवाले महापुरुष लोक-संग्रह की दृष्टि से तीर्थों में विचरण करते हैं। उन्होंने शुद्ध आत्म-विद्या को पाकर विशाल पापों को दूर भगा दिया है। वे पुण्यशील हैं, आदर्शचरित्र हैं, वे जहाँ रहते हैं वहीं का जल तीर्थ है परन्तु फिर भी लोक-शिक्षण के लिये वे तीर्थयात्रा किया करते हैं॥ ८९॥

वस्तव्यमत्र कतिचिद्दिवसानि विद्वं-
स्त्वद्दर्शनं वितनुते मुदितादि भव्यम् ।
एष्यद्‌वियोगचकिता जनतेयमास्ते
दुःखं गतेऽत्र भवितेति भवत्यसङ्गे ॥ ९० ॥

हे विद्वन्! कुछ दिन तक आप यहाँ अवश्य रहिए। आपका यह भव्य दर्शन किसके हृदय में आनन्द उत्पन्न नहीं करता? परन्तु यहाँ की जनता अभी से आपके भविष्य वियोग की चिन्ता से कातर हो रही है। वह जानती है कि आप असङ्ग हैं, आपके चले जाने पर उसे महान् कष्ट होगा ॥ ९० ॥

गृहस्थ-प्रशंसा

कोशं क्लेशमलस्य लास्यगृहमप्युद्रंहसामालयं
पैशुन्यस्य निशान्तमुत्कटमृषाभाषाविशेषाश्रयम् ।
हिंसामांसलमाश्रिता घनधनाशंसा नृशंसा वयं
वर्ज्यं दुर्जनसंगमं करुणया शोध्या यतीन्दो त्वया ॥९१॥

गृहस्थाश्रम क्लेश और मल का कोश है। अत्यन्त साहसों का घर है। पिशुनता का निकेतन है। उत्कट मिथ्या भाषण का विशेष आश्रय है। हिंसा से व्याप्त है। वर्जनीय दुर्जनों की सङ्गति से युक्त है। ऐसे गृहस्थाश्रम में हम लोग पड़े हुए हैं। धन की आशा पिशाचिनी की तरह हमारे पीछे लगी हुई है। हे यतिराज, आप कृपा करें और हमें मार्ग दिखलावें ॥ ९१ ॥

संयुनक्ति वियुनक्ति देहिनं दैवमेव परमं मनागपि ।
इष्टसंगतिनिवृत्तिकालयोर्निर्विकारहृदयो भवेन्नरः ॥ ९२ ॥

भाग्य ही मनुष्य को किसी मित्र से मिलाता है और फिर उससे अलग कर देता है। इसलिये मनुष्य को चाहिए कि मित्र के मिलन

तथा वियोग होने पर किसी प्रकार का विकार अपने चित्त में उत्पन्न न होने दें। संयोग और वियोग भाग्य के अधीन है। तब आनन्द और शोक से लाभ क्या ? ॥ ९२ ॥

मध्याह्नकाले क्षुधितस्तृषार्तः क्व मेऽन्नदातेति वदन्नुपैति।
यस्तस्य निर्वापयिता क्षुधार्तेः कस्तस्य पुण्यं वदितुं क्षमेत ९३

दोपहर के समय भूख और प्यास से सन्तप्त मनुष्य यह कहता हुआ कि मुझे कौन अन्न देगा, जब सड़कों पर घूमता है उस समय जो मनुष्य उसकी भूख और प्यास के क्लेश को शान्त करता है उस मनुष्य के विशाल पुण्य का वर्णन कौन कर सकता है ? इस प्रकार परोपकारी गृहस्थ का पुण्य बहुत ही अधिक है ॥ ९३ ॥

सायं प्रातर्वह्निकार्यं वितन्वन्
मज्जंस्तोये दण्डकृष्णाजिनी च।
नित्यं वर्णी वेदवाक्यान्यधीयन्
क्षुद्बुध्वा शीघ्रं गेहिनो गेहमेति ॥ ९४ ॥

प्रातः और सायङ्काल अग्निहोत्र करनेवाला, दण्ड और कृष्णाचर्म को धारण करनेवाला, वेदपाठी ब्रह्मचारी, जब भूख से व्याकुल हो जाता है तब गृहस्थ के घर आता है ॥ ९४ ॥

उच्चैः शास्त्रं भाषमाणोऽपि भिक्षुस्तारं मन्त्रं संजपन् वा यतात्मा।
मध्येघस्रं जाठराग्नौ प्रदीप्ते दण्डी नित्यं गेहिनो गेहमेति ॥९५॥

उच्च स्वर से शास्त्र की व्याख्या करनेवाले, प्रणव मन्त्र जपनेवाले संयमी संन्यासी की उदर-ज्वाला दोपहर के समय जब धधकने लगती है तब वह सदा गृहस्थ के ही घर में भिक्षा के लिये आ पहुँचता है ॥ ९५ ॥

यदन्नदानेन निजं शरीरं पुष्णंस्तपोऽयं कुरुते सुतीव्रम्।
कर्तुस्तदर्धं ददतोऽन्नमर्धमिति स्मृतिः संवदतेऽनवद्या ॥ ९६ ॥

जिस प्रकार ब्रह्मचारी और संन्यासी गृहस्थ के ऊपर अवलम्बित हैं, वैसी ही दशा वानप्रस्थ की भी है। जिसके अन्नदान से वानप्रस्थी अपने शरीर को पुष्ट कर तीव्र तपस्या किया करता है उस तपस्या का आधा फल अन्न देनेवाले का होता है। स्मृति का यह आदरणीय वचन है ॥ ९६ ॥

पुण्यं गृहस्थेन विचक्षणेन गृहेषु संचेतुमलं प्रयासात् ।
विनाऽपि तत्कर्तृ निषेवणेन तीर्थादिसेवा बहुदुःखसाध्या ॥९७॥

इस प्रकार गृहस्थ अपने घर पर रहकर ही विशेष पुण्य कमा सकता है। तीर्थयात्रा करने की उसे आवश्यकता ही क्या है। उसमें तो अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं ॥ ९७ ॥

गृही धनी धन्यतरो मतो मे तस्योपजीवन्ति धनं हि सर्वे ।
चौर्येण कश्चित् प्रणयेन कश्चिद्द दानेन कश्चिद्द बलतोऽपि कश्चित्९८

इसलिये मेरी सम्मति में तो धनी गृहस्थ का भाग्य विशेष श्लाघनीय है क्योंकि सब कोई उसके धन के सहारे जीते हैं। कोई चोरी से, कोई प्रेम से, कोई दान से उसके धन का उपयोग करते हैं ॥ ९८ ॥

सन्तोषयेद्द वेदविदं द्विजं यः सन्तोषयत्येष स सर्वदेवान् ।
तद्वेदविप्रे निवसन्ति देवा इति स्म साक्षाच्छ्रुतिरेव वक्ति ॥९९॥

जो आदमी वेद के जाननेवाले को सन्तुष्ट करता है वह सब देवताओं को सन्तुष्ट करता है। इसलिये श्रुति कहती है कि वेद के जाननेवाले ब्राह्मण में सब देवताओं का निवास रहता है ॥ ९९ ॥

स्वधर्मनिष्ठा विदिताखिलार्था जितेन्द्रियाः सेवितसर्वतीर्थाः ।
परोपकारव्रतिनो महान्त आयान्ति सर्वे गृहिणो गृहाय ॥१००॥

अपने धर्म में निष्ठा रखनेवाले वे महापुरुष लोग भी गृहस्थ के ही घर आते हैं जो जितेन्द्रिय हैं, सब तीर्थों में भ्रमण करते हैं, परोपकारी हैं और सम्पूर्ण तत्त्वों को जानते हैं ॥ १०० ॥

गृही गृहस्थोऽपि तदश्नुते फलं यत्तीर्थसेवाभिरवाप्यते जनैः ।
तत्तस्य तीर्थं गृहमेव कीर्तितं धनी वदान्यः प्रवसेन्न कश्चन१०१

तीर्थों की यात्रा कर जो कुछ फल प्राप्त होता है वही फल गृहस्थ को भी मिलता है। उसके लिये उसका घर ही तीर्थ है। इसलिये दानशील धनी गृहस्थ को तीर्थयात्रा की कुछ भी आवश्यकता नहीं है ॥१०१॥

अन्तःस्थिता मूषकमुख्यजीवा बहिःस्थिता गोमृगपक्षिमुख्याः ।
जीवन्ति जीवाः सकलोपजीव्यस्तस्माद्ग गृही सर्ववरो मतो मे१०२

मेरी सम्मति में तो गृहस्थ सबसे बढ़कर है। घर के भीतर रहनेवाले मूषक (चूहा) आदि क्षुद्र जन्तु तथा घर के बाहर रहनेवाले गाय, मृग, पक्षी आदि जन्तु गृहस्थ के ही आधार पर जीते हैं। इसलिये गृहस्थ सब प्राणियों का उपजीव्य—भोजन देनेवाला—है। ऐसी दशा में उसकी महिमा सबसे अधिक क्यों न हो ॥ १०२ ॥

शरीरमूलं पुरुषार्थसाधनं तच्चान्नमूलं श्रुतितोऽवगम्यते ।
तच्चान्नमस्माकममीषु संस्थितं सर्वं फलं गेहपतिद्रुमाश्रयम्॥१०३॥

चारों पुरुषार्थों की सिद्धि शरीर के ऊपर अवलम्बित है। शरीर यदि स्वस्थ है तभी पुरुषार्थों का अर्जन हो सकता है और वह शरीर अन्न के ऊपर अवलम्बित है। वह अन्न हमें गृहस्थों से ही प्राप्त होता है। इसलिये संसार के जितने फल हैं वे सब गृहस्थ-रूपी वृक्ष से प्राप्त होते हैं ॥ १०३ ॥

ब्रवीमि भूयः शृणुताऽऽदरेण वो
गृहागतं पूजयताऽऽतुरातिथिम् ।
संपूजितो वोऽतिथिरुद्धरेत् कुलं
निराकृतात् किं भवतीति नोच्यते ॥ १०४ ॥

सुनिए, मैं आप लोगों से तत्त्व की बात कह रहा हूँ। आप इसे आदर से सुनें। घर में आये हुए आतुर अतिथि की सेवा अवश्य

करनी चाहिए। क्योंकि सत्कार पाने पर वही अतिथि आपके कुल का उद्धार कर सकता है। परन्तु यदि उसका तिरस्कार किया जायगा तो जो उससे अनिष्ट उत्पन्न होता है, वह कहने योग्य नहीं है ॥ १०४ ॥

विनाऽभिसंधिं कुरुत श्रुतीरितं
कर्म द्विजा नो जगतामधीश्वरः ।
तुष्येदिति प्रार्थनयाऽपि तेन
स्वान्तस्य शुद्धिर्भविताऽचिरेण वः ॥ १०५ ॥

हे ब्राह्मणो ! संसार के अधीश्वर परमात्मा मेरे इस कार्य से प्रसन्न हों, इस बात की प्रार्थना करते हुए आपको चाहिए कि फल की इच्छा बिना वेद-विहित कर्मों का अनुष्ठान करें। ऐसे कर्म का तुरन्त फल मिलेगा, तुरन्त चित्त की शुद्धि होगी ॥ १०५ ॥

ससंरम्भश्लिष्यत्सुफणितिवधूटीकुचतटी-
पटीवत्पाटीरागरवनवपङ्काङ्कितहृदः ।
तथाऽप्येते पूता यतिपतिपदाम्भोजभजन-
क्षणक्षीणक्लेशाः सदयहृदयाभाः सुकृतिनः ॥१०६॥

हम लोग रात-दिन विषय-सुख के भोगने में लगे हुए हैं। मधुर-भाषिणी सुन्दरियों के आलिङ्गन का सुख हम लोग उठाया करते हैं। और इस कार्य में इन सुन्दरियों के कुच-तट पर लगे हुए चन्दन और अगरु के लेप से हमारी छाती अङ्कित हुआ करती है। तथापि आचार्य के चरण-कमल की सेवा से क्षण भर में हमारे क्लेश दूर हो जाते हैं। हृदय सदय बन जाते हैं और हम लोग पवित्र होकर पुण्यशाली बनने का सौभाग्य प्राप्त कर लेते हैं ॥ १०६ ॥

संदिश्येत्थं बन्धुतां भिक्षुराजो भिक्षां चक्रे मातुलस्यैव गेहे ।
पप्रच्छैनं मातुलो भुक्तवन्तं किंस्विच्छन्नं पुस्तकं शिष्यहस्ते १०७

यतिराज पद्मपाद ने अपने मित्रों को यह सुन्दर उपदेश गृहस्थ-धर्म के विषय में दिया और अपने मामा के घर में भोजन ग्रहण किया।

भोजन कर लेने पर मामा ने पूछा कि विद्यार्थी के हाथ में यह कौन सी पुस्तक गुप्त रूप से रक्खी है ।। १०७ ।।

टीका विद्वन् भाष्यगेति ब्रुवाणं तां देहीति प्रोचिषे दत्तवांश्च ।
अद्राक्षीत् तां मातुलस्तस्य बुद्धिं दृष्ट्वाऽऽनन्दीत्खेदमापच्च किंचित् १०८

पद्मपाद ने कहा कि यह शाङ्करभाष्य की टीका है। मामा ने कहा कि यह मुझे दो। पुस्तक लेकर मामा ने अपने भानजे की विलक्षण बुद्धि देखकर एक ही साथ आनन्द और खेद प्रकट किया ॥ १०८ ॥

प्रबन्धनिर्माणविचित्रनैपुणीं दृष्ट्वा प्रमोदं स विवेद किंचित् ।
मतान्तराणां किल युक्तिजालैर्निरुत्तरं बन्धनमालुलोचे ॥१०९॥

उनके आनन्दित होने का कारण था प्रबन्ध लिखने की निपुणता। उन्हें इस बात से प्रसन्नता हुई कि अनेक युक्तियों से मतान्तरों का खण्डन इतना बढ़िया किया गया है कि उसका कोई उत्तर न था ॥ १०९ ॥

गुरोर्मतं स्वाभिमतं विशेषान्निराकृतं तत्र समत्सरोऽभूत् ।
साधुर्निबन्धोऽयमिति ब्रुवाणस्तं साभ्यसूयोऽपि कृताभिनन्दः ११०

परन्तु उनके हृदय में डाह की आग जलने लगी, जब उन्होंने स्वाभिमत गुरुमत का खण्डन देखा। यह निबन्ध बहुत ही अच्छा है, यह कहकर उन्होंने मत्सरयुक्त होकर उसका अभिनन्दन अवश्य किया ॥११०॥

सेतुं गच्छाम्यालये पुस्तभारं ते न्यस्येमं वर्तते मेऽत्र जीवः ।
विद्वन् यद्वद् गोगृहादौ परेषां प्रीतिः पूर्णा नस्तथा पुस्तभारे।१११।

पद्मपाद—आपके घर में यह पुस्तक रखकर मैं सेतुबन्ध की यात्रा के लिये जा रहा हूँ। मेरा जी इस पुस्तक में लगा हुआ है। हे विद्वन्! जिस प्रकार दूसरे लोगों की प्रीति घर, गाय आदि वस्तुओं में होती है, उसी प्रकार मेरी प्रीति इस पुस्तक में है ॥ १११ ॥

इत्युक्त्वा तैर्मातुलं मस्करीशः शिष्यैर्हृष्यन् सेतुमेष प्रतस्थे ।
प्रस्थातुः श्रीपद्मपादस्य जातं कष्टं चैष्यत्सूचनार्थं निमित्तम्।११२।

मामा से इतना कहकर पद्मपाद सेतुबन्ध को यात्रा के लिये अपने शिष्यों के साथ निकल पड़े। प्रस्थान के समय ही पद्मपाद को कुछ ऐसे अपशकुन हुए जिससे उन्हें भविष्य के कष्टों की सूचना मिली ॥ ११२ ॥

वामं नेत्रं गन्तुरस्पन्दतैव बाहुः पुस्फोरापि वामस्तथोरुः ।
चुक्षावोच्चैर्हन्त कश्चित् पुरस्तात् तत्सर्वं द्राग्ज्ञोऽगणित्वा जगाम ११३

उनका बायाँ नेत्र फड़कने लगा। उसी प्रकार बाईं उरू भी फड़कने लगी। आगे खड़े हुए एक आदमी ने बड़े जोर से छींका परन्तु इन सब बातों का विना विचार किये हुए वे तीर्थयात्रा के लिये निकल ही पड़े ॥ ११३ ॥

गतेऽत्र मेने किल मातुलोऽस्य ग्रन्थे स्थितेऽस्मिन् गुरुपक्षहानिः ।
दग्धेऽत्र जायेत महान् प्रचारो नोक्त्या निराकर्तुमपि प्रभुत्वम् ११४

उनके चले जाने पर मामा ने विचार किया कि मुझमें इतनी शक्ति नहीं कि मैं इस ग्रन्थ का खण्डन कर सकूं। इस ग्रन्थ के रहने पर गुरु-पक्ष (मीमांसक प्रभाकर का मत) की बड़ी हानि होगी और यदि यह जल जायेगा तो गुरुपक्ष का बड़ा प्रचार होगा ॥ ११४ ॥

पक्षस्य नाशाद्‌ गृहनाश एव नो वरं गृहेणैव दहामि पुस्तकम् ।
एवं निरूप्य न्यदधाद्‌ हुताशनं चुक्रोश चाग्निर्दहतीति मे गृहम् ११५

अपने पक्ष के नाश होने की अपेक्षा घर का नाश होना मेरे लिये अच्छा है। आओ, इस घर के साथ ही इस पुस्तक को भी जला डालूँ। यह विचार कर उसने स्वयं अपने घर में आग लगा दी और जोरों से चिल्ला उठा कि आग मेरे घर को जलाये जा रही है ॥ ११५ ॥

ऐतिह्यमाश्रित्य वदन्ति चैवं तदेव मूलं मम भाषणेऽपि ।
यावत् कृतं तावदिहास्य कर्तुः पापं ततः स्याद्‌ द्विगुणं प्रवक्तुः ११६

किंवदन्ती के आधार पर लोग ऐसा कह रहे हैं। मेरे कहने का भी यही आधार है। जितना किया जाता है उस कर्म का पाप करनेवाले के सिर पर होता है और उससे दुगुना पाप कहनेवाले को लगता है ॥ ११६ ॥

अगस्त्य-आश्रम

गच्छन्नसौ फुल्लमुनेर्जगाम तमाश्रमं यत्र च रामचन्द्रः ।
अश्वत्थमूले न्यधित स्वचापं स्वयं कुशानामुपरि न्यषीदत् ।११७।

यात्रा के प्रसंग में पद्मपाद 'फुल्ल' मुनि के प्रसिद्ध आश्रम पर गये। यह वही आश्रम है जहाँ रामचन्द्र ने पीपल के पेड़ के नीचे अपने धनुष को रक्खा था और स्वयं कुशों के ऊपर बैठे थे ॥ ११७ ॥

तीर्त्वा समुद्रं जनकात्मजायाः संदर्शनोपायमनीक्षमाणः ।
वसुंधरायां प्रवणाः प्लवंगा न वारिराशौ प्लवनं क्षमन्ते ॥११८॥

वे विचार कर रहे थे कि समुद्र को पारकर जानकीजी का दर्शन किस प्रकार किया जा सकता है। वन्दरों की शक्ति पृथ्वी पर चलने में है। भला वे समुद्र के जल के ऊपर कैसे तैर सकते हैं ? ॥ ११८ ॥

संचिन्तयन्निति कुशासनसंनिविष्टो
ज्योतिस्तदैक्षत विदूरगमेव किंचित् ।
संव्याप्नुवज्जगदिदं सुखशीतलं यत्
संप्रार्थनीयमनिशं मुनिदेवताभिः ॥ ११९ ॥

कुशासन पर बैठकर जब रामचन्द्र यह सोच ही रहे थे कि उन्होंने बड़ी दूर पर मुनियों और देवताओं के द्वारा पूजनीय एक ज्योति देखी। यह ज्योति सुखद और शीतल थी और अपने तेज से समस्त संसार को व्याप्त कर रही थी ॥ ११९ ॥

आगच्छदात्माभिमुखं निरीक्ष्य सर्वे तदुत्तस्थुरुदारवीर्याः ।
ततः पुमाकारमदृश्यतैतन्महाप्रभामण्डलमध्यवर्ति ॥ १२० ॥

वह रामचन्द्र के सामने आई। उसे देखते ही बलशाली सैनिक लोग उठ खड़े हुए। अनन्तर उस प्रभामण्डल के बीच से पुरुष के आकार को धारण करनेवाला एक व्यक्ति दिखाई पड़ा ॥ १२० ॥

मध्येप्रभामण्डलमैक्षताञ्चितं शिवाकृतिं सर्वतपोमयं पुनः ।
लोपादिमुद्रासहितं महामुनिं प्राबोधि कुम्भोद्भवमादराज्जनैः॥१२१

प्रभामण्डल के बीच में मुनि का तपोमय शरीर चमक रहा था। उनकी आकृति कल्याणकारिणी थी और सङ्ग में विराजमान थी उनकी पत्नी लोपामुद्रा। देखते ही लोगों ने महर्षि अगस्त्य को पहिचान लिया ॥१२१॥

अगस्त्यदृश्वा रघुनन्दनस्ततः स खेदमन्तःकरणोत्थमत्यजत् ।
प्रायो महद्दर्शनमेव देहिनां क्षिणोति खेदं रविवन्महातमः ॥१२२॥

अगस्त्य को देखते ही रामचन्द्र के हृदय से सन्ताप दूर हो गया। यह उचित ही था। जिस प्रकार सूर्य घने अन्धकार के पटल को दूर भगाता है उसी प्रकार महापुरुषों का दर्शन प्राणियों के सन्ताप को शीघ्र नष्ट कर देता है॥ १२२ ॥

सभार्यमर्घ्यादिभिरर्चयित्वा रामस्तदङ्घ्रिं शिरसा ननाम ।
तूष्णीं मुहूर्तं व्यसनार्णवस्थो धृतिं समास्थाय पुनर्बभाषे ॥१२३॥

राम ने स्त्री के साथ अगस्त्य मुनि की भली भाँति पूजा की। उनके चरण पर अपना मस्तक नवाया। विपत्ति के समुद्र में पड़ने पर भी उन्होंने धैर्य धारण कर यह कहना शुरू किया—॥ १२३ ॥

दृष्ट्वा भवन्तं पितृवत् प्रमोदे यन्मामगा दुःखमहार्णवस्थम् ।
मन्ये ममाऽऽत्मानमवाप्तकामं वंशो महान् मे तपनात् प्रवृत्तः॥१२४॥

हे भगवन्! पिता के तुल्य आपको देखकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। आपने बड़ी कृपा की जो दुःख के महासागर में डूबने-वाले मेरे पास चले आये। मेरा सब मनोरथ सिद्ध हो गया। सूर्य से निकलनेवाला मेरा यह वंश आज महान् बन गया॥ १२४ ॥

न तत्र मादृग् जनिता न जातः पदच्युतोऽहं प्रथमं सभार्यः ।
सलक्ष्मणोऽरण्यमुपागतश्च मारीचमायानिहतान्तरङ्गः ॥ १२५ ॥

उस वंश में मेरे समान न तो कोई पैदा हुआ और न पैदा होनवाला है। पहले तो मैं राज्य से च्युत हो गया; स्त्री और लक्ष्मण के साथ जङ्गल में आया; मारीच की माया से मेरा हृदय अत्यन्त कलुषित हो गया ॥१२५॥

तत्रापि भार्यामहृत च्छलेन स रावणो राक्षसपुंगवो मे ।
सा चाधुनाऽशोकवने समास्ते कृशा वियोगात् स्वत एव तन्वी१२६

तिस पर राक्षसों में श्रेष्ठ रावण ने मेरी स्त्री को छलकर हर लिया। इस समय वह अशोक-वाटिका में है। वह स्वभाव से ही कृश है और इस विरह ने उसे और भी पतला बना डाला है ॥ १२६ ॥

तीर्त्वा समुद्रं विनिहत्य दुष्टं बलेन सीतां महता हरामि ।
यथा तथोपायमुदाहर त्वं न मे त्वदन्योऽस्ति हितोपदेष्टा ॥१२७॥

आपसे बढ़कर मेरे लिये कोई हितोपदेश देनेवाला नहीं है। मुझसे हित की ऐसी बात कहिए जिससे मैं समुद्र को पारकर और रावण को मारकर बड़ी सेना के सहारे सीता को फिर लौटा लाऊँ ॥ १२७ ॥

इतीरितो वाचमुवाच विद्वान् मा राम शोकस्य वशं गतो भूः ।
वंशद्वये सन्ति नृपा महान्तः संप्राप्य दुःखं परिमुक्तदुःखाः॥१२८॥

इतनी बात सुनकर अगस्त्यजी बोले—हे रामचन्द्र! तुम्हें कभी शोक नहीं करना चाहिए। सूर्य और चन्द्रवंश में ऐसे बहुत से राजा हुए जिन्होंने पहले क्लेश जरूर सहा परन्तु पीछे कष्ट से बिल्कुल मुक्त हो गये ॥ १२८ ॥

त्वमग्रणीर्दाशरथे धनुर्भृतां तवानुजस्यापि समो न लक्ष्यते ।
प्लवंगमानामधिपस्य कोटिशो मा मुञ्च मा मुञ्च वचो विनाथम्१२९

हे दाशरथे! तुम धनुषधारियों में अग्रगण्य हो और तुम्हारे भाई लक्ष्मण के समान कोई पुरुष दिखलाई नहीं पड़ता। वानरों के अधिपति सुग्रीव के समान भी कोई पुरुष नहीं है। इसलिये ये दीन वचन मत कहो ॥ १२९ ॥

सहायसंपत्तिरियं तवास्ति हितोपदेष्टाऽप्यहमस्मि कश्चित् ।
वारां निधिः किं कुरुते तवायं स्मराधुना गोष्पदमात्रमेनम् १३०

तुम्हारे पास सहाय सम्पत्ति भी अधिक है। सहायकों की तुम्हें कमी नहीं है और मैं तुम्हारे हित की बातें बतलानेवाला वर्तमान ही हूँ। ऐसी दशा में यह समुद्र तुम्हारा क्या कर सकता है ?' इसे तुम केवल गाय के खुर के समान समझो ॥ १३० ॥

पुरेव चार्वब्धिमहं पिबामि
शुष्केऽत्र तेन प्रतियाहि लङ्काम् ।
एवं मया कीर्तिरुपार्जिता स्याद्
बद्धे तु वार्धौ तव साऽर्जिता स्यात् ॥ १३१ ॥

मैं पहले के समान इस समुद्र को पीने के लिये तैयार हूँ। जब यह सूख जायगा तब आप लङ्का चले जाइएगा। इस प्रकार मेरी कीर्ति फैलेगी और समुद्र के ऊपर आपको विजय प्राप्त होगी ॥ १३१ ॥

सेतुं वार्धौ बन्धयित्वा जहि त्वं
दुष्टं चौर्याद्येन सीता हृताऽऽसीत् ।
प्राप्नोषि त्वं कीर्तिमाचन्द्रतारं
तेनात्राब्धिं बन्धय त्वं कपीन्द्रैः ॥ १३२ ॥

समुद्र के ऊपर पुल बाँधो और चोरी से सीता का हरण करनेवाले दुष्ट रावण को मार डालो। जब तक चन्द्रमा और तारा रहेंगे तब तक तुम्हारी कीर्ति इस काम से बनी रहेगी। देर न करो, वानरों से शीघ्र ही पुल बनवाओ ॥ १३२ ॥

इत्थं यत्र प्रेरितोऽगस्त्यवाचा
सेतुं रामो बन्धयामास वार्धौ ।
तुङ्गैः शृङ्गैर्वानरैस्तेन गत्वा
तं हत्वाऽऽजौ जानकीमानिनाय ॥१३३॥

अगस्त्य के द्वारा उस प्रकार प्रेरित किये जाने पर राम ने पहाड़ की चोटियों के बड़े बड़े पत्थरों से पुल बनवाया तथा लङ्का में जाकर रावण को मारकर, सीता को घर लाये ॥ १२३ ॥

तत्तादृक्षे तत्र तीर्थे स भिक्षुः स्नात्वा भक्त्या रामनाथं प्रणम्य ।
तत्र श्रद्धोत्पत्तये मानुषाणां शिष्येभ्यस्तद्वैभवं सम्यगूचे ॥१२४॥

ऐसे पवित्र तीर्थ में पद्मपाद ने स्नान किया और भक्ति से रामनाथ (शिव) को प्रणाम किया। मनुष्यों में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये उन्होंने अपने शिष्यों से उस तीर्थ के वैभव को कह सुनाया ॥ १२४ ॥

तन्माहात्म्यं वर्णयन्तं मुनिं तं पप्रच्छैनं कश्चिदेवं विपश्चित् ।
रामेशाख्या किंसमासोपपन्ना पृष्टस्त्रेधाऽवोचदेवं समासम् ॥१२५॥

जब वे तीर्थ का माहात्म्य कह रहे थे तब किसी ने उनसे पूछा कि हे विद्वन्! रामेश्वर शब्द में कौन समास है ? इस पर मुनि बोल उठे कि इस शब्द में तीन प्रकार से समास हो सकता है ॥ १२५ ॥

रघूद्वहस्तत्पुरुषं परं जगौ शिवो बहुव्रीहिसमासमैरयत् ।
रामेश्वरे नामनि कर्मधारयं परं समाहुः स्म सुरेश्वरादयः ॥१२६॥

रामचन्द्र ने इसमें तत्पुरुष समास बतलाया है, शङ्कर (शिव) बहुव्रीहि समास बतलाते हैं और इन्द्र आदिक देवताओं की राय में इस पद में कर्मधारय समास है ॥ १२६ ॥

टिप्पणी—रामेश्वर में तीन समास होने से तीन तरह के अर्थ निकलते हैं। राम शिव के भक्त थे अतः उनकी राय से इसमें तत्पुरुष समास हुआ—रामस्य ईश्वरः—जिसका अर्थ है राम का ईश्वर। शिवजी राम के भक्त थे अतः उनके अनुसार बहुव्रीहि समास का अर्थ हुआ—राम हैं ईश्वर जिसके (रामः ईश्वरः यस्य)। देवताओं के मत से कर्मधारय का अर्थ है सब प्राणियों में रमण करनेवाला ईश्वर (रामश्चासौ ईश्वरः)। वक्ता की मनोवृत्ति के अनुसार एक ही शब्द में ये तीन प्रकार के समास हैं।

एवं निश्चित्योदितं तत्समासं
श्रुत्वा तत्रत्यो बुधो योऽभ्यनन्दत् ।
अम्भोजाङ्घ्रिस्तैरथ स्तूयमानः
कञ्चित्कालं तत्र योगीडनैषीत् ॥ १३७ ॥

इस प्रकार कहे गये समास को सुनकर वह पण्डित अत्यन्त प्रसन्न हुआ और योगिराट् पद्मपाद ने इन ब्राह्मणों से बारम्बार प्रशंसा पाकर कुछ दिनों तक उसी तीर्थ में निवास किया ॥ १३७ ॥

पद्मपाद का प्रत्यागमन

तस्मादार्यः प्रस्थितोऽभूत् सशिष्यस्तीर्थस्नानोपात्तचित्तामलत्वः ।
पश्यन् देशान् मातुलीयं जगाहे गेहं दाहं तस्य पुस्तेन सार्धम् ।१३८।
श्रुत्वा किञ्चित् खेदमापेदिवान् स मत्वा मत्वा धैर्यमापेदिवान् सः ।
श्रावं श्रावं मातुलीयस्य तीव्रं दाहं गेहस्यानुकम्पां व्यधत्त ॥१३९॥

मुनि का चित्त रामेश्वर में स्नान करने से नितान्त निर्मल हो गया। कुछ दिन रहने के बाद वे अपने विद्यार्थियों के साथ लौटे। नाना देशों में घूमते हुए यह अपने मामा के घर आये और पुस्तक के साथ उनके घर के जलने की बात सुनकर वे अत्यन्त खिन्न हुए। परन्तु तत्त्वों का बारम्बार विचार कर उन्होंने धैर्य धारण किया। मामा का घर जलने की बात सुनकर उन्होंने उन पर दया की ॥ १३८-१३९ ॥

विश्वस्य मां निहितवानसि पुस्तभारं
तं चादहद्धुतवहः पतितः प्रमादात् ।
तावान्न मे सदनदाहकृतोऽनुतापो
यावांस्तु पुस्तकविनाशकृतो मम स्यात् ॥१४० ॥

उनके मामा कहने लगे कि तुमने मेरा विश्वास कर इस पुस्तक को मेरे घर में रक्खा था परन्तु मैं क्या करता। ग़लती से किसी

ने इस घर में आग लगा दी। मुझे अपने घर के जल जाने का उतना सन्ताप नहीं है जितना सन्ताप तुम्हारी इस अनमोल पुस्तक के जल जाने का है ॥ १४० ॥

इत्थं ब्रुवन्तं तमथो न्यगादीत् पुस्तं गतं बुद्धिरवस्थिता मे ।
उक्त्वा समारब्ध पुनश्च टीकां कर्तुं स धीरो यतिवृन्दवन्द्यः १४१

मामा के इस वचन को सुनकर पद्मपाद बोले—पुस्तक चली गई तो क्या हुआ, मेरी बुद्धि तो कहीं गई नहीं। इतना कहकर उन्होंने धीरतापूर्वक फिर से ग्रन्थ की टीका लिखनी शुरू कर दी ॥ १४१ ॥

दृष्ट्वा बुद्धिं मातुलस्तस्य भूयो भीतः प्रास्यद्भोजने तन्मनोघ्नम् ।
किञ्चिद्द्रव्यं पूर्ववन्नाक्षमिष्ट टीकां कर्तुं केचिदेवं ब्रुवन्ति ॥१४२॥

मामा उनकी बुद्धि को देखकर डर गया। उनकी बुद्धि को बदल देने के लिये उसने कोई विशेष विष भोजन में मिला दिया जिसके कारण वे पहिले के समान टीका लिखने में समर्थ नहीं हुए। ऐसा कुछ लोग कहते हैं ॥ १४२ ॥

अत्रान्तरेऽन्यैर्निजवच्चरद्भिः स्वैस्तीर्थयात्रां दयितैः सतीर्थ्यैः ।
अर्थादुपेत्याऽऽश्रमतः कनिष्ठैर्ज्ञातः सखेदैः स मुनिः समैक्षि १४३

इसके बाद इन्हीं के समान इनके बहुत से मित्र तीर्थयात्रा के लिये निकले हुए थे। वे लोग वहाँ आये और इन्हें पहिचानकर उन्हें बड़े खेद के साथ देखा ॥ १४३ ॥

दृष्ट्वा पद्माङ्घ्रिं क्रमात्ते प्रणेमुस्तत्पादाम्भोजीयरेणून् दधानाः ।
अन्योन्यं द्रागाददुस्ते ददुश्चानेकानेहोयोगजैक्यान्नमांसि ॥१४४॥

पद्मपाद को देखकर उन्होंने प्रणाम किया। उनके चरण-कमल की धूलि अपने माथे पर रक्खी और बहुत दिनों तक एक साथ रहने के कारण उन्होंने एक दूसरे को प्रणाम किया और एक दूसरे का प्रणाम ग्रहण किया ॥ १४४ ॥

वाणीनिर्जितपन्नगेश्वरगुरुप्राचेतसा चेतसा
बिभ्राणा चरणं मुनेर्विरचितव्यापल्लवं पल्लवम् ।
धुन्वन्तं प्रभया निवारिततमाशङ्कापदं कामदं
रेजेऽन्तेवसतां समष्टिरसुहृत्तत्याहितात्याहिता ॥१४५॥

कवि यहाँ आचार्य के शिष्यों का वर्णन कर रहा है। शिष्यों ने अपनी वाणी से शेषनाग, बृहस्पति और वाल्मीकि को जीत लिया था। वे लोग चित्त में आचार्य के उन चरणों का ध्यान करते थे जो पल्लव को भी विपत्ति उत्पन्न कर तिरस्कार करनेवाले थे, प्रभा से चमक रहे थे; शङ्का और डर को निवारण करनेवाले थे तथा मनोरथ को पूरा करते थे। ये लोग प्राण को हरण करनेवाले कामादिक की वासनाओं से अत्यन्त डरते थे। आचार्य की दया से वे सब प्रलोभनों से रहित होकर आनन्द-मग्न हो गये ॥ १४५ ॥

शुश्राव साऽन्तेवसतां समष्टिः स्वदेशकीयां सुखदां सुवार्ताम् ।
अर्थात्समीपागततः कुतश्चिद्द्विजेन्द्रतः सेवितसर्वतीर्थात् ॥१४६॥

अथ गुरुवरमनवेक्ष्य नितान्तं
व्यथितहृदो मुनिवर्यविनेयाः ।
कथमपि विदिततदीयसुवार्ताः
समधिगताः किल केरलदेशान् ॥ १४७ ॥

पद्मपाद के पास रहनेवाले उन शिष्यों ने तीर्थ-यात्रा करके लौटनेवाले किसी ब्राह्मण से अपने देश की सुखद वार्ता सुनी। अनन्तर अपने गुरुवर शङ्कर को न देखकर इन शिष्यों का हृदय नितान्त व्यथित हो रहा था। उन्होंने कहीं से समाचार पा लिया कि आजकल आचार्य केरल देश में रहते हैं। इस पर वे लोग भी केरल देश में चले आये ॥१४६-१४७॥

अत्रान्तरे यतिपतिः प्रसुवोऽन्त्यकृत्यां
कृत्वा स्वधर्मपरिपालनसक्तचित्तः ।

आकाशलङ्घिवरकेरमहीरुहेषु
श्रीकेरलेषु मुनिरास्त चरन् विरक्तः ॥ १४८ ॥

इस बीच में आचार्य ने अपनी माता की अन्तिम क्रिया समाप्त की। उनका मन अपने धर्म के पालन में लगा हुआ था। वे विरक्त रूप से केरल देश में चारों ओर घूम रहे थे। इस देश में 'केर' (नारियल) के बड़े बड़े वृक्ष होते हैं, इसी कारण इस प्रदेश को केरल कहते हैं ॥ १४८ ॥

विचरन्नथ केरलेषु विष्वङ् निजशिष्यागमनं निरीक्ष्य मौनी ।
विनयेन महासुरालयेशं विनमन्नस्तु निस्तुलानुभावः ॥ १४९ ॥

इसके अनन्तर केरल देश में घूमते हुए शङ्कर ने अपने विद्यार्थियों को आया हुआ देखकर भी उनके साथ भाषण नहीं किया, प्रत्युत महासुर नामक स्थान के अधिष्ठातृ-देवता श्री विष्णु भगवान् की स्तुति की—॥ १४९ ॥

सदसत्त्वविमुक्तया प्रकृत्या चिदचिद्रूपमिदं जगद्‌ विचित्रम् ।
कुरुषे जगदीश लीलया त्वं परिपूर्णस्य न हि प्रयोजनेच्छा १५०

हे जगदीश ! आपकी माया अनिर्वचनीय है। वह सत्य-रूप भी नहीं है और असत्य-रूप भी नहीं है। उसके रूप का ठीक ठीक वर्णन नहीं हो सकता। केवल लीला के लिये इस ज़ड़-चेतन की सृष्टि आप उसी माया के बल पर करते हैं। आप स्वयं परिपूर्ण हैं। आपकी कोई ऐसी इच्छा नहीं जिसकी पूर्ति शेष हो। केवल लीला के लिये आप जगत् की सृष्टि करते हैं॥ १५० ॥

रजसा सृजसीश सत्त्ववृत्तिस्त्रिजगद्रक्षसि तामसः क्षिणोषि ।
बहुधा परिकीर्त्यसे च स त्वं विधिवैकुण्ठशिवाभिधाभिरेकः १५१

आप रजोगुण से युक्त होने पर जगत् की सृष्टि करते हैं; सत्त्वगुण से युक्त होने पर इस जगत् की रक्षा करते हैं और तमोगुण से युक्त होने पर इसका नाश करते हैं। आप हैं तो एक परन्तु ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव इन तीन नामों से अवस्था के अनुसार पुकारे जाते हैं ॥ १५१ ॥

विविधेषु जलाशयेषु सोऽयं सवितेव प्रतिबिम्बितस्वभावः।
बहुरूपमिदं प्रविश्य विश्वं स्वयमेकोऽपि भवान् विभात्यनेकः॥१५२

सूर्य वस्तुतः एक ही है। परन्तु भिन्न भिन्न जलाशयों में प्रतिबिम्बित होने पर वह अनेक सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार आप स्वयं एक हैं, तो भी इस नाना-रूप-धारी विचित्र संसार में प्रवेश करने पर अनेक के समान प्रतीत हो रहे हैं॥ १५२॥

टिप्पणी—एक होने पर भी ईश्वर में अनेकता के आभास होने का यह बड़ा ही रमणीय उदाहरण है। यह उदाहरण है बहुत पुराना। इस अद्वैतवाद की स्थापना निम्न श्रुति बड़े सुन्दर शब्दों में कर रही है—

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान्, अपोभिन्ना बहुधैकोनुगच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेदरूपो, देवः क्षेत्रेष्वेवमजोयमात्मा॥

इति देवमभिष्टुवन् विशिष्टस्तुतितोऽसौ सुरसद्मसंनिविष्टः।
चिरकालवियोगदीनचित्तैः शिरसा शिष्यगणैरथो ववन्दे॥१५३॥

भगवान् शङ्कर मन्दिर में जाकर भगवान् विष्णु की इन पद्यों से स्तुति कर रहे थे। बहुत दिन वियोग के कारण शिष्यों का चित्त बड़ा दुःखी हो गया था। वे उन्हें देखने के लिये व्याकुल थे। जाकर उन लोगों ने गुरु को प्रणाम किया॥ १५३॥

गुरुणा कुशलानुयोगपूर्वं सदयं शिष्यगणेषु सान्त्वितेषु।
अतिदीनमनाः शनैरवादीदजहद् गद्गदिकं स पद्मपादः॥१५४॥

आचार्य ने शिष्यों से कुशल-प्रश्न पूछा और बड़ी कृपा से उन्हें सान्त्वना दी। तब पद्मपाद ने अत्यन्त दीन मन से आचार्य के पास बैठ धीरे-धीरे स्वर में कहना शुरू किया॥ १५४॥

'पञ्चपादिका' का उद्धार

भगवन्नभिगम्य रङ्गनाथं पथि पद्माक्षमहं निवर्तमानः।
बहुधाविहितानुनीतिनीतो बत पूर्वाश्रममातुलेन गेहम्॥ १५५॥

पद्मपाद— हे भगवन् ! इस तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में मैं कमललोचन भगवान् रङ्गनाथ का दर्शन कर रास्ते में लौट रहा था। रास्ते में मुझे मेरे पूर्वाश्रम के मामा मिले और उन्होंने मुझसे बड़ा अनुनय-विनय किया और घर ले गये ॥ १५५ ॥

अहमस्य पुरो भिदावदेन्दोरपि पूर्वाश्रमवासनानुबन्धात् ।
अपठं भवदीयभाष्यटीकामजयं चात्रकृतानुयोगमेनम् ॥ १५६ ॥

मेरे मामा भेदवादी मीमांसक थे। उनके सामने भी मैंने आपके भाष्य की टीका पढ़ सुनाई। इसमें मेरा कोई दोष न था। पूर्व आश्रम की (संन्यासी बनने के पहले की अवस्था) जो मेरी वासना थी कि ये मेरे मामा हैं, उसी के अनुरोध से उनके भेदवादी होने पर भी मैंने अपनी टीका उन्हें पढ़ सुनाई और उन्होंने जब कभी शङ्का की तब मैंने उन्हें जीत भी लिया ॥ १५६ ॥

दग्धमुद्रमुखमुद्रणमन्त्रैर्ध्वस्ततर्कगुरुकापिलतन्त्रैः ।
वर्मितो निगमसारसुधाक्तैर्मातुलं तमजयं तव सूक्तैः ॥ १५७ ॥

हे भगवन् , आपकी सूक्तियाँ अपने मत के निराकरण के कारण क्रोध के मारे लाल-लाल नेत्रवाले भेदवादियों के मुख-मुद्रण करने के लिये महामन्त्र हैं। न्याय, मीमांसा तथा सांख्य दर्शन को ये ध्वस्त करने-वाली हैं। वेदान्त-रूपी सुधा से ये सिञ्चित हैं। आपकी इन सूक्तियों को अपना कवच बनाकर मैंने अपने मातुल को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया ॥ १५७ ॥

खड्गाखड्गिविहारकल्पितरुजं काणादसेनामुखे
शस्त्राशस्त्रिकृतं श्रमं च विषमं पश्यत्पदानां पदे ।
यष्टीयष्टिभवं च कापिलबले खेदं मुने तावकैः
सूक्तैर्यौक्तिकवंशमौक्तिकमयैर्नाऽऽपद्यते वर्मितः ॥ १५८ ॥

हे आचार्य ! आपके वचन युक्तिरूपी मोती से सम्पन्न हैं। जो आदमी इन वचनों से अपने को सुरक्षित रखता है उसे किसी वाद-रूपी

युद्ध में पराजित होने का अवसर नहीं आता। कणाद की सेना के सामने खड़े होने पर भी तलवार के चलाने से जो शरीर में घाव होता है उसे पीड़ा नहीं उत्पन्न होती। गौतम की युक्तियों से वह लड़ता है परन्तु हथियारों के चलाने का परिश्रम उसे नहीं होता। कपिल के अनुयायियों के साथ वह डटा रहता है परन्तु उसे लाठालाठी के क्लेश का अनुभव नहीं होता। आपके वचन उस दृढ़ कवच के समान हैं जिसे धारण कर कोई भी मनुष्य वाग्युद्ध में प्रबल शत्रुओं का मुक़ाबिला कर सकता है॥ १५८ ॥

अथ गूढहृदो यथापुरं मा-
मभिनन्द्याऽऽहितसत्क्रियस्य तस्य।
अधिसद्म निधाय भाष्यटीका-
महमस्याऽऽयमशङ्कितो निशायाम्॥ १५९ ॥

इस पराजय के अनन्तर वे बड़े सत्कार के साथ मुझे अपने नगर में लाये। उनका हृदय पराजय की आग से छिपे छिपे जल रहा था। मुझे इसकी तनिक भी खबर न थी। उनके घर मैंने यह भाष्य-टीका रख दी और बिना किसी शङ्का के तीर्थाटन के लिये चल पड़ा॥ १५९ ॥

युगपर्ययनित्यदुग्रफाल-
ज्वलनज्वालकरालकीलजालः।
दहनोऽधिनिशीथमस्य धाम्ना
बंत टीकामपि भस्मसादकार्षीत्॥ १६० ॥

रात के समय भयानक अग्नि उस घर में लग गई—इतनी भयानक कि लपटें प्रलयकाल में आनन्द से नाचनेवाले भगवान् रुद्र के तीसरे नेत्र से निकलनेवाली ज्वाला के समान कराल प्रतीत होती थीं। उस आग ने उनका घर ही नहीं जला डाला प्रत्युत हमारी टीका को भी भस्मसात् कर दिया॥ १६० ॥

अदहत् स्वगृहं स्वयं हताशो विमतग्रन्थमसौ विदग्धुकामः ।
मतिमान्द्यकरं गरं च भैक्षे व्यधितास्येति विजृम्भते स्म वार्ता १६१

चारों ओर यह बात फैली हुई है कि हमारे मामा ने शास्त्रार्थ में पराजित होकर विरोधी मत के ग्रन्थ को जला डालने की प्रबल इच्छा से अपने घर में स्वयं आग लगा ली और मेरी बुद्धि को मन्द बना डालने के अभिप्राय से उसने मेरे भोजन में विष डाल दिया ॥ १६१ ॥

अधुना धिषणा यथापुरं नो
विधुनाना विशयं प्रसादमेति ।
विषमा पुनरीदृशी दशा नः
किमु युक्ता भवदङ्घ्रिकिङ्कराणाम् ॥ १६२ ॥

इस समय मेरी प्रतिभा संशय को दूर कर उतनी प्रसन्न नहीं हो रही है जिस प्रकार वह पहिले हुआ करती थी। मेरी दशा बड़ी दयनीय है। मैं आपके चरण का सेवक ठहरा। क्या ऐसी विषम दशा मेरे लिये उपयुक्त है ? ॥ १६२ ॥

गुरुवर तव या भाष्यवरेण्ये
व्यरचि मया ललिता किल वृत्तिः ।
निरतिशयोज्ज्वलयुक्तियुता सा
पथि किल हा विननाश कृशानौ ॥ १६३ ॥

हे गुरुवर ! आपके सुन्दर भाष्य के ऊपर मैंने जो ललित वृत्ति बनाई थी वह अत्यन्त उज्ज्वल युक्तियों से भूषित होकर अपनी छटा चारों ओर फैला रही थी। बड़े दुःख की बात है कि ऐसी सुन्दर टीका आग में जलकर सदा के लिये नष्ट हो गई ॥ १६३ ॥

प्रयतेऽहं पुनरेव यदा तां प्रविधातुं बहुधाकृतयत्नः ।
न यथापूर्वमुपक्रमते ताः पटुयुक्तीर्भगवन् मम बुद्धिः ॥ १६४ ॥

मैंने उस टीका को फिर उसी प्रकार से लिखने के लिये अनेक बार प्रयत्न किया। परन्तु हे भगवन्! मेरी बुद्धि पहिले के समान सुन्दर युक्तियों के रखने में समर्थ नहीं होती ॥ १६४ ॥

कृपापारावारं तव चरणकोणाग्रशरणं
गता दीना दूनाः कति कति न सर्वेश्वरपदम्।
गुरो मन्तुर्नन्तुः क इव मम पापांश इति चेत्
मृषा मा भाषिष्ठाः पदकमलचिन्तावधिरसौ ॥ १६५ ॥

हे भगवन्! आपके चरण का कोना कृपा का अथाह समुद्र है। उसकी शरण में जानेवाले न जाने कितने दीन और खिन्न पुरुषों ने सर्वेश्वर-पद प्राप्त कर लिया है। हे गुरुवर! मैं सदा आपका अभिवन्दन करनेवाला हूँ। मुझसे कौन यह घोर अपराध हो गया है? यदि यह कोई पाप हो तो उसे भी अब तक नष्ट हो जाना चाहिए था क्योंकि आपने स्वयं कहा था कि गुरु के चरण-कमल की चिन्ता ही पापों को दूर करती है। क्या यह आपका वचन मेरे विषय में झूठा सिद्ध होगा? ॥ १६५ ॥

इति वादिनमेनमार्यपादः करुणापूरकरम्भितान्तरङ्गः।
अमृताब्धिसखैरपास्तमोहैर्वचनैः सान्त्वयति स्म वल्गुबन्धैः १६६

इन वचनों को सुनकर आचार्य के हृदय में करुणा की बाढ़ उमड़ आई। उन्होंने सुधा के समान मीठे, मोह को दूर करने में निपुण और रचना में सुन्दर वचनों के द्वारा शिष्य को शान्त करना शुरू किया ॥१६६॥

विषमो वत कर्मणां विपाको विषमोहोपमदुर्निवार एषः।
विदितः प्रथमं मयाऽयमर्थः कथितश्चाङ्ग सुरेशदेशिकाय ॥१६७॥

शङ्कर—कर्मों का विपाक बड़ा ही विषम होता है। वह तो विष से उत्पन्न मोह के समान है। इतना बलवान् है कि वह कठिनता से रोका जा सकता है। क्या किया जाय? कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। मैंने तो यह बात बहुत पहले जान ली थी और सुरेश्वर से कहा भी था ॥१६७॥

पूर्वं शृङ्गक्ष्माधरे मत्समीपे प्रेम्णा याऽसौ वाचिता पञ्चपादी ।
सा मे चित्तान्नापयात्यद्य शोको यातात्छीघ्रं तां लिखेत्याख्यदार्यः

पहले तुमने शृङ्गेरी पहाड़ के ऊपर पञ्चपादिका को बड़े प्रेम से पढ़कर सुनाया था। वह मेरे चित्त में इतनी गड़ गई है कि नहीं हटती। जाओ, शोक दूर करो और शीघ्र उसे लिख लो ॥ १६८ ॥

आश्वास्येत्थं जलजचरणं भाष्यकृत्पञ्चपादी-
माचख्यौ तां कृतिमुपहितां पूर्वयैवाऽऽनुपूर्व्या ।
नैतच्चित्रं परमपुरुषेऽव्याहतज्ञानशक्तौ
तस्मिन् भूते त्रिभुवनगुरौ सर्वविद्याप्रवृत्तेः ॥१६९॥

इस प्रकार पद्मपाद को आश्वासन देकर आचार्य ने उस पञ्चपादिका को ठीक आनुपूर्वी से कह सुनाया। इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। क्योंकि आचार्य वह परम पुरुष हैं जिनकी ज्ञान-शक्ति अव्याहत है तथा जिनसे सब विद्याएँ प्रवृत्त हुई थीं ॥ १६९ ॥

प्रसभं स विलिख्य पञ्चपादीं परमानन्दभरेण पद्मपादः ।
उदतिष्ठदतिष्ठदभ्यरोदीत् पुनरुद्गायति तु स्म नृत्यति स्म॥१७०

पद्मपाद ने बड़े आनन्द से पञ्चपादिका को लिख डाला। वे आनन्द से उठ खड़े हुए, रोने लगे, बारम्बार गाने और नाचने लगे ॥ १७० ॥

कविताकुशलोऽथ केरलक्ष्माकमनः कश्चन राजशेखराख्यः ।
मुनिवर्यममुं मुदं वितेने निजकोटीरनिघृष्टपन्नखाग्र्यः ॥ १७१॥

इसके अनन्तर कविता-कुशल केरल के राजा राजशेखर ने अपने मस्तक के रत्नों को मुनि के चरणों पर झुकाया जिससे मुनि अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १७१ ॥

प्रथते किमु नाटकत्रयी सेत्यमुना संयमिना ततो नियुक्तः ।
अयमुत्तरमाददे प्रमादादनले साऽऽहुतितामुपागतेति ॥ १७२ ॥

यतिराज शङ्कर ने पूछा कि कहिए, आपके तीनों नाटक संसार में विख्यात तो हैं ? राजा ने कहा कि मेरी असावधानी से वे तीनों आग में जल गये ॥ १७२ ॥

मुखतः पठितां मुनीन्दुना तां विलिखन्नेष विसिष्मियेऽथ भूपः ।
वद किं करवाणि किंकरोऽहं वरदेति प्रणमन् व्यजिज्ञपच्च ॥१७३॥

शङ्कर ने तीनों नाटकों को अपने मुख से कह सुनाया। उनको लिखने के बाद राजा के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। प्रणाम कर उन्होंने कहा कि हे भगवन् ! मैं आपका दास हूँ। कहिए क्या आज्ञा होती है १७३

नृप कालटिनामकाग्रहारा द्विजकर्मानधिकारिणोऽद्य शप्ताः ।
भवताऽपि तथैव ते विधेया बत पापा इति देशिकोऽशिषत्तम् १७४

आचार्य ने इस पर कहा कि हे राजन् ! कालटी ग्राम के रहनेवाले ब्राह्मणों को मैंने ब्राह्मण-कर्म का अनधिकारी होने से शाप दिया है। आपको भी उनके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए ॥ १७४ ॥

पद्माङ्घ्रौ प्रतिपद्य नष्टविवृतिं तुष्टे पुनः केरल-
क्ष्मापालो यतिसार्वभौमसविधं प्राप्य प्रणम्याञ्जसा ।
लब्ध्वा तस्य मुखात् स्वनाटकवराण्यानन्दपाथोनिधौ
मज्जंस्तत्पदपद्मयुग्ममनिशं ध्यायन् प्रतस्थे पुरीम् ॥१७५॥

अपनी नष्ट हुई टीका को फिर से पाकर पद्मपाद प्रसन्न हुए और केरल का राजा आचार्य के मुख से अपने नष्ट हुए, तीनों नाटकों को पाकर आनन्द-सागर में निमग्न हो गया। आचार्य के चरण-कमलों का ध्यान करते हुए वह अपनी नगरी को लौट गया ॥ १७५ ॥

इति श्रीमाधवीये तत्तीर्थयात्राटनार्थकः ।
संक्षेपशङ्करजये सर्गोऽजनि चतुर्दशः ॥ १४ ॥

माधवीय शङ्कर-विजय में पद्मपाद की तीर्थयात्रा का वर्णन करनेवाला चौदहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

पञ्चदश सर्ग

आचार्य शङ्कर का दिग्विजय

अथ शिष्यवरैर्युतः सहस्रैरनुयातः स सुधन्वना च राज्ञा ।
ककुभो विजिगीषुरेष सर्वाः प्रथमं सेतुमुदारधीः प्रतस्थे ॥ १ ॥

इसके अनन्तर उदारबुद्धि शङ्कर, राजा सुधन्वा और अपने हजारों विद्यार्थियों सहित, दिशाओं को जीतने की इच्छा से सेतुबन्ध की ओर चले ॥ १ ॥

अभवत् किल तस्य तत्र शाक्तैर्गिरिजार्चाकपटान्मधुप्रसक्तैः ।
निकटस्थवितीर्णभूरिमोदस्फुटरिङ्खत्पटु युक्तिमान् विवादः ॥२॥

वहाँ पर बहुत-से शाक्त लोग रहते थे जो देवी की पूजा के बहाने शराब पीने को ही परम धर्म समझते थे। उन लोगों से शङ्कर का बड़ा भारी विवाद हुआ। इसमें उन्होंने निपुण युक्तियाँ देकर उनके मत का खण्डन किया। युक्तियाँ ऐसी अनूठी थीं कि जिन्हें सुन करके निकट रहनेवाले लोग आनन्द से गद्गद हो गये ॥ २ ॥

स हि युक्तिभरैर्विधाय शाक्तान् प्रति वाग्व्याहरणेऽपि तानशक्तान् ।
द्विजजातिबहिष्कृताननार्यानकरोल्लोकहिताय कर्मसेतुम् ॥ ३ ॥

आचार्य ने युक्तियों की इतनी बौछार की कि शाक्त लोगों की बोलती बन्द हो गई। ये ब्राह्मण लोग, अपने हीनाचरण के कारण, जाति से बहिष्कृत थे। इस प्रकार आचार्य ने लोक के कल्याण के लिये शाक्तों को पराजय कर एक आदर्श उपस्थित किया॥ ३॥

अभिपूज्य स तत्र रामनाथं
सह पाण्ड्यैः स्ववशे विधाय चोलान्।
द्रविडांश्च ततो जगाम काञ्चीं
नगरीं हस्तिगिरेर्नितम्बकाञ्चीम्॥ ४॥

वहाँ पर उन्होंने रामेश्वर की पूजा की। पाण्ड्यों के साथ चोल तथा द्रविड़ देश के लोगों को अपने वश में किया। अनन्तर हस्तिगिरि की मेखला पर अवस्थित काञ्ची नगरी में गये॥ ४॥

सुरधाम स तत्र कारयित्वा परविद्याचरणानुसारि चित्रम्।
अपवार्य च तान्त्रिकानतानीद्भगवत्याः श्रुतिसंमतां सपर्याम्॥५॥

वहाँ पर शङ्कर ने परविद्या के आचरण के अनुकूल एक विचित्र मन्दिर बनवाया। तान्त्रिकों को वहाँ से दूर भगाकर भगवती की श्रुति अनुकूल वैदिक पूजा की प्रतिष्ठा की॥ ५॥

निजपादसरोजसेवनायै विनयेन स्वयमागतानथाऽऽन्ध्रान्।
अनुगृह्य स वेंकटाचलेशं प्रणिपत्याऽऽप विदर्भराजधानीम्॥६॥

उनके चरण-कमल की सेवा करने के लिये बहुत से आन्ध्र लोग आये। उन पर आचार्य ने अनुग्रह दिखलाया। वेङ्कटाचल को प्रणाम कर वे विदर्भ की राजधानी में पहुँचे (जिसे आज कल बरार कहते हैं)॥ ६॥

अभिगम्य स भक्तिपूर्वमस्यां कृतपूजः क्रथकैशिकेश्वरेण।
निजशिष्यनिरस्तदुष्टबुद्धीन् व्यदधाद्भैरवतन्त्रसावलम्बान्॥७॥

विदर्भ के राजा ने भक्तिपूर्वक आचार्य की पूजा की। वहाँ पर भैरव तन्त्र के माननेवाले बहुत से भक्त थे। उनको अपने शिष्यों से परास्त कराकर शङ्कर ने वैदिक मार्ग की स्थापना की ॥ ७ ॥

अभिवाद्य विदर्भराडवादीदथ कर्णाटवसुन्धरामियासुम् ।
भगवन् बहुभिः कपालिजालैः स हि देशो भवतामगम्यरूपः ॥८॥

अब आचार्य कर्णाटक देश में जाने की तैयारी करने लगे। विदर्भ-राज ने निवेदन किया कि हे भगवन्! उस देश में कापालिकों ने कपट का जाल बिछा रक्खा है इसलिये आप वहाँ न जाइए। आपके जाने लायक़ वह देश नहीं है ॥ ८ ॥

न हि ते भगवद्यशः सहन्ते निहितेर्ष्याः श्रुतिषु ब्रवीम्यतोऽहम् ।
अहिते जगतां समुत्सहन्ते महितेषु प्रतिपक्षतां वहन्ते ॥ ९ ॥

वे लोग वेद से बड़ी ईर्ष्या करते हैं। इसलिये वे आपके यश को सह नहीं सकते। वे संसार के अमङ्गल की सदा कामना किया करते हैं और महान् पुरुषों का सदा विरोध करते हैं। मेरे आग्रह का यही कारण है ॥ ९ ॥

क्रकच कापालिक का वर्णन

इतिवादिनि भूमिपे सुधन्वा यतिराजं निजगावधिज्यधन्वा ।
मयि तिष्ठति किं भयं परेभ्यस्तव भक्ते यतिनाथ पामरेभ्यः ।।१०।

विदर्भराज के वचन सुनकर धनुष-बाण चढ़ाकर राजा सुधन्वा ने शङ्कर से कहा—हे यतिराज! जब तक मैं आपका भक्त हूँ तब तक इन पामरों से डरने की क्या आवश्यकता है ॥ १० ॥

अथ तीर्थकराग्रणीः प्रतस्थे किल कापालिकजालकं विजेतुम् ।
निशमय्य तमागतं समागात् क्रकचो नाम कपालिदेशिकाग्र्यः ११

अनन्तर शास्त्रकारों के अग्रणी शङ्कर ने कापालिकों के जाल को छिन्न करने के लिये प्रस्थान किया। उस देश में क्रकच नामक कापालिकों का सरदार रहता था। वह शङ्कर को आया हुआ जानकर उनसे भेंट करने के लिये आया॥ ११॥

पितृकाननभस्मनाऽनुलिप्तः करसंप्राप्तकरोटिरात्तशूलः ।
सहितो बहुभिः स्वतुल्यवेषैः स इति स्माऽऽह महामनाः सगर्वः १२

श्मशान का भस्म उसने अपने शरीर पर मल रक्खा था; हाथ में मनुष्य की खोपड़ी विद्यमान थी; दूसरे हाथ में उसने त्रिशूल को धारण किया था। इसी तरह के वेशवाले अनेक लोग उसके पीछे-पीछे चल रहे थे। घमण्ड से झूमता हुआ वह आचार्य के सामने आया॥ १२॥

भसितं धृतमित्यदस्तु युक्तं शुचि संत्यज्य शिरःकपालमेतत् ।
वहथाशुचि खर्परं किमर्थं न कथंकारमुपास्यते कपाली ॥१३॥

हे आचार्य, इस भस्म का धारण करना उचित है। परन्तु पवित्र नरमुण्ड को छोड़कर यह मिट्टी का बना हुआ खप्पर आप क्यों धारण कर रहे हैं और भैरव की उपासना आप क्यों नहीं करते ?॥ १३॥

नरशीर्षकुशेशयैरलब्ध्वा रुधिराक्तैर्मधुना च भैरवार्चाम् ।
उमया समया सरोरुहाक्ष्या कथमाश्लिष्टवपुर्मुदं प्रयायात् ॥१४॥

खून से भरे हुए नरमुण्ड-रूपी कमलों से और शराब से भगवान् भैरव की बिना पूजा किये हुए, कमलनयनी सुन्दरी से आलिङ्गित होकर क्या कोई मनुष्य आनन्द पा सकता है ?॥ १४॥

इति जल्पति भैरवागमानां हृदयं कापुरुषेति तं विनिन्द्य ।
निरवासयदात्मवित् समाजात् पुरुषैः स्वैरधिकारिभिः सुधन्वा॥१५॥

इस प्रकार जब क्रकच अपने आगम के रहस्य को समझा रहा था तब राजा सुधन्वा ने कापुरुष कहकर उसकी निन्दा की और अपने अधिकारी पुरुषों के हाथ उसे वहाँ से निकाल बाहर किया॥ १५॥

भ्रुकुटीकुटिलाननश्चलोष्ठः सितमुद्यम्य परश्वधं स मूर्खः ।
भवतां न शिरांसि चेद्विभिन्द्यां क्रकचो नाहमिति ब्रुवन्नयासीत्१६

इस अपमान से उसकी भ्रुकुटी तन गई। ओठ काँपने लगे, क्रोध के मारे नेत्र लाल हो गये। उस मूर्ख ने सफ़ेद परशु उठाकर प्रतिज्ञा की, यदि मैं आप लोगों के सिर को छिन्न-भिन्न न कर डालूँ तो मैं क्रकच नहीं। इतना कहकर वह चला गया ॥ १६ ॥

क्रकच और आचार्य का शास्त्रार्थ

रुषितानि कपालिनां कुलानि प्रलयाम्भोधरभीकरारवाणि ।
अमुना प्रहितान्यतिप्रसंख्यान्यभियातानि समुद्यतायुधानि॥१७॥

इसके बाद उसने क्रुद्ध हुए कापालिकों के झुण्ड को लड़ने के लिये भेजा। वे इतने अधिक थे कि उनकी गिनती न हो सकती थी। उनके हाथों में हथियार चमक रहे थे और वे लोग प्रलय काल के मेघों के समान भीषण गर्जन कर रहे थे ॥ १७ ॥

अथ विप्रकुलं भयाकुलं तद् द्रुतमालोक्य महारथः सुधन्वा ।
कुपितः कवची रथी निषङ्गी धनुरादाय ययौ शरान् विमुञ्चन्१८

इन्हें देखकर ब्राह्मण लोग डर गये। तब महारथी सुधन्वा कवच धारण कर, रथ पर चढ़, धनुष-बाण लेकर लड़ने के लिये आगे आया॥१८॥

अवनीभृति योधयत्यरींस्तांस्त्वरयैकत्र ततोऽन्यतो नियुक्ताः ।
क्रकचेन वधाय भूसुराणां द्रुतमासेदुरुदायुधाः सहस्रम् ॥१९॥

जब राजा एक ओर शत्रुओं से लड़ रहा था तब क्रकच ने ब्राह्मणों को मारने के लिये दूसरी तरफ़ हज़ारों हथियारबन्द कापालिकों को भेजा॥१९॥

अवलोक्य कपालिसंघमाराच्छमनानीकनिकाशमापतन्तम् ।
व्यथिताः प्रतिपेदिरे शरण्यं शरणं शंकरयोगिनं द्विजेन्द्राः॥२०॥

यमराज की सेना के समान भयानक इस कापालिक-सङ्घ को देखकर ब्राह्मणों के होश-हवास जाते रहे। वे शरणागत-वत्सल योगी शङ्कर की शरण में गये ॥ २० ॥

असितोमरपट्टिशत्रिशूलैः प्रजिघांसून् भृशमुज्झिताट्टहासान्।
यतिराट् स चकार भस्मसात्तान्निजहुंकारभुवाऽग्निना क्षणेन॥२१

कापालिक लोग तलवार, तोमर, पट्टिश और त्रिशूलों से ब्राह्मणों को मारने के लिये आये थे। आनन्दोल्लास से वे अट्टहास कर रहे थे। इन्हें देखकर शङ्कर ने ऐसा हुङ्कार किया कि उसकी आग ने इन कापालिकों को क्षणभर में भस्म कर दिया ॥ २१ ॥

नृपतिश्च शरैः सुवर्णपुङ्खैर्विनिकृत्तैः प्रतिपक्षवक्त्रपद्मैः।
रणरङ्गभुवं सहस्रसंघैः समलंकृत्य मुदाऽगमन्मुनीन्द्रम् ॥ २२ ॥

राजा ने भी अपने बाणों से प्रतिपक्षियों के सहस्रों सिरों को काटकर उस रणभूमि को मानों कमलों से सुशोभित कर दिया। अनन्तर वह प्रसन्नवदन होकर मुनि के पास आया ॥ २२ ॥

तदनु क्रकचो हतान् स्वकीयानरुजांश्च द्विजपुङ्गवानुदीक्ष्य।
अतिमात्रविदूयमानचेता यतिराजस्य समीपमाप भूयः ॥२३॥

क्रकच ने जब देखा कि उसके अनुयायी तो नष्ट हो गये परन्तु ब्राह्मणों का बाल भी बाँका नहीं हुआ तब उसके चित्त को बड़ा खेद हुआ और वह यतिराज के पास फिर आया ॥ २३ ॥

कुमताश्रय पश्य मे प्रभावं फलमाप्स्यस्यधुनैव कर्मणोऽस्य।
इति हस्ततले दधत्कपालं क्षणमध्यायदसौ निमील्य नेत्रे ॥२४॥

"हे दुर्बुद्धे! मेरा प्रभाव देखो; तुम्हें अपनी करनी का फल अवश्य मिलेगा।" इतना कहकर उसने अपनी हथेली पर एक नर मुण्ड रक्खा और नेत्रों को बन्द कर ध्यान करने लगा ॥ २४ ॥

सुरया परिपूरितं कपालं झटिति ध्यायति भैरवागमज्ञे।
स निपीय तदर्धमर्धमस्या निदधार स्मरति स्म भैरवं च ॥२५॥

वह भैरव तन्त्र का प्रकाण्ड पण्डित था। ध्यान करने के अनन्तर शराब से भरे हुई आधी खोपड़ी को वह पी गया और आधी शराब रहने दी और फिर भैरव का ध्यान करने लगा ॥ २५ ॥

अथ मर्त्यशिरःकपालमाली ज्वलनज्वालजटाछटस्त्रिशूली ।
विकटप्रकटाट्टहासशाली पुरतः प्रादुरभून्महाकपाली ॥ २६ ॥

इतने में उसके सामने नरमुण्ड की माला पहिने हुए, हाथ में त्रिशूल लिये, विकट अट्टहास करते हुए, आग की लपट के समान लाल लाल जटावाले महाकपाली भैरव प्रकट हो गये ॥ २६ ॥

तव भक्तजनद्रुहं दृशा संजहि देवेति कपालिना नियुक्तः ।
कथमात्मनि मेऽपराध्यसीति क्रकचस्यैव शिरो जहार रुष्टः ॥२७॥

उन्हें देखकर क्रकच ने कहा कि हे देव! आपके भक्तजन से द्रोह करनेवाले इस शङ्कर को दृष्टि मात्र से मार डालो। यह सुनकर भैरव ने कहा कि यह शङ्कर तो मेरे अवतार हैं। क्या तुम मेरे ही शरीर से द्रोह करते हो? इतना कहकर भैरव ने क्रकच के सिर को काट डाला ॥२७॥

यमिनामृषभेण संस्तुतः सन्नयमन्तर्धिमवाप देववर्यः ।
अखिलेऽपि खिले कुले खलानाममुमानर्चुरलं द्विजाः प्रहृष्टाः ॥२८॥

यतिराज शङ्कर ने भैरव की स्तुति की। भैरव अन्तर्ध्यान हो गये। दुष्टों के नष्ट हो जाने पर ब्राह्मणों ने आनन्दित होकर शङ्कर की पूजा की २८

यतिराडथ तेषु तेषु देशेष्विति पाषण्डपरान् द्विजान्विमथ्नन् ।
अपरान्तमहार्णवोपकण्ठं प्रतिपेदे प्रतिवादिदर्पहन्ता ॥ २९ ॥

इस प्रकार आचार्य ने भिन्न-भिन्न देशों में पाखण्डी ब्राह्मणों का नाश किया। अनन्तर प्रतिवादियों के अभिमान को चूर करने के लिये वे पश्चिम समुद्र के पास पहुँचे ॥ २९ ॥

विललास चलत्तरङ्गहस्तैर्नदराजोऽभिनयन्निगूढमर्थम् ।
अवधीरितदुन्दुभिस्वनेन प्रतिवादीव महान्महारवेण ॥ ३० ॥

जिस प्रकार कोई प्रतिवादी गूढ़ अर्थ को प्रकट करता हुआ शास्त्रार्थ में गरजता है उसी प्रकार समुद्र चञ्चल तरङ्ग रूपी हाथों से दुन्दुभि की आवाज़ को तिरस्कृत करनेवाले गर्जन से किसी गम्भीर अर्थ को प्रकट करता हुआ सुशोभित हो रहा था ॥ ३० ॥

बहुलभ्रमवानयं जडात्मा सुमनोभिर्मथितश्च पूर्वमेव ।
इति सिन्धुमुपेक्ष्य स क्षमावानिव गोकर्णमुदारधीः प्रतस्थे ॥३१॥

यह समुद्र जड़ है, इसमें अनेक भँवरें (भ्रम) उठती हैं, देवताओं ने पहले इसका मन्थन कर लिया है; इसलिये आचार्य ने समुद्र की उपेक्षा की और गोकर्ण की ओर चले ॥ ३१ ॥

अवगाह्य सरित्पतिं स तत्र प्रियमासाद्य तुषारशैलपुत्र्याः ।
स्तवसत्तममद्भुतार्थचित्रं रचयामास भुजंगवृत्तरम्यम् ॥ ३२ ॥

शङ्कर ने समुद्र में स्नान किया और पार्वती-वल्लभ शिव की बड़ी सुन्दर स्तुति भुजङ्गप्रयात छन्द में की ॥ ३२ ॥

टिप्पणी—शिवभुजङ्ग—यह चालीस पद्यों का स्तोत्र 'शिवभुजङ्ग' के नाम से प्रसिद्ध है और नितान्त मञ्जुल है। इसके एक दो श्लोक नीचे दिये जाते हैं:—

स्वसेवासमायातदेवासुरेन्द्रानमन्मौलिमन्दारमालाभिषक्तम् ।
नमस्यामि शम्भो पदाम्भोरुहं ते भवाम्भोधिपोतं भवानीविभाव्यम् ॥
त्वदन्यः शरण्यः प्रपन्नस्य नेति प्रसीद स्मरन्नेव हन्यास्तु दैन्यम् ।
न चेत्ते भवेद् भक्तवात्सल्यहानिस्ततो मे दयालो सदा सन्निधेहि ॥
अयं दानकालस्त्वहं दानपात्रं भवानेव दाता त्वदन्यं न याचे ।
भवद्भक्तिमेव स्थिरां देहि मह्यं कृपाशील ! शम्भो कृतार्थोऽस्मि तस्मात् ॥

तदनन्तरमागमान्तविद्यां प्रणतेभ्यः प्रतिपादयन्तमेनम् ।
हरदत्तसमाह्वयोऽधिगम्य स्वगुरुं संगिरते स्म नीलकण्ठम् ॥३३॥

अनन्तर आचार्य जब अपने शिष्यों को वेदान्त पढ़ा रहे थे तब हरदत्त नामक एक विद्वान् अपने गुरु नीलकण्ठ के पास गया और उनसे कहने लगा—॥ ३३ ॥

शैव नीलकण्ठ

भगवन्निह शङ्कराभिधानो यतिरागत्य जिगीषुरार्यपादान्।
स्ववशीकृतभट्टमण्डनादिः सह शिष्यैर्गिरिशालये समास्ते ॥३४॥

हे भगवन्! आपको जीतने के लिये शङ्कर नामक एक यति आये हैं। उन्होंने कुमारिलभट्ट तथा मण्डन आदि अनेक विद्वानों को जीत लिया है। वे अपने शिष्यों के साथ शिवालय में ठहरे हुए हैं॥ ३४॥

इति तद्वचनं निशम्य सम्यग्ग्रथितानेकनिबन्धरत्नहारः।
शिवतत्परसूत्रभाष्यकर्ता प्रहसन् वाचमुवाच शैववर्यः॥ ३५॥

नीलकण्ठ अपने पाण्डित्य के लिये बड़े प्रसिद्ध थे। इन्होंने केवल अनेक निबन्धों की ही रचना नहीं की थी बल्कि ब्रह्मसूत्र के ऊपर शिव-परक भाष्य भी बनाया था। इस बात को सुनकर शैवों में श्रेष्ठ नीलकण्ठ हँसते हुए बोले॥ ३५॥

टिप्पणी—नीलकण्ठ—वेदान्तसूत्रों पर श्रीकण्ठाचार्य के द्वारा विरचित 'श्रीकण्ठभाष्य' है जिसमें शिवपरक व्याख्या की गई है। कुछ विद्वानों की सम्मति में 'श्रीकण्ठ' का ही दूसरा नाम 'नीलकण्ठ' था। कुछ लोग नीलकण्ठ को श्रीकण्ठ का नामान्तर न मानकर भिन्न आचार्य मानते हैं। परन्तु एक बात की ओर ध्यान देना आवश्यक है। नीलकण्ठ के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त पक्का द्वैतवाद है, परन्तु श्रीकण्ठ का सिद्धान्त विशिष्टाद्वैतवाद है। रामानुज के मत से यही भेद है कि जहाँ रामानुज ईश्वर को नारायण कहते हैं, वहाँ श्रीकण्ठ उन्हें 'शिव' बतलाते हैं। दार्शनिक दृष्टि में किसी प्रकार का भेद नहीं है।

सरितां पतिमेष शोषयेद्वा सवितारं वियतः प्रपातयेद्वा।
पटवत् सुरवर्त्म वेष्टयेद्वा विजये नैव तथापि मे समर्थः॥ ३६॥

नीलकण्ठ—यह समुद्र को सुखा सकते हैं, सूर्य को आकाश से गिरा सकते हैं, कपड़े की तरह आकाश को घेर सकते हैं तथापि ये मुझे नहीं जीत सकते॥ ३६॥

परपक्षतमिस्रचण्डचण्डकैर्मम तर्कैर्बहुधा विशीर्यमाणम् ।
अधुनैव मतं निजं स पश्यत्विति जल्पन्निरगादनल्पकोपः ॥३७॥

मैं परपक्ष रूपी अन्धकार के भेदन करने में सूर्य के समान प्रतापशाली अपने तर्कों से उनके मत को अभी छिन्न-भिन्न कर दूँगा। यह कहते हुए वह क्रुद्ध होकर बाहर आये ॥ ३७ ॥

सितभूतितरङ्गिताखिलाङ्गैः स्फुटरुद्राक्षकलापकम्रकण्ठैः ।
परिवीतमधीतशैवशास्त्रैर्मुनिरायान्तममुं ददर्श शिष्यैः ॥ ३८ ॥

उनके शिष्यों के शरीर सफ़ेद भस्म से मानो तरङ्गित हो रहे थे। गले में रुद्राक्ष की कमनीय मालाएँ लटक रही थीं। इन्होंने शैवशास्त्र का गाढ़ मनन किया था। ऐसे विद्यार्थियों से घिरे हुए नीलकण्ठ को आचार्य ने अपनी ओर आते हुए देखा ॥ ३८ ॥

अधिगत्य महर्षिसंनिकर्षं कविरातिष्ठिपदात्मपक्षमेषः ।
शुकतातकृतात्मशास्त्रतः प्राक्कपिलाचार्य इवाऽऽत्मशास्त्रमद्धा ॥३९॥

शङ्कर के पास आकर उसने अपने मत की स्थापना उसी प्रकार की जिस प्रकार शुकदेव के पिता वेदव्यास के द्वारा ब्रह्मसूत्र की रचना के पहले आचार्य कपिल ने अपने शास्त्र की स्थापना की थी ॥ ३९ ॥

भगवन् क्षणमात्रमीक्ष्यतां तत्प्रथमं तु स्फुरदुक्तिपाटवं मे ।
इति देशिकपुंगवं निवार्य व्यवदत्तेन सुरेश्वरः सुधीशः ॥ ४० ॥

हे भगवन् ! आप क्षण मात्र मेरी युक्ति की पटुता देखिए। इस तरह से आचार्य को रोककर सुरेश्वर नीलकण्ठ से शास्त्रार्थ करने लगे ॥४०॥

शङ्कर और नीलकण्ठ का शास्त्रार्थ

[नीलकण्ठ द्वैतवादी शैव हैं। उनकी आध्यात्मिक दृष्टि द्वैतवाद की है। आचार्य के अद्वैतमत का खण्डन उन्होंने अनेक युक्तियों से किया, परन्तु शङ्कर ने उनका खण्डन अनेक प्रमाणों से कर अपने मत की प्रतिष्ठा की ।]

सुमते तव कौशलं विजाने स्वयमेवैष मुनिः प्रतिब्रवीतु ।
इति तं विनिवर्त्य नीलकण्ठो यतिकण्ठीरवसंमुखस्तदाऽऽसीत् ४१

हे विद्वन्! मैं तुम्हारे कौशल को जानता हूँ। यह तुम्हारे गुरु ही मेरे प्रश्नों का उत्तर दें। इस प्रकार नीलकण्ठ ने सुरेश्वर को रोका और आचार्य शङ्कर के सामने आया ॥ ४१ ॥

परपक्षबिसावलीमरालैर्वचनैस्तस्य मतं चखण्ड दण्डी ।
अथ नीलगलः स्वपक्षरक्षां जहदद्वैतमपाकरिष्णुरूचे ॥ ४२ ॥

शङ्कर ने परपक्ष के खण्डन करनेवाले वचनों से उसके मत का खण्डन कर दिया। इस पर नीलकण्ठ ने अपने मत की रक्षा न करते हुए अद्वैत का खण्डन आरम्भ किया ॥ ४२ ॥

नीलकण्ठ का पूर्वपक्ष

प्रशमिंस्तदसीति यस्त्रयीकैः कथितोऽर्थः स न युज्यते त्वदिष्टः ।
अभिदा तिमिरप्रकाशयोः किं घटते हन्त विरुद्धधर्मवत्त्वात् ॥४३॥

नीलकण्ठ—हे स्वामिन्! उपनिषद् का जो 'तत्त्वमसि' वाक्य है उसका आपने जीवन और ईश्वर की एकतापरक अर्थ बतलाया है। परन्तु यह अर्थ किसी प्रकार भी उपयुक्त नहीं होता। जीव और ईश्वर में परस्पर-विरोधी धर्म रहते हैं। ऐसी दशा में दोनों की एकता किसी प्रकार से भी नहीं घटती। क्या कभी प्रकाश और अन्धकार में अभिन्नता मानी जा सकती है? ॥ ४३ ॥

रवितत्प्रतिबिम्बयोरिवाभिद्घ घटतामित्यपि तत्त्वतो न वाच्यम् ।
मुकुरे प्रतिबिम्बितस्य मिथ्यात्वगतेर्व्योमशिवादिदेशिकोक्त्या ४४

यह कहना भी ठीक नहीं है कि जिस प्रकार सूर्य और उसके प्रतिबिम्बों में अभिन्नता है उसी प्रकार की अभिन्नता जीव और ईश्वर में भी है। आचार्य व्योमशिव के अनुसार दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख नितान्त असत्य है। अतः दोनों में अभिन्नता नहीं हो सकती ॥ ४४ ॥

टिप्पणी—व्योमशिव आचार्य—वैशेषिक दर्शन के एक विशिष्ट आचार्य थे। टीकाकार का यह कथन कि ये पाशुमत के आचार्य थे, विश्वास योग्य नहीं है क्योंकि इनके ग्रन्थ में पाशुपत-मत के सिद्धान्तों का खण्डन किया गया है। ये शैव-सिद्धान्त के माननेवाले थे। इन्होंने प्रशस्तपाद भाष्य की व्योमवती नामक टीका लिखी है। उदयनाचार्य ने किरणावली में "आचार्याः" कहकर तथा राजशेखर ने न्यायकन्दली की टीका में भाष्य के टीकाकारों में इन्हीं का नाम सबसे पहले उल्लिखित किया है। ये दशम शतक से पूर्व ही विद्यमान थे। प्रतिबिम्ब के विषय में जिस मत का उल्लेख इस श्लोक में है वह उनकी व्योमवती में नहीं है।

मुकुरस्थमुखस्य बिम्बवक्त्राद्भिदया पार्श्वगलोकलोकनेन।
प्रतिबिम्बितमाननं मृषा स्यादिति भावत्कमतानुगोक्तिका च ४५

दर्पण में प्रतिबिम्बित होनेवाला मुख बिम्ब-मुख से सचमुच भिन्न है, यह केवल मेरा ही मत नहीं है किन्तु आपके अनुयायी लोगों का कथन भी यही है। इसका मुख्य कारण यह है कि पास खड़े होनेवाले लोग दर्पण में प्रतिबिम्बित मुख को असली मुख से भिन्न ही अनुभव करते हैं। इसलिये प्रतिबिम्बित मुख असत्य है, यह मत आपको भी सम्मत है ॥ ४५ ॥

न च मायिकजीवनिष्ठमौढ्येश्वरसार्वज्ञविरुद्धधर्मबाधात्।
उभयोरपि चित्स्वरूपताया अविशेषादभिदैव वास्तवीति ॥४६॥

जीव अल्पज्ञ है तथा ईश्वर सर्वज्ञ है, ये दोनों (मूढ़ता तथा सर्वज्ञता) गुण मायाजनित होने से मायिक हैं। ये परस्पर विरुद्ध होने से बाधित हैं। यही कारण है कि जीव और ईश्वर में इन बाधित विरुद्ध धर्मों को छोड़ देने पर उनका चैतन्य रूप ही शेष रह जाता है जो वस्तुतः समान होने के कारण से एकरूप ही है। अतः जीव और ब्रह्म की अभिन्नता (एकता) ही वास्तविक है। यह वेदान्त मत यथार्थ नहीं है ॥ ४६ ॥

न हि मानशतैः स्थितस्य बाधाऽपरथा दत्तजलाञ्जलिर्भिदा स्यात्।
विपरीतहयत्वगोत्वबाधाद्धयपश्वोर्निजरूपकैक्ययुक्त्या ॥ ४७ ॥

जो बात सैकड़ों प्रमाणों से सिद्ध की गई है उसका बाध कथमपि नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्म के धर्मों की भिन्नता और विरुद्धता प्रत्यक्षादि अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। ऐसी दशा में वे कथमपि बाधित नहीं हो सकते। और बाध न होने के कारण उन्हें मायिक कहना भी नितरां अनुचित है। ऐसी दशा में भी यदि बाध स्वीकार किया जायेगा तो जगत् से भेद को सदा के लिये बिदाई ही देनी पड़ेगी। उदाहरण के लिये गो और अश्व पर विचार कीजिए। इन दोनों में रहते हैं दो विरुद्ध धर्म 'गोत्व' और 'अश्वत्व'। इन विरुद्ध धर्मों को यदि बाधित माना जायेगा तो अश्व और गो के स्वरूप में एकत्व होने लगेगा। जिन पदार्थों को हम प्रत्यक्ष रूप से भिन्न पाते हैं उनमें भी इस रीति से हमें बाध्य होकर अभिन्नता माननी पड़ेगी। इस प्रकार व्यावहारिक जगत् में नाना प्रकार के अनर्थों के होने की सम्भावना उपस्थित हो जाती है। अतः अद्वैतवाद की युक्ति नितान्त अग्राह्य है ॥ ४७ ॥

यदि मानगतस्य हानमिष्टं न भवेत्तर्हि न चेश्वरोऽहमस्मि ।
इति मानगतस्य जीवसर्वेश्वरभेदस्य न हानमप्यभीष्टम् ॥४८॥

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा अवगत वस्तु का त्याग अभीष्ट नहीं है तो जीव और ईश्वर के परस्पर भेद का त्याग भी कथमपि अभीष्ट नहीं हो सकता। क्योंकि यह भेद प्रत्यक्ष सिद्ध है। प्रत्येक व्यक्ति का यह निजी अनुभव है कि मैं ईश्वर नहीं हूँ। अतः प्रत्यक्ष अनुभव के द्वारा जिस भेद को प्रत्येक व्यक्ति सिद्ध कर रहा है भला उसका अपलाप कथमपि किया जा सकता है? अतः प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा सिद्ध होने के कारण जीव और ब्रह्म में भेद ही है। अभेद का लेश भी नहीं है ॥४८॥

इति युक्तिशतैः स नीलकण्ठः कविरक्षोभयदद्वितीयपक्षम् ।
निगमान्तवचः प्रकाश्यमानं कलभः पद्मवनं यथा प्रफुल्लम् ॥४९॥

इस प्रकार नीलकण्ठ ने सैकड़ों युक्तियाँ देकर उपनिषद् के वचनों के द्वारा प्रकाशित किये गये अद्वैत मत का उसी प्रकार खण्डन किया जिस प्रकार हाथी का बच्चा खिले हुए कमल-वन को छिन्न-भिन्न कर देता है ४९

अथ नीलगलोक्तदोषजालो भगवानेवमवोचदस्तु कामम् ।
शृणु तत्त्वमसीति संप्रदायश्रुतिवाक्यस्य परावरेऽभिसंधिम् ॥५०॥

नीलकण्ठ के दोषों को सुनकर आचार्य ने कहना शुरू किया—'तत्त्वमसि' वाक्य का ब्रह्म में क्या अभिप्राय है ? इसको मैं सम्प्रदाय के अनुसार कहता हूँ, सुनिए ॥ ५० ॥

शङ्कर का सिद्धान्त-पक्ष

ननु वाच्यगंता विरुद्धताधीरिह सोऽसावितिवद्विरोधहाने ।
अविरोधि तु वाच्यमाददैक्यं पदयुग्मं स्फुटमाह को विरोधः ॥५१

जिस प्रकार 'सोऽयं' इस वाक्य में वाच्य अर्थ के विचार करने पर ही विरोध दिखलाई पड़ता है, परन्तु लक्ष्यार्थ में किसी प्रकार विरोध नहीं है, 'तत्त्वमसि' वाक्य की भी ठीक यही दशा है। वाच्य अर्थ में विरोध है परन्तु लक्ष्यार्थ में अविरोध ॥ ५१ ॥

टिप्पणी—भागवृत्ति लक्षणा के लिए द्रष्टव्य ३५६ पृष्ठ पर दी गई टिप्पणी।

यदिहोक्तमतिप्रसञ्जनं भो न भवेन्नो हि गवाश्वयोः प्रमाणम् ।
अभिदाघटकं तयोर्यतः स्यादुभयोर्लक्षणयाऽभिदानुभूतिः ॥५२॥

इस पर आपने जो अति प्रसङ्ग होने का दोष दिखलाया है, वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता, क्योंकि 'गो' और 'अश्व' में अभिन्नता बतलानेवाला प्रमाण कोई भी नहीं है। परन्तु ब्रह्म और जीव की एकता बतलानेवाला तो स्वयं उपनिषद् का तत्त्वमसि वाक्य ही है। ऐसी दशा में गो और अश्व में लक्षणा के द्वारा अभेद होने का अवसर ही नहीं मिलता। अतः आपका उक्त दोष निराधार है ॥ ५२ ॥

ननु मौढ्यसमस्तवित्त्वधर्मान्वितजीवेश्वररूपतोऽतिरिक्तम् ।
उभयोः परिनिष्ठितं स्वरूपं बत नास्त्येव यतोऽत्र लक्षणा स्यात्५३

नीलकण्ठ—जीव सदा अल्पज्ञता से मण्डित है और ईश्वर सर्वज्ञता, धर्म से सदा अन्वित है। इस स्वरूप को छोड़कर जीव और ईश्वर

का कोई स्वभावसिद्ध अन्यरूप विद्यमान ही नहीं है। अतः वाच्य अर्थ को छोड़कर लक्षणा करने का प्रसङ्ग ही नहीं आता। इससे भाग-वृत्ति लक्षणा मानना नितान्त अनुचित है ॥ ५३ ॥

इति चेन्न समीक्ष्यमाणजीवेश्वररूपस्य च कल्पितत्वयुक्त्या ।
तदधिष्ठितसत्यवस्तुनोऽद्धा नियमेनैव सदाऽभ्युपेयतायाः ॥५४॥

शङ्कर—यह आपका कथन बिलकुल ठीक नहीं है। जीव और ईश्वर का जो स्वरूप हमारे अनुभव में आता है वह उसी प्रकार कल्पित है जिस प्रकार रजत में दिखलाई देनेवाला शुक्ति का रूप। दृश्य होने से ये दोनों कल्पित हैं। इनका जो अधिष्ठान है वही वस्तु वास्तविक है, सत्य है। शुक्ति का अधिष्ठान रूप जिस प्रकार रजत ही सत्य है उसी प्रकार मूढ़ता तथा सर्वज्ञता का अधिष्ठान-रूप चैतन्य ही वस्तुतः सत्य है। अतः जीव और ईश्वर का इस कल्पित रूप से पृथक् एक सत्य-स्वरूप है। इसे आपको मानना ही पड़ेगा ॥ ५४ ॥

भवताऽपि तथा हि दृश्यदेहाद्यहमन्तस्य जडत्वमभ्युपेयम् ।
परिशिष्टमुपेयमेकरूपं ननु किंचिद्धि तदेव तस्य रूपम् ॥ ५५ ॥

यह अद्वैत वेदान्त का ही सिद्धान्त नहीं है। आप भी इसे मानते हैं। आप भी अहङ्कार से युक्त इस दृश्य देह को जड़ ही मानते हैं। इसको छोड़कर जीव का परिशिष्ट रूप जो कुछ है वही उसका सत्य-रूप है। यह तो आपको मानना ही पड़ेगा ॥ ५५ ॥

जगतोऽसत एवमेव युक्त्या त्वनिरूप्यत्वत एव कल्पितत्वात् ।
तदधिष्ठितभूतरूपमेष्यं ननु किंचिद्धि तदीश्वरस्य सत्यम् ॥५६॥

इसी युक्ति से अनिर्वचनीय होने के कारण यह जगत् भी कल्पित है। इस जगत् का अधिष्ठानभूत ईश्वर का जो स्वरूप है वही सच्चा है। इसे तो मानना ही पड़ेगा ॥ ५६ ॥

तदिह श्रुतिगोभयस्वरूपे निरुपाधौ न हि मौढ्यसर्ववित्त्वे ।
न जपाकुसुमात्तलोहितिम्नः स्फटिके स्यान्निरुपाधिके प्रसक्तिः॥५७

जीव और ब्रह्म का जो उपाधि-रहित स्वाभाविक रूप है उसका प्रतिपादन श्रुति स्वयं करती है। उस रूप में मूढ़ता और सर्वज्ञता का निवास नहीं है। स्फटिक स्वभाव से ही उज्ज्वल तथा स्वच्छ होता है। जपाकुसुम के पास रखने पर उसमें लालिमा अवश्य आ जाती है, परन्तु यह लालिमा उपाधिजन्य होने से स्फटिक के शुद्ध रूप में दिखलाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार मूढ़ता तथा सर्वज्ञता जीव और ब्रह्म के शुद्ध रूप में दृष्टिगोचर नहीं होती॥ ५७॥

अपि भेदधियो यथार्थतायां न भयं भेददृशः श्रुतिर्ब्रवीतु ।
विपरीतदृशो ह्यनर्थयोगो न भिदाधीर्विपरीतधीर्यतः स्यात् ॥५८॥

जो लोग भेद-ज्ञान की यथार्थता को नहीं मानते हैं (अर्थात् अद्वैतवाद के अनुयायी हैं) उनके विषय में श्रुति कहती है कि उन्हें किसी वस्तु से भय नहीं होता और उससे विपरीत ज्ञान रखनेवाले पुरुषों के लिये अनेक प्रकार के अनर्थ उत्पन्न होते हैं। भेद-ज्ञान ही विपरीत-ज्ञान है। जो पुरुष भेद-ज्ञानी है उसे ही भय होता है तथा वही अनर्थ को प्राप्त करता है। अतः भेद-ज्ञान विपरीत-ज्ञान होने के कारण नितरां हेय तथा अग्राह्य है॥ ५८॥

टिप्पणी—द्वैतवाद के विषय में स्पष्ट श्रुति है कि जो मनुष्य इस जगत् में भेद देखता है वह सदा जन्म-मरण के चक्कर में पड़ा करता है—मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति (कठ उपनिषद ४। १०) अतः उपनिषद द्वैतवाद को अग्राह्य तथा अनिष्टकारक बताता है। इसी श्रुति के आधार पर आचार्य की यह युक्ति है।

अभिदा श्रुतिगाऽप्यतात्त्विकी चेत् पुरुषार्थश्रवणं न तद्गतौ स्यात् ॥
अशिवोऽहमिति भ्रमस्य शास्त्राद्विधुमानत्वगतेरिवास्ति बाधः॥५९॥

श्रुति के द्वारा प्रतिपादित अभेदवाद अयथार्थ नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा होता तो अभेद के ज्ञान होने पर पुरुषार्थ के उत्पन्न होने की बात नहीं सुनी जाती। परन्तु श्रुति का स्पष्ट कथन है कि एकत्व के ज्ञान रखनेवाले पुरुष के लिये शोक और मोह का एकदम अभाव हो जाता है (तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः; ईशावास्य ७); अतः इस प्रकार अभेद-ज्ञान होने पर पुरुषार्थ की उत्पत्ति होती है। मैं ईश्वर नहीं हूँ, यह बुद्धि भ्रमरूप है जो शास्त्र के द्वारा बाधित होती है। अतः श्रुति-प्रतिपादित अभेद वास्तविक है। इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥५९॥

तदबाधितकल्पनाक्षतिर्नो श्रुतिसिद्धात्मपरैक्यबुद्धिबाधः।
निगमात् प्रबलं विलोक्यते माकरणं येन तदीरितस्य बाधः ॥६०॥

आत्मा और ब्रह्म का ऐक्य-ज्ञान श्रुति के द्वारा प्रतिपादित है। यह ज्ञान किसी भी ज्ञान के द्वारा बाधित नहीं होता। क्या श्रुति से कोई प्रबल प्रमाण होता है जिससे श्रुति-प्रतिपादित सिद्धान्त को बाधित माना जाय? कहने का अभिप्राय यह है कि श्रुति ही सबसे प्रबल प्रमाण है। और वह जब अद्वैतवाद को स्पष्ट प्रमाणित कर रही है, तब उस सिद्धान्त के बाधित होने का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता ॥ ६० ॥

ऋषिभिर्बहुधा परात्मतत्त्वं पुरुषार्थस्य च तत्त्वमप्यथोक्तम्।
तदपास्य निरूपितप्रकारो भवताऽसौ कथमेक एव धार्यः ॥६१॥

नीलकण्ठ—कपिल, कणाद आदि अनेक ऋषियों ने परमात्म-तत्त्व की अनेक प्रकार से व्याख्या की है तथा पुरुषार्थ के रहस्य को भी अनेक प्रकार से बतलाया है। इन सब ऋषियों का अभिप्राय द्वैतवाद में ही है। इन ऋषियों के मतों को छोड़कर आप एक ही प्रकार के सिद्धान्त को मानने के लिये क्यों उद्यत हो रहे हैं? ॥ ६१ ॥

प्रबलश्रुतिमानतो विरोधे बलहीनस्मृतिवाच एव नेयाः।
इति नीतिबलात्त्रयीविरुद्धं न ऋषीणां वचनं प्रमात्वमीयात् ॥६२

शङ्कर—मीमांसा का यह सिद्धान्त है कि प्रबल श्रुति-प्रमाण से विरुद्ध होने पर स्मृति-वाक्य दुर्बल होता है।] अतः वह स्वीकार्य नहीं होता। इस नीति के बल पर ऋषियों का जो वचन वेद के विरुद्ध हो वह प्रमाण-कोटि में कैसे आ सकता है ? ॥ ६२ ॥

टिप्पणी—श्रुति और स्मृति के बलाबल के विषय में जैमिनि का यह प्रधान सिद्धान्त है कि श्रुति जो प्रतिपादित करती है वही प्रमाण है। उसके अतिरिक्त कोई भी वस्तु प्रमाण नहीं मानी जा सकती। (धर्मस्य शब्दमूलत्वादशब्दमनपेक्ष्यं स्यात्—जैमिनि सूत्र १।३।१) जो स्मृतियाँ श्रुति के अनुकूल हों वे हमारे लिए मान्य हैं। परन्तु यदि स्मृति-वाक्य श्रुति से विरुद्ध पड़ता हो तो वह कथमपि माननीय नहीं है। (विरोधे त्वनपेक्ष्यं स्यात्, असति ह्यनुमानम्—जैमिनिसूत्र १।३।३) इसी सिद्धान्त को लेकर आचार्य ने अपना पक्ष पुष्ट किया है।

ननु युक्तियुतं महर्षिवाक्यं श्रुतिवद् ग्राह्यतमं परं तथा हि।
प्रतिदेहमसौ विभिन्न आत्मा सुखदुःखादिविचित्रतावलोकात्॥६३॥

नीलकण्ठ—यह आपका कथन यथार्थ नहीं है। महर्षियों का जो वचन युक्तियुक्त हो वह श्रुति के समान ही हमारे ग्रहण के योग्य है। ऐसे वाक्यों का हम लोग तिरस्कार नहीं कर सकते। न्याय तथा सांख्य दोनों आत्मा को प्रति-शरीर में भिन्न मानते हैं यह सिद्धान्त युक्तियुक्त है क्योंकि सचमुच हम लोग आत्मा में सुखदुःखादि नाना विचित्रताओं का अनुभव करते हैं ॥ ६३ ॥

यदि चाऽऽत्मन एकता तदानीमतिदुःखी युवराजसौख्यमीयात्।
अमुकः ससुखोऽमुकस्तु दुःखीत्यनुभूतिर्न भवेत्तयोरभेदात् ॥६४॥

यदि आत्मा एक ही होता तो अत्यन्त दुःखी निर्धन पुरुष युवराज के अतुल सौख्य को प्राप्त करता। दुःखी और सुखी के अभेद होने से अमुक पुरुष सुखी है और अमुक पुरुष दुःखी है यह अनुभव ही संसार में नहीं होता। परन्तु यह अनुभव होता है। अतः ऋषियों का पूर्वोक्त वचन अनुभव के द्वारा पुष्ट होने से हमारे लिये सर्वदा मान्य है ॥ ६४ ॥

अयमेव विदन्वितश्च कर्ता न हि कर्तृत्वमचेतनस्य दृष्टम् ।
अत एव भुजेर्भवेत्स कर्ता परभोक्तृत्वमतिप्रसङ्गदुष्टम् ॥ ६५ ॥

आत्मा अकर्ता है तथा अचेतन अन्तःकरणादिकों में कर्तृत्वशक्ति है। यह वेदान्त का मत नितान्त अयुक्त है क्योंकि ज्ञान से अन्वित चेतन ही पदार्थ कर्ता हो सकता है। अचेतन में कर्तृत्व की शक्ति नहीं देखी गई। अतएव आत्मा ही भोग करने का भी कर्ता होगा अर्थात् आत्मा ही भोक्ता है। यदि कर्ता से अतिरिक्त को भोक्ता माना जायेगा तब तो देवदत्त के द्वारा किये गये कर्मों के फलों के भोगने का अवसर यज्ञदत्त के लिये हो जायगा। अतः जो कर्ता है वही भोक्ता है यह सिद्धान्त सच्चा है ॥ ६५ ॥

पुरुषार्थ इहैष दुःखनाशः सकलस्यापि सुखस्य दुःखयुक्तवात् ।
अतिहेयतया पुमर्थता नो विषपृक्तान्नवदित्यभेद्ययुक्तेः ॥ ६६ ॥

समस्त दुःखों का नाश होना ही पुरुषार्थ है। अर्थात् मोक्ष में आनन्द की अनुभूति नहीं रहती। केवल दुःखों का ही अभाव रहता है। संसार के समस्त सुख दुःख से युक्त हैं। अतः मोक्ष सुखरूप नहीं हो सकता। जिस प्रकार विष से मिला हुआ अन्न हमारे लिये त्याज्य है, उसी प्रकार से दुःख से मिला हुआ सुख भी नितान्त हेय है। अतः मुक्ति को आनन्द-रूप मानना यह वेदान्त-सिद्धान्त निन्दनीय है ॥ ६६ ॥

इति चेन्न सुखादिचित्रताया मनसो धर्मतयाऽऽत्मभेदकत्वम् ।
न कथंचन युज्यते पुनः सा घटयेत् प्रत्युत मानसीयभेदम् ॥६७॥

शङ्कर—सुख-दुःख आदि की विचित्रता मन का धर्म है। अतः वह आत्मा को किसी प्रकार भिन्न सिद्ध नहीं कर सकती। वह विचित्रता तो इतना ही बतलाती है कि मन एक दूसरे से भिन्न होता है ॥ ६७ ॥

चितियोगविशेष एव देहे कृतिमत्ताघटकोऽप्यचेतने स्यात् ।
तदभावत एव कर्तृता स्यान्न तृणादेरिति कल्पनं वरीयः ॥६८॥

देह अचेतन है। वह चैतन्य के साथ युक्त होकर ही किसी कार्य के करने में समर्थ होता है। यह कथन युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता। चैतन्य के योग न होने से तृण आदि अचेतन पदार्थों में कर्तृता नहीं रहती। इसी सिद्धान्त को मानना श्रुति के अनुकूल होने से श्रेष्ठ है॥ ६८॥

विषयोत्थसुखस्य दुःखयुक्त्वेऽप्यलयं ब्रह्मसुखं न दुःखयुक्तम्।
पुरुषार्थतया तदेव गम्यं न पुनस्तुच्छकदुःखनाशमात्रम् ॥ ६९ ॥

आनन्दरूप मोक्ष का खण्डन भी यथार्थ नहीं है। विषय से उत्पन्न सुख ही दुःखयुक्त होता है। ब्रह्मसुख नाशरहित है। वह कथमपि दुःख के साथ मिश्रित नहीं हो सकता। श्रुति ने स्पष्ट कहा है—आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन (तैतरीय उप० २।४।१) अर्थात् ब्रह्म के आनन्द को जाननेवाला पुरुष किसी से भी नहीं डरता। अतः ब्रह्म-प्राप्ति आनन्दरूप है इसमें सन्देह नहीं। इसे पुरुषार्थ मानना चाहिए। तुच्छ दुःख का केवल नाश पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता॥ ६९॥

टिप्पणी—मोक्ष के विषय में भारतीय दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। मधुसूदन सरस्वती ने "वेदान्त-कल्पलतिका" में इन मतों का संक्षेप में वर्णन तथा खण्डन कर वेदान्त-सम्मत मोक्ष का सुन्दर निरूपण किया है। कुछ दार्शनिक लोग दुःख के आत्यन्तिक नाश को ही मोक्ष बतलाते हैं परन्तु वेदान्त-मत में मुक्तावस्था में आनन्द की उपलब्धि होती है—औपनिषदास्तु भगवता नीलाचलनायकेन नारायणेनानुगृहीता निरतिशयानन्दबोधरूप आत्मैवा-नाद्यविद्यानिवृत्त्युपलक्षितो मोक्ष इत्याचक्षते।—वेदान्तकल्पलतिका पृष्ठ ६।

इति युक्तिशतोपबृंहितार्थैर्वचनैः श्रुत्यवरोधसौविदल्लैः।
यतिरात्ममतं प्रसाध्य शैवं परकृद्दर्शनदारुणैरजैषीत् ॥ ७० ॥

शङ्कर ने इस प्रकार श्रुति के अर्थ को प्रतिपादन करनेवाले, सैकड़ों युक्तियों से मण्डित, वचनों के द्वारा अपने मत का समर्थन किया और शैव मत को जीत लिया ॥ ७० ॥

विजितो यतिभूभृता स शैवः सह गर्वेण विसृज्य च स्वभाष्यम् ।
शरणं प्रतिपेदिवान् महर्षिं हरदत्तप्रमुखैः सहाऽऽत्मशिष्यैः ॥७१॥

यतिराज के हाथ से जीते जाने पर नीलकण्ठ अपने भाष्य को फेंककर। हरदत्त आदि प्रमुख शिष्यों के साथ आचार्य के शरण में आया ॥ ७१ ॥

यमिनामृषभेण नीलकण्ठं जितमाकर्ण्य मनीषिधुर्यवर्यम् ।
सहसोदयनादयः कवीन्द्राः परमद्वैतमुषश्चकम्पिरे स्म ॥ ७२ ॥

जब उदयन आदि विद्वानों ने यह सुना कि नीलकण्ठ जैसे मनस्वी विद्वान् को यतिराज ने शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया है तब वे लोग भय के मारे काँप उठे ॥ ७२ ॥

टिप्पणी—उदयनाचार्य मिथिला के नितान्त प्रसिद्ध नैयायिक थे। इन्होंने बौद्ध मत के खण्डन करने के लिये तथा न्याय मत के मण्डन के लिये अनेक ग्रन्थों की रचना की जिनमें न्यायवार्तिकतात्पर्यपरिशुद्धि, कुसुमाञ्जलि, आत्मतत्त्वविवेक, किरणावली और न्यायपरिशिष्ट मुख्य हैं।

द्वारका

विषयेषु वितत्य नैजभाष्याण्यथ सौराष्ट्रमुखेषु तत्र तत्र ।
बहुधा विबुधैः प्रशस्यमानो भगवान् द्वारवतीं पुरीं विवेश ॥७३॥

सौराष्ट्र आदि देशों में शङ्कर ने अपने भाष्य का चारों ओर प्रचार कर दिया। अनन्तर विद्वानों के द्वारा प्रशंसित होकर वे द्वारका पुरी में गये ॥ ७३ ॥

भुजयोरतितप्तशङ्खचक्राकृतिलोहाहृतसंभृतव्रणाङ्काः ।
शरदण्डसहोदरोर्ध्वपुण्ड्रास्तुलसीपर्णसनाथकर्णदेशाः ॥ ७४ ॥

शतशः समवेत्य पाञ्चरात्रास्त्वमृतं पञ्चभिदाविदां वदन्तः ।
मुनिशिष्यवरैरतिप्रगल्भैर्मृगराजैरिव कुञ्जराः प्रभग्नाः ॥ ७५ ॥

द्वारकापुरी में उस समय पाञ्चरात्र सम्प्रदाय के अनुयायियों की प्रधानता थी। पाञ्चरात्र लोग अपनी भुजाओं पर शङ्ख, चक्र की तप्त-मुद्राओं का चिह्न धारण करते थे। माथे पर दण्ड के समान ऊर्ध्व-पुण्ड्र विराजमान था और कानों के ऊपर तुलसी का पत्ता सुशोभित था। ये लोग इस बात का प्रतिपादन करनेवाले थे कि पाँच प्रकार के भेदों को माननेवालों की मुक्ति होती है। पाँच प्रकार के भेद ये हैं :—१. जीव-ईश्वर-भेद, २. जीवों का परस्पर भेद, ३. जीव और जड़ में भेद, ४. ईश्वर और जड़ में भेद, ५. जड़ पदार्थों में परस्पर भेद।

ये पाञ्चरात्र लोग सैकड़ों की संख्या में आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने लगे, परन्तु जिस प्रकार सिंह हाथियों को मार भगाता है उसी प्रकार आचार्य के प्रगल्भ शिष्यों ने इन्हें हराकर भगा दिया ॥ ७४-७५ ॥

टिप्पणी—**पाञ्चरात्र**—वैष्णव आगमों को पाञ्चरात्र कहते हैं। पाञ्चरात्र का अर्थ भिन्न-भिन्न किया गया है। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार 'रात्र' शब्द का अर्थ है ज्ञान—रात्रं च ज्ञानवचनम्, ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्। (नारदपाञ्चरात्र १ । ४४)। परम तत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा संसार इन पाँच विषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम पाञ्चरात्र पड़ा है। अहिर्बुध्न्य-संहिता (११ । ६४) भी इस अर्थ की पुष्टि करती है। पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम भागवत या सात्वत है। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में इस तन्त्र का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है। १०८ संहिताएँ मिलती हैं जो इस तन्त्र से सम्बद्ध हैं। उनमें से बहुत ही कम अब तक प्रकाशित हुई

हैं। अहिर्बुध्न्यसंहिता, ईश्वरसंहिता, जयाख्यसंहिता, विष्णुसंहिता आदि इनमें मुख्य हैं। इन संहिताओं के विषय चार हैं—(१) ज्ञान—ब्रह्म, जीव तथा जगत् के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा सृष्टि-तत्त्व का निरूपण। (२) योग—मुक्ति के साधनभूत योग तथा उसकी, प्रक्रियाओं का वर्णन। (३) क्रिया—देवालयों का निर्माण, मूर्ति की स्थापना आदि। (४) चर्या—दैनिक क्रिया, मूर्तियों और यन्त्रों का पूजन आदि।

चतुर्व्यूह का सिद्धान्त पाञ्चरात्र की अपनी विशेषता है। इस मत के अनुसार वासुदेव इस जगत् के ईश्वर हैं। उन्हीं से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है। संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे अनिरुद्ध (अहङ्कार) की उत्पत्ति होती है। भगवान् के उभयभाव—निर्गुण और सगुण—स्वीकृत किये गये हैं। नारायण निर्गुण होकर भी सगुण हैं। ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य तथा तेज ये ६ गुण भगवान् के विग्रह हैं। भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम लक्ष्मी है जिनके दो रूप होते हैं—(१) क्रियाशक्ति, (२) भूतशक्ति। जगत् के मङ्गल के लिये भगवान् अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार तथा (४) अन्तर्यामी। जीव स्वभावतः सर्वशक्ति-शाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ है। परन्तु सृष्टि-काल में भगवान् की तिरोधान-शक्ति (माया या अविद्या) जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्व तथा सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है जिससे जीव अणु, किञ्चित्कर, किञ्चिज्ज्ञ बन जाता है। इन्हीं अणुत्वादि को 'मल' कहते हैं। भगवान् की कृपा से जीव का उद्धार होता है और उस कृपा के पाने का उपाय है शरणागति जो छः प्रकार की होती है। यह मत जीव और ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु यह विवर्तवाद को न मानकर परिणामवाद का पक्षपाती है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत इसी आगम पर अवलम्बित है। पाञ्चरात्र के श्रुति-संमत होने के लिये देखिए—श्री यामुनाचार्य का "आगमप्रामाण्य" तथा वेदान्त-देशिक का "पाञ्चरात्ररक्षा"। इस मत के खण्डन के लिये द्रष्टव्य—ब्रह्मसूत्र (२।२।४२—४५) पर शाङ्करभाष्य।

उज्जयिनी

इति वैष्णवशैवशाक्तसौरप्रमुखानात्मवशंवदान् विधाय ।
अतिवेलवचोझरीनिरस्तप्रतिवाद्युज्जयिनीं पुरीमयासीत् ॥७६॥

इस प्रकार आचार्य ने वैष्णव, शैव, शाक्त, सौर (सूर्योपासक) आदि मतानुयायियों को अपना भक्त बना लिया। अपनी युक्तियों से वादियों को परास्त कर वे उज्जयिनी पुरी में गये ॥ ७६ ॥

सपदि प्रतिनादितः पयोदस्वनशङ्काकुलगेहकेकिजालैः ।
शशभृन्मुकुटार्हणामृदङ्गध्वनिरश्रूयत तत्र मूर्छिताशः ॥ ७७ ॥

उस नगरी में भगवान् महाकाल नामक शिवलिङ्ग की पूजा-अर्चा होती है। आचार्य के नगरी में प्रवेश करते ही महाकाल की पूजा के अवसर पर बजनेवाले मृदङ्गों की ध्वनि सुनाई पड़ी। वह ध्वनि इतनी गम्भीर और मांसल थी कि मेघों की गर्जना की शङ्का से घर में रहनेवाले मोर भी आवाज़ करने लगे ॥ ७७ ॥

मकरध्वजविद्विडाप्तिविद्वाञ्श्रमहृत्पुष्पसुगन्धवन्मरुद्भिः ।
अगरूद्भवधूपधूपिताशं स महाकालनिवेशनं विवेश ॥ ७८ ॥

तब शिव की प्राप्ति के उपाय जाननेवाले आचार्य ने महाकाल के मन्दिर में प्रवेश किया, जहाँ पर फूलों की सुगन्ध से सनी हुई हवा थकावट को बरबस दूर कर रही थी तथा अगुरु के जलाने की सुगन्धि चारों दिशाओं को व्याप्त कर रही थी ॥ ७८ ॥

भगवानभिवन्द्य चन्द्रमौलिं मुनिवृन्दैरभिवन्द्यपादपद्मः ।
श्रमहारिणि मण्डपे मनोज्ञे स विशश्राम विस्त्वरप्रभावः ॥७९॥

शङ्कर ने चन्द्रमौलि को प्रणाम किया और थकावट को दूर करनेवाले सुन्दर मण्डप में विश्राम किया ॥ ७९ ॥

कवये कथयास्मदीयवार्तामिह सौम्येति स भट्टभास्कराय ।
विससर्ज वशंवदाग्रगण्यं मुनिरभ्यर्णगतं सनन्दनार्यम् ॥ ८० ॥

विश्राम कर आचार्य ने अपने पार्श्ववर्ती, शिष्यों में अग्रणी, सनन्दन को यह कहकर भेजा कि हे सौम्य! इसी नगरी में भट्टभास्कर नामक एक विशेष विद्वान् रहते हैं। उनके पास जाओ और मेरे आने की बात उन्हें कह सुनाओ ॥ ८० ॥

भट्टभास्कर

अभिरूपकुलावतंसभूतं बहुधाव्याकृतसर्ववेदराशिम् ।
तमयत्ननिरस्तदुःसपत्नं प्रतिपद्येत्थमुवाच वावदूकः ॥ ८१ ॥

भट्टभास्कर ब्राह्मण-वंश के अवतंस थे। उन्होंने सब वेद-मन्त्रों की व्याख्या लिखी थी। शत्रुओं को परास्त करना तो उनके बायें हाथ का खेल था। ऐसे विशिष्ट विद्वान् के पास जाकर पद्मपाद कहने लगे ८१

जयति स्म दिगन्तगीतकीर्तिर्भगवाञ्शंकरयोगिचक्रवर्ती ।
प्रथयन् परमाद्वितीयतत्त्वं शमयंस्तत्परिपन्थिवादिदर्पम् ॥ ८२ ॥

पद्मपाद—दिगन्तों में अपनी कीर्ति फैलानेवाले, योगियों के चक्रवर्ती शङ्कर आज इस नगरी में पधारे हैं। उन्होंने शत्रुओं का दर्प दलन कर दिया है तथा अपने अद्वैत मत का चारों तरफ़ विस्तार कर दिया है। (वे आपसे भेंट करना चाहते हैं) ॥ ८२ ॥

स जगाद बुधाग्रणीर्भवन्तं कुमतोत्प्रेक्षितसूत्रवृत्तिजालम् ।
अभिभूय वयं त्रयीशिखानां समवादिष्म परावरेऽभिसंधिम् ॥८३॥

उस पण्डित-शिरोमणि ने मेरे मुख से आपके लिये यह सन्देशा भेजा है कि हमने कुत्सित मतवालों के द्वारा लिखी गई सूत्र-वृत्तियों का खण्डन करके वेदान्त का अभिप्राय ब्रह्म में है, यह दिखलाया है ॥ ८३ ॥

तदिदं परिगृह्यतां मनीषिन् मनसाऽऽलोच्य निरस्य दुर्मतं स्वम् ।
अथवाऽस्मदुदग्रतर्कवज्रप्रतिघातात् परिरक्ष्यतां स्वपक्षः ॥ ८४ ॥

हे मनीषी! अपने दुष्ट मत को दूर कर इस सिद्धान्त को ग्रहण कीजिए अथवा मेरे उग्र तर्कों के वज्र-प्रहार से अपने पक्ष की रक्षा कीजिए ॥ ८४ ॥

इति तामवहेलपूर्ववर्णां गिरमाकर्ण्य तदा स लब्धवर्णः ।
यशसां निधिरीषदात्तरोषस्तमुवाच प्रहसन् यतीन्द्रशिष्यम् ॥८५॥

भट्टभास्कर ने यह अवहेलना से भरी वाणी सुनी। वे स्वयं एक प्रसिद्ध दार्शनिक थे और अपने सिद्धान्तों को प्रतिष्ठित कर उन्होंने खूब यश कमाया था। यह बात सुनते ही क्रुद्ध होकर हँसते हुए पद्मपाद से बोले ॥ ८५ ॥

ध्रुवमेष न शुश्रुवानुदन्तं मम दुर्वादिवचस्ततीर्नुदन्तम् ।
परकीर्तिबिसाङ्कुरानदन्तं विदुषां मूर्धसु नानटत्पदं तम् ॥८६॥

भट्टभास्कर—जान पड़ता है कि तुम्हारे गुरु ने मेरी कीर्ति नहीं सुनी है। मैंने दुर्वादियों के तर्कों का खण्डन कर दिया है। दूसरों को कीर्ति-रूपी बिस (मृणाल) के अङ्कुर को उखाड़कर मैंने खा डाला है। विद्वानों के सिर पर मैंने अपना पैर रख दिया है ॥ ८६ ॥

मम वल्गति सूक्तिगुम्फवृन्दे कणभुग्जल्पितमल्पतामुपैति ।
कपिलस्य पलायते प्रलापः सुधियां कैव कथाऽधुनातनानाम् ८७

सूक्तियाँ जब मेरे मुँह से निकलती हैं तब कणाद की कल्पना क्षुद्र मालूम पड़ती है और कपिल का प्रलाप भाग खड़ा होता है। जब प्राचीन आचार्यों की यह दशा है, तब आजकल के विद्वानों की गणना ही क्या है ? ॥ ८७ ॥

इति वादिनमब्रवीत् सनन्दः कुशलोऽथैनमविज्ञ माऽवमंस्थाः ।
न हि दारितभूधरोऽपि टङ्कः प्रभवेद्व वज्रमणिप्रभेदनाय ॥८८॥

इन वचनों को सुनकर सनन्दन ने कहा कि आप आचार्य की अवहेलना मत कीजिए। टङ्क पहाड़ को तोड़ देने पर भी वज्रमणि को तोड़ने में कभी समर्थ नहीं हो सकता है। आपने अनेक वादियों को अवश्य परास्त किया है, परन्तु शङ्कर वज्रमणि के समान आपके लिये दुर्भेद्य हैं ॥ ८८ ॥

स तमेवमुदीर्य तीर्थकीर्तेरुपकण्ठं प्रतिपद्य सद्विदग्रचः ।
सकलं तदवोचदानुपूर्व्या स महात्माऽपि यतीशमाससाद ॥८९॥

इतना कहकर पद्मपाद आचार्य के पास आये और सब बातों को ठीक-ठीक कह सुनाया। इतने में भास्कर भी यतिराज के पास आ पहुँचा ॥ ८९ ॥

भट्टभास्कर और शङ्कर का शास्त्रार्थ

अथ भास्करमस्करिप्रवीरौ बहुधाक्षेपसमर्थनप्रवीणौ ।
बहुभिर्वचनैरुदारवृत्तैर्व्यदधातां विजयैषिणौ विवादम् ॥ ९० ॥

इसके अनन्तर नाना प्रकार के आक्षेप और समर्थन में निपुण जयाभिलाषी भास्कर और यतिराज शङ्कर ने पद्यात्मक वचनों से शास्त्रार्थ करना आरम्भ किया ॥ ९० ॥

अनयोरतिचित्रशब्दशय्यां दधतोर्दुर्नयभेदशक्तयुक्त्योः ।
पटुवादमृधेऽन्तरं तटस्थाः श्रुतवन्तोऽपि न किंचनान्वविन्दन् ॥९१

अत्यन्त विचित्र शब्द-शय्या को धारण करनेवाले इन दोनों आचार्यों की उक्तियाँ दुष्टमत के भेदन करने में नितान्त समर्थ थीं। इन दोनों के बीच में अब शास्त्रार्थ का संग्राम छिड़ गया। तटस्थ लोगों ने इनके कथन को अच्छी तरह से सुना परन्तु दोनों के बीच किसी प्रकार के अन्तर को वे न जान सके ॥ ९१ ॥

अथ तस्य यतिः समीक्ष्य दाक्ष्यं निजपक्षाब्जशरज्जडाब्जभूतम् ।
बहुधाऽऽक्षिपदस्य पक्षमार्यो विबुधानां पुरतोऽप्रभातकक्ष्यम् ॥९२

यतिराज शङ्कर ने उनकी निपुणता देखकर उनके पक्ष को अनेक प्रकार से खण्डन करना शुरू किया। जिस प्रकार चन्द्रमा के सामने कमल मुकुलित हो जाता है उसी प्रकार अद्वैत पक्ष के सामने भास्कर का पक्ष विदलित हो गया और पण्डितों के आगे उसमें कोटि-कल्पना का नितान्त अभाव हो गया ॥ ९२ ॥

अथ भास्करवित्स्वपक्षगुप्त्यै विधुतो वाग्मिवरः प्रगल्भयुक्त्या।
श्रुतिशीर्षवचःप्रकाश्यमेवं कविरद्वैतमपाकरिष्णुरूचे ॥ ९३ ॥

इसके अनन्तर प्रौढ़ युक्तियों से तिरस्कृत होकर विद्वान् भास्कर ने उपनिषद् के मन्त्रों के द्वारा प्रकाशित किये जानेवाले अद्वैत-तत्त्व का खण्डन करना शुरू किया ॥ ९३ ॥

प्रशमिंस्त्वदुदीरितं न युक्तं प्रकृतिर्जीवपरात्मभेदिकेति।
न भिनत्ति हि जीवगेशगा वोभयभावस्य तदुत्तरोद्भवत्वात् ॥९४॥

भास्कर—हे संन्यासिन्! आपका कहना यह ठीक नहीं है कि माया जीव और ब्रह्म में भेद उत्पन्न करती है। वेदान्त का यह कथन कि जीव और ब्रह्म वस्तुतः अभिन्न है, माया ही उन दोनों में भेद पैदा करती है, उचित नहीं प्रतीत होता। वह माया न तो जीव का आश्रय लेकर भेद उत्पन्न करती है और न ब्रह्म का आश्रय लेकर। क्योंकि ये दोनों भाव अर्थात् जीव-भाव और ईश्वर-भाव प्रकृति के उत्पन्न होने के अनन्तर उत्पन्न होनेवाले हैं। ऐसी दशा में माया के उत्पत्ति-काल में न तो जीव-भाव ही रहता है, न ईश्वर-भाव, जिसका आश्रय लेकर वह भेद उत्पन्न करती है ॥ ९४ ॥

टिप्पणी—माया के स्वरूप का वर्णन करते समय नृसिंह-उत्तरतापिनी उपनिषद का कहना है कि माया जीव और ईश को आभास से पैदा करती है और स्वयं वह माया और अविद्या के रूप में परिणत होती है। अतः जीव और ईश की कल्पना माया के अनन्तर होती है—जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या च स्वयमेव भवति—नृसिंह उत्तरतापिनी खण्ड ६।

मुनिरेवमिहोत्तरं बभाषे मुकुरो वा प्रतिबिम्बबिम्बभेदी।
कथमीरय वक्त्रमात्रगश्चेच्चितिमात्राश्रिदियं तथेति तुल्यम् ॥९५॥

शङ्कर—इस कथन को सुनकर आचार्य ने उत्तर देना शुरू किया—लोक में दर्पण बिम्ब और प्रतिबिम्ब में भेद बतलाता है। वह दर्पण

बिम्बगत है या प्रतिबिम्बगत है ? यदि मुख मात्र का आश्रय लेकर दर्पण भेद बतलाता है तो उसी प्रकार चैतन्यमात्र (ब्रह्म) का आश्रय लेकर माया भी भेद बतलाती है। इस विषय में माया और दर्पण का उदाहरण अत्यन्त समान है ॥ ९५ ॥

चितिमात्रगतप्रकृत्युपाधेर्जहतो बिम्बपरात्मपक्षपातम् ।
प्रतिबिम्बितजीवपक्षपातो मुकुरस्येव विरुध्यते न जातु ॥ ९६ ॥

यदि यह मत ठीक है, तो माया ब्रह्म में सुखदुःखादि भावों को क्यों नहीं उत्पन्न करती है ? जीव ही में इन भावों को क्यों उत्पन्न करती है ? इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का कहना यह है कि मुख के सामने रक्खे जाने पर भी दर्पण मुख में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न करता। बल्कि वह प्रतिबिम्ब में ही मलिनता आदि विकारों को पैदा करता है, इस प्रकार यहाँ भी चैतन्यमात्र में रहनेवाली मायारूपी उपाधि बिम्बभूत परमात्मा में अपना पक्षपात छोड़ देती है और प्रतिबिम्बरूप जीव में ही सुखदुःखादि भावनाओं को प्रकट करती है। दर्पण के समान माया का यह आचरण किसी प्रकार विरुद्ध नहीं कहा जा सकता ॥ ९६ ॥

अविकारिनिरस्तसङ्गबोधैकरसात्माश्रयता न युज्यतेऽस्याः ।
अत एव विशिष्टसंश्रितत्वं प्रकृतेः स्यादिति नापि शङ्कनीयम् ॥९७॥

परन्तु यह माया विकारिणी और अज्ञान-रूपा है। उसका अविकारी, असङ्ग, ज्ञान-रूप ब्रह्म का आश्रय लेना विरुद्ध होने के कारण युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। अतएव वह प्रकृति अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य अर्थात् जीव का आश्रय लेकर ही रहती है। प्रकृति के दो ही आश्रय हैं—ब्रह्म अथवा जीव— ज्ञानरूप ब्रह्म में अज्ञानरूपा माया का आश्रय यदि नहीं है तो वह जीव का आश्रय लेकर रहती है। इस बात की भी शङ्का करना उचित नहीं है ॥ ९७ ॥

न हि मानकथां विशिष्टगत्वे भवदापादित ईक्षते तथा हि ।
अहमज्ञ इति प्रतीतिरेषा न हि मानत्वमिहाश्नुते तथा चेत् ॥९८॥

विशिष्ट का आश्रय लेकर माया रहती है, आपके इस कथन में कोई प्रमाण नहीं दिखलाई पड़ता। मैं अज्ञ हूँ (अहमज्ञः) यह प्रतीति लोक में अवश्य होती है। इस प्रतीति का यह अर्थ है कि अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य में (अर्थात् जीव में) अज्ञान का आश्रय रहता है। इस प्रकार अज्ञान का विशिष्ट में आश्रय रहता है यह प्रतीति प्रमाण-युक्त नहीं है। यदि यह बात मान ली जाय तो भी पूर्व कथन की सिद्धि नहीं होती ॥ ९८ ॥

अनुभव्यहमित्यपि प्रतीतेरनुभूतेश्च विशिष्टनिष्ठता स्यात् ।
अजडानुभवस्य नो जडान्तःकरणस्थत्वमितीष्टता न तस्याः ॥९९॥

जगत् की यह प्रतीति है कि मैं अनुभवी हूँ। इस प्रतीति में अनुभव अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य का अर्थात् 'अहं' पद से प्रतिपादित जीव का आश्रय लेकर रहता है। परन्तु ऐसा होना यथार्थ नहीं है। अनुभव (ज्ञान) अजड़ है, चैतन्यरूप है और उधर अन्तःकरण जड़रूप है। अजड़ पदार्थ की स्थिति जड़ पदार्थ में बतलाना उचित नहीं है। इसलिये अनुभूति जड़ अन्तःकरण में नहीं रहती। इसी प्रकार प्रकृति भी अन्तः-करण-विशिष्ट चैतन्य का आश्रय लेकर जीव और ब्रह्म की भेदिका नहीं बन सकती ॥ ९९ ॥

ननु दाहकता यथाऽग्नियोगादधिकूटं व्यपदिश्यते तथैव ।
अनुभूतिमदात्मयोगतोऽन्तःकरणे सा व्यपदिश्यतेऽनुभूतिः १००

भास्कर—आपका यह कथन मुझे यथार्थ नहीं प्रतीत होता। दाह-शक्ति अग्नि में ही रहती है परन्तु उसी अग्नि के संयोग से लोह-पिण्ड में दाहकता-शक्ति आरोपित की जाती है। उसी प्रकार आत्मा ही अनुभव करता है। परन्तु अनुभव से युक्त आत्मा के साथ योग होने के कारण

अन्तःकरण में उस अनुभव का आरोप भली भाँति किया जा सकता है। अतः अन्तःकरण को अनुभूति का आश्रय न मानना किसी प्रकार युक्ति से पुष्ट नहीं किया जा सकता ॥ १०० ॥

इति चेन्नैवमिहापि तस्य मायाश्रयचिन्मात्रयुते तथोपचारः ।
न पुनस्तदुपाधियोगतोऽन्तःकरणस्येति समाऽन्यथागतिर्हि ।१०१।

आचार्य—ऐसा कथन यदि माना जायगा तो 'मैं अज्ञ हूँ' (अहमज्ञः) इस अनुभव में माया का आश्रयभूत जो चैतन्य उससे युक्त होनेवाले अन्तःकरण में अज्ञान का उपचार हो सकता है, परन्तु चिन्मात्र की उपाधिरूपा माया के योग से अन्तःकरण में अज्ञान का उपचार नहीं हो सकता है। अन्यथा दोनों की गति समान ही है ॥ १०१ ॥

न च तत्र हि बाधकस्य सत्त्वादियमस्तु प्रकृतेर्न साऽस्त्यबाधात् ।
इति वाच्यमिहापि तज्जचित्ते तदुपाश्रित्ययुतेश्च बाधकत्वात्१०२

'अजड़ अनुभव का जड़ अन्तःकरण में आश्रय नहीं हो सकता, इस बाधक के रहने के कारण अनुभूतिमान् आत्मा के योग होने से अन्तः-करण में अनुभूति का आरोप होता है' यह कथन युक्तियुक्त माना जा सकता है। आशय यह है कि बाधक रहने के कारण आत्मा के योग से अन्तःकरण में अनुभव की स्थिति मानी जाती है। प्रकृत पक्ष में अन्तः-करण को माया के आश्रय होने में किसी प्रकार का बाध नहीं है। अतः मायाश्रय चैतन्ययुक्त अन्तःकरण में अज्ञान का उपचार होता है। यह कथन युक्तिपूर्ण नहीं माना जा सकता क्योंकि ज्ञान-जनित चित्त में विद्या के आश्रय का योग न होना ही बाधक है ॥ १०२ ॥

अधिसुप्त्यपि चित्तवर्ति तत्स्याद्यदि चाज्ञानमिदं हृदाश्रितं स्यात् ।
तदिहास्ति न मानमुक्तरीत्या प्रकृतेर्दृश्यविशिष्टनिष्ठतायाम् १०३

यदि अज्ञान चित्त का आश्रित होकर रहेगा तो यह सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा की तृतीय अवस्था) काल में भी चित्तवर्ती बना रहेगा। अतः

प्रकृति दृश्य अन्तःकरण-विशिष्ट चैतन्य-रूप जीव में आश्रित होती है, इस कथन में उक्त प्रकार से कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः माया को अन्तःकरण-विशिष्ट में न मानकर चिद्रूप ब्रह्म में ही मानना नितरां न्याय्य है ॥ १०३ ॥

[भट्टभास्कर का प्रधान लक्ष्य है माया का खण्डन। उनके प्रयत्न का चरम अवसान इसी में है। अब तक कथनोपकथन का सारांश यही है कि प्रकृति को जीवाश्रित मानना ठीक नहीं। वह ब्रह्म में ही आश्रित होकर जीव तथा ईश के परस्पर भेद को बतलाती है।]

ननु न प्रतिबन्धिकैव सुप्ताविति सा दूरत एव चिद्गतेति।
प्रतिबन्धकशून्यता तु सुप्तेः परमात्मैक्यगतेः सतेति वाक्यात् १०४

भट्टभास्कर—सुषुप्ति-काल में जीव-ब्रह्म की एकता का प्रतिबन्ध करनेवाली अविद्या रहती ही नहीं, इस कारण उसे चैतन्याश्रित मानने की बात तो स्वयं ही दूर हो जाती है। सुषुप्ति में अज्ञान का अभाव रहता है, इस विषय में श्रुति का ही प्रमाण है। श्रुति कहती है—सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति (छान्दोग्य ६।८।१) अर्थात् सुषुप्ति में जीव ब्रह्म के साथ एक होने की बात का अनुभव कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय अज्ञान का नितान्त अभाव रहता है ॥१०४॥

न च तत्र च तत्स्थितिप्रतीतिः सति संपद्य विदुर्न हीति वाक्यात्।
श्रुतिगीस्तदधिक्षिपत्यभावप्रतिपत्तेर्न च निह्नवोऽत्र नेति ॥१०५॥

शङ्का—श्रुति कहती है—सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामह इति (छान्दोग्य ६।९।२) अर्थात् परमात्मा के साथ एकता प्राप्त कर लेने पर जीव कुछ भी नहीं जानता। इससे स्पष्ट है कि सुषुप्ति में अज्ञान की प्रतीति होती है।

उत्तर—उक्त श्रुति ज्ञान का केवल निषेध करती है। यहाँ ज्ञान के अभाव की ही प्रतिपत्ति है। श्रुतिवाक्य में 'न' शब्द का प्रयोग यही

सूचित करता है कि यहाँ ज्ञान का निषेध किया गया है। आशय यह है कि यह श्रुति यही बतलाती है कि सुषुप्ति में ज्ञान का अभाव रहता है, 'अज्ञान' की सत्ता नहीं बतलाती। 'अज्ञान' तथा 'ज्ञानाभाव' दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। श्रुति दूसरे की बात बतलाती है, पहले की बात नहीं ॥ १०५ ॥

किमु नित्यमनित्यमेव चैतत् प्रथमो नेह समस्ति युक्त्यभावात् ।
अनिवर्तकसत्त्वतोऽस्य नान्त्यो न हि भिंद्यादविरोधि चित्प्रकाशः १०६

अज्ञान नित्य है या अनित्य ? (१) अज्ञान को नित्य नहीं मान सकते, क्योंकि इसके लिये कोई युक्ति नहीं है। (२) तब उसे अनित्य मानना चाहिए, परन्तु यह पक्ष भी ठीक नहीं जान पड़ता। अज्ञान का निवर्तक (दूर हटानेवाला) कोई पदार्थ रहता, तो उसके द्वारा नष्ट होने पर इसे अनित्य मानते। परन्तु अज्ञान को दूर करनेवाली कोई वस्तु नहीं है।

शङ्का—चित्प्रकाश उसे हटा सकता है या जड़ प्रकाश ?

उत्तर—चित्प्रकाश अविरोधी अज्ञान को हटा नहीं सकता। चित्प्रकाश साक्षी-रूप से सदा अवभासित होता है। उसे अज्ञान के साथ कोई विरोध नहीं है जो वह उसे दूर हटा देगा ॥ १०६ ॥

न च तच्छमयेज्जडप्रकाशोऽप्यविरोधात्सुतरां जडत्वतोऽस्य ।
तदिहाप्रतिबन्धकत्वमस्य प्रभवेत् किंत्विह तद्भ्रमाग्रहादि ।१०७।

शङ्का—तब जड़ प्रकाश अज्ञान को दूर भगा सकता है ?

उत्तर—नहीं, जड़ से जड़ का कभी विरोध नहीं रहता। अज्ञान जड़ है तथा जड़प्रकाश भी जड़ है। अतः दोनों में विरोध न होने से जड़प्रकाश अज्ञान को शान्त नहीं कर सकता। अतः उसे अज्ञान का प्रतिबन्धक नहीं मान सकते। वेदान्त का यह मत कि सकल संसार का बीजभूत अज्ञान तीनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है सिद्ध नहीं होता।

अतः तीनों अवस्थाओं में प्रतिबन्धक भ्रम (मिथ्या ज्ञान) तथा अग्रह (अग्रहण) आदि हैं जिनके कारण चैतन्य का अवभास नहीं होता ॥१०७॥

इति चेदिदमीरय भ्रमः को मनुजोऽहं त्विति शेमुषीति चेन्न ।
अतिविस्मृतिशीलता तवाहो गदितुः सर्वपदार्थसंकरस्य ॥१०८॥

शङ्का—'भ्रम किसे कहते हैं ?' भास्कर—'अहं मनुजः' 'मैं मनुष्य हूँ।' यही ज्ञान भ्रम है क्योंकि यह आत्मा में मनुजत्व धर्म का आरोप बतलाता है जो वस्तुतः अविद्यमान है। शङ्कर—आप तो भेदाभेदवादी हैं; आपकी दृष्टि में सब पदार्थों में किसी अवस्था में भेद रहता है और कभी अभेद। आपकी विस्मरणशीलता विचित्र है। आपके मत में 'भ्रम' नामक पदार्थ विद्यमान ही नहीं है। क्या अपने सिद्धान्त को भी भूल चले ? ॥ १०८ ॥

प्रमितित्वमुपाश्रयन् प्रतीतेरमुकः खण्ड इति स्वशास्त्रसिद्धात् ।
भिदभिद्द्वयगोचरत्वहेतोर्धियमेतां तु किमित्युपेक्षसे त्वम् ॥१०९॥

शङ्कर—सब पदार्थ भेदाभेद-विषयक होते हैं, यह आपके शास्त्र का सिद्धान्त है। 'अयं गौः खण्डः' (यह गाय खण्ड है) इस वाक्य में खण्ड गाय से भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। इस वाक्य का आप प्रमाण मानते हैं। ठीक इसी प्रकार 'अहं मनुजः' यह वाक्य भी भेदाभेद का विषय होकर प्रमाण-कोटि में आवेगा। यह भ्रम न होगा ॥ १०९ ॥

अनुमानमिदं तथा च सिद्धं विमता धीः प्रमितिर्भिदाभिदत्वात् ।
इह चारु निदर्शनं भवेत् सा तव खण्डोऽयमिति प्रतीतिरेषा ११०

आपके लिये अनुमान का रूप होगा—अहं मनुज इति बुद्धिः प्रमाणं, भिन्नाभिन्नविषयत्वात्, खण्डोयऽमितिवत् 'मैं मनुष्य हूँ' यह बुद्धि भिन्नाभिन्न विषय होने से प्रमाण मानी जायगी 'खण्डोऽयम्' इस बुद्धि के समान। आशय है कि इस प्रकार के अनुमान के द्वारा भ्रान्त बुद्धि भी प्रमाणरूप ठहरता है, 'भ्रान्ति' न होकर यह 'प्रमिति' है ॥ ११० ॥

[भट्टभास्कर शङ्कर के अनुमान में सत् प्रतिपक्षहेत्वाभास दिखलाकर उसे दूषित बतला रहे हैं—]

ननु संहननात्मधीः प्रमाणं न भवत्येव निषिद्ध्यमानगत्वात् ।
इदमिति प्रतिपन्नरूप्यधीवत् प्रबला सत्प्रतिपक्षतेति चेन्न १११

भास्कर—आपका अनुमान ठीक नहीं है। इसका सत्प्रतिपक्ष हेतु इस प्रकार है—देहात्मशुद्धिः अप्रमाणं निषिध्यमाणविषयत्वात् इदं रजतमिति ज्ञानवत्। 'नाहं मनुजः' इसके अनन्तर ज्ञान होता है 'अहं ब्रह्मास्मि' =मैं ब्रह्म हूँ। इस ज्ञान से पूर्वज्ञान का निषेध हुआ। जिस प्रकार 'इदं रजतं'='यह शुक्ति रजत है' यह ज्ञान निषिध्यमाण होने से अप्रमाण है उसी प्रकार 'नाहं मनुजः' यह भी अप्रमाण है। अतः शंकर का अनुमान ठीक नहीं। अर्थात् पूर्वोक्त बुद्धि भ्रान्ति है, प्रमा नहीं ।१११।

व्यभिचारयुतत्वतोऽस्य खण्डः पशुरित्यत्र तदन्यधीस्थमुण्डे ।
इतरत्र निषिध्यमानखण्डोल्लिखितत्वेन निरुक्तहेतुमत्त्वात् ११२

शङ्कर—आपका हेतु (निषिध्यमाणविषयत्वात्) व्यभिचारी है अतः मेरे अनुमान को दूषित नहीं कर सकता। 'खण्डः पशुः' (यह खण्ड गाय है) इस उदाहरण में खण्ड 'नाय खण्डो गौः किन्तु मुण्डो गौः' (यह खण्ड गाय नहीं है, प्रत्युत मुण्ड गाय है) में मुण्ड में निषिध्यमाण है। अर्थात् जब हम मुण्ड को ही गाय कहते हैं तब वह खण्डरूप नहीं है। अतः खण्ड का निषेध होता है। खण्ड तथा मुण्ड से जिस प्रकार गोत्व का अभेद-ज्ञान होता है उसी प्रकार देह ब्रह्म का जीव से अभेद-ज्ञान भी प्रामाणिक है ॥ ११२ ॥

ननु हेतुरयं विवक्ष्यतेऽत्र प्रतिपन्नोपधिके निषेधगत्वम् ।
इति चेन्न विवक्षितस्य हेतोर्व्यभिचारात् पुनरप्यमुत्र चैव ११३

भास्कर—यहाँ पर मेरा विवक्षित हेतु है—प्रतिपन्नोपधिकत्वे निषिध्यमाणविषयत्वात् अर्थात् प्रतीत वस्तु का जो अधिष्ठान है उसमें निषेध

होना चाहिए। 'इदं रजतम्' यहाँ इदमंश में रजत की प्रतीति होती है, वहीं उसका निषेध होने से यह ज्ञान भ्रम होगा। उसी प्रकार 'नाहं मनुजः' में आत्मा में मनुजत्व का निषेध होने से यह भ्रम ज्ञान है। परन्तु 'खण्डो गौः' उदाहरण में गाय में खण्डत्व का निषेध नहीं होता। अतः यहाँ भ्रम नहीं माना जायगा।

शङ्कर—इस हेतु का भी व्यभिचार दीख पड़ता है ॥ ११३ ॥

ननु गोत्व उपाधिके त्वमुष्य प्रतिपन्नस्य हि तत्र नो निषेधः।
अपि तु प्रथमानमुण्ड इत्यत्र तथा च व्यभिचारिता न हेतोः ११४

भास्कर—'नायं खण्डः किन्तु मुण्डः' इस दृष्टान्त में गोत्व अधिष्ठान में खण्ड की प्रतीति होती है, परन्तु इसका निषेध गोत्व में नहीं होता बल्कि मुण्ड में होता है (मुण्ड को छोड़कर शेष भाग गाय ही है, अतः खण्ड का निषेध गोत्व में नहीं है; मुण्ड में निषेध है, क्योंकि मुण्ड खण्ड से भिन्न है)। अतः मेरे हेतु में व्यभिचार नहीं है ॥ ११४ ॥

इति चेन्न विकल्पनासहत्वात् किमु खण्डस्य तु केवले निषेधः।
उत गोत्वसमन्विते स मुण्डे प्रथमो नो घटते प्रसक्त्यभावात् ११५
न हि जात्वपि खण्डके प्रसक्तः परमुण्डस्त्विति संप्रसक्त्यभावः।
चरमोऽपि न गोत्वयुक्तमुण्डे खलु खण्डस्य निषेधकाल एव ११६
स्वविशेषणभूतगोत्व एव स्फुटमेतस्य निषेधनं श्रुतं स्यात्।
तदिहोदितहेतुसत्त्वतोऽस्य व्यभिचारो दृढवज्रलेप एव ॥११७॥

शङ्कर—यह कथन उपयुक्त नहीं। आपके हेतु के दो पक्ष होते हैं—(१) खण्ड का केवल मुण्ड में निषेध हो सकता है अथवा (२) गोत्वविशिष्ट मुण्ड में निषेध हो सकता है। इसमें पहला पक्ष प्राप्ति के अभाव से युक्त नहीं हो सकता। मुण्ड खण्ड से पृथक् पदार्थ है। अतः मुण्ड की प्राप्ति ही खण्ड में नहीं होती जिससे निषेध का प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता।

द्वितीय पक्ष है खण्ड का गोत्वविशिष्ट मुण्ड में निषेध। जिस समय गोत्वविशिष्ट मुण्ड में खण्ड का निषेध किया जावेगा, उसी समय विशे-

षण्भूत गोत्व में भी उसका निषेध होने लगेगा परन्तु यह तो ठीक नहीं क्योंकि खण्ड वस्तुतः गोरूप ही है। अतः उक्त हेतु के होने पर आपके नये हेतु का भी व्यभिचार है ही। यह व्यभिचार वज्रलेप के समान दृढ़ है। अतः आपका अनुमान कथमपि प्रामाणिक नहीं हो सकता ॥ ११५-११७ ॥

ननु भातितरामुपाधिरत्रादलदेतद्व्यवहर्तृतेति चेन्न।
अहमोऽनुभवेन साधनव्यापकभावादवगत्यनन्तरं च ॥ ११८ ॥

इस अनुमान में 'अनुच्छिन्नैतद्व्यवहारत्व' उपाधि है, यह कहना ठीक नहीं। यह खण्ड गाय नहीं है (नायं खण्डो गौः) इस निषेध-ज्ञान के अनन्तर खण्ड में गाय का व्यवहार देखा जाता है, परन्तु प्रकृत उदाहरण में ब्रह्मसाक्षात्कार के अनन्तर मनुज व्यवहार नहीं होता। अतः साधन में व्यापक होने से यह उपाधि नहीं है, यह प्रतिपादन उचित नहीं। यह उपाधि युक्तियुक्त है। ब्रह्मसाक्षात्कार के बाद भी प्रारब्ध कर्म के अनुरोध से 'मैं मनुष्य हूँ' इस प्रकार का अनुभव बना ही रहता है। अतः साधन व्यापक होने से यह उपाधि ठीक है ॥ ११८ ॥

ननु तद्व्यवहारसंछिदाया इह तत्केन कमित्यनेन मुक्तौ।
श्रुतिवाक्यगतेन संप्रतीतेर्व्यवहर्तुर्न कथं छिदेति चेन्न ॥११९॥

ब्रह्मसाक्षात्कार का वर्णन करते समय श्रुति कहती है—जिस पुरुष का समस्त विश्व ही आत्मस्वरूप बन जाता है तब वह किस इन्द्रिय से किस पदार्थ को देखेगा (यत्रत्वस्य सर्वमात्मैवाभूत तत् केन कं पश्येत्—बृह० उप०)।

अर्थात् मोक्ष में समस्त व्यवहारों का उच्छेद हो जाता है। तब व्यवहर्ता (व्यवहार करनेवाले व्यक्ति) का भी उच्छेद हो ही जाता है। अतः मुक्त दशा में 'अहं मनुजः' की प्रतीति मानना ठीक नहीं ॥ ११९ ॥

तदिदं घटते मतेऽस्मदीये तदबोधोल्लसितत्वतोऽखिलस्य।
तदबोधलये लयोपपत्तेर्जगतः सत्यतया छिदा न ते स्यात् ॥१२०

शङ्कर—श्रुति का यह कथन हमारे अद्वैतमत में ठीक जमता है। यह जगत् ब्रह्म के अज्ञान के कारण विलसित हो रहा है। ब्रह्म के अज्ञान के नष्ट हो जाने पर जगत् का भी लय हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्मज्ञान के समय जगत् की सत्ता नहीं है। इस अद्वैत मत में श्रुति का कथन ठीक जमता है। परन्तु आपके मत में जगत् सत्य है, तब उसका लय कैसे हो सकता है? अतः श्रुति-विरुद्ध होने से भेदाभेद माननीय नहीं है॥ १२०॥

ननु पञ्चसु तु स्थलेषु भेदो ह्यभिदा नो तु शरीरदेहिनोस्ते।
प्रथितस्थलपञ्चकेतरत्वात्फलिता ह्यत्र तथा च हेत्वसिद्धिः॥१२१॥

भिन्नाभिन्नविषयत्व हेतु असिद्ध है। भेदाभेद तो केवल जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, कार्य-कारण, विशिष्टस्वरूप तथा अंशांशी सम्बन्ध जहाँ विद्यमान रहते हैं उन्हीं पाँच स्थानों में होता है। देह-देही इन पाँचों स्थलों से भिन्न पड़ते हैं, अतः यहाँ हेतु ठीक नहीं जमता। अतः असिद्धि नामक हेत्वाभास यहाँ विद्यमान है॥ १२१॥

टिप्पणी—द्रव्य होने के कारण देह-देही में जाति-व्यक्ति तथा गुण-गुणी भाव सम्भव नहीं। देह भौतिक और देही अभौतिक है, अतः दोनों में कार्य-कारण भाव भी नहीं जमता। 'दण्डविशिष्ट चैत्र'—यहाँ दण्ड चैत्र के अधीन है। अतः यहाँ विशिष्ट सम्बन्ध स्वीकृत होता है। परन्तु देह तो देही के अधीन नहीं है। आत्मा की इच्छा के विपरीत भी देह में कार्य दृष्टिगत हो सकते हैं। अतः विशिष्ट सम्बन्ध नहीं है। देही निरवयव द्रव्य है। अतः अंश-अंशीभाव भी नहीं हो सकता। देह-देही के इस प्रकार स्थलपञ्चक से इतर होने से हेतु असिद्ध रहता है।

इति चेन्न विकल्पनासहत्वात्
मिलितानां भिदभेदतन्त्रता किम्।
उत वा पृथगेव तत्र नाऽऽद्यो
मिलिताः पञ्च न हि क्वचिद्यतः स्युः॥१२२॥

चरमोऽपि न युज्यते तदाङ्गा-
ङ्गिकभावस्य च तन्त्रता न किं स्यात् ।
न च योजकगौरवं च दोषः
प्रकृते तस्य तवापि संमतत्वात् ॥ १२३ ॥

यह कथन विकल्पों को नहीं सह सकता । यहाँ दो पक्ष हो सकते हैं—(१) क्या ये पाँचों मिलकर भेदाभेद के प्रयोजक हैं अथवा (२) अलग-अलग । पहला पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि इन पाँचों का एक साथ मिलकर रहना असम्भव है । दूसरा पक्ष भी ठीक नहीं । गुण-गुणी भाव के समान अंगांगीभाव भी भेदाभेद का प्रयोजक क्यों न माना जाय ? नये प्रयोजक की योजना करने का दोष भी नहीं आता । यदि देह-देही में भेदाभेद न माना जायगा, तो आपका मुख्य सिद्धान्त बाधित हो जायगा । अतः यह प्रयोजक भेदाभेदवादी को भी सम्मत है ॥ १२२-१२३ ॥

अपि चान्यतमस्य जातितद्वत्प्रभृतीनां घटकत्व आग्रहश्चेत् ।
अपि सोऽत्र न दुर्लभश्चिदात्माङ्गकयोः कारणकार्यभावभावात्१२४

शङ्कर—यदि आपका आग्रह है कि पूर्वप्रदर्शित जाति-व्यक्ति आदि सम्बन्धों में से ही एक सम्बन्ध भेदाभेद का घटक हो सकता है तो भी वह इस दृष्टान्त में दुर्लभ नहीं है । देह-देही में कार्यकारण भाव विद्यमान है । अतः यहाँ भेदाभेद होना चाहिए ॥ १२४ ॥

न च वाच्यमिदं परात्मजत्वात् सकलस्यापि न जीवकार्यतेति ।
तदभेदत एव सर्वकस्याप्युपपत्तेरिह जीवकार्यतायाः ॥ १२५ ॥

शङ्का—समस्त जगत् परमात्मा से जन्य है—परमात्मा से उत्पन्न हुआ है । अतः परमात्मा भले कारण माना जाय, आत्मा तो इस विश्व का कथमपि कारण नहीं हो सकता ।

उत्तर—आत्मा और परमात्मा में अभेद है । अतः परमात्मा के कार्य को जीव का कार्य बतलाना उपपन्न है । आशय है ब्रह्म से अभिन्न

होने से जीव इस जगत् का कारण हुआ। अतः देह-देही में कार्य-कारण सम्बन्ध उचित है ॥ १२५ ॥

तदसिद्धिमुखानुमानदोषानुदयादुक्तनयस्य निर्मलत्वम् ।
भ्रमधीप्रमितित्ववेदिनोऽतस्तव न भ्रान्तिपदार्थ एव सिध्येत् ॥१२६

शङ्कर—अतः असिद्धि आदि अनुमान-दोषों के न होने से उक्त अनुमान अदुष्ट है—बिल्कुल ठीक है। इस प्रकार आपके मत में भ्रान्ति और प्रमिति (ज्ञान) दोनों एक ही सिद्ध हो जाते हैं। भ्रान्ति की सिद्धि ही आपके मत में कथमपि नहीं हो सकती ॥ १२६ ॥

अपि च भ्रम एष किं तवान्तःकरणस्येति चिदात्मनोऽथवाऽसौ ।
परिणाम इहाऽऽदिमो न तस्याऽऽत्मगतत्वानुभवस्य भङ्गपत्तेः १२७

आपके मत में 'भ्रम' अन्तःकरण का परिणाम है या चिदात्मा का ? यदि भ्रम अन्तःकरण का परिणाम माना जाय, तो वह आत्मा में उत्पन्न नहीं हो सकता। परन्तु भ्रम तो आत्मा में उदित होता है। आत्मा ही भ्रम का आश्रय है। मृत्तिका से उत्पन्न घट तन्तु में आश्रित नहीं रह सकता उसी प्रकार अन्तःकरण का परिणाम-रूप भ्रम आत्मा में नहीं रह सकता ॥ १२७ ॥

ननु रक्ततमप्रसूनयोगात् स्फटिके संस्फुरणं यथाऽरुणिम्नः ।
भ्रमसंयुतचित्तयोगतोऽस्य भ्रमणस्यानुभवस्तथाऽऽत्मनि स्यात्१२८

भास्कर—स्फटिक स्वयं उज्ज्वल है, परन्तु लाल फूल के सम्पर्क से उसमें लालिमा उत्पन्न हो जाती है। भ्रम के ऊपर भी यही नियम लागू है। यह उत्पन्न होता है चित्त में, परन्तु भ्रमयुक्त चित्त के योग से आत्मा में भ्रम का अनुभव होता है। इस विषय में कोई अड़चन नहीं दिखलाई पड़ती ॥ १२८ ॥

इति चेदयमीरयाऽऽत्मयोगो भ्रमणस्याऽऽश्रित एष सन्नसन्वा ।
प्रथमे घटते न संसृजेस्तेऽपरथाख्यातिवदस्य शून्यकत्वात् ॥१२९

शङ्कर—अन्तःकरण से आश्रित भ्रम का आत्मा के साथ सम्बन्ध सत् है या असत्? प्रथम पक्ष (आत्मभ्रमसम्बन्ध) सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्यथा-ख्यातिवादी आपके मत में संसर्ग शून्यरूप है। अतः आत्मा तथा भ्रम का सम्बन्ध अनुचित है ॥ १२९ ॥

चरमोऽपि न युज्यतेऽपरोक्षप्रथनस्यानुपपद्यमानतायाः।
परिणामविशेष आत्मनोऽसौ भ्रम इत्येष न युज्यतेऽन्त्यपक्षः॥१३०।

द्वितीय पक्ष (आत्मा और भ्रम का असम्बन्ध) भी ठीक नहीं। जो वस्तु अपरोक्ष है उसकी उपपत्ति ही कैसी होगी? यदि भ्रम का सम्बन्ध है ही नहीं, तो उसका ज्ञान आत्मा में क्यों होता है? परन्तु होता है वह अवश्य। अतः यह पक्ष उचित नहीं। भ्रम आत्मा का ही परिणाम-विशेष है (श्लोक १२७ का द्वितीय विकल्प) यह पक्ष भी उचित नहीं जान पड़ता ॥ १३० ॥

असभागतयाऽऽत्मनो निरस्तेतरयुक्तेः परिणत्ययोग्यतायाः।
परिणत्ययुजेश्च योग्यतायामपि बुद्ध्याकृतितश्चिदात्मनोऽस्य १३१

इसका कारण स्पष्ट है। आत्मा का इतर पदार्थ के साथ सङ्ग का खण्डन कर दिया गया है। वह असङ्ग है और निरवयव (असभाग) भी है। तब उसमें 'परिणाम' की योग्यता ही नहीं है। परिणामी द्रव्य तो अन्य के साथ सम्बद्ध तथा सावयव होता है। यदि आत्मा में परिणाम की योग्यता विद्यमान भी हो, तो भी वह भ्रम ज्ञान के रूप में परिणाम नहीं पा सकता ॥ १३१ ॥

न हि नित्यचिदाश्रयप्रतीचः परिणामः पुनरन्यचित्स्वरूपः।
गुणयोः समुदायगत्ययोगाद् गुणतावान्तरजातितः सजात्योः१३२

क्योंकि आत्मा नित्य ज्ञान का आश्रय है। जाग्रत् तथा स्वप्न दशाओं की बात क्या कही जाय? सुषुप्ति से उठने के बाद उसे यह ज्ञान होता है—मैं खूब सुख की नींद सोया, मैंने कुछ भी नहीं जाना—इस स्मृति से

पता चलता है कि सुषुप्ति में भी इन्द्रियों के विराम होने पर भी ज्ञान आत्मा में रहता है। अतः वह तीनों अवस्थाओं में ज्ञान का आश्रय है। तब उसमें भ्रमज्ञान का परिणाम कैसे होगा? ज्ञान तथा भ्रम दोनों गुणतारूपी अवान्तर जाति के कारण समान जातिवाले हैं। इन दोनों का उदय युगपत्, समकाल में नहीं हो सकता। यदि ज्ञान नित्य ही आत्मा में बना रहता है, तो उसमें भ्रम कैसे उत्पन्न हो सकता है ॥१३२॥

युगपत् समवैति नो हि शौक्ल्यद्वयकं यत्र च कुत्रचिद् यदेतत् ।
ननु चिन्न गुणो गुणी तथा च प्रसरेन्नोदितदुष्टतेति चेन्न॥१३३॥

देखिए, दो प्रकार की शुक्लता का एक ही स्थान पर एक ही काल में रहना सम्भव नहीं है। यदि यह कहो कि मेरे मत में ज्ञान गुण नहीं, बल्कि गुणी है, अतः उक्त दोष नहीं लग सकता, तो भी यह कथन ठीक नहीं ॥ १३३ ॥

कटकाश्रयभूतदीप्तहेम्नो रुचकाधारकभाववत् तथैव ।
अविनाशिचिदाश्रयस्य भूयोऽन्यचिदाधारतया स्थितेरयोगात्१३४

जिस सुवर्ण का कटक (वलय) बनाया गया हो उसमें कटक का आश्रय है, उस सुवर्ण में 'रुचक' नामक आभूषण के धारण की योग्यता कटक दशा में नहीं रहती। ठीक इसी प्रकार जिस आत्मा में नित्य ज्ञान का आश्रय है उसमें ज्ञानान्तर धारण की योग्यता कहाँ? नित्यज्ञान से आश्रित आत्मा में भ्रम कदापि उत्पन्न नहीं हो सकता ॥ १३४ ॥

न च संस्कृतिरग्रहोऽप्यविद्या भ्रमशब्दार्थनिरुक्त्यसंभवेऽपि ।
भ्रमसंज्ञितवस्त्वसंभवेन भ्रमसंपादितसंस्कृतेरयोगात् ॥ १३५ ॥

शङ्का—भ्रम शब्द के अर्थ की निरुक्ति असम्भव है। तब उसका संस्कार अग्रहण या अविद्या रूप से रहे।

उत्तर—नहीं, जब भ्रम नामक वस्तु ही असम्भव है, तब भ्रम से उत्पन्न संस्कार कैसे हो सकता है?॥ १३५ ॥

अपि नाग्रहणं चितेरभावश्चितिरूपग्रहणस्य नित्यतायाः ।
तदसंभवतो न वृत्त्यभावस्तदभावेऽपि चिदात्मनोऽवभासात् १३६

अग्रहण (किसी पदार्थ का अनुभव न करना) दो प्रकार से सम्भव है—ज्ञान का अभाव अर्थात् आत्मा के स्वरूप का ग्रहण न करना अथवा आगन्तुक का अग्रहण । यदि पहला पक्ष मानें, तो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा में ज्ञान नित्य रहता है अतः चितिरूप ग्रहण सदा विद्यमान रहता है । यदि अग्रहण का अर्थ वृत्तियों का अभाव मानें अर्थात् जब चित्त की वृत्ति बिल्कुल शान्त हो जायगी तब अग्रहण होगा । यह भी अर्थ ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी दशा में भी चैतन्यरूपी आत्मा का स्फुरण होता ही रहता है । तब 'अग्रहण' कैसे होगा ? ॥ १३६ ॥

न च भञ्जकमीक्ष्यते न तस्योपगमे दुःखजडानृतात्मकस्य ।
इति वाच्यमखण्डवृत्तिरूढेश्वरबोधस्य निवर्तकत्वयोगात्॥१३७॥

भट्टभास्कर—दुःख, जड़ तथा अनृतरूप अज्ञान (माया) की सत्ता यदि आत्मा में मानें, तो इसके भञ्जक उपाय न होने से आत्मा को मुक्त होने का अवसर ही न मिलेगा ।

शङ्कर—यह शङ्का ठीक नहीं । 'तत् त्वमसि' वाक्य के द्वारा अखण्डवृत्ति से परब्रह्म का ज्ञान उक्त अज्ञान को दूर कर देता है । तब आत्मा को मोक्ष प्राप्त होता है ॥ १३७ ॥

अपि चेष्टतदन्यहेतुधीजे जगतः कृत्यकृती न ते घटेते ।
सकलव्यवहारसंकरत्वात्तदलं जीवनिकाऽपि दुर्लभा ते ॥१३८॥

शङ्कर—इतना ही नहीं, भेदाभेद मानने पर जगत् का समस्त व्यवहार उच्छिन्न होने लगेगा । लोक में इष्ट-साधनता-ज्ञान से प्रवृत्ति होती है और अनिष्ट-साधनता-ज्ञान से निवृत्ति होती है । परन्तु तुम्हारे मत में सब व्यवहार संकीर्ण होने लगेगा । अतः जीवन चलाना भी दुष्कर हो जायगा । समस्त व्यवहार के मूलोच्छेद होने के कारण भेदाभेद मान्य नहीं है ॥ १३८ ॥

इति युक्तिशतैरमर्त्यकीर्तिः सुमतीन्द्रं तमतन्द्रितं स जित्वा ।
श्रुतिभावविरोधिभावभाजं विमतग्रन्थममन्थरं ममन्थ ॥ १३९ ॥

इस प्रकार अनेक युक्तियों से अमरकीर्ति शङ्कर ने उस उद्योगशील पण्डितश्रेष्ठ भट्टभास्कर को जीतकर उपनिषद् के विरुद्ध अभिप्राय को प्रकट करनेवाले उनके ग्रन्थ का शीघ्र खण्डन कर दिया ॥ १३९ ॥

इति भास्करदुर्मतेऽभिभूते भगवत्पादकथासुधा प्रसस्रे ।
घनवार्षिकवारिवाहजाले विगते शारदचन्द्रचन्द्रिकेव ॥ १४० ॥

इस प्रकार जब भास्कर का दुष्ट मत खण्डित हो गया तब आचार्य की वाणी-रूपी सुधा चारों ओर इसी प्रकार फैली जिस प्रकार वर्षा-कालीन घने मेघों के दूर हो जाने पर शरद्-कालीन चन्द्रमा की चाँदनी चारों ओर चमकने लगती है ॥ १४० ॥

स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाणमयूरदण्डिमुख्यान् ।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान्निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार॥१४१॥

आचार्य ने अवन्ती देश में प्रसिद्ध बाण, मयूर तथा दण्डी आदि विद्वानों के द्वैत-मत-विषयक अभिमान को चूर चूर कर दिया और अपने भाष्य के सुनने के लिये उत्सुक बना दिया ॥ १४१ ॥

प्रतिपद्य तु बाह्लिकान् महर्षौ
विनयिभ्यः प्रविवृण्वति स्वभाष्यम् ।
अवदन्नसहिष्णवः प्रवीणाः
समये केचिदथाऽर्हताभिधाने ॥ १४२ ॥

महर्षि बाह्लीक देश (बैकट्रिया) में गये और अपने विद्यार्थियों के सामने भाष्य की विशद व्याख्या की । उस समय जैनमत में निपुण अद्वैत-मत को न सहनेवाले कुछ विद्वानों ने शङ्कर से इस प्रकार वाद-विवाद किया—॥ १४२ ॥

जैनमत का खण्डन

ननु जीवमजीवमास्रवं च श्रितवत्संवरनिर्जरौ च बन्धः।
अपि मोक्ष उपैषि सप्तसंख्यान्न पदार्थान् कथमेव सप्तभङ्ग्या ।१४३

जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध तथा मोक्ष ये सात पदार्थं जैनमत में गृहीत हैं तथा सप्तभङ्गी नय हम लोगों को स्वीकृत है। क्या कारण है कि आप इन सिद्धान्तों को नहीं मानते ? ॥ १४३ ॥

कथयाऽर्हत जीवमस्तिकायं स्फुटमेवं विध इत्युवाच मौनी ।
अवदत् स च देहतुल्यमानो दृढकर्माष्टकवेष्टितश्च विद्वन् ॥१४४॥

इस पर संन्यासी शङ्कर ने कहा—ऐ जैन मतावलम्बियो ! जीवास्तिकाय का स्वरूप आप बतलाइए। इस पर उन्होंने कहा कि जीव देह के समान परिणामवाला है। जितना ही बड़ा शरीर होगा उतने हो आकार का उसमें निवास करनेवाला जीव भी होगा। ऐ पण्डितवर्य ! यह जीव आठ कर्मों के द्वारा बद्ध रहता है। हमारे दर्शन के अनुसार जीव का यही स्वरूप है ॥ १४४ ॥

टिप्पणी—**कर्म**—जो कर्म जीव को बद्ध किये हुए है वह आठ प्रकार का होता है। 'घाति' कर्म चार प्रकार के होते हैं–(१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) मोहनीय, (४) आन्तराय। 'अघाति' कर्म चार प्रकार का होता है—(१) वेदनीय, (२) नामिक, (३) गोत्रिक, (४) आयुष्क। विशेष विवरण के लिये देखिए तत्त्वार्थसूत्र का नवम अध्याय।

अमहाननणुर्घटादिवत् स्यात् स न नित्योऽपि च मानुषाच्च देहात्
गजदेहमयन्विशेन्न कृत्स्नं प्रविशेच्च प्लुषिदेहमप्यकृत्स्नः ॥१४५॥

शङ्कर—यदि जीव महत्-परिमाण तथा अणु-परिमाण से भिन्न देह के परिणामवाला है तो वह कथमपि नित्य नहीं हो सकता। मध्यम परिणामशाली होने के कारण वह घटादि के समान अनित्य होने लगेगा। दो ही परिणामशाली पदार्थ नित्य हैं—महत् परिमाणशाली तथा अणु-

परिमाणशाली इन दोनों से भिन्न अर्थात् मध्यम परिमाणवाला पदार्थ कथमपि नित्य नहीं होता। जीव की भी वही दशा हो जायेगी। कर्म के वश होकर जब जीव मनुष्य-देह से गजदेह में प्रवेश करेगा तो वह लघुपरिमाण होने के कारण हाथी के सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त न कर सकेगा। यदि वह दीमक (प्लुषि या पुत्तिका) के देह में प्रवेश करेगा तो उस शरीर की अपेक्षा बड़ा होने के कारण जीव को देह के बाहर भी रहने का प्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा॥ १४५॥

उपयान्ति च केचन प्रतीका महता संहननेन संगमेऽस्य।
अपयान्त्यधिजग्मुषोऽल्पदेहं तदयं देहसमः समश्नुतेश्च॥ १४६॥

जैन—बड़े परिमाणवाले शरीर के साथ सङ्गम होने पर जीव के कतिपय अङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं और अल्पदेह से युक्त होने पर कुछ अङ्ग हट जाते हैं। इस प्रकार समान व्याप्ति होने के कारण जीव शरीर के समान ही है। जितना परिमाणवाला शरीर होगा, तत्स्थित जीव भी उतने ही परिमाण का होगा॥ १४६॥

उपयन्त इमे तथाऽपयन्तो यदि वर्ष्मेव न जीवतां भजेयुः।
प्रभवेयुरनात्मनः कथं ते कथमात्मावयवाः प्रयन्तु तस्मिन्॥१४७॥

शङ्कर—यदि ये अवयव कहीं उत्पन्न होंगे और कहीं विनष्ट होंगे तो शरीर के समान ये जीव नहीं हो सकते। और आत्मरहित होने के कारण ये जीव कैसे उत्पन्न होंगे और उस अनात्मा में ये कैसे लीन होंगे॥ १४७॥

जनितारहिताः क्षयेण हीनाः समुपायान्त्यपयान्ति चाऽऽत्मनस्ते।
अमुकोपचितः प्रयाति कृत्स्नं त्वमुकैश्चापचितः प्रयात्यकृत्स्नम्॥१४८॥

जैन—आत्मा के ये अवयव जन्म तथा नाश से रहित हैं। ये नित्य होकर ही कहीं पर उत्पन्न हुआ करते हैं और कहीं हट जाया करते हैं। इस प्रकार जीव कतिपय अवयवों से उपचित होकर वृहदाकार हाथी के

समग्र शरीर को व्याप्त कर लेता है और कतिपय अंगों से हीन होने के कारण वह चींटी आदि क्षुद्र जन्तुओं के अल्प शरीर को भी व्याप्त कर लेता है ॥ १४८ ॥

किमचेतनतोत चेतनत्वं वद तेषां चरमे विरुद्धमत्या ।
वपुरुन्मथितं भवेत्तु वैं बत कात्स्न्येंन वपुर्न चेतयेयुः ॥ १४९ ॥

शङ्कर—यह तो बताइए कि ये अङ्ग चेतन हैं या अचेतन ? यदि चेतन हैं तो एक ही शरीर में बहुत से भिन्न-भिन्न अभिप्रायवाले चेतन पदार्थों की स्थिति के कारण यह शरीर नष्ट होने लगेगा। यदि वे अचेतन हैं तो शरीर में चैतन्य ही उत्पन्न नहीं हो सकेगा ॥ १४९ ॥

चलयन्ति रथं यथैकमत्या बहवो वाजिन एवमप्रतीताः ।
इतरेतरमङ्गमेजयन्तु ज्ञपते ! चेतनतामपि प्रपद्य ॥ १५० ॥

जैन—हे पण्डित-शिरोमणि ! जिस प्रकार बहुत से घोड़े एक मन से रथ को चलाते हैं उसी प्रकार चेतनता को भी प्राप्त कर ये अवयव शरीर को चलावें इसमें आपको क्या विप्रतिपत्ति है ? ॥ १५० ॥

बहवोऽपि नियामकस्य सत्त्वात् सुमते तत्र भजेयुरैकमत्यम् ।
कथमत्र नियामकस्य तद्वद्विरहात् कस्यचिदप्यदो घटेत ॥१५१॥

शङ्कर—यह आपका उदाहरण ठीक नहीं जमता। घोड़ों के बहुत होने पर भी उनका नियामक (सारथी) तो एक रहता है। अतः एक अभिप्राय से वे रथ को चलाते हैं। परन्तु प्रकृत-पक्ष में कोई नियामक ही नहीं है। ऐसी अवस्था में इन अवयवों में ऐकमत्य कैसे होगा ? ॥ १५१ ॥

उपयान्ति न चापयान्ति जीवावयवाः किन्तु महत्तरे शरीरे ।
विकसन्ति च संकुचन्त्यनिष्टे यतिवर्यात्र निदर्शनं जलौकाः॥१५२॥

जैन—हे यतिराज ! जिस प्रकार जोंक (जलौका) अपने शरीर को संकुचित तथा विकसित कर सकती है, कभी घटाती है और कभी बढ़ाती है उसी प्रकार ये जीव के अवयव महत्तर शरीर में विकसित हो जाते

हैं और लघुकाय में संकुचित हो जाते हैं। अतः संकोच तथा विकाश-शाली अवयवों के धारण करने के कारण जीव देह-परिमाणवाला हो सकता है। जीव के अवयवों के नये उत्पन्न होने की बात नहीं कहते। वे केवल संकोच-विकाशशाली होते हैं॥ १५२॥

यदि चैवममी सविक्रियत्वाद्‌ घटवत्ते च विनश्वरा भवेयुः।
इति नश्वरतां प्रयाति जीवे कृतनाशाकृतसंगमौ भवेताम् ॥१५३॥

शङ्कर—यदि ऐसी बात है तब तो ये विकारी हुए और घड़े के समान उनको नश्वर भी होना पड़ेगा। इस प्रकार जीव के नश्वर होने के कारण स्वीकृत वस्तु के नाश (कृतनाश) तथा अस्वीकृत वस्तु के उदय(अकृताभ्यागम)रूपी दो दोष इस पक्ष में उत्पन्न हो जायँगे। अतः यह पक्ष समीचीन नहीं है ॥ १५३ ॥

अपि चैवमलाबुवद्भवाब्धौ निजकर्माष्टकभारमग्नजन्तोः।
सततोर्ध्वगतिस्वरूपमोक्षस्तव सिद्धान्तसमर्थितो न सिध्येत् ॥१५४॥

जीव अपने आठों कर्मों के भार से इस संसार-समुद्र में तुम्बी-फल के समान डूबा रहता है। तब उसे सतत ऊर्ध्व गतिवाला मोक्ष, जिसे आपका दर्शन मानता है, किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ?॥ १५४॥

अपि साधनभूतसप्तभङ्गीनयमप्यार्हत नाऽऽद्रियामहे ते।
परमार्थसतां विरोधभाजां स्थितिरेकत्र हि नैकदा घटेत ॥१५५॥

इन पदार्थों के सिद्ध करने के लिये सप्तभङ्गी नय को आप स्वीकार करते हैं। परन्तु मुझे इस मत में तनिक भी आस्था नहीं है। सत् तथा असत् आदि धर्म परस्पर विरोधशाली होने के कारण एक धर्मी में एक ही समय में इन सबों की स्थिति नहीं हो सकती। अतः सप्तभङ्गी-नय हमें स्वीकृत नहीं है॥ १५५॥

टिप्पणी—सप्तभंगी नय—यह जैन न्याय का विशिष्ट सिद्धान्त है। न्याय-शास्त्र में परामर्श के दो ही रूप होते हैं—अन्वयी, जिसमें किसी उद्देश के

विषय में किसी विधेय का विधान किया जाय अथवा व्यतिरेकी, जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विधेय का निषेध किया जाय। परन्तु जैन न्याय में सत्ता के सापेक्ष रूप के मानने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना जाता है जिसे सप्तभङ्गी नय कहते हैं। वे रूप नीचे दिये जाते हैं:—

(१) स्यादस्ति (सम्भवतः क ख है)।

(२) स्यान्नास्ति (सम्भवतः क ख नहीं है)।

(३) स्यादस्ति च नास्ति च (सम्भवतः क ख है और सम्भवतः क ख नहीं है)।

(४) स्याद् अवक्तव्यम् (सम्भवतः क अवक्तव्य = वर्णनातीत है)।

(५) स्यादस्ति च अवक्तव्यम् च (सम्भवतः क ख है और अवक्तव्य भी है)

(६) स्यान्नास्ति च अवक्तव्यं च (सम्भवतः क ख नहीं है और अवक्तव्य भी है)।

(७) स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यं च (सम्भवतः क ख है, ख नहीं भी है तथा अवक्तव्य भी है)।

इति माध्यमिकेषु भग्नदर्पेष्वथ भाष्याणि स नैमिशे वितत्य ।
दरदान् भरतांश्च शूरसेनान् कुरुपाञ्चालमुखान् बहूनजैषीत् ॥१५६॥

इस प्रकार आत्मा को मध्यम परिमाण माननेवाले जैनों के गर्व को आचार्य ने दूर किया। नैमिष क्षेत्र में अपने भाष्यों का विस्तार कर दरद, भरत, शूरसेन, कुरु, पाञ्चाल आदि अनेक देशों को उन्होंने जीता ॥१५६॥

पटुयुक्तिनिकृत्तसर्वशास्त्रं गुरुभट्टोदयनादिकैरजय्यम् ।
स हि खण्डनकारमूढदर्पं बहुधा व्युह्य वशंवदं चकार ॥१५७॥

खण्डन ग्रन्थ के बनानेवाले ने निपुण युक्तियों के द्वारा सब शास्त्रों को खण्डित कर दिया था। गुरु, प्रभाकर, कुमारिल तथा उदयन आदि विद्वानों के द्वारा अजेय होने के कारण उनके अभिमान का अन्त न था परन्तु आचार्य ने उन्हीं के साथ नाना प्रकार से शास्त्रार्थ कर उन्हें अपना अनुगत बनाया ॥ १५७ ॥

टिप्पणी—खण्डनकार—यह नैषधकार हैं। इनका नाम श्रीहर्ष था। खण्डनखण्डखाद्य नामक अपूर्व विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ के लिखने के कारण ये खण्डनकार नाम से प्रसिद्ध हैं। ये कवि और तार्किक दोनों थे। खण्डन इनके तर्क-कौशल का ज्वलन्त उदाहरण है, तो नैषधचरित इनकी कमनीय कल्पना का मनोरम आगार है।

तदनन्तरमेष कामरूपानधिगत्याभिनवोपशब्दगुप्तम्।
अजयत् किल शाक्तभाष्यकारं स च भग्नो मनसेदमालुलोचे १५८

इसके अनन्तर शङ्कर कामरूप (आसाम) देश गये और ब्रह्म-सूत्र के ऊपर शक्ति-भाष्य के लिखनेवाले अभिनवगुप्त को जीत लिया। पराजित होने पर अभिनव ने इस प्रकार विचार किया॥ १५८॥

टिप्पणी—अभिनवगुप्त (९५०—१०००)—इस नाम से प्रसिद्ध एक ही आचार्य का पता चलता है जो प्रत्यभिज्ञा दर्शन के नितान्त प्रौढ़ तथा माननीय आचार्य हैं। 'अभिनव भारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य-जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है उसी प्रकार ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विमर्शिणी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजय-वार्तिक, परमार्थसार, परात्रिंशिका-विवृति ने त्रिकदर्शन में अमर बना दिया है। विपुलकाय 'तन्त्रालोक' को मन्त्रशास्त्र का विश्वकोष कहना चाहिए। ये अलौकिक सिद्ध पुरुष थे। ये अर्ध त्र्यम्बक मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे। इस प्रकरण में इनके ब्रह्मसूत्र के शक्तिभाष्य का उल्लेख किया गया है, परन्तु इस ग्रन्थ का पता अन्य स्थानों से नहीं चलता। इनका कामरूप का निवासी होना भी एक विचित्र बात है। क्या शक्तिभाष्य के लिखनेवाले आसाम के निवासी अभिनवगुप्त काश्मीर-निवासी शैव अभिनवगुप्त से भिन्न तो नहीं हैं?

निगमाब्जविकासिबालभानोर्न समोऽमुष्य विलोक्यते त्रिलोक्याम्
न कथंचन मद्वशंवदोऽसौ तदमुं दैवतकृत्यया हरेयम्॥ १५९॥

ये महापुरुष वेदरूपी कमल को विकसित करने के लिये बाल-सूर्य के समान हैं। त्रिलोकी में भी ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो इनके समान

हो। मेरे वश में ये कभी भी नहीं आ सकते। इसलिये इनको हम कृत्या के द्वारा मार डालने का प्रयत्न करें ॥ १५९ ॥

इति गूढमसौ विचिन्त्य पश्चात्
सहशिष्यैः सहसा स्वशाक्तभाष्यम् ।
परिहृत्य जनापवादभीत्या
यमिनः शिष्य इवान्ववर्ततैषः ॥ १६० ॥

इस प्रकार से उन्होंने अपने शिष्यों के साथ गुप्त रूप से सलाह की। जनापवाद के डर से उन्होंने अपना शक्ति-भाष्य फेंक दिया और आचार्य के पास शिष्य के समान रहने लगे ॥ १६० ॥

निजशिष्यपदं गतानुदीच्यानिति कृत्वाऽथ विदेहकौशलाद्यैः ।
विहितापचितिस्तथाऽङ्गवङ्गेष्वयमास्तीर्य यशो जगाम गौडान् १६१

इस प्रकार उत्तर दिशा के निवासियों को आचार्य ने अपना शिष्य बनाया। विदेह और कोशल के लोगों से आदर प्राप्त किया और अङ्ग वङ्ग में अपना यश फैलाकर वे गौड़ देश में गये ॥ १६१ ॥

अभिभूय मुरारिमिश्रवर्यं सहसा चोदयनं विजित्य वादे ।
अवधूय च धर्मगुप्तमिश्रं स्वयशः प्रौढमगापयत् स गौडान् ॥१६२॥

उन्होंने मुरारिमिश्र को सहसा हराया। शास्त्रार्थ में उदयन को जीता। धर्मगुप्तमिश्र को परास्त किया। अनन्तर गौड़देशीय लोगों के द्वारा अपनी प्रौढ़ कीर्ति को गवाया अर्थात् गौड़ देश के लोगों से, इन बड़े-बड़े विद्वानों के परास्त होने पर, आचार्य शङ्कर की अद्भुत कीर्ति का चारों ओर गान कराया ॥ १६२ ॥

पूर्वं येन विमोहिता द्विजवरास्तस्यासतोऽरीन् कलौ
बुद्धस्य प्रविभेद मस्करिवरस्तान् भास्करादीन् क्षणात् ।
शास्त्राम्नायविनिन्दकेन कुधिया कूटप्रवादाग्रहान्
निष्णातो निगमागमादिषु मतं दक्षस्य कूटग्रहे ॥१६३॥

पहले कलियुग में वेद-शास्त्र के निन्दक कुबुद्धि जिस दार्शनिक ने ब्राह्मणों को मोहित कर दिया था उस बुद्ध के शत्रुरूप भास्कर आदि दार्शनिकों को आगम-निगम के पण्डित आचार्य ने क्षण भर में हराया। भास्कर आदि विद्वान् जिस प्रकार मिथ्या सिद्धान्तों में आग्रह करनेवाले थे उस प्रकार बुद्ध भी वेद-विरुद्ध मत के माननेवाले थे। आचार्य ने इन दोनों का खण्डन कर श्रुति के अर्थ को सबके सामने उपस्थित किया ॥१६३॥

शङ्कर की प्रशंसा

शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवै-
रप्यन्यैरखिलैः खिलं खलु खलैर्दुर्वादिभिर्वैदिकम्।
मार्गं रक्षितुमुग्रवादिविजयं नो मानहेतोर्व्यधात्
सर्वज्ञो न यतोऽस्य सम्भवति सम्मानग्रहग्रस्तता॥१६४॥

शाक्त, पाशुपत, क्षपणक (जैन), कापालिक, वैष्णव—इनके समान अन्य दुष्ट मत के प्रचारक दार्शनिकों ने वैदिक मार्ग को सब तरह से उच्छिन्न कर दिया था। इस वैदिक मार्ग की रक्षा करने के लिये ही आचार्य ने उग्र द्वैतवादियों को परास्त किया। धर्म की रक्षा ही इसका प्रधान कारण था। अपने सम्मान के लिये उन्होंने यह कार्य नहीं किया। वे निरभिमानी ठहरे। उनके ऊपर सम्मान-रूपी भूत कभी अपना माया-जाल नहीं फेंक सकता ॥ १६४ ॥

दिष्टे पङ्कजविष्टरेण जगतामाद्येन तत्सूनुभि-
र्निर्दिष्टे सनकादिभिः परिचिते प्राचेतसाद्यैरपि।
श्रौताद्वैतपथे परात्मभिदुरान् दुर्वादिनः कण्टकान्
प्रोद्धृत्याथ चकार तत्र करुणो मोक्षाध्वगक्षुण्णताम्१६५

वेद-विहित अद्वैत-मार्ग का उपदेश ब्रह्मा ने स्वयं चतुर्मुख से दिया था। उनके पुत्र सनकादि ऋषियों ने इसकी विशद व्याख्या की। वाल्मीकि आदि महर्षियों ने इसका ख़ूब प्रचार किया। ऐसे अद्वैत-मार्ग के ऊपर रोड़ा अटकानेवाले आत्मा और ब्रह्म में भेद बतलानेवाले बहुत

से वक्रवादी थे जिनको आचार्य ने उखाड़ फेंका और उसे मोक्ष-मार्ग के यात्रियों के चलने लायक़ मनोहर बना दिया ॥ १६५ ॥

शान्तिर्दान्तिविरागता ह्युपरतिः क्षान्तिः परैकाग्रता
श्रद्धेति प्रथिताभिरेधिततनौ षड्वक्त्रवन्मातृभिः ।
भिक्षुक्षोणिपतौ पिचण्डिलतरोच्चण्डातिकण्डूच्चलत्
पाखण्डासुरखण्डनैकरसिके बाधा बुधानां कुतः ॥१६६॥

जिस प्रकार षड्माताओं ने षडानन को पुष्ट कर बड़ा बनाया था उसी प्रकार शान्ति, दान्ति, उपरति, क्षमा, एकाग्रता तथा श्रद्धा ने आचार्य के शरीर को पुष्ट किया। उन्होंने अत्यन्त प्रचण्ड स्थूलोदर, अत्यन्त चञ्चल, पाखण्ड-रूपी असुरों के खण्डन करने में बड़ा आग्रह दिखलाया। भला ऐसे शङ्कराचार्य के रहते हुए पण्डितों को कहीं से क्लेश पहुँच सकता है ? ॥ १६६ ॥

यत्राऽऽरम्भजकाहलाकलकलैर्लोकायतो विद्रुतः
काणाः काणभुजास्तु सैन्यरजसा सांख्यैर्धृताऽसांख्यधीः ।
युद्ध्वा तेषु पलायितेषु सहसा योगाः सहैवाद्रवन्
को वा वादिभटः पटुर्भुवि भवेद्धस्तु पुरस्तान्मुनेः॥१६७॥

शास्त्रार्थ-समर के आरम्भ में ही इतना नगाड़ा बजा कि उसके कोलाहल को सुनकर चार्वाक भाग गया। कणाद-मतावलम्बी लोग सेना की धूलि से काने हो गये। सांख्यवादियों ने युद्ध न करने का निश्चय किया। युद्ध करके चार्वाक आदि के साथ 'योग' मत के माननेवाले भी भाग खड़े हुए। इस भूतल पर कौन ऐसा वावदूक शूर-वीर था जो उस मुनि के सामने खड़ा होने की भी योग्यता रखता ? अर्थात् शङ्कर के अद्वैत-वाद के सामने भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपना पराजय माना ॥१६७॥

उच्चण्डे पणवन्धबन्धुरतरं वाचंयमक्ष्मापतेः
पूर्वं मण्डनखण्डने समुदभूद्यो डिण्डिमाडम्बरः ।

जाताः शब्दपरम्परास्तत इमाः पाखण्डदुर्वादिना-

मद्य श्रोत्रतटाटवीषु दधते दावानलज्वालताम् ॥ १६८ ॥

आचार्य शङ्कर ने मण्डन मिश्र का पणबन्ध (शर्त लगाना) से सुन्दर तथा भयङ्कर खण्डन किया था। उस समय उनकी कीर्ति का नगाड़ा चारों ओर बजने लगा था। उससे उत्पन्न होनेवाली शब्द-परम्परा आज भी इन पाखण्डी दुष्ट-मतावलम्बियों के कानों में दावानल के समान ज्वाला उत्पन्न कर रही है॥ १६८॥

बुद्धो युद्धसमुद्यतः किल पुनः स्थित्वा क्षणाद्द्रु विद्रुतः

कोणे द्राक्कणभुग्व्यलीयत तमःस्तोमावृतो गौतमः।

भग्नोऽसौ कपिलः पलायत ततः पातञ्जलाश्चाञ्जलिं

चक्रुस्तस्य यतीशितुश्चतुरता केनोपमीयेत सा ॥ १६९ ॥

आचार्य से लड़ने के लिये बुद्ध उद्यत अवश्य हुए, परन्तु क्षणभर युद्ध में खड़ा होकर वह भाग निकले। कणाद किसी कोने में झटपट जाकर छिप गये। गौतम ने घने अन्धकार में जाकर अपने को छिपा लिया। कपिल हारकर भाग गये। पातञ्जल लोगों ने हारकर हाथ जोड़ लिया। आचार्य की चतुरता अनुपम है। जगत् में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जिससे इनकी उपमा दी जाय॥ १६९॥

हस्तग्राहं गृहीताः कतिचन समरे वैदिका वादियोधाः

काणादाद्याः परे तु प्रसभमभिहता हन्त लोकायताद्याः।

गाढं बन्दीकृतास्ते सुचिरमथ पुनः स्वस्वराज्ये नियुक्ताः

सेवन्ते तं विचित्रा यतिधरणिपतेः शूरता वा दया वा१७०

युद्ध में कतिपय वैदिक योद्धाओं को आचार्य ने हाथ पकड़कर खींच लिया। वेद-बाह्य चार्वाक आदि दार्शनिकों को बलात् मार डाला। कणाद आदि आचार्य बहुत दिन तक बन्दी बनाकर रक्खे गये

थे परन्तु कृपालु आचार्य ने उन्हें ब्रह्मानन्द-रूपी अपने स्वराज्य में नियुक्त कर दिया जिससे वे आचार्य की सेवा तत्परता से कर रहे हैं। अहा! यतिराज शङ्कर की शूरता और दया विचित्र है॥ १७० ॥

शान्त्याद्यर्णववाडवानलशिखा सत्याभ्रवात्या दया-
ज्योत्स्नादर्शनिशाऽथ शान्तिनलिनीराकाशशाङ्कद्युतिः।
आस्तिक्यद्रुमदावपावकनलज्वालावली सत्कथा-
हंसीप्रावृडखण्डि दण्डिपतिना पाखण्डवाङ्मण्डली॥१७१॥

संन्यासी शङ्कर ने पाखण्डी पण्डितों की वचन-मण्डली को ख़ूब ही खण्डित किया। यह मण्डली शान्ति-रूपी समुद्र के लिए बडवानल की शिखा थी, सत्यरूपी मेघ के लिये आँधी थी; दयारूपी चाँदनी के लिये अमावस की रात थी; शान्तिरूपी पद्मिनी के लिये पूर्ण चन्द्रमा की ज्योति थी। आस्तिकतारूपी पेड़ के लिये दावानल की ज्वाला थी। सत्कथा-रूपी हंसी के लिये वर्षा ऋतु थी। ऐसे अनेक सद्गुणों को दूर भगानेवाली खल-मण्डली को आचार्य ने अपनी युक्तियों से ख़ूब ही खण्डित किया॥१७१॥

अद्वैतामृतवर्षिभिः परगुरुव्याहारधाराधरैः
कान्तैर्हन्त समन्ततः प्रसृमरैरुत्कृत्ततापत्रयैः।
दुर्भिक्षं स्वपरैकताफलगतं दुर्भिक्षुसंपादितं
शान्तं संप्रति खण्डिताश्च निबिडाः पाखण्डचण्डातपाः॥१७२

दुष्ट भिक्षु बुद्ध ने इस संसार में बड़ा भारी दुर्भिक्ष मचा रक्खा था। आचार्य ने अपने वचन-रूपी मेघों से उसे शान्त कर दिया। आचार्य के वचन मनोहर, सर्वत्र फैलनेवाले, अद्वैतरूपी अमृत को बरसानेवाले, तीनों तापों को दूर कर देनेवाले वर्षाकाल के मेघ हैं। जिस प्रकार मेघ पर्याप्त वृष्टि कर दुर्भिक्ष को मार भगाता है उसी प्रकार आचार्य ने अनात्मवादी बौद्धों को परास्त कर दिया तथा जीव और ब्रह्म की एकता का प्रतिपादन

किया। दुर्भिक्ष ही नहीं शान्त हुआ बल्कि भयानक पाखण्डरूपी गर्मी भगा दी गई ॥ १७२ ॥

शान्तानां सुभटाः कपालिकपतद्ग्राहग्रहव्यापृताः
काणादप्रतिहारिणः क्षपणकक्षोणीशवैतालिकाः।
सामन्ताश्च दिगम्बरान्वयभुवश्चार्वाकवंशाङ्कुरा
नव्याः केचिदलं मुनीश्वरगिरा नीताः कथाशेषताम्॥१७३॥

शङ्कर की वाणी के द्वारा हराये गये पातञ्जल मत के पण्डित लोग कापालिकों की पीकदानी उठाने के काम में लग गये हैं। कणाद लोग बौद्धों की आज्ञा माननेवाले वैतालिक बन गये हैं। दिगम्बर जैनियों तथा चार्वाक-वंशी नये पण्डितों को आचार्य की वाणी ने सदा के लिये इस संसार में स्मरणीय बना दिया। अर्थात् ये स्वयं नष्ट हो गये हैं। इनकी कथा ही शेष रह गई है ॥ १७३ ॥

इति सकलदिशासु द्वैतवार्तानिवृत्तौ
स्वयमथ परितस्तारायमद्वैतवर्त्म ।
प्रतिदिनमपि कुर्वन् सर्वसंदेहमोक्षं
रविरिव तिमिरौघे संप्रशान्ते महः स्वम् ॥ १७४ ॥

इस प्रकार समस्त दिशाओं में द्वैत-वाद सदा के लिये निवृत्त हो गया। तब आचार्य ने प्रतिदिन सन्देह को दूर करते हुए अद्वैत-मार्ग को उसी प्रकार फैलाया जिस प्रकार अन्धकार के शान्त हो जाने पर सूर्य अपने तेज को चारों ओर फैलाता है ॥ १७४ ॥

इति श्रीमाधवीये तत्तदाशाजयकौतुकी ।
संक्षेपशंकरजये सर्गः पञ्चदशोऽभवत् ॥ १५ ॥

माधवकृत संक्षेप-शङ्करविजय में आचार्य के दिग्विजय का
वर्णन करनेवाला पन्द्रहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

——

षोडश सर्ग

शङ्कराचार्य का सर्वज्ञपीठाधिरोहण

अथ यदा जितवान् यतिशेखरोऽभिनवगुप्तमनुत्तममान्त्रिकम् ।
स तु तदाऽपजितो यतिगोचरं हतमनाः 'कृतवानपघोरणम् ॥१॥

जब यतिराज शङ्कर ने अभिनव गुप्त को पराजित किया तभी से वह लज्जित होकर आचार्य को मारने का उद्योग करने लगा। वह तन्त्र-शास्त्र का बड़ा भारी पण्डित था। मन्त्रों का उसे खूब बल था। उसी के बल पर उसने आचार्य को मारने का उद्योग किया ॥ १ ॥

आचार्य को भगन्दर रोग

स ततोऽभिचचार मूढबुद्धिर्यतिशार्दूलममुं प्ररूढरोषः ।
अचिकित्स्यतमो भिषग्भिरस्मादजनिष्टास्य भगंदराख्यरोगः ॥२॥

क्रुद्ध होकर उस मन्दबुद्धि ने आचार्य के ऊपर अभिचार किया। अभिचार का फल तुरन्त प्रकट हुआ। आचार्य को भगन्दर रोग हो गया जिसकी चिकित्सा वैद्य लोग नहीं कर सकते थे ॥ २ ॥

अचिकित्स्यभगंदराख्यरोगप्रसरच्छोणितपङ्किलस्वशाट्याः ।
अजुगुप्सविशोधनादिरूपां परिचर्यामकृतास्य तोटकार्यः ॥ ३ ॥

भगन्दर रोग के कारण आचार्य का अधोवस्त्र खून से भींग जाता था। तोटकाचार्य विना किसी प्रकार की घृणा किये उस कपड़े को धोते थे और नाना प्रकार की आचार्य की सेवा किया करते थे ॥ ३ ॥

भगन्दरव्याधिनिपीडितं गुरुं निरीक्ष्य शिष्याः समबोधयञ्शनैः ।
नोपेक्षणीयो भगवन्महामयस्त्वपीडितः शत्रुरिवर्द्धिमाप्नुयात् ॥४॥

शिष्यों ने जब आचार्य को भगन्दर रोग से पीड़ित देखा तब उनसे धीरे-धीरे कहना शुरू किया—हे भगवन् ! यह रोग बड़ा भारी है। इसकी तनिक भी उपेक्षा न करनी चाहिए। नहीं तो विना दबाये गये शत्रु की तरह यह दिन प्रति दिन बढ़ता ही जायेगा ॥ ४ ॥

ममत्वहानाद्भवता शरीरके न गण्यते व्याधिकृताऽऽर्तिरीदृशी ।
पश्यन्त एवान्तिकवर्तिनो वयं भृशातुराः स्मः सहसा व्यथासहाः ५

हम लोग जानते हैं कि आपको शरीर में किसी प्रकार की ममता नहीं है और आपके लिये इस भयानक रोग की भी पीड़ा किसी लेखे में नहीं है परन्तु आपके पास रहनेवाले हम लोग इसे देखकर ही अत्यन्त आतुर हो गये हैं। इसकी व्यथा हम लोगों से सही नहीं जाती ॥ ५ ॥

चिकित्सका व्याधिनिदानकोविदाः संप्रच्छनीया भगवन्नितस्ततः ।
प्रत्यक्षवत्संप्रति सन्ति पूरुषा जीवातुवेदे गदितार्थसिद्धिदाः ॥ ६ ॥

हे भगवन् ! इस रोग के निदान को जाननेवाले वैद्यों को ढूँढ़ निकालना चाहिए। इस समय चिकित्साशास्त्र में निपुण ऐसे सिद्धहस्त वैद्य विद्यमान हैं जिनकी दवा अचूक होती है। उनकी दवा खाते ही रोग नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

उपेक्षमाणेऽपि गुरावनास्थया शरीरकादौ सुखमात्मनीश्वरैः ।
नोपेक्षणीयं गुरुदुःखदृश्वभिर्दुःखं विनेयैरिति शास्त्रनिश्चयः॥७॥

यदि गुरु शरीर के ऊपर आस्था न रखकर अपने सुख की उपेक्षा करें तो उनके क्लेश को देखनेवाले विद्यार्थियों का यह परम कर्तव्य है कि वे उस दुःख की उपेक्षा न करें। उसकी चिकित्सा की व्यवस्था करें। शास्त्र का यही निश्चय है ॥ ७ ॥

स्वस्थे भवत्पादसरोरुहद्वये स्वस्था वयं यन्मधुपायिवृत्तयः ।
तस्माद्‌ भवेत्तावकविग्रहो यथा स्वस्थस्तथा वाञ्छति पूज्य नो मनः॥८

आपके स्वस्थ रहने पर ही हम लोग भी स्वस्थ हैं। हम लोग तो आपके चरण-कमल के भौंरे हैं। कमल के अच्छे रहने पर ही भौंरों का जीवन अवलम्बित है। इसलिये हम लोगों की बड़ी इच्छा है कि आपका शरीर स्वस्थ रहे। आप आज्ञा दीजिए, हम लोग उपाय सोच निकालें ॥ ८ ॥

व्याधिर्हि जन्मान्तरपापपाको भोगेन तस्मात्क्षपणीय एषः ।
अभुज्यमानः पुरुषं न मुञ्चेज्जन्मान्तरेऽपीति हि शास्त्रवादः ॥९॥

आचार्य शङ्कर—रोग जन्मान्तर में किये गये पापों के फल का उदय है। अतः भोग करके ही उसकी शान्ति की जा सकती है। यदि उसका भोग नहीं किया जायेगा तो इस जन्म की कौन कहें, वह जन्मान्तर में भी पुरुष को नहीं छोड़ता है। शास्त्र का तो यही सिद्धान्त है ॥ ९ ॥

व्याधिर्द्विधाऽसौ कथितो हि विद्भिः कर्मोद्भवो धातुकृतस्तथेति ।
आद्यक्षयः कर्मण एव लीनाच्चिकित्सया स्याच्चरमोदितस्य ॥१०॥

विद्वान् लोग कहते हैं कि रोग दो प्रकार का होता है। एक अपने कर्म से उत्पन्न होनेवाला और दूसरा वात, पित्त, कफ से उत्पन्न होनेवाला। इनकी चिकित्सा भी दो प्रकार की है। पहिले रोग का नाश कर्म के क्षय से होता है और दूसरे प्रकार के रोग का उपशम चिकित्सा के द्वारा होता है ॥ १० ॥

संक्षीयतां कर्मण एव संक्षयाद्व्याधिः प्रवृत्तो न चिकित्स्यते मया।
पतेच्छरीरं यदि तन्निमित्ततः पतत्ववश्यं न बिभेमि किंचन ।११।

अतएव कर्म के क्षय होने से यह व्याधि आप से आप नष्ट हो जायगी अतः चिकित्सा करने की क्या आवश्यकता है ? यदि इस रोग के कारण शरीर का पात हो जाय तो भले ही हो जाय। मुझे तो इसका तनिक भी डर नहीं है ॥ ११ ॥

सत्यं गुरो ते न शरीरलोभः स्पृहालुता नस्तु चिराय तस्मै ।
त्वज्जीवनेनैव हि जीवनं नः पाथश्चराणां जलमेव तद्धि ॥१२॥

शिष्य—हे गुरो ! सचमुच आपको अपने शरीर का लोभ नहीं है परन्तु हम लोगों को तो उसका लोभ है। जिस प्रकार जल में रहनेवाले प्राणियों का जीवन जल के ऊपर अवलम्बित है उसी प्रकार हमारा जीवन आपके जीवन के ऊपर टिका हुआ है। इसलिये आपके जीवन की चिन्ता हमें अधिक है ॥ १२ ॥

स्वयं कृतार्थाः परतुष्टिहेतोः कुर्वन्ति सन्तो निजदेहरक्षाम् ।
तस्माच्छरीरं परिरक्षणीयं त्वयाऽपि लोकस्य हिताय विद्वन् १३

सज्जन लोग स्वयं कृतकृत्य हैं, फिर भी वे लोग दूसरों के कल्याण के लिये अपने देह की रक्षा करते ही हैं। इसलिये हे गुरुवर ! आपको भी चाहिए कि लोकहित के लिये अपने शरीर की रक्षा अवश्य करें ॥१३॥

निर्बन्धतो गुरुवरः प्रददावनुज्ञां
दिग्भ्यो भिषग्वरसमानयनाय तेभ्यः ।
नत्वा गुरुं प्रतिदिशं प्रययुः प्रहृष्टाः
शिष्याः प्रवासकुशला हरिभक्तिभाजः ॥ १४ ॥

शिष्यों ने जब बड़ा हठ किया तब गुरु ने उन्हें एक अच्छे वैद्य के लाने की आज्ञा दे दी। प्रवास में कुशल, हरिभक्ति में परायण शिष्यों ने गुरु को प्रणाम किया और वे वैद्य लाने के लिये चारों दिशाओं में निकल पड़े ॥१४॥

प्रायो नृपं कविजना भिषजो वदान्यं
विर्त्तार्थिनः प्रतिदिनं कुशला जुषन्ते ।
तस्मादमी नृपपुरेषु निरीक्षणीया
इत्येव चेतसि मनोरथमादधानः ॥ १५ ॥

प्रायः यह देखा जाता है कि कुशल वैद्य लोग और धन चाहनेवाले कविजन निशिदिन उदार राजा के पास जुटे रहते हैं। इसलिये शिष्यों ने मन में यह निश्चय कर लिया कि राजधानी में ही वैद्य को खोजेंगे ॥१५॥

तेऽतीत्य देशान् बहुलान् स्वकार्यसिद्ध्यै क्वचिद्राजपुरे भिषग्भिः ।
अवाप्य संदर्शनभाषणानि समानयंस्तान् गुरुवर्यपार्श्वम् ॥१६॥

वे लोग दूर देश में अपने कार्य की सिद्धि के लिये निकल गये और किसी राजधानी में जाकर अच्छे वैद्यों से भेंटकर उन्हें गुरु के पास ले आये ॥ १६ ॥

ततो द्विजेन्द्रैर्निजसेवकैस्तान् संतोषितान् स्वाभिमतार्थदानैः ।
यदत्र कर्तव्यमुदीर्यतां तत् कुर्मः स्वशक्त्येति वदाञ्जगौ सः ॥१७॥

अनन्तर शिष्य लोगों ने मनचाहा धन वैद्यों को देकर उन्हें अत्यन्त सन्तुष्ट किया। तब आचार्य ने उनसे कहा कि आप लोग जो कुछ बतलायेंगे उसे अपनी शक्ति भर करने का मैं प्रयत्न करूँगा ॥ १७ ॥

उपगुदं भिषजः परिबाधते गद उदेत्य तनुं तनुमध्यगः ।
यदिदमस्य विधेयमिदं ध्रुवं वदत रोगतमस्तिमिरारयः ॥ १८ ॥

हे वैद्यगण! गुदा के पास शरीर के मध्य में यह रोग मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है। इसकी जो दवा हो उसे आप लोग बतलावें। आप लोग चिकित्सा की विद्या में नितान्त निपुण हैं और रोगों को दूर करने में सर्वथा चतुर हैं ॥ १८ ॥

चिरमुपेक्षितवानहमेकं दुरितजोऽयमिति प्रतिभाति मे ।
तदपि शिष्यगणैर्निरहिंस्यहं प्रहितवान् भवदानयनाय तान् ॥ १९

मुझे तो जान पड़ता है कि यह मेरे पूर्व कर्मों का फल है। इसी लिये मैंने इसकी बहुत दिनों तक उपेक्षा की। परन्तु शिष्यों ने मुझसे चिकित्सा करने के लिये बड़ा आग्रह किया, तब मैंने आपको बुलाया ॥ १९ ॥

निगदिते मुनिनेति भिषग्वरा विदधिरे बहुधा गदसत्क्रियाः।
न च शशाम गदो बहुतापदो विमनसः पटवो भिषजोऽभवन् ॥२०॥

आचार्य इतना कहकर रुक गये। वैद्यों ने उस रोग की नाना प्रकार की चिकित्सा की; परन्तु रोग शान्त न हुआ। आचार्य के कष्ट में किसी प्रकार की कमी नहीं हुई। इसलिये चतुर वैद्य बहुत ही उदास हो गये ॥ २० ॥

अथ मुनिर्विमनस्त्वसमन्वितानिदमवोचत सिद्धभिषग्वरान्।
अटत गेहमगात्समयो बहुर्गदहृते भवतामित ईयुषाम् ॥ २१ ॥

मुनि ने जब उन सिद्ध वैद्यों को उदास देखा तब उनसे कहा कि आप लोग अपने घर लौट जायँ। इस रोग को दूर करने के लिये आपको आये बहुत दिन बीत गये ॥ २१ ॥

दिनचयं गणयन् पथिलोचनः प्रियजनो निवसेद्विरहातुरः।
नरपतिर्भवतां शरणं ध्रुवं स च विदेशगमं श्रुतवान् यदि ॥२२॥
रुषितवान्न च वो वितरेन् नृपः फणितजीवितमक्षतशासनः।
तुरगवन्नृपतिश्चलमानसो भिषजमन्यमसौ विदधीत वा ॥ २३ ॥

आपके प्रियजन विरह से आतुर होकर दिन गिनते होंगे और राह देखते होंगे। राजा आप लोगों का मालिक ठहरा। यदि उसने आप लोगों को आने की आज्ञा दी होगी तो वह अवश्य क्रोध करेगा और निश्चित की हुई जीविका से आपको वञ्चित कर देगा। राजा का मन क्या कभी स्थिर रहता है? उसका मन तो घोड़े की तरह चञ्चल है। सम्भव है, किसी दूसरे वैद्य को वह आपकी जगह पर नियुक्त कर ले ॥ २२-२३ ॥

जनपदो विरतो गदहारकैर्बहुलरुग्णजनः प्रकृतेरतः ।
मृगयते भवतो भवतां गृहे गदिजनः सहितुं गदमक्षमः ॥ २४ ॥

यदि देश में वैद्य न हो तो बहुत से रोगी लोग रोग की व्यथा से पीड़ित होकर दवा के लिये आपके घर आते होंगे और आपको ढूँढ़ते होंगे ॥ २४ ॥

पितृकृता जनिरस्य शरीरिणः समवनं गदहारिषु तिष्ठति ।
जनितमप्यफलं भिषजं विना भिषगसौ हरिरेव तनूभृतः ॥२५॥

मनुष्य को तो पिता से केवल शरीर ही प्राप्त होता है। इसकी रक्षा का भार तो रोगों को दूर करनेवाले वैद्यों के ऊपर अवलम्बित रहता है। उत्पन्न हुआ भी शरीर वैद्य के बिना निष्फल है। इसलिये प्राणियों के लिये वैद्य साक्षात् विष्णु-रूप है ॥ २५ ॥

यदुदितं भवता वितथं न तत्तदपि न क्षमते व्रजितुं मनः ।
सुरभुवं प्रविहाय मनुष्यगां व्रजितुमिच्छति कोऽत्र नरः सुधीः॥२६॥

वैद्य—आपका कथन बिल्कुल ठीक है। तो भी मेरा मन जाने को नहीं चाहता। क्या कोई विद्वान् देवलोक को छोड़कर मर्त्यलोक में जाने की इच्छा करता है ? उसी प्रकार आपके घर को छोड़कर हम लोग अपने घर लौटना नहीं चाहते ॥ २६ ॥

इति निगद्य ययुर्भिषजां गणा विमनसः पटवोऽपि निजान् गृहान् ।
अथ मुनिर्विजहन्ममतां तनौ गुरुवरो गुरुदुःखमसोढ सः ॥२७॥

वैद्य लोग थे तो चतुर परन्तु रोग के न हटने से वे अत्यन्त उदास थे। कोई उपाय न देखकर वे लोग घर लौट आये। अनन्तर आचार्य ने शरीर की ममता छोड़ दी और उस महती पीड़ा को भी वे बड़ी धीरता से सहने लगे ॥ २७ ॥

प्रथितैरवनौ परःसहस्रैरगदंकारचयैरथाचिकित्स्ये ।
प्रबले सति हा भगन्दराख्ये स्मरति स्म स्मरशासनं मुनीन्द्रः॥२८॥

इस प्रकार संसार में प्रसिद्धि पानेवाले हज़ारों वैद्य जब उस रोग की चिकित्सा करके थक गये तब वह रोग प्रबल और असाध्य हो गया। तब आचार्य शङ्कर ने महादेव का स्मरण किया ॥ २८ ॥

स्मरशासनशासनान्नियुक्तौ द्विजवेषं प्रविधाय भूमिमाप्तौ ।
उपसेदतुरश्विनौ च देवौ सुभुजौ साञ्जनलोचनौ सुपुस्तौ ॥२९॥

भगवान् शङ्कर की आज्ञा से ब्राह्मण का वेश बनाकर दोनों अश्विनीकुमार इस भूतल पर आये। उनकी आँखें अञ्जन से सुशोभित थीं। लम्बी-लम्बी भुजाए थीं। हाथ में पुस्तक शोभित थी। अनन्तर ये दोनों मुनि के पास आये ॥ २९ ॥

यतिवर्य चिकित्सितुं न शक्या परकृत्याजनिता हि ते रुगेषा ।
इति तं समुदीर्य योगिवर्यं विबुधौ तौ प्रतिजग्मतुर्यथेतम् ॥३०॥

मुनि से उन लोगों ने कहा कि हे यतिराज! यह रोग अभिचार से उत्पन्न हुआ है। इस रोग की कोई चिकित्सा नहीं है। इतना कहकर वे लोग जिस मार्ग से आये थे उसी मार्ग से लौट गये ॥ ३० ॥

तदनु स्वगुरोर्गदापनुत्त्यै परमन्त्रं तु जजाप जातमन्युः ।
मुहुरार्यपदेन वार्यमाणोऽप्यरिवर्गेऽप्यनुकम्पिनाऽब्जपादः ॥३१॥

पद्मपाद ने जब गुरु की यह दशा देखी तब उन्होंने इस रोग को दूर करने के लिये एक विशेष मन्त्र का जप आरम्भ किया। आचार्य का हृदय अत्यन्त कोमल था। शत्रु के ऊपर भी उनके हृदय में दया की भावना जागती थी। उन्होंने पद्मपाद को वारम्बार मना किया। परन्तु क्रुद्ध हुए शिष्य ने बात न मानकर मन्त्र का जपना ही श्रेयस्कर समझा ॥ ३१ ॥

अमुनैव ततो गदेन नीचः प्रतियातेन हतो ममार गुप्तः ।
मतिपूर्वकृतो महानुभावेष्वनयः कस्य भवेत् सुखोपलब्ध्यै ॥३२॥

वह नीच अभिनवगुप्त इसी रोग से मर गया। फल ठीक ही हुआ। महापुरुषों के साथ जो जान-बूझकर दुर्व्यवहार करता है भला उसे कभी सुख प्राप्त हो सकता है? ॥ ३२ ॥

गौड़पाद से आचार्य की भेंट

स्वस्थः सोऽयं ब्रह्म सायं कदाचिद् ध्यायन् गङ्गापूरसङ्गार्द्रवातैः ।
आगच्छन्तं सैकते प्रत्यगच्छद्योगीशानं गौड़पादाभिधानम् ॥३३॥

एक दिन सायङ्काल की बात है। गङ्गा की लहरों को छूकर ठंढी ठंढी हवा बह रही थी। वालुकामय तीर पर आचार्य सन्ध्याकाल के समय ब्रह्म का ध्यान कर रहे थे। उनका शरीर स्वस्थ था। इतने में उन्होंने योगी गौड़पादाचार्य को वायु के साथ आया हुआ देखा ॥ ३३ ॥

पाणौ फुल्लश्वेतपङ्केरुहश्रीमैत्रीपात्रीभूतभासा घटेन ।
आराद्राजत्कैरवानन्दसंध्यारागारक्ताम्भोदलीलां दधानम् ॥३४॥

उनके हाथ में खिले हुए सफ़ेद कमल की तरह चमकनेवाला कमण्डलु सुशोभित था। उन्हें देखकर यह मालूम पड़ता था कि सफ़ेद कमल के पास सन्ध्याकाल की लालिमा से शोभित होनेवाला लाल कमल चमक रहा हो ॥ ३४ ॥

पाणौ शोणाम्भोजबुद्धया समन्ताद् भ्राम्यद्भृङ्गीमण्डलीतुल्यकुल्याम्
अङ्गुल्यग्रासङ्गिरुद्राक्षमालामङ्गुष्ठाग्रेणासकृद् भ्रामयन्तम् ॥३५॥

उनके हाथ में रुद्राक्ष की माला शोभित थी जिसे वे अँगूठे के अग्र-भाग से बार बार घुमाकर भगवान् का नाम जप रहे थे। उसे देखकर यह मालूम पड़ता था कि हाथ को लाल कमल समझकर भौंरों की पाँति चारों ओर मँडरा रही हो ॥ ३५ ॥

आर्यस्याथो गौडपादस्य पादावभ्यर्च्यासौ शंकरः पङ्कजाभौ ।
भक्तिश्रद्धासंभ्रमाक्रान्तचेताः प्रह्वस्तस्थावग्रतः प्राञ्जलिः सन् ॥३६॥

शङ्कर ने आचार्य गौड़पाद के चरण-कमलों की वन्दना की। उनका हृदय श्रद्धा और भक्ति से ओत-प्रोत हो रहा था। अनन्तर उन्होंने हाथ जोड़कर गौड़पाद को प्रणाम किया और उनके आगे खड़े हो गये।३६।

सिञ्चन्नेनं क्षीरवाराशिवीचीसाचिव्यायाऽऽसन्नयत्नैः कटाक्षैः।
दन्तज्योत्स्नादन्तुराश्चापि कुर्वन्नाशाः सूक्तिं संदधे गौडपादः॥३७॥

आचार्य गौड़पाद मीठे वचन बोलने लगे। उनके बोलते समय जान पड़ता था कि वे क्षीर-सागर की लहरियों के समान शुभ्र कटाक्षों से शङ्कराचार्य को देख रहे हों और दिशाओं को अपने दाँतों की प्रभा से चमका रहे हों॥ ३७॥

कच्चित् सर्वां वेत्सि गोविन्दनाम्नो हृद्यां विद्यां संसृदुद्धारकृद्याम्।
कच्चित्तत्त्वं तत्त्वमानन्दरूपं नित्यं सच्चिन्निर्मलं वेत्सि वेद्यम् ॥३८॥

हे वत्स! संसार से उद्धार करनेवाली जो कमनीय विद्या तुमने गोविन्द से पढ़ी है वह तुम्हें याद है न? नित्य सत्, चित, आनन्दरूप निर्मल तत्त्व-अर्थात् ब्रह्म को तुम भली भाँति जानते हो न?॥ ३८॥

भक्त्या युक्ताः स्वानुरक्ता विरक्ताः शान्ता दान्ताः सन्ततं श्रद्दधानाः।
कच्चित्तत्त्वज्ञानकामा विनीताः शुश्रूषन्ते शिष्यवर्या गुरुं त्वाम् ३९

क्या तुम्हारे शिष्य भक्ति से युक्त, विषयों से विरक्त, आत्म-चिन्तन में अनुरक्त, शान्त, दान्त, श्रद्धालु, तत्त्वजिज्ञासु, विनीत हैं? ऐसे शिष्य तुम्हारी भली भाँति सेवा किया करते हैं न?॥ ३९॥

कच्चिन्नित्याः शत्रवो निर्जितास्ते
कच्चित् प्राप्ताः सद्गुणाः शान्तिपूर्वाः।
कच्चिद्योगः साधितोऽष्टाङ्गयुक्तः
कच्चिच्चित्तं साधुचित्तत्त्वगं ते॥ ४०॥

क्या तुमने काम, क्रोध, लोभ आदि नित्य शत्रुओं को जीत लिया है? क्या तुमने शान्ति के साथ सब गुणों को प्राप्त कर लिया है? क्या तुमने

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन आठों अंगों से युक्त योग का पूरा अभ्यास कर लिया है? क्या तुम्हारा चित्त चैतन्यरूप ब्रह्म के चिन्तन में लगा रहता है? ॥ ४० ॥

इत्यद्वैताचार्यवर्येण तेन प्रेम्णा पृष्टः शङ्करः साधुशीलः ।
भक्त्युद्रेकाद्द् बाष्पपर्याकुलाक्षो बध्नन्मूर्धन्यञ्जलिं व्याजहार॥४१॥

अद्वैत के आचार्य गौड़पाद ने प्रेम से जब यह प्रश्न पूछा तब भक्ति के उद्रेक से शङ्कर की आँखों में आनन्द के आँसू झलकने लगे। उन्होंने मस्तक पर हाथ रखकर अञ्जलि बाँधी और प्रश्नों का उत्तर देने लगे ॥४१॥

यद्यत्पृष्टं स्पष्टमाचार्यपादैस्तत्तत्सर्वं भो भविष्यत्यवश्यम् ।
कारुण्याब्धेः कल्पयुष्मत्कटाक्षैर्दृष्टस्याऽऽहुर्दुर्लभं किं नु जन्तोः॥४२॥

शङ्कर—आचार्य ने जो कुछ मेरे विषय में पूछा है वह सब होकर रहेगा। आप करुणा के सागर हैं। जिस मनुष्य के ऊपर आपकी कृपा-दृष्टि पड़ती है उसके लिये जगत् में कौन वस्तु है जो दुर्लभ हो? ॥४२॥

मूको वाग्ग्मी मन्दधीः पण्डिताग्र्यः
पापाचारः पुण्यनिष्ठेषु गण्यः ।
कामासक्तः कीर्तिमान्निःस्पृहाणा-
मार्यापाङ्गालोकतः स्यात् क्षणेन ॥ ४३ ॥

यदि आपकी कृपादृष्टि पड़ जाय तो क्षण भर में गूँगा भी वाचाल बन जाता है, मन्दबुद्धि पण्डित-शिरोमणि बन जाता है। पापी पुण्यात्माओं में अग्रणी बन जाता है और कामी निःस्पृह पुरुषों में कीर्तिशाली बन जाता है। आपकी दया की महिमा ऐसी ही है ॥ ४३ ॥

लेशं वाऽपि ज्ञातुमीष्टे पुमान् कः सीमातीतस्याद्य युष्मन्महिम्नः ।
तुष्टाऽत्यन्तं तत्त्वविद्योपदेष्टा जातः साक्षाद्यस्य वैयासकिः सः॥४४॥

श्री शुकदेवजी ने प्रसन्न होकर वेदान्त विद्या का उपदेश आप ही को दिया। आपकी महिमा असीम है। भला ऐसा कौन आदमी है जो इस महिमा का लेशमात्र भी भली भाँति जानने में समर्थ हो सकता है? ॥४४॥

आजानात्मज्ञानसिद्धं यमारादौदासीन्याज्जातमात्रं व्रजन्तम्।
प्रेमावेशात् पुत्र पुत्रेति शोचन् पाराशर्यः पृष्ठतोऽनुप्रपेदे ॥४५॥

आपके गुरु शुकदेवजी की महिमा अपरंपार है। जन्म से ही उन्हें आत्मज्ञान सिद्ध था। उत्पन्न होते ही वे वैराग्य से इस संसार को छोड़कर जब जङ्गल की ओर जाने लगे तब वेदव्यासजी हे पुत्र! हे पुत्र! यह प्रेम से कहते हुए उनके पीछे पीछे दौड़े॥ ४५ ॥

यश्चाऽऽहूतो योगभाष्यप्रणेत्रा पित्रा प्राप्तः समपश्यैकभावम्।
सर्वार्हंताशीलनाद्योगभूमेः प्रत्याक्रोशं प्रातनोद्वृक्षरूपः ॥ ४६ ॥

आपके पिता ने योगभाष्य की रचना की है। जब उन्होंने आपको बुलाया तब उसका उत्तर आपने वृक्ष रूप से दिया। क्यों न हो, आप हर एक प्राणी के हृदय में आत्मा के रूप में विराजमान हैं। आपने सबके साथ अपने को एक कर दिया है। योग की महिमा से आपने ब्रह्म के साथ एकता प्राप्त कर ली है॥ ४६ ॥

टिप्पणी—शुकदेवजी जन्म से ही त्यागी हैं। जिस समय उनका यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ था, लौकिक और वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अवसर भी नहीं मिला था, तभी वे अकेले पिता के आश्रम से संन्यास लेने के लिये चल पड़े थे। ऐसे पुत्र को बाल्यावस्था में ही संन्यास लेते हुए देखकर व्यासजी को बड़ी व्यथा हुई। वे विरह से कातर होकर पुकारने लगे—बेटा! बेटा! तुम कहाँ जा रहे हो? उस समय शुकदेवजी ने तो कुछ उत्तर नहीं दिया बल्कि उनकी ओर से वृक्षों ने प्रत्युत्तर दिया। सर्वत्र एक ब्रह्म की भावना रखनेवाले शुकदेवजी के लिये क्या चेतन क्या अचेतन सब पदार्थ आत्मरूप ही थे। इस श्लोक का मूल भागवत में है जो यहाँ दिया जाता है—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं, द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं व्याससूनुमुपयामि गुरुं मुनीनाम् ॥

तत्तादृक्षज्ञानपाथोधियुष्मत्पादद्वंद्वं पद्मसौहार्दहृद्यम् ।
दैवादेतद्दीनदृग्गोचरश्चेद्भक्तस्यैतद्भागधेयं ह्यमेयम् ॥ ४७ ॥

ऐसे अद्वैत-ज्ञान से आप सम्पन्न हैं। आपके चरण-युगल कमल की सुगन्धि से मनोज्ञ हैं। यदि इनका दर्शन किसी प्राणी को मिल जाय तो भक्त के विपुल भाग्य की सराहना किन शब्दों में की जाय ? ॥ ४७ ॥

इत्याकर्ण्याथाब्रवीद् गौडपादो
वत्स श्रुत्वा वास्तवांस्त्वद्गुणौघान् ।
द्रष्टुं शान्तस्वान्तवन्तं मम त्वां
गाढोत्कण्ठागर्भितं चित्तमासीत् ॥ ४८ ॥

इन वचनों को सुनकर गौड़पाद ने कहा—हे वत्स! तुम्हारे वास्तविक गुणों को सुनकर शान्त-चित्तवाले तुम्हें देखने की अभिलाषा से मेरा हृदय बहुत दिनों से उत्कण्ठित हो रहा था ॥ ४८ ॥

कृतास्त्वया भाष्यमुखा निबन्धा मत्कारिकावारिजनुःसुखार्काः ।
श्रुत्वेति गोविन्दमुखात् प्रहृष्य दृगध्वनीनोऽस्मि तवाद्य विद्वन् ॥ ४९ ॥

तुमने भाष्य आदिक अनेक निबन्धों की रचना की। जिस प्रकार सूर्य कमल को विकसित कर देता है उसी प्रकार तुम्हारे भाष्य ने मेरी कारिकाओं के अर्थ को विकसित कर दिया है। गोविन्द के मुख से इन बातों को सुनकर आह्लादित हो मैं तुम्हें देखने के लिये आया हूँ ॥४९॥

इति स्फुटं प्रोक्तवते विनीतः सोऽश्रावयद् भाष्यमशेषमस्मै ।
विशिष्य माण्डूक्यगभाष्ययुग्मं श्रुत्वा प्रहृष्यन्निदमब्रवीत् तम् ॥५०॥

गौड़पाद के इन वचनों को सुनकर विनयी शङ्कर ने अपना सम्पूर्ण भाष्य उन्हें पढ़ सुनाया। विशेष कर माण्डूक्य उपनिषत् तथा माण्डूक्य-कारिका के भाष्यों को सुनकर गौड़पाद नितान्त प्रसन्न हुए और बोले ॥५०॥

मत्कारिकाभावविभेदिताहङ्माण्डूक्यभाष्यश्रवणोत्थहर्षः ।
दातुं वरं ते विदुषां वराय प्रोत्साहयत्याशु वरं वृणीष्व ॥५१॥

मेरी कारिका के भाव को प्रकट करनेवाले तुम्हारे माण्डूक्य-भाष्य को सुनकर मुझे आज इतना हर्ष हो रहा है कि हे विद्वानों में शिरोमणि ! मैं तुम्हें वर देने के लिये उपस्थित हूँ । वर माँगो, तुम्हें क्या चाहिए ॥५१॥

स प्राह पर्यायशुकर्षिमीक्ष्य
भवन्तमद्राक्षमतिष्यपूरुषम् ।
वरः परः कोऽस्ति तथाऽपि चिन्तनं
चित्तत्त्वगं मेऽस्तु गुरो निरन्तरम् ॥ ५२ ॥

शङ्कर—आप साक्षात् शुकदेव हैं। आप कलिकाल के पुरुष न होकर त्रियुगी नारायण हैं। आपका दर्शन ही एक विशेष वरदान है। फिर भी आपकी इच्छा हो तो कृपया यह वरदान दीजिए कि मेरा चित्त ब्रह्म के चिन्तन में सदा रमा करे ॥ ५२ ॥

तथेति सोऽन्तर्धिमपास्तमोहे गते चिरंजीविमुनावथासौ ।
वृत्तान्तमेतं स मुदाऽऽश्रवेभ्यः संश्रावयंस्तां क्षणदामनैषीत् ॥५३॥

इसके अनन्तर जब वे चिरन्तन मुनि अन्तर्धान हो गये तब आचार्य ने अपने विद्यार्थियों से आनन्द के साथ बातचीत करते हुए पूरी रात बिता दी ॥ ५३ ॥

अथ द्युनद्यामुषसि क्षमीन्द्रो निर्वर्त्य नित्यं विधिवत् स शिष्यैः ।
तीरे निदिध्यासनलालसोऽभूदत्रान्तरेऽश्रूयत लोकवार्ता ॥५४॥

अनन्तर प्रातःकाल होने पर गङ्गा-स्नान कर आचार्य ने शिष्यों के साथ अपना नित्य-कृत्य समाप्त किया। किनारे पर ज्योंही वे चिन्तन के लिये उत्सुक थे त्योंही उन्होंने यह बात सुनी ॥ ५४ ॥

काश्मीर का सर्वज्ञ-पीठ

जम्बूद्वीपं शस्यतेऽस्यां पृथिव्यां
तत्राप्येतन्मण्डलं भारताख्यम् ।

काश्मीराख्यं मण्डलं तत्र शस्तं
यत्राऽऽस्तेऽसौ शारदा वागधीशा ॥ ५५ ॥

इस भूतल पर जम्बूद्वीप सबसे श्रेष्ठ है और उस जम्बूद्वीप में भी भारतवर्ष सर्वोत्तम है। उसमें भी काश्मीर-मण्डल सबसे अधिक रमणीय है। वहीं पर वाणी की अधीश्वरी "शारदा देवी" निवास करती हैं ॥ ५५ ॥

द्वारैर्युक्तं माण्डपैस्तच्चतुर्भिर्देव्या गेहं यत्र सर्वज्ञपीठम् ।
यत्राऽऽरोहे सर्ववित् सज्जनानां नान्ये सर्वे यत्प्रवेष्टुं क्षमन्ते॥५६॥

वहाँ शारदा का मन्दिर है जिसमें चार दरवाजे और अनेक मण्डप हैं। वहीं पर सर्वज्ञ पीठ है। उस पीठ पर आरोहण करने से मनुष्य पण्डितों के बीच में सर्वज्ञ हो जाता है और सर्वज्ञ को छोड़कर कोई आदमी उसमें प्रवेश नहीं कर सकता ॥ ५६ ॥

प्राच्याः प्राच्यां पश्चिमा पश्चिमायां
ये चोदीच्यास्तामुदीचीं प्रपन्नाः ।
सर्वज्ञास्तद्द्वारमुद्घाटयन्तो
दाक्षा नद्धं नो तदुद्घाटयन्ति ॥ ५७ ॥

पूर्व के सर्वज्ञ लोग पूर्वी दरवाजे से प्रवेश करते हैं; पश्चिम के पश्चिमी दरवाजे से और उत्तर के लोग उत्तरी दरवाजे को खोलकर उसमें प्रवेश करते हैं। परन्तु दक्षिण के लोग बन्द हुए दक्षिणी दरवाजे को खोल नहीं सकते ॥ ५७ ॥

वार्तामुपश्रुत्य स दाक्षिणात्यो मानं तदीयं परिमातुमिच्छन् ।
काश्मीरदेशाय जगाम हृष्टः श्रीशङ्करो द्वारमपावरीतुम् ॥ ५८ ॥

इस बात को सुनकर आचार्य इसकी सचाई की जाँच करने के लिये काश्मीर देश को चले। वे दक्षिण के रहनेवाले थे। अतः शारदा मन्दिर के दक्षिणी द्वार को खोलने की उनकी बड़ी इच्छा थी ॥ ५८ ॥

द्वारं पिनद्धं किल दाक्षिणात्यं न सन्ति विद्वांस इतीह दाक्षाः ।
तां किंवदन्तीं विफलां विधातुं जगाम देवीनिलयाय हृष्यन् ॥५९॥

वादिव्रातगजेन्द्रदुर्मदघटादुर्गर्वसंकर्षण-
श्रीमच्छङ्करदेशिकेन्द्रमृगराडायाति सर्वार्थवित् ।
दूरं गच्छत वादिदुःशठगजाः संन्यासदंष्ट्रायुधो
वेदान्तोरुवनाश्रयस्तदपरं द्वैतं वनं भक्षति ॥ ६० ॥

चारों ओर यह किंवदन्ती फैली हुई थी कि दक्षिणी द्वार सदा बन्द ही रहता है; क्योंकि दक्षिण में ऐसा कोई विद्वान् ही नहीं जो उसके खोलने का उद्योग करे। इस किंवदन्ती को विफल करने के लिये आचार्य देवी के मन्दिर में प्रसन्न होकर गये। (कवि कह रहा है कि) हे प्रतिवादी लोग ! तुम लोग दूर हट जाव; क्योंकि सर्वज्ञ आचार्य शङ्कररूपी सिंह इधर आ रहा है। वह वादी-रूपी मतवाले हाथियों के झुण्ड के घमण्ड को चूर चूर कर देनेवाला है। जिस प्रकार सिंह अपने दाँतरूपी आयुध से हाथियों को मार डालता है उसी प्रकार संन्यास इनका आयुध (हथियार) है। ये वेदान्त-रूपी वन में विचरण करनेवाले हैं। ये द्वैतरूपी जङ्गल का विनाश कर डालेंगे ॥ ५९-६० ॥

करटतटान्तवान्तमदसौरभसारभर-
स्खलदलिसंभ्रमत्कलभकुम्भविजृम्भिबलः ।
हरिरिव जम्बुकानमददन्तगजान् कुजना-
नपि खलु नाक्षिगोचरयतीह यतिर्हतकान् ॥ ६१ ॥

मतवाले हाथियों के गण्डस्थल से मद की धारा सदा बहा करती है। उसकी सुगन्धि इतनी मीठी होती है कि भौंरों के झुण्ड मधुर गुञ्जार करते हुए चारों ओर भ्रमण किया करते हैं। ऐसे हाथियों के कपोलों पर अपना बल दिखलानेवाला सिंह क्या गीदड़ों को तथा मद और

दन्त से रहित हाथियों को कुछ गिनता है। उसकी दृष्टि में ये नितान्त हेय जन्तु हैं। इसी प्रकार यतिराज शङ्कर ने भी निन्दित कुत्सित जनों को किसी लेखे में नहीं गिना ॥ ६१ ॥

संश्रावयन्नध्वनि देशिकेन्द्रः श्रीदक्षिणद्वारभुवं प्रपेदे ।
कवाटमुद्घाट्य निवेष्टुकामं ससंभ्रमं वादिगणो न्यरौत्सीत् ॥६२॥

आचार्य रास्ते में प्रतिपक्षियों को इस प्रकार सुनाते हुए मन्दिर के दक्षिणी द्वार पर पहुँचे। द्वार खोलकर ज्योंही उन्होंने प्रवेश करने की इच्छा प्रकट की त्योंही शत्रुओं ने झट से उन्हें रोक दिया ॥ ६२ ॥

अथाब्रवीद् वादिगणः स देशिकं किमर्थमेवं बहुसंभ्रमक्रिया ।
यदत्र कार्यं तदुदीर्यतां शनैर्न संभ्रमः कर्तुमलं तदीप्सितम् ॥६३॥

अनन्तर वादी लोग आचार्य से कहने लगे कि आप जल्दी क्यों कर रहे हैं? जो कुछ करना है उसे आप धीरे से कहिए क्योंकि आपके मनोरथ की सिद्धि के लिये यह शीघ्रता किसी प्रकार सहायता नहीं दे सकेगी ॥ ६३ ॥

यः कश्चिदेत्येतु परीक्षितुं चेद्वेदाखिलं नाविदितं ममाणु ।
इत्थं भवान् वक्ति समुन्नतीच्छो दत्त्वा परीक्षां व्रज देवतालयम् ६४

आचार्य—मेरी परीक्षा करने के लिये जिसकी इच्छा हो वह आगे आवे। मैं सब वस्तुओं को जानता हूँ। अणुमात्र भी ऐसा नहीं है जिसे मैं नहीं जानता। इस पर वादियों ने कहा कि यदि आपकी ऐसी इच्छा है तो परीक्षा देकर इस मन्दिर में जाइए ॥ ६४ ॥

दार्शनिकों से आचार्य का शास्त्रार्थ

षड्भाववादी कणभुङ्मतस्थः पप्रच्छ तं स्वीयरहस्यमेकम् ।
संयोगभाजः परमाणुयुग्माज्जातं हि सूक्ष्मं द्व्यणुकं मतं नः ६५
यत्स्यादणुत्वं तदुपाश्रितं तज्जायेत कस्माद् वद सर्वविच्चेत् ।
नो चेत्प्रभुत्वं तव वक्तुमेते सर्वज्ञभाषां विहितां क्षमन्ते ॥ ६६ ॥

इस पर षट् पदार्थों को माननेवाले एक वैशेषिक मतानुयायी ने उनसे पूछा—हमारा यह सिद्धान्त है कि इस जगत् के आरम्भ में परमाणु ही थे। दो परमाणुओं के संयोग होने पर द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है। यदि तुम सर्वज्ञ हो तो यह बतलाओ कि द्व्यणुक में रहनेवाला जो अणुत्व है वह किस प्रकार से पैदा होता है। यदि तुम नहीं कह सकोगे तो हम लोग यही जानेंगे कि तुम्हारे शिष्य ही तुम्हें सर्वज्ञ कहते हैं। तुम वस्तुतः सर्वज्ञ नहीं हो ॥ ६५-६६ ॥

टिप्पणी—वैशेषिक लोगों के अनुसार पदार्थ दो प्रकार का होता है—भाव पदार्थ और अभाव पदार्थ। भाव छः प्रकार के होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। इनके मत से जगत् का आरम्भ परमाणु से होता है। एक परमाणु के दूसरे परमाणु से मिलने पर द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है और तीन द्व्यणुकों के मिलने पर त्रसरेणु उत्पन्न होता है। इसी प्रकार क्रमशः सृष्टि होती है। परमाणुवाद के विशेष विवरण के लिये देखिए—भारतीय-दर्शन, पृष्ठ ३०१-३०४।

या द्वित्वसंख्या परमाणुनिष्ठा सा कारणं तस्य गतस्य मात्रा।
इतीरिते तद्वचनं प्रपूज्य स्वयं न्यवर्तिष्ट कणादलक्ष्मीः ॥ ६७ ॥

आचार्य ने उत्तर दिया कि परमाणुओं में जो द्वित्व संख्या है वही द्व्यणुक के अणुत्व का कारण है। शङ्कर का उत्तर बड़ा सटीक था। इसे सुनकर वैशेषिक मतावलम्बियों की बोलती बन्द हो गई ॥ ६७ ॥

टिप्पणी—द्व्यणुक—वैशेषिक दर्शन दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक की उत्पत्ति मानता है। तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक या त्रसरेणु की उत्पत्ति होती है। छत के छेद से आनेवाली सूर्य-किरण में जो अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ नाचते हुए दिखलाई पड़ते हैं वे ही त्रसरेणु हैं। द्व्यणुक में परिमाण कैसे उत्पन्न होता है यह विचारणीय विषय है। अणु में जो परमाणु रहता है उससे द्व्यणुक के परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि परिमाण का नियम है कि वह समानजातीय उत्कृष्ट परिमाण को उत्पन्न करता है। महत्

परमाणु से महत्तर परमाणु की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अणु परिमाण से अणुत्तर परिमाण की उत्पत्ति होने लगेगी। इसी लिये अणु परिमाण कारण नहीं माना जाता। द्व्यणुक परिमाण का कारण तद्गत द्वित्व संख्या मानी जाती है—

पारिमाण्डल्यभिन्नानां कारणत्वमुदाहृतम्—भाषापरिच्छेद का० १५

तत्रापि नैयायिक आत्तगर्वः कणादपक्षाच्चरणाक्षपक्षे।
मुक्तेर्विशेषं वद सर्वविच्चेन्नो चेत्प्रतिज्ञां त्यज सर्ववित्त्वे ॥६८॥

अनन्तर किसी गर्वीले नैयायिक ने आचार्य से पूछा कि यदि तुम सर्वज्ञ हो तो यह बतलाओ कि वैशेषिक मत से नैयायिक मत में मुक्ति की क्या विशेषता है। यदि न कहोगे तो सर्वज्ञ होने की अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ो ॥ ६८ ॥

अत्यन्तनाशे गुणसंगतेर्या स्थितिर्नभोवत् कणभक्षपक्षे।
मुक्तिस्तदीये चरणाक्षपक्षे साऽऽनन्दसंवित्सहिता विमुक्तिः ॥६९॥

आचार्य—गुण के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध बना रहता है उस सम्बन्ध के नष्ट हो जाने पर आत्मा आकाश की भाँति निर्लेप रहता है। वैशेषिकों के मत में यही मुक्ति है। न्याय मत में आत्मा की वह स्थिति आनन्द-युक्त होने पर मुक्ति के नाम से पुकारी जाती है ॥ ६९ ॥

पदार्थभेदः स्फुट एव सिद्धस्तथेश्वरः सर्वजगद्विधाता।
स ईशवादीत्युदितेऽभिनन्द्य नैयायिकोऽपि न्यवृतन्निरोधात् ॥७०॥

दोनों का पदार्थ-भेद तो स्पष्ट ही है। संसार का निमित्त-कारण ईश्वर है। इतना कहने पर ईश्वरवादी नैयायिक आचार्य के रोकने से अलग हट गया ॥ ७० ॥

टिप्पणी—मुक्ति के विषय में भारतीय दर्शन में भिन्न भिन्न कल्पनाएँ की गई हैं। गौतम के शब्दों में दुःख के अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः—न्यायसूत्र १।१।२२)। 'अत्यन्त' का अभिप्राय है उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनुत्पादन। गृहीत जन्म का

नाश तो होना ही चाहिए। परन्तु भविष्य में जन्म की नितरां अनुत्पत्ति भी उतनी ही आवश्यक है। इन दोनों के सिद्ध होने पर आत्मा की दुःख से आत्यन्तिकी निवृत्ति हो जाती है। विचारणीय प्रश्न यह है कि इस अवस्था में आत्मा को आनन्द का अनुभव होता है कि नहीं। वैशेषिकों का स्पष्ट कथन है कि मुक्तावस्था में आनन्द की उपलब्धि नहीं होती। प्राचीन नैयायिक लोगों का मत भी यही था। भाष्यकार वात्स्यायन तथा वार्तिककार ने इस मत की पुष्टि बड़े समारोह के साथ की है। (द्रष्टव्य—न्यायसूत्र १।१।२२ पर न्यायभाष्य और वार्त्तिक।) जयन्त भट्ट ने भी इसकी पुष्टि की है। श्रीहर्ष ने नैषध में (१७-७५) इसकी दिल्लगी उड़ाई है।

मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम्।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव सः॥

वैष्णवों ने इसी प्रकार वैशेषिक मुक्ति को बुरा-भला कहा है।

वरं वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम्।
वैशेषिकोक्तमोक्षात्तु सुखलेशविवर्जितात्॥—सर्वसिद्धान्तसंग्रह पृष्ठ २८

जान पड़ता है कि पिछले नैयायिकों में एक सम्प्रदाय ऐसा था जो मुक्तावस्था में आत्मा में आनन्द की उपलब्धि मानता है। इसी सम्प्रदाय के सिद्धान्त को लक्ष्य कर आचार्य ने दोनों दर्शनों की मुक्ति में भेद दिखलाया है।

तं कापिलः प्राह च मूलयोनिः किं वा स्वतन्त्रा चिदधिष्ठिता वा
जगन्निदानं वद सर्वविच्चेन्नो चेत् प्रवेशस्तव दुर्लभः स्यात्॥७१॥

सांख्यवादी ने आचार्य से पूछा कि मूल प्रकृति स्वतन्त्र रूप से जगत् का कारण है अथवा किसी चैतन्य से अधिष्ठित होने पर जगत् का कारण है। इस विषय का आप निर्णय कीजिए, नहीं तो इस मन्दिर में आपका प्रवेश दुर्लभ है॥ ७१॥

सा विश्वयोनिर्बहुरूपभागिनी स्वयं स्वतन्त्रा त्रिगुणात्मिका सती
इत्येव सिद्धान्तगतिस्तु कापिली वेदान्तपक्षे परतन्त्रता मता ७२

आचार्य—प्रकृति इस विश्व की जननी है। सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणों से वह त्रिगुणात्मिका है। स्वयं स्वतन्त्र है। परिणाम के कारण नाना रूप को धारण करनेवाली है। यही कपिल का सिद्धान्त है। परन्तु वेदान्त मत में वह परतन्त्र मानी जाती है॥ ७२॥

ततो नदन्तो न्यरुधन् सगर्वा दत्त्वा परीक्षां व्रज धाम देव्याः।
बौद्धास्तथा संप्रथिताः पृथिव्यां बाह्यार्थविज्ञानकशून्यवादैः॥७३॥

बाह्यार्थवादो द्विविधस्तदन्तरं वाच्यं विविक्षुर्यदि देवतालयम्।
विज्ञानवादस्य च किं विभेदकं भवन्मताद् ब्रूहि ततः परं व्रज॥७४॥

बौद्ध—वहाँ पर तीनों प्रकार के बौद्ध (बाह्यार्थवादी, विज्ञानवादी, शून्यवादी) उपस्थित थे। बड़े गर्व से हल्ला मचाते हुए इन्होंने आचार्य का रास्ता रोक दिया और कहने लगे कि परीक्षा देकर देवी के मन्दिर में जाओ। यदि देवमन्दिर में प्रवेश करने की आपकी (आचार्य) इच्छा हो तो दोनों प्रकार के बाह्यार्थवाद को बतलाओ। तुम्हारे वेदान्तमत से बाह्यार्थवाद का क्या भेद है? इसे बतलाओ॥ ७३-७४॥

सौत्रान्तिको वक्ति हि वेद्यजातं लिङ्गाधिगम्यं त्वितरोऽक्षिगम्यम्।
तयोस्तयोर्भङ्गुरताऽविशिष्टा भेदः कियान् वेदनवेद्यभागी॥७५॥

आचार्य—वैभाषिक की सम्मति में समस्त पदार्थ प्रत्यक्षगम्य हैं। परन्तु सौत्रान्तिक के मत में पदार्थ की सत्ता अवश्य है किन्तु वह प्रत्यक्ष के द्वारा सिद्ध न होकर अनुमान के द्वारा होती है। ये दोनों सब पदार्थों की सत्ता के माननेवाले हैं। इसलिये सर्वास्तिवादी कहलाते हैं। क्षणिकवाद दोनों मानते हैं। केवल बाह्य अर्थ की सत्ता किस प्रकार से जानी जाती है, इसी विषय में दोनों का भेद है॥ ७५॥

विज्ञानवादी क्षणिकत्वमेषामङ्गीचकारापि बहुत्वमेषः।
वेदान्तवादी स्थिरसंविदेकेत्यङ्गीचकारेति महान् विशेषः॥७६॥

विज्ञानवादी के अनुसार बाह्य पदार्थ की सत्ता नहीं है। केवल विज्ञान ही एक सत्य पदार्थ है। वह विज्ञान को भी अनेक और क्षणिक

मानता है परन्तु वेदान्तवादी ज्ञान को स्थिर तथा एकरूप मानता है। इस प्रकार दोनों में महान् भेद है॥ ७६॥

अथाब्रवीद्ध दिग्वसनानुसारी रहस्यमेकं वद सर्वविच्चेत्।
यदस्तिकायोत्तरशब्दवाच्यं तत्किं मतेऽस्मिन् वद देशिकाऽऽशु ७७

जैन—दिगम्बर जैन ने आचार्य से पूछा कि यदि आप सर्वज्ञ हैं तो एक रहस्य बतलाइए कि हमारे मत में 'अस्तिकाय' शब्द का क्या अर्थ है ?॥ ७७॥

तत्राऽऽह देशिकवरः शृणु रोचते चेत्
जीवादिपञ्चकममीष्टमुदाहरन्ति।
तच्छब्दवाच्यमिति जैनमतेऽप्रशस्ते
यद्यस्ति बोद्धुमपरं कथयाऽऽशु तन्मे॥७८॥

आचार्य—यदि सुनना चाहते हो तो सुनो। जैन धर्म में पाँच अस्तिकाय हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश। जैनमत निन्दनीय है। इस मत के विषय में यदि कुछ पूछना है तो शीघ्र पूछो॥ ७८॥

टिप्पणी—अस्तिकाय—जैन मत के अनुसार पदार्थ के दो बड़े विभाग हैं—एकदेशव्यापी द्रव्य और बहुदेशव्यापी द्रव्य। दूसरे प्रकार के द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं। सत्ता धारण करने के कारण वे 'अस्ति' हैं और शरीर की भाँति विस्तार रखने के कारण वे 'काय' कहे जाते हैं। सत्ता और विस्तार से युक्त होने के कारण ये पदार्थ 'अस्तिकाय' कहलाते हैं। ऐसे पदार्थ पाँच हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश। जो द्रव्य अस्तिकाय नहीं है वह केवल एक है और वह है काल। इस प्रकार जैन मत में द्रव्य छः प्रकार के होते हैं।

दत्तोत्तरे वादिगणे तु बाह्ये बभाण कश्चित् किल जैमिनीयः।
शब्दः किमात्मा वद जैमिनीये द्रव्यं गुणो वेति ततो व्रज त्वम्॥७९

आचार्य ने जब वेदबाह्य तार्किकों का मुख उत्तर देकर बन्द कर दिया तो जैमिनिमतावलम्बी किसी मीमांसक ने आचार्य से प्रश्न किया कि मीमांसाशास्त्र में शब्द का क्या स्वरूप है। वह द्रव्य है या गुण है ? इसका उत्तर देकर आप जाइए ॥ ७९ ॥

नित्या वर्णाः सर्वगाः श्रोत्रवेद्या यत्तद्रूपं शब्दजालं च नित्यम् ।
द्रव्यं व्यापीत्यब्रुवञ्जैमिनीया इत्येवं तं प्रोक्तवान् देशिकेन्द्रः ॥८०॥

शङ्कर ने उत्तर दिया कि वर्ण नित्य हैं, सर्वत्र व्यापक हैं, श्रोत्र इन्द्रिय के द्वारा उनका ग्रहण होता है। वर्ण-समूह को शब्द कहते हैं। वह भी नित्य द्रव्य है और व्यापक है ॥ ८० ॥

शास्त्रेषु सर्वेष्वपि दत्तवन्तं प्रत्युत्तरं तं समपूजयंस्ते ।
द्वारं समुद्घाट्य ददुश्च मार्गं ततो विवेशान्तरभूमिभागम् ॥८१॥

इस प्रकार आचार्य ने भिन्न भिन्न दार्शनिकों के प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे दिया तब उन लोगों ने उनकी पूजा की तथा दरवाजा खोल-कर उन्हें अन्दर जाने का मार्ग दे दिया। आचार्य मन्दिर के भीतरी भाग में गये ॥ ८१ ॥

पाणौ सनन्दनमसाववलम्ब्य विद्याभद्रासनं तदवरोढुमनाश्च वाल ।
अत्रान्तरे विधिवधूर्विबुधाग्रगण्यमाचार्यशंकरमवोचदनङ्गवाचा ८२

पद्मपाद के कन्धे पर हाथ रखकर आचार्य सरस्वती के भद्रासन पर बैठने के लिये आगे बढ़े। इतने ही में सरस्वती पण्डितों में श्रेष्ठ शङ्कर से शरीर-रहित वाणी से बोली ॥ ८२ ॥

सर्वज्ञता तेऽस्ति पुरैव यस्मात् सर्वत्र पर्यैक्षि भवान्न चेत्ते ।
विरिञ्चिरूपान्तरविश्वरूपः शिष्यः कथं स्यात् प्रथिताग्रणीः सः ८३

सरस्वती—आपकी सर्वज्ञता तो पहले ही प्रमाणित हो चुकी है। क्या उसमें कुछ संशय है ? यदि ऐसा नहीं होता तो क्या पण्डितों के अग्रणी, ब्रह्मा के दूसरे अवतार, मण्डन मिश्र आपके शिष्य बनते ?॥८३॥

सर्वज्ञतैकैव भवेन्न हेतुः पीठाधिरोहे परिशुद्धता च ।
सा तेऽस्ति वा नेति विचार्यमेतत् तिष्ठ क्षणं त्वं कुरु साहसं मा ॥८४॥

इस पीठ पर चढ़ने के लिये सर्वज्ञता ही केवल कारण नहीं है। इसके लिये शुद्धि की बड़ी आवश्यकता है। अब मुझे विचार करना है कि वह शुद्धता आपमें है या नहीं। इसलिये क्षण भर आप खड़े रहिए। आगे बढ़ने का साहस मत कीजिए ॥ ८४ ॥

त्वं चाङ्गनाः समुपभुज्य कलारहस्यप्रावीण्यभाजनमभूर्यतिधर्मनिष्ठः ।
आरोढुमीदृशपदं कथमर्हता ते सर्वज्ञतेव विमलत्वमपीह हेतुः ॥८५॥

तुमने स्त्रियों का उपभोग कर संन्यासी होते हुए भी काम-कला के रहस्यों में निपुणता प्राप्त कर ली है। क्या संन्यास-धर्म को पालन करनेवाले यति के लिये ऐसा आचरण ठीक है? ऐसी दशा में इस पीठ पर बैठने के लिये आपमें योग्यता कहाँ है? और सर्वज्ञता के समान शुद्धता भी इस पर बैठने का प्रधान हेतु है ॥ ८५ ॥

नास्मिञ्शरीरे कृतकिल्बिषोऽहं जन्मप्रभृत्यम्ब न संदिहेऽहम् ।
व्यधायि देहान्तरसंश्रयाद्यन्न तेन लिप्येत हि कर्मणाऽन्यः ॥८६॥

आचार्य—"मैंने इस शरीर से जन्म से लेकर अब तक कोई पातक नहीं किया। इस विषय में मुझे तनिक भी शङ्का नहीं है। काम-कला का रहस्य मैंने अवश्य सीखा, परन्तु वह दूसरे देह को ग्रहण करके किया है। उस कर्म से, उससे यह भिन्न शरीर क्या किसी प्रकार लिप्त हो सकता है? ॥ ८६ ॥

इत्थं निरुत्तरपदां स विधाय देवीं
सर्वज्ञपीठमधिरुह्य ननन्द सभ्यः ।
संमानितोऽभवदसौ विबुधैश्च वाण्या
गार्ग्या कहोलमुखरैरिव याज्ञवल्क्यः ॥८७॥

इन वचनों से शङ्कर ने देवी को निरुत्तर कर दिया तथा वे सर्वज्ञ पीठ पर बैठकर आनन्दित हुए। पण्डितों ने और सरस्वती ने आचार्य का उसी प्रकार सम्मान किया जिस प्रकार गार्गी और कहोल आदि ऋषियों ने महर्षि याज्ञवल्क्य का प्राचीन काल में किया था॥ ८७॥

टिप्पणी—याज्ञवल्क्य—आप वैदिककाल के बड़े भारी तत्त्ववेत्ता पुरुष थे। मिथिला के राजा जनक के आप उपदेष्टा थे। बृहदारण्यक उपनिषद् के तीसरे अध्याय में आपके साथ अनेक तत्त्ववेत्ताओं के साथ शास्त्रार्थ करने का बड़ा मनोरञ्जक वर्णन किया गया है। जनक ने बड़ा भारी यज्ञ किया था जिसमें कुरु-पाञ्चाल के ब्राह्मण निमन्त्रित किये गये थे। जनक के हृदय में यह बड़ी भारी जिज्ञासा उठी कि इन ब्राह्मणों में सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता कौन है। इसलिये उन्होंने एक हज़ार गायें इकट्ठी कीं और हर एक के सींग में दस-दस पाद सोना बाँधा गया था। जनक की आज्ञा हुई कि जो ब्राह्मणों में ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गायों को ले जाय। किसी भी ब्राह्मण की हिम्मत न हुई। तब याज्ञवल्क्य ने अपने विद्यार्थी से कहा कि गायों को हाँक ले जाओ। इस पर याज्ञवल्क्य के साथ अनेक ब्रह्मवेत्ताओं ने भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक विषयों पर शास्त्रार्थ करना शुरू किया। ऐसे लोगों में अश्वल, जारत्कार व आर्तभाग, भुज्युलाह्यायनि, उषस्त चाक्रायण, कहोल, कौषीतकेय, गार्गी वाचकनवी तथा उद्दालक आरुणि मुख्य थे। याज्ञवल्क्य ने इन सबों को शास्त्रार्थ में निरुत्तर कर अपने उत्कृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया। इसी का उल्लेख इस श्लोक में किया गया है।

सर्वज्ञ आचार्य की स्तुति

वादप्रादुर्विनोदप्रतिकथनसुधीवादद्दुर्वारतर्क-
न्यक्कारस्वैरधाटीभरितहरिदुपन्यस्तमाहानुभाव्यः।
सर्वज्ञो वस्तुमर्हस्त्वमिति बहुमतः स्फारभारत्यमोघ-
श्लाघाजोघुष्यमाणो जयति यतिपतेः शारदापीठवासः॥ ८८॥

शास्त्रार्थ-रसिक प्रतिपक्षी पण्डितों ने जिन दुर्निवार तर्कों का प्रयोग किया है उसके खण्डन करने से आपने जो कीर्ति प्राप्त की है उससे चारों दिशाएँ व्याप्त हो रही हैं और ये आपके महान् प्रभाव का समुचित रीति से वर्णन कर रही हैं। आप सर्वज्ञ हैं, पण्डितों के द्वारा माननीय हैं। इस आसन पर बैठने के योग्य हैं। इस प्रकार आचार्य के शारदा-पीठ पर बैठने की प्रशंसा लोग विमल वाणी से चारों ओर कर रहे थे ॥ ८८ ॥

कुत्राप्यासीत् प्रलीनेक्षणचरणकथा कापिली क्वापि लीना
भग्नाऽभग्ना गुरूक्तिः क्वचिदजनि परं भट्टपादप्रवादः ।
भूमावायोगकाणादजनिमतमथाभूतवाग्भेदवार्ता
दुर्दान्तब्रह्मविद्यागुरुदुरुदकथादुन्दुभेर्धिन्धिमेतः ॥८९॥

उद्धत प्रतिवादियों के साथ ब्रह्मविद्या के आचार्य शङ्कर के शास्त्रार्थ की दुन्दुभि जब बजने लगी तब उसकी आवाज़ से गौतम की न्याय-कथा कहीं विलीन हो गई; कपिल की चर्चा दूर चली गई; प्रभाकर की प्रभा अस्त हो गई; और कुमारिलभट्ट का प्रवादमात्र भूतल पर रह गया तथा पातञ्जल और कणाद के मतों के साथ द्वैतवाद की कथा चर्चा के योग्य भी न सिद्ध हुई ॥ ८९ ॥

काणादः क्व प्रणादः क्व च कपिलवचः क्वाक्षिपादप्रवादः
क्वाप्यन्धा योगकन्था क्व गुरुरतिलघुः क्वापि भाट्टप्रघट्टम् ।
क्व द्वैताद्वैतवार्ता क्षपणकविवृतिः क्वापि पाषण्डषण्ड-
ध्वान्तध्वंसैकभानोर्जयति यतिपतेः शारदापीठवासे ॥९०॥

जब पाखण्डरूपी अन्धकार को दूर करने में सूर्य के समान यतिराज शङ्कर शारदा-पीठ पर बैठे तब कणाद की चर्चा कहाँ? कपिल के वचन कहाँ? गौतम का प्रवाद कहाँ? योग की कन्था कहाँ? अत्यन्त लघु गुरु (प्रभाकर) कहाँ? और भट्ट (कुमारिल) की वाक्य-रचना कहाँ?

द्वैताद्वैतवादियों की वार्ता कहाँ ? और जैनियों के व्याख्यान कहाँ ? आशय है कि आचार्य के सामने इन भिन्न भिन्न दार्शनिकों की बोलती सदा के लिये बन्द हो गई ॥ ९० ॥

ततो दिविषदध्वनि त्वरितमध्वराशावली-
धुरंधरसमीरितत्रिदशपाणिकोणाहतः ।
अरुन्द्ध हरिदन्तरं स्वरभरैर्भ्रमत्सिन्धुभि-
र्घनाघनघनारवप्रथमबन्धुभिर्दुन्दुभिः ॥९१॥

आकाश में देवराज इन्द्र की प्रेरणा से देवताओं ने अपने हाथ से आनन्द-मग्न होकर दुन्दुभी बजाना आरम्भ कर दिया। यह दुन्दुभी वर्षाकाल के मेघ के गर्जन के समान इतनी आवाज कर रही थी कि समुद्र में ज्वार-भाटा आ गया और दिशाओं के स्थान को ध्वनि ने रोक दिया ॥९१॥

कचभरवहनं पुलोमजायाः कतिचिदहान्यपगर्भकं यथा स्यात् ।
गुरुशिरसि तथा सुधाशनाः स्वस्तरुकुसुमान्यथ हर्षतोऽभ्यवर्षन् ॥९२

देवताओं ने प्रसन्न होकर शङ्कर के मस्तक पर कल्पवृक्ष के इतने फूल बरसाये कि कुछ दिनों तक इन्द्राणी के कुच-मण्डल को अलंकृत करने के लिये फूलों का अभाव बना रहा ॥ ९२ ॥

शङ्कर का बदरी क्षेत्र में निवास

इति मुनिरतितुष्टोऽध्युष्य सर्वज्ञपीठं
निजमतगुरुतायै नो पुनर्मानहेतोः ।
कतिचन विनिवेश्यार्ष्यश्रृङ्गाश्रमादौ
मुनिरथ बदरीं स प्राप कैश्चित् स्वशिष्यैः ॥९३॥

इस प्रकार मुनि ने प्रसन्न होकर सर्वज्ञ पीठ पर अपना आसन जमाया। यह अपने मान के लिये न था प्रत्युत अपने अद्वैत मत की गुरुता प्रदर्शित करने के लिये था। आचार्य ने कुछ शिष्यों को शृङ्गेरी

आदि भिन्न भिन्न पीठों पर रक्खा और कुछ शिष्यों को साथ लेकर बदरी-नारायण पहुँचे ॥ ९३ ॥

दिवसान् विनिनाय तत्र कांश्चित् स च पातञ्जलतन्त्रनिष्ठितेभ्यः ।
कृपयोपदिशन् स्वसूत्रभाष्यं विजितत्याजितसर्वदर्शनेभ्यः ॥ ९४ ॥

वहाँ पर रहकर शङ्कर ने अन्य दर्शनों को छोड़कर पातञ्जल दर्शन में निष्ठा रखनेवाले पण्डितों को अपना शारीरक भाष्य पढ़ाया। इस प्रकार उन्होंने कुछ दिन वहाँ बिताये ॥ ९४ ॥

नितरां यतिरोडुराजकरप्रचुरप्रसरस्वयशाः ।
स्वमयं समयं गमयन् रमयन् हृदयं सदयं सुधियां शुशुभे ॥९५॥

भगवान् शङ्कर का यश शरत्-पूर्णिमा की किरणों के समान चारों ओर फैल रहा था। उन्होंने पण्डितों को अपना शास्त्र पढ़ाया और उन्हें आनन्दित कर स्वयं सुशोभित हुए ॥ ९५ ॥

एवंप्रकारैः कलिकल्मषघ्नैः शिवावतारस्य शुभैश्चरित्रैः ।
द्वात्रिंशदत्युज्ज्वलकीर्तिराशेः समा व्यतीयुः किल शंकरस्य॥९६॥

इस प्रकार शिव के अवतारभूत उज्ज्वल कीर्तिशाली शङ्कर ने कलि-कल्मष को दूर करनेवाले शुभ चरित्र को प्रकट किया। इस प्रकार उनके जीवन के बत्तीस बरस बीत गये ॥ ९६ ॥

आचार्य शङ्कर की प्रशंसा

भाष्यं भूष्यं सुशीलैरकलि कलिमलध्वंसि कैवल्यमूल्यं
हन्ताहंता समन्तात् कुमतिनतिकृता खण्डिता पण्डितानाम् ।
सद्योविद्योतिताऽसौ विपथविमथनैर्मुक्तिपद्याऽनवद्या
श्रेयो भूयो बुधानामधिकतरमितः शंकरः किं करोतु ॥९७॥

शङ्कर ने ऐसा पाण्डित्यपूर्ण भाष्य बनाया जो विद्वानों के द्वारा आदरणीय है, कलिमल को दूर करनेवाला है, मोक्ष को देनेवाला है।

दुष्टों के नमस्कार से उत्पन्न किये गये, पण्डितों के अहङ्कार को उन्होंने खण्डित कर दिया। विपक्षियों के मतों का खण्डन कर उन्होंने पवित्र मोक्ष-मार्ग को प्रकाशित कर दिया। पण्डितों के लिये इससे अधिक और कौन कल्याण की बात है जिसे शङ्कर करते ॥ ९७ ॥

हन्ताशोभियशोभरैस्त्रिजगतीमन्दारकुन्देन्दुभा-
मुक्ताहारपटीरहीरविहरन्नीहारतारानिभैः।
कारुण्यामृतनिर्झरैः सुकृतिनां दैन्यानलः शून्यतां
नीतः शंकरयोगिना किमधुना सौरभ्यमारभ्यताम् ॥९८॥

योगिराज शङ्कर ने मन्दार, कुन्द, चन्द्रमा, मुक्तामाला, चन्दन, हीरा और ताराओं के समान निर्मल यश से और करुणा-रूपी अमृत के बरसाने से पण्डितों की दीनता-रूपी अग्नि को सदा के लिये बुझा दिया है। इसके बाद और कौन ऐसा सुगन्ध है जिसे वे चारों ओर फैलाते ? ॥ ९८ ॥

आक्रान्तानि दिगन्तराणि यशसा साधीयसा भूयसा
विस्मेराणि दिगन्तराणि रचितान्यत्यद्भुतैः क्रीडितैः।
भक्ताः स्वेप्सितभुक्तिमुक्तिकलनोपायैः कृतार्थीकृता
भिक्षुक्ष्मापतिना किमन्यदधुना सौजन्यमातन्यताम् ॥९९॥

शङ्कर ने अपने विशाल यश से दिशाओं को व्याप्त कर लिया। अत्यन्त अद्भुत अपनी लीलाओं के द्वारा दिशाओं को विस्मित कर दिया है। भुक्ति और मुक्ति के उपाय को बतलाकर अपने भक्तों को उन्होंने कृतार्थ कर दिया है। अब ऐसी कौन सुजनता है जिसका वे विस्तार करते ? समस्त जगत् के कल्याण के लिये शङ्कर ने अपना काम किया था ॥ ९९ ॥

शङ्कर की केदार-यात्रा

पारिकाङ्क्षीश्वरोऽप्यापदुद्धारकं सेव्यमानातुलस्वस्तिविस्तारकम्।
प्रापदावानलातापसंहारकं योगिवृन्दाधिपः प्राप केदारकम् ॥१००॥

इसके बाद शङ्कर केदार धाम में पहुँचे। यह स्थान विपत्तियों को दूर करनेवाला है। भक्तों को विपुल कल्याण देनेवाला है। पाप और ताप को दूर भगानेवाला है॥ १००॥

तत्रातिशीतार्दितशिष्यसंघसंरक्षणायातुलितप्रभावः।
तप्तोदकं प्रार्थयते स्म चन्द्रकलाधरात् तीर्थकरप्रधानः॥१०१॥

वहाँ इतनी सर्दी थी कि विद्यार्थी लोग जाड़े के मारे ठिठुर रहे थे। उनकी रक्षा करने के लिये इन्होंने भगवान् शङ्कर से गर्म जल के लिये प्रार्थना की॥ १०१॥

कर्मन्दिवृन्दपतिना गिरिशोऽर्थितः सन्
संतप्तवारिलहरीं स्वपदारविन्दात्।
प्रावर्तयत् प्रथयती यतिनाथकीर्तिं
याऽद्यापि तत्र समुदञ्चति तप्ततोया॥१०२॥

योगिराज की प्रार्थना सुनकर शिव ने अपने चरण-कमल से गर्म जल की धारा बहा दी। वह धारा यतिराज की कीर्ति को प्रकाशित करती हुई आज भी विद्यमान है॥ १०२॥

इति कृतसुरकार्यं नेतुमाजग्मुरेनं
रजतशिखरिशृङ्गं तुङ्गमीशावतारम्।
विधिशतमखचन्द्रोपेन्द्रवाय्वग्निपूर्वाः
सुरनिकरवरेण्याः सर्षिसंघाः ससिद्धाः॥१०३॥

इस प्रकार आचार्य ने देवताओं का कार्य समाप्त किया। ये शिव के अवतार थे। इन्हें स्वर्ग में ले जाने के लिये ब्रह्मा, इन्द्र, चन्द्र, विष्णु, वायु, अग्नि आदि समस्त देवता—ऋषियों और सिद्धों के साथ—चाँदी के शिखर से मण्डित कैलाश पर्वत पर इकट्ठे हुए॥ १०३॥

विद्युद्वल्लीनियुतसमुदारब्धयुद्धैर्विमानैः
संख्यातीतैः सपदि गगनाभोगमाच्छादयन्तः।

स्तुत्वा देवं त्रिपुरमथनं ते यतीशानवेषं
मन्दारोत्थैः कुसुमनिचयैरब्रुवन्नर्चयन्तः ॥१०४॥

देवता लोग इस दृश्य को देखने के लिये इतने विमानों पर चढ़कर आये कि आकाश-मण्डल ढक गया और बिजली की चमक चारों ओर फैलने लगी। यति-वेश को धारण करनेवाले महादेव की उन्होंने स्तुति की और पारिजात के फूलों से इनकी पूजा कर यह कहना शुरू किया —।१०४

भवानाद्यो देवः कवलितविषः कामदहनः
पुरारातिर्विश्वप्रभवलयहेतुस्त्रिनयनः ।
यदर्थं गां प्राप्तो भवमथन वृत्तं तदधुना
तदायाहि स्वर्गं सपदि गिरिशास्मत्प्रियकृते ॥१०५॥

आप इस जगत् के कारण हैं; विश्व की उत्पत्ति और लय के हेतु हैं। आपने संसार के कल्याण के लिये विष का पान किया है, काम का दहन किया है और त्रिपुर राक्षस को मार डाला है। जिस कार्य के लिये आपने इस पृथ्वी-तल पर अवतार ग्रहण किया था वह कार्य समाप्त हो गया। इसलिये हे गिरीश! हम लोगों के कल्याण के लिये आप स्वर्ग में शीघ्र आइए॥ १०५॥

उन्मीलद्विनयप्रधानसुमनोवाक्यावसाने महा-
देवे संभृतसंभ्रमे निजपदं गन्तुं मनः कुर्वति ।
शैलादिः प्रमथैः परिष्कृतवपुस्तस्थौ पुरस्तत्क्षणा-
दुक्षाशारदवारिदुग्धवरटाहंकारहुंकारकृत् ॥१०६॥

विनयपूर्वक देवताओं ने जब यह प्रार्थना समाप्त की तब महादेव ने स्वर्ग में जाने की इच्छा की। उसी समय प्रमथगणों के द्वारा सुसज्जित किया गया नन्दी भगवान् के सामने आकर खड़ा हो गया। उसका शरीर इतना श्वेत था कि उसके सामने शरत्कालीन जल का, दूध का और हंसों का अहंकार क्षण भर में दूर हो जाता था॥ १०६॥

इन्द्रोपेन्द्रप्रधानैस्त्रिदशपरिवृढैः स्तूयमानः प्रसूनै-
दिंव्यैरभ्यर्च्यमानः सरसिरुहभुवा दत्तहस्तावलम्बः।
आरुह्योक्षाणमग्र्यं प्रकटितसुजटाजूटचन्द्रावतंसः
शृण्वन्नालोकशब्दं समुदितमृषिभिर्धाम नैजं प्रतस्थे ॥१०७॥

अपने नन्दी पर सवार हो, ब्रह्मा के कन्धे का सहारा लेकर, भगवान् शङ्कर अपने धाम को चले गये। उनके माथे पर चन्द्रमा चमक रहा था और चारों ओर जटा-जूट फैला हुआ था। इन्द्र, विष्णु आदि प्रधान देवता लोग उनकी स्तुति कर रहे थे। कल्पवृक्ष के फूलों को उन पर बरसा रहे थे और ऋषि लोग चारों ओर से जय हो, जय हो की ध्वनि कर रहे थे ॥ १०७ ॥

इति श्रीमाधवीये तच्छारदापीठवासगः।
संक्षेपशङ्करजये सर्गः पूर्णोऽपि षोडशः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्विद्यारण्यविरचितः श्रीमच्छङ्करदिग्विजयः समाप्तः।

(सम्पूर्णग्रन्थस्य पद्य-संख्या १८४३)

माधवीय शङ्करदिग्विजय में शारदा-पीठ में निवास का वर्णन करनेवाला सोलहवाँ सर्ग समाप्त हुआ।

———

परिशिष्ट (क)

(इतर शङ्करविजयों का सारांश)

१—शङ्करविजय

यह 'शङ्करविजय' आनन्दगिरि के नाम से प्रसिद्ध है। इसे पण्डित जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ते से प्रकाशित किया है। आनन्दगिरि के नाम से विख्यात होने पर भी इस शङ्कर-विजय के रचयिता का नाम 'अनन्तानन्दगिरि' है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त की पुष्पिका में रचयिता के नाम का स्पष्ट उल्लेख है। अतः आनन्दगिरि (१२०० ई० के आसपास) को इसका कर्ता मानना नितान्त भ्रमपूर्ण है। यह ग्रन्थ आचार्य के जीवन-वृत्त के सांगोपांग वर्णन करने के लिये उतना उपादेय नहीं है जितना विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों तथा मतों के सिद्धान्तों के विवरण प्रस्तुत करने में यह श्लाघनीय है। पूरा ग्रन्थ ७६ प्रकरणों में विभक्त है तथा अधिकतर गद्य में है। स्थान-स्थान पर प्रमाण देने के लिये प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किये गये हैं। इसके अनुशीलन से भारतीय विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओं के रहस्य तथा पारस्परिक पार्थक्य का परिचय भली भाँति हो सकता है।

ग्रन्थकार

दक्षिणभारत के विख्यात शैवपीठ 'चिदम्बरम्' में सर्वज्ञ और कामाक्षी नामक एक ब्राह्मण-दम्पती रहते थे। इनकी एक कन्या थी—विशिष्टा जिसका सर्वज्ञ ने 'विश्वजित्' के साथ विवाह कर दिया। ये ही विश्वजित् और विशिष्टा शङ्कर के पिता-माता हैं। विश्वजित् तो तपस्या के निमित्त जङ्गल में चले गये।

जीवनवृत्त

विशिष्टा ने चिदम्बरेश्वर की अलौकिक भक्ति के प्रभाव से 'शङ्कर' को पुत्ररूप में पाया (दूसरा प्रकरण)। तीसरे वर्ष चौल संस्कार तथा पाँचवें वर्ष उपनयन संस्कार किया गया। ग्राहवाली घटना का उल्लेख इसमें नहीं है। गोविन्द मुनि के उपदेश से व्याससूत्र के ऊपर भाष्य लिखने के बाद अनेक शिष्यों ने इनसे संन्यास-दीक्षा ली। इन शिष्यों के नाम हैं—पद्मपाद, हस्तामलक, समित्पाणि, चिद्विलास, ज्ञानकन्द, विष्णुगुप्त, शुद्धकीर्ति, भानुमरीचि, दर्शनबुद्धि, विरिञ्चिपाद, अनन्तानन्दगिरि। इन्हें साथ लेकर शङ्कर चिदम्बर से 'मध्यार्जुन' गये और इनके प्रार्थना करने पर शिव ने शरीर धारण कर अद्वैत-तत्त्व को ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य रहस्य बतलाया। वहाँ से उन्होंने 'रामेश्वर' में जाकर दो मास तक निवास किया तथा शैवमत के अनुयायियों को परास्त कर अद्वैत का अनुगामी बनाया (तीसरा प्रकरण)। रामेश्वर से वे 'अनन्तशयन' गये और अपने शिष्यों के साथ एक महीने तक वहाँ निवास किया। यह तीर्थ वैष्णवों का प्रधान केन्द्र था। आचार्य ने भक्त, भागवत, वैष्णव, पाञ्चरात्र, वैखानस तथा कर्महीन—इन षड्प्रकार के वैष्णवों के मत का खण्डन किया (६ प्रकरण—१० प्रकरण)। यहाँ से पश्चिम ओर जाकर वे पन्द्रह दिनों में 'सुब्रह्मण्य' नामक स्थान में पहुँचे जो कुमार (कार्तिकेय) की उत्पत्ति का स्थान बतलाया जाता है (ग्यारह प्रकरण)। वहाँ से उत्तर-पश्चिम की ओर जाकर वे 'गणवर' नामक नगर में पहुँचे। यहाँ उन्होंने एक मास तक निवास किया। वहाँ से 'भवानी नगर' पहुँचकर उन्होंने एक महीने तक निवास किया और शाक्त मत का खण्डन किया (उन्नीस प्रकरण)। उसके पास ही 'कुवलयपुर' नामक स्थान था जहाँ के निवासी लक्ष्मी के परम भक्त थे। उनको भी शङ्कर ने परास्त किया। अनन्तर वे उत्तर ओर जाकर 'उज्जयिनी' में पहुँचे। यह स्थान कापालिकों का प्रधान अड्डा था। शङ्कर से उनका ही गहरा शास्त्रार्थ न हुआ, बल्कि चार्वाक, क्षपणक तथा सौगतों का भी हुआ। यहाँ से वे उत्तर-पश्चिम दिशा में 'अनुमल्ल' नगर में पहुँचे, जहाँ उन्होंने

इक्कीस दिन बिताये। वहाँ से वे पश्चिम दिशा में 'अरुन्ध' गये और फिर उत्तर ओर 'मगधपुर' पहुँचें। फिर वे पहले 'इन्द्रप्रस्थ' गये और पीछे 'यमप्रस्थ', जहाँ एक मास तक निवास किया (२३ और २४ प्रकरण)। यमप्रस्थ यमपूजकों का प्रधान स्थान था। शास्त्रार्थ होने पर यमपूजकों ने भी शङ्कर से हार मानी।

आचार्य ने 'प्रयाग' में बहुत दिनों तक निवास किया और नाना मतों के खण्डन में समय लगाया। यहाँ से पूर्व दिशा में लगभग सात दिनों तक चलकर 'काशी' में पहुँचे (४३ प्र०) और यहाँ कुछ दिनों तक ठहरे। पीछे कुरुक्षेत्र के रास्ते से होकर वे 'बदरीक्षेत्र' में गये तथा केदारेश्वर का दर्शन किया और तप्त जल का कुण्ड उत्पन्न कर दिया। अनन्तर 'द्वारका' जाकर वे 'अयोध्या' आये। वहाँ से 'गया' होकर जगन्नाथ के रास्ते 'श्री पर्वत' पर पहुँचे। वहाँ शिवपार्वती—मल्लिकार्जुन और भ्रमराम्बा—के दर्शन से आचार्य ने अपने को कृतकृत्य माना। उनके वहाँ निवास-काल में रुद्राख्यपुर से ब्राह्मणों ने आकर कुमारिल भट्ट के प्रायश्चित्त की बात कह सुनाई। शङ्कर ने 'रुद्रपुर' में कुमारिल से साक्षात्कार किया (५५ प्र०)। उनकी सम्मति से वे उत्तर दिशा में जाकर हस्तिनापुर से अग्निकोण में स्थित एक प्रसिद्ध विद्यालय में पहुँचे जिसे वहाँ के लोग 'विजुलबिन्दु' कहते थे। यहीं था मण्डनमिश्र का निवास। ये कुमारिल के भगिनीपति बतलाये गये हैं। उनका निवासस्थान एक विशालकाय प्रासाद था। वहीं शङ्कर ने शास्त्रार्थ में मण्डन को हराया। (५६ प्र०) मण्डन की धर्मपत्नी का नाम 'सरसवाणी' था। पति के संन्यास लेने पर वे स्वर्ग में जाने लगीं तब शङ्कर ने वनदुर्गा मन्त्र से उन्हें रोक लिया (५७ प्र०)। कामकला के अभ्यास के वास्ते शङ्कर ने 'अमृतपुर' के राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया (५८ प्र०)। शृंगेरी में विद्यापीठ की स्थापना कर शङ्कर ने शिष्यों के साथ १२ वर्ष तक निवास किया। अनन्तर सुरेश्वर को पीठाध्यक्ष बनाकर नृसिंह के आविर्भूत होने की जगह 'अहोबल' में गये। नरसिंह की स्तुति कर वे 'वैकल्यगिरि' होकर 'काञ्ची'

आये। 'शिवकाञ्ची' और 'विष्णुकाञ्ची' को शङ्कर ने अलग अलग बसाया तथा ब्रह्मयज्ञ कुण्ड से उत्पन्न 'वरदराज' की प्रतिष्ठा विष्णुकाञ्ची में की। कामाक्षी की बिम्ब प्रतिष्ठा को मैं अष्टधा करूँगा, यह विचार कर उन्होंने विद्याकामाक्षी की प्रतिष्ठा कर दी तथा श्रीचक्र का भी वहाँ निर्माण किया (६५ प्र०)। अनन्तर अपने एक एक शिष्य के द्वारा सौर, शाक्त, वैष्णव, गाणपत्य आदि मतों का स्थापन कर काञ्ची में ही आचार्य ने स्थूल शरीर को सूक्ष्म में लीन कर अपनी ऐहिकलीला का संवरण किया (७४ प्र०)। इस प्रकार इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कर की अन्तिम लीलाओं का निकेतन काञ्ची नगरी ही थी।

२—शङ्करविजय-विलास

परिचय

इस शङ्करविजय के रचयिता का नाम है—चिद्विलासयति। इनके मुख्य शिष्य का नाम 'विज्ञानकन्द' था। इन्होंने अपने गुरु से आचार्य शङ्कर का पवित्र चरित्र पूछा। इसी जिज्ञासा की निवृत्ति के निमित्त चिद्विलास ने इस ग्रन्थ का निर्माण किया। आनन्दगिरि ने अपने शङ्करविजय में चिद्विलास तथा विज्ञानकन्द को आचार्य का साक्षात् शिष्य बतलाया है। तो क्या हम अनुमान कर सकते हैं कि यह ग्रन्थ आनन्दगिरि को ज्ञात था? सम्भवतः यह आनन्दगिरि के शङ्करविजय का भी अनन्तरवर्ती प्रतीत होता है। आचार्य के जीवन की विविध घटनाओं की समानता इन दोनों ग्रन्थों में अवश्य है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है; मद्रास ओरियन्टल लाइब्रेरी में तैलङ्गाक्षरों में इसकी प्रति रक्षित है। उसी के आधार पर यह संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है।

इसमें ३२ अध्याय हैं। नारदजी भूमण्डल की अवस्था देखते-देखते केरल देश में गये। वहाँ वृषभाचल के ऊपर 'शिवगुरु' नामक ब्राह्मण को

तपस्या करते हुए देखा। नारदजी ने उनसे अनेक प्रश्न किये। इनकी पत्नी का नाम 'आर्या' था। उनके गाँव के पास चूर्णी नदी बहती थी।

जीवनवृत्त

नारदजी सत्यलोक में गये और ब्रह्मा को साथ लेकर कैलास गये। उनकी प्रार्थना सुनकर भगवान् शङ्कर ने शिवगुरु की पत्नी आर्या के गर्भ में जन्म लेना स्वीकार किया (४ अध्याय)। शङ्कर का जन्म वैशाख महीने में दोपहर के समय आर्द्रा नक्षत्र में हुआ। बालक की बुद्धि बहुत ही प्रखर थी। (५-६ अ०)। पाँचवें साल उसके पिता ने स्वयं शङ्कर का उपनयन किया। पिता ने विवाह के लिये सब बातें ठीक कर रक्खी थीं; परन्तु उनकी मृत्यु ने बड़ा भारी विघ्न उपस्थित कर दिया और शङ्कर का विवाह न हो सका। चूर्णी नदी में स्नान के समय ग्राह ने शङ्कर को पकड़ा था। वह मकर पूर्वजन्मों में गन्धर्वों का अधीश्वर पुष्परथ था। किसी शाप-वश वह ग्राह बना था। आचार्य के संसर्ग से मुक्त हो गया (७ अ०)। शङ्कर अपने गुरु की खोज में उत्तर-भारत में आये। बदरी-वन में अपने गुरु गोविन्दपाद से मिले जिन्होंने उन्हें विधिवत् संन्यास की दीक्षा दी और अद्वैत-वेदान्त का तत्त्व समझाया। प्रस्थान-त्रयी के ऊपर भाष्य लिखने की प्रेरणा गोविन्दपाद ने शङ्कर को दी। (९ अ०)

दसवें अध्याय में पद्मपाद के चरित्र का वर्णन है। इनके पिता का नाम माधवाचार्य और माता का नाम था लक्ष्मी। ये दोनों बहुत दिनों तक पुत्र-हीन थे। अनन्तर नरसिंह की उपासना करने से इन्हें पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसका नाम था विष्णुशर्मा। नरसिंह ने ही विष्णु-शर्मा को शङ्कर के पास वेदान्त पढ़ने तथा संन्यास ग्रहण करने के लिये भेजा। सनन्दन तथा पद्मपाद ये दोनों नाम संन्यास देने के अनन्तर आचार्य ने ही दिये थे। माता के स्मरण करने पर आचार्य केरल देश में गये। माता के मर जाने पर अपने घर के पास ही चूर्णी नदी के तट पर उन्होंने अपनी माता का संस्कार

किया। सहायता न करने के कारण इन्होंने अपने जाति-भाइयों को शाप दिया।

माता के संस्कार के अनन्तर ये प्रयाग क्षेत्र में आये। यहीं पर हस्तामलक से इनकी भेंट हुई तथा शङ्कर ने इन्हें अपना शिष्य बनाया। शिष्यों के साथ ये काशी आये। वेदान्त की व्याख्या करने के कारण इनकी कीर्ति इतनी फैली कि काशी के राजा स्वयं इनके पास आये और छत्र, चामर आदि देकर इनके प्रति अपना आदर-भाव दिखलाया (१२ अध्याय)। काशी में रहते समय इन्होंने त्रोटकाचार्य को अपना शिष्य बनाया। यहीं मणिकर्णिका घाट पर वेदव्यासजी स्वयं पधारे तथा सूत्रकार और भाष्यकार में वेदान्त-सूत्र की व्याख्या के विषय में खूब शास्त्रार्थ हुआ (१३ अध्याय)। सन्तुष्ट होकर व्यासजी ने शङ्कर को आशीर्वाद दिया जिससे शंकर को और सोलह वर्ष की आयु प्राप्त हुई। (१४ अध्याय) रुद्ध नामक नगर में कुमारिलभट्ट से शङ्कर की भेंट हुई और कुमारिल के कहने पर मण्डन मिश्र को जीतने के लिये शंकर काश्मीर गये और उन्हें जीतकर संन्यास की दीक्षा दी। (१७-१८ अध्याय) सरस्वती को पराजित करने के लिये शंकर ने अमरुक राजा के मृतक शरीर में प्रवेश किया तथा समग्र काम-कलाएँ सीखकर सरस्वती को परास्त किया। (१९-२० वाँ अ०) तुङ्गभद्रा नदी के किनारे विभाण्डक और ऋषिश्रृंग ने जिस पर्वत पर तपस्या की थी वहीं पर आचार्य ने शारदा मठ की स्थापना की और सुरेश्वर को वहाँ का अध्यक्ष नियुक्त किया। (२३, २४ अ०) श्रृङ्गेरी में पीठ स्थापना के अनन्तर आचार्य काञ्चीपुरी गये तथा श्रीचक्र का निर्माण कर उसकी प्रतिष्ठा की। यहीं पर आचार्य ने समस्त वेद-विमुख मतों तथा सम्प्रदायों का खण्डन कर सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया (२५ वाँ अ०)। यहीं से उन्होंने अपना दिग्विजय प्रारम्भ किया। काञ्ची से वे वेंकटाचल आये तथा वैखानस मत का खण्डन किया। अनन्तर चिदम्बरक्षेत्र में उन्होंने सौर-मत का खण्डन किया। उसके बाद मध्यार्जुन क्षेत्र में उन्होंने कुछ दिन तक

निवास किया। (२६ वाँ अ०) यहाँ से वे रामेश्वर गये और वहाँ कापालिकों के मत का खण्डन किया। (२७ वाँ अ०) अनन्तर वक्रतुण्ड नगर गये जहाँ गणपति के उपासकों को परास्त किया। अनन्तर दक्षिण मथुरा (वर्तमान मदूरा) तथा अनन्तशयन (वर्तमान ट्रावणकोर रियासत) में जाकर उन्होंने वैष्णव मत का खण्डन किया। पश्चात् वे 'वासुकिक्षेत्र' में गये जहाँ स्वामी कार्तिकेय विराजमान थे। आचार्य ने कुमारधारा में स्नान किया और सर्व रोग और भय को दूर करनेवाले सुब्रह्मण्य की पूजा की। अनन्तर 'मृडपुरी' में जाकर उन्होंने बौद्धमत का खण्डन किया। गोकर्ण क्षेत्र में जाकर उन्होंने समुद्र में स्नान किया और महाबलेश्वर महादेव का दर्शन कर अपने को कृतकृत्य माना (२८-२९ अ०)। अनन्तर जगन्नाथपुरी में जाकर उन्होंने "भोगवर्धन" नामक मठ की स्थापना की। यहाँ से वे उज्जयिनी में आये और प्रबल शाक्त-मत का (३० वाँ अ०) खण्डन कर उन्होंने अद्वैतमत का प्रचार किया। पीछे वे द्वारकापुरी में गये और अपना मठ बनाकर उन्होंने यहाँ पर कुछ दिन तक निवास किया। अनन्तर वे हरद्वार होते हुए बदरीक्षेत्र गये जहाँ ज्योतिर्मठ की स्थापना की और त्रोटकाचार्य को इस मठ का अध्यक्ष बनाया। शङ्कर ने गरम जल के तालाब का निर्माण किया। यहीं पर शङ्कर और दत्तात्रेय से योग तथा वेदान्त के विषय में संवाद हुआ। वे दत्तात्रेय के आश्रम में कुछ दिन तक रहे। भाष्य की रचना से भगवान् विष्णु अत्यन्त प्रसन्न हुए और शङ्कर को अपना दर्शन दिया। दत्तात्रेय की गुहा में प्रवेश कर आचार्य कैलास पर्वत पर चले गये और यहीं ब्रह्मलीन हो गये। (३१ अ०) बत्तीसवें अध्याय में इस पवित्र कथा के श्रवण का फल बतलाकर ग्रन्थ की समाप्ति की गई है।

३—शङ्करचरित

(कामकोटि पीठानुसार)

काञ्ची का कामकोटि पीठ आचार्य के द्वारा स्थापित मुख्य पीठों में से अन्यतम है। इस पीठ के सम्प्रदायानुसार आचार्य का चरित कई बातों में विभिन्न है।

आधार-ग्रन्थ

इस चरित का आधार इसी पीठ के अध्यक्षों के द्वारा समय-समय पर लिखित ये ग्रन्थ हैं :—

(१) पुण्यश्लोकमञ्जरी—शंकराचार्य से ५४वें पीठाध्यक्ष सर्वज्ञ सदाशिवबोध (१५२३-१५२९) के द्वारा विरचित प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसमें १०९ श्लोक हैं जिनमें इस पीठ के आचार्यों का जीवनवृत्त संक्षेप में दिया गया है।

(२) गुरुरत्नमाला—काञ्ची के ५५वें अध्यक्ष परम शिवेन्द्र सरस्वती के शिष्य सदाशिव ब्रह्मेन्द्र की यह कृति है जिसमें वहाँ के पीठाधीशों का वृत्त ८६ आर्याओं में निबद्ध किया गया है।

(३) परिशिष्ट तथा सुषमा—काञ्ची के ६१वें अध्यक्ष महादेवेन्द्र सरस्वती के शिष्य, आत्मबोध की ये दोनों रचनाएँ हैं। परिशिष्ट में केवल १३ श्लोक हैं जो मञ्जरी के अनन्तर होनेवाले (५४वें—६०वें) अध्यक्षों का वर्णन करता है। सुषमा गुरुरत्नमाला की टीका है जिसका निर्माण १६४२ शके (=१७२० ई०) में किया गया था। इनमें आचार्य के जीवनवृत्त की दी गई सूचनाएँ संक्षेप में यहाँ दी जाती हैं—

कलिसंवत् २५९३ (=५०९ ईस्वी पूर्व) के नन्दन संवत् में वैशाख शुक्ल पञ्चमी तिथि को शंकर का जन्म कालटी ग्राम में हुआ था।

जीवनवृत्त

तीसरे वर्ष उनका चौलकर्म तथा पाँचवें वर्ष उपनयन संस्कार किया गया। उसी साल पिता की मृत्यु हो गई। आठवें वर्ष में 'चूर्णी' नदी में स्नान के अवसर पर

ग्राह ने उन्हें पकड़ा था। उसी समय उन्होंने माता की अनुमति से संन्यास ले लिया।

गोविन्द मुनि नर्मदा के तीर पर रहते थे। उन्हीं से इन्होंने अद्वैत वेदान्त का अध्ययन किया। गुरु की आज्ञा से इन्होंने प्रस्थानत्रयी और विष्णुसहस्रनाम पर भाष्य लिखा तथा अपने शिष्यों के साथ अनेक तीर्थों का दर्शन करते हुए वे कैलास पधारे। वहाँ शङ्कर ने कैलासपति महादेव की मनोरम स्तुति की जो अद्वैत-तत्त्व की प्रतिपादक होने से 'वेदान्तचूर्णिका' के नाम से प्रसिद्ध है। महादेव ने शङ्कराचार्य को ५ स्फटिकलिङ्ग, 'सौन्दर्यलहरी' और 'शिवरहस्य' आदि ग्रन्थ दिये। तब वे काश्मीर में मण्डन मिश्र को परास्त करने गये तथा उनकी स्त्री 'शारदा' को भी परास्त कर दिया।

तब इन्होंने शृङ्गेरी में अपना मठ बनाया और शारदा को उस स्थान की अधिष्ठात्री देवी बनाया। 'भोगलिङ्ग' की (कैलास में प्राप्त पाँच लिङ्गों में से अन्यतम) वहाँ स्थापना की और पृथ्वीधराचार्य (आचार्य हस्तामलक) को उस पीठ का अध्यक्ष बनाया। अनन्तर वे चिदम्बरम् आये और 'मोक्षलिङ्ग' की स्थापना की। तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में वे दक्षिण भारत में त्रिचनापली के समीप स्थित 'जम्बुकेश्वर' तीर्थ में पहुँचे और वहाँ की देवी अखिलाण्डेश्वरी के कानों में ताटङ्क के स्थान पर श्रीचक्र रखकर उन्होंने भगवती को उग्र कला को न्यून बना दिया। 'ज्योतिर्मठ' की अध्यक्षता तोटकाचार्य को देकर शङ्कर केदारक्षेत्र में वहाँ गये और 'मुक्तिलिङ्ग' की प्रतिष्ठा की। वहाँ से वे नेपाल गये जहाँ 'वीरलिङ्ग' की स्थापना कर वे अयोध्या होकर द्वारका गये और मठ बनाकर एक शिष्य को अध्यक्ष बना दिया। जगन्नाथ क्षेत्र का मठ पद्मपाद की अध्यक्षता में रक्खा गया।

आचार्य ने इस प्रकार अपने जीवन का कार्य पूर्ण कर तथा भारतभूमि में वैदिक धर्म को अक्षुण्ण बनाये रखने की व्यवस्था कर अपने लिये 'काञ्ची' को पसन्द किया। उन्होंने देवी की उग्र कला को अपनी

शक्ति से शान्त कर उसे मृदु तथा मधुर बना दिया।* कामाक्षी के मन्दिर में 'श्रीचक्र' की स्थापना कर 'कामकोटि' पीठ की प्रतिष्ठा की। काञ्ची में ही आचार्य ने सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण किया। काञ्ची के राजा का नाम राजसेन था। उसने आचार्य की अनुमति से अनेक मन्दिर तथा देवालय बनाये। शङ्कराचार्य ने कामाक्षी के मन्दिर को बिल्कुल मध्य (बिन्दु-स्थान) में स्थित मानकर 'श्रीचक्र' के आदर्श पर काञ्ची को फिर से बसाया। अब आचार्य ने कामकोटि पीठ को ही अपनी लीलाओं का मुख्य स्थल बनाया और कैलास से लाये गये पाँचों लिङ्गों में सबसे श्रेष्ठ 'योगलिङ्ग' की स्थापना यहीं की।†

आचार्य शङ्कर ने पीठ की स्थापना के अनन्तर अपने मुख्यतम शिष्य सुरेश्वराचार्य को यहाँ का अध्यक्ष बना दिया, परन्तु 'योगलिङ्ग' की पूजा का अधिकार उन्हें नहीं दिया। सुरेश्वर पूर्वाश्रम में गृहस्थ थे और आचार्य की यही अभिलाषा थी कि इस शिवलिङ्ग और देवी की पूजा ब्रह्मचारी या ब्रह्मचर्य से सीधे संन्यास लेनेवाला व्यक्ति करे।

---

* प्रकृतिं च गुहाश्रयां महोग्रां स्वकृते चक्रवरे प्रवेश्य योगे।
अकृताश्रितसौम्यमूर्तिमार्यां, सुवृतं नः स चिनोतु शङ्करार्यः॥

—गुरुरत्नमालिका।

† योगलिङ्ग की स्थापना का निर्देश अनेक ग्रन्थों में मिलता है—

(क) काञ्च्यां श्रीकामकोटौ तु योगलिङ्गमनुत्तमम्।
प्रतिष्ठाप्य सुरेशार्यं पूजार्थं युयुजे गुरुः॥

—मार्कण्डेयपुराण।

(ख) सिन्धोर्जैत्रमयं पवित्रमसृजत् तत्कीर्तिपूर्ताद्भुतम्
यत्र स्नान्ति जगन्ति, सन्ति कवयः के वा न वाचंयमाः।
यद् बिन्दुश्रियमिन्दुरञ्चति जलं चाविश्य दृश्येतरो
यस्यासौ जलदेवतास्फटिकभूर्जागर्ति योगेश्वरः॥

—नैषधचरित सर्ग १२।३८।

इसी कारण उन्होंने अपने पीछे सर्वज्ञात्म श्रीचरण को यह अधिकार दे दिया, क्योंकि संन्यास लेने से पूर्व वे भी शङ्कर के समान ही ब्रह्मचारी थे। इस प्रकार अपने जीवन-कार्य को पूर्ण कर शिवावतार आचार्य शङ्कर ने २६२५ कलिवर्ष (=४७७ ई० पू०) में अपने जीवन के ३२वें वर्ष में अपनी दैहिक लीला यहीं संवरण की *। इस घटना की सूचना अनेक ग्रन्थों में मिलती है—

तद् योगभोगवरमुक्तिसुमोक्षयोगलिङ्गार्चनाप्राप्तजयस्वकाश्रये ।
तान् वै विजित्य तरसाक्षतशास्त्रवादैर्मिश्रान् स काञ्च्यामथ सिद्धिमाप ॥

—शिवरहस्ये

महेशांशाज्जातो मधुरमुपदिष्टाद्वयनयो
महामोहध्वान्तप्रशमनरविः षण्मतगुरुः ।
फले स्वस्मिन् स्त्रायुष्यपि शरचराब्देऽपि हि फले-
र्विलिल्ये रक्ताक्षिण्यधिवृषसितैकादशि परे ॥

—पुण्यश्लोकमञ्जरी

———

४—केरलीयशङ्करचरितम्

मालाबार प्रान्त में आचार्य के जीवनचरित के विषय में अनेक प्रवाद तथा किंवदन्तियाँ अन्यत्र उपलब्ध चरित से नितान्त भिन्न तथा विलक्षण हैं। इन केरलीय प्रवादों से युक्त आचार्य का जीवनचरित 'शङ्कराचार्यचरितम्' में उपलब्ध होता है। इसके रचयिता का नाम है गोविन्दनाथ यति जो सम्भवतः संन्यासी थे, परन्तु निश्चित रूप से केरलीय थे। यमक-काव्य गौरी-कल्याण के रचयिता, राम वारियर के शिष्य, करिकाट ग्रामन् के निवासी

परिचय

* द्रष्टव्य N. K. Venkatesan—Sri Sankaracharya and His Kamkoti Peeth पृष्ठ ७-१७।

गोविन्दनाथ से सम्भवतः ये भिन्न न थे। इस चरित की विशेषता है गम्भीर उदात्त शैली। न तो इसमें कल्पना की ऊँची उड़ान है और न अतिशयोक्ति का अतिशय प्रदर्शन। स्वाभाविकता इसकी महती विशेषता है जो विषय के नितान्त अनुरूप है।

विषय-सूची

इसमें ९ अध्याय हैं। पहले अध्याय में है कथा-संक्षेप, दूसरे में आचार्य की उत्पत्ति, तीसरे में व्यासजी से वार्तालाप, चौथे में शिष्यों का वृत्तान्त, पाँचवें में सुरेश्वर का संन्यास-ग्रहण, छठे में हस्तामलक और त्रोटक नामक शिष्यों का वर्णन, सातवें में मुक्तिदायिनी काञ्ची का माहात्म्य-कीर्तन, आठवें में रामेश्वर-यात्रा तथा माहात्म्य का वर्णन, नवें अध्याय में ज्ञाननिधि शङ्कर की परमानन्द-प्राप्ति। संक्षेप में यही कथा वर्णित है। पुस्तक के रचनाकाल का निर्देश उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यह ग्रन्थ १७वीं शताब्दी के पीछे का प्रतीत नहीं होता।

घटनाएँ

शङ्कर के माता-पिता पहले पञ्चियूर ग्राम के निवासी थे और पीछे आकर अलवाई नदी के तीर पर कालटी नामक ग्राम में रहने लगे थे। इसी ग्राम में रहते हुए शङ्कर के पिता ने पुत्र-प्राप्ति के लिये घोर तपस्या की थी। सपने में भगवान् शङ्कर ने दर्शन दिया और पिता से पूछा कि सर्वज्ञ एक पुत्र चाहते हो अथवा अल्पज्ञ बहुत से पुत्र। पिता ने सर्वज्ञ पुत्र की अभिलाषा प्रकट की। तदनुसार शङ्कर का जन्म हुआ। पाँच ही वर्ष में इनके पिता मर गये, और इन्होंने साल भर तक अपने पिता का श्राद्ध उसी भाँति किया जिस प्रकार आज भी केरल में हुआ करता है। पीछे इनका उपनयन-संस्कार हुआ। उपनयन होने के अनन्तर शङ्कर ने संस्कृत-साहित्य का गाढ़ अध्ययन किया। सोलहवें वर्ष में ये अपने जन्म-स्थान को छोड़कर काशी के लिये रवाना हुए। केरल में यह परम्परा आज भी प्रसिद्ध है कि आचार्य ने अपनी पूरी शिक्षा केरल देश में ही

समाप्त की। आचार्य के चार प्रधान शिष्यों में से तीन शिष्य केरल-देशीय थे। पद्मपादाचार्य स्वयं नम्बूदरी ब्राह्मण थे। गृहस्थाश्रम का नाम था विष्णु शर्मा। ये अलत्तर ग्राम के निवासी थे। आचार्य शङ्कर का घर कोचीन राज्य के अन्तर्गत था। उस समय कोचीन की राजगद्दी पर "राजराज" नामक राजा राज्य कर रहे थे परन्तु थोड़े ही दिनों के पीछे इनकी मृत्यु हो गई और "राजशेखर" नामक राजा उनके उत्तराधिकारी होकर गद्दी पर बैठे। आचार्य शङ्कर के ये ही समकालीन थे। ये अपने समय के बड़े भारी कवि और नाटककार थे।

शङ्कर का अन्तकाल

इस ग्रन्थ के अनुसार शङ्कराचार्य की मृत्यु केरल देश में ही हुई थी। काञ्ची में सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण कर आचार्य ने वहाँ कुछ दिनों तक निवास किया था। अनन्तर रामेश्वर में महादेव का दर्शन और पूजन कर शिष्यों के साथ घूमते-घामते "वृषाचल" पर आये। यह स्थान बड़ा पवित्र है। इसे दक्षिण कैलाश कहते हैं। यहीं रहते हुए उन्हें मालूम पड़ गया कि अब अन्त-काल आ गया है। उन्होंने विधिवत् स्नान किया और शिवलिङ्ग का पूजन किया। 'श्रीमूल' नामक स्थान में जाकर उन्होंने उसकी प्रदक्षिणा की। अनन्तर भगवान् कृष्ण और भगवान् भार्गव को विधिवत् प्रणाम किया। फिर भगवान् विष्णु का ध्यान करते हुए आचार्य परमानन्द में लीन हो गये। इस कथन की पुष्टि आजकल के प्रसिद्ध प्रवाद के द्वारा होती है। आचार्य ने अन्तिम दिन 'त्रिचूर' के मन्दिर में बिताये थे और उनका शरीर इसी मन्दिर के विशाल प्राङ्गण में समाधि रूप में गाड़ा गया था। जिस स्थान पर यह घटना घटी थी उस स्थान पर महाविष्णु के चिह्नों के साथ एक चबूतरा बनवा दिया गया है। इस बात का समर्थन एक अन्य प्रमाण से भी होता है। त्रिचूर के पास ही एक ब्राह्मण-वंश निवास करता है जो अपने को मण्डन मिश्र या सुरेश्वराचार्य का वंशज बताता है।

त्रिचूर का मन्दिर केरल भर में सब से पवित्र माना जाता है। इसका प्रधान कारण यही प्रतीत हो रहा है कि जगद्गुरु आचार्य की समाधि इसी मन्दिर के पास थी। इन कतिपय घटनाओं को छोड़कर अन्य घटनाएँ प्रसिद्ध शङ्करदिग्विजय के समान ही हैं। अतः उनके उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं।

५—गुरुवंश काव्य

(शृंगेरी मठानुसारी शङ्करचरित)

'गुरुवंश काव्य' का केवल प्रथम भाग (१ सर्ग—७ सर्ग) श्री वाणीविलास प्रेस से प्रकाशित हुआ है। इसकी मूल प्रति शृंगेरी मठ के पुस्तकालय से प्राप्त हुई थी। इसकी रचना हुए सौ वर्ष से कुछ ही अधिक बीते होंगे। इसके रचयिता का नाम है—काशी लक्ष्मण शास्त्री, जो आजकल के शृंगेरी-मठाधीश के पूर्व चतुर्थ अध्यक्ष श्री सच्चिदानन्द भारती स्वामी के सभा-पण्डित थे। लक्ष्मण शास्त्री नृसिंह भारती के शिष्य थे जिनकी कृपा से वे विद्याविशारद बने थे। ग्रन्थकार के शृंगेरी मठ के पण्डित होने से तथा हस्तलिखित प्रति के शृंगेरी से उपलब्ध होने के कारण यह अनुमान करना असङ्गत न होगा कि इस ग्रन्थ में दिया गया चरित शृंगेरी-परम्परा के अनुसार ही है। ग्रन्थ की पुष्पिका में 'सच्चिदानन्दभारतीमुनीन्द्र-निर्मापिते' से इसकी पुष्टि भी होती है। इस ग्रन्थ के केवल प्रथम तीन सर्गों में ही आचार्य का जीवनवृत्त संक्षेप में उपस्थित किया गया है, अन्य सर्गों में शृंगेरी-गुरु-परम्परा का साधारण उल्लेख कर श्री विद्यारण्य स्वामी का ही चरित कुछ अधिकता से वर्णित है। शङ्करचरित में अनेक विशेषताएँ हैं। मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख यहाँ किया जायगा।

परिचय

दक्षिण के श्रीसम्पन्न केरल देश में शङ्कर का जन्म हुआ था। रमणीय नदी के किनारे 'कारटी' नाम ग्राम में इनका उदय हुआ था। भगवान्

शङ्कर जगत् पर दया करने के लिये शङ्कर के रूप में अवतीर्ण हुए। शङ्कर के पिता का नाम था शिवगुरु तथा पितामह का विद्याधिराज (१ सर्ग ३७-३९ श्लोक)। केरल के राजा राजशेखर ने अपने नाटक शङ्कर को पढ़ सुनाये थे। उन नाटकों का नाम 'राजशेखर' था (२ सर्ग ९ श्लोक)। शङ्कर के चरण छूने के अनन्तर वह ग्राह मुक्त होकर गन्धर्व बन गया (२१,१४); गोविन्द मुनि के अद्वैत उपदेश सुनकर शंकर ने विष्णुसहस्रनाम, गीता, दशोपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा सनत्सुजातीय पर विशदार्थक भाष्य लिखा और उपदेशसहस्री, सौन्दर्यलहरी, प्रपञ्च-सार, सुभगोदयपद्धति तथा नाना देवताओं के स्तोत्र बनाये (२।२५-२६)। आचार्य बदरी आश्रम में गये और भगवान् ने बालक शङ्कर के ऊपर अनुग्रह करें वहाँ एक कुंण्ड के जल को गरम बना दिया (२।२८)। यहीं पर शङ्कर की वेदव्यासजी से भेंट हुई। त्रिवेणी के तट पर भट्टपाद कुमारिल से भेंट होने पर उन्हीं की प्रेरणा से शङ्कर मगध में रहनेवाले विश्वरूप के पास शास्त्रार्थ के लिये गये (२।४५)। शङ्कर ने प्रस्थान के समय मण्डन मिश्र को, जिन्होंने कुमारिल से इक्कीस बार शाबर भाष्य पढ़ा था, अद्वैत का उपदेश दिया (२।४९) [इस प्रकार ग्रन्थकार की दृष्टि में विश्वरूप और मण्डन भिन्न भिन्न व्यक्ति थे]। विश्वरूप का ही नाम सुरेश्वर हुआ जिन्होंने आचार्य के कहने पर अनेक वार्तिकों का निर्माण किया (२।५९)। शङ्कर माता के पास गये और उन्हें शिवभुजंग तथा विष्णुभुजंग स्तोत्र सुनाया (२।६४)। शङ्कर को उनके जाति-भाइयों ने माता के अग्नि-संस्कार के समय किसी प्रकार की सहायता न दी जिससे शङ्कर ने उन्हें शाप दिया। (२-६६) केरलाधिपति राजशेखर के तीनों नाटकों को फिर से सुनाकर शङ्कर ने उनका उद्धार किया। (२।६८) पद्मपाद की भाष्यवृत्ति उनके मामा ने जला दी थी। उन्हें विष भी दिया, पर आचार्य ने जितना सुना था उतना (आदिम ५ पादों की टीका) उन्होंने सुना दिया। उतनी ही 'पञ्चपादिका' विख्यात हुई।

जीवन वृत्त

(३।१-५) शङ्कर तब शिष्यों के साथ 'मध्यार्जुन' नामक स्थान में गये और भगवान् महादेवजी से उपनिषद् के रहस्य के विषय में पूछा। शिव ने रमणीय मूर्ति धारण कर भुजा ऊँची उठाकर तीन बार कहा—'अद्वैत ही श्रुति का सत्य तत्त्व है' (३।७)। शंकर अनन्तशयन, सेतुबन्ध, धनुष्कोटि आदि तीर्थों का दर्शन कर तौलव ग्रामों में श्रेष्ठ 'श्रीरौप्य-पीठ' नामक नगर में गये जहाँ उन्होंने अनन्तेश्वर और चन्द्रेश्वर की पूजा की। (३।१०) यहीं पर उन्होंने 'हस्तामलक' को अपना शिष्य बनाया। (३।१३) शंकर को भगन्दर रोग हो जाने पर एक शिष्य ने उनकी बड़ी सेवा की। आगे चलकर यही शिष्य 'तोटकाचार्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। (३।१६) योगबल से शंकर ने अश्विनीकुमारों का आवाहन किया जिन्होंने इन्हें इस रोग से मुक्त कर दिया (३।१९)।

गोकर्ण की यात्रा के बाद वे तुङ्गभद्रा के उद्गम-स्थान में गये। तुङ्गभद्रा के तट पर विभाण्डक मुनि के आश्रम में साँप को अपना फन फैलाकर मेंढकों की रक्षा करते देखा। (३।२१) श्री-

दिग्विजय

शैल, शेषाचल, नरसिंह गिरि तथा जगन्नाथ की यात्रा की। (३।२२) वहाँ से वे काशी आये और शिष्यों के साथ अपने लिये पाँच मठों की स्थापना यहाँ की। (३।२३) काशी से काश्मीर गये और शारदा के मन्दिर में प्रवेश कर सर्वज्ञ पीठ पर अधिरोहण के समय आकाशवाणी हुई कि अपनी सर्वज्ञता दिखलाकर पीठ पर चढ़ो। शारदा से आचार्य का शास्त्रार्थ हुआ। कामशास्त्र के प्रश्नों के उत्तर के लिये इन्होंने अवकाश माँगा; फिर अमरुक के मृतकाय में प्रवेश किया। 'अमरुकशतक' (कृतिं चामरुकं—३।२८) बनाया। शारदा को हराया और उन्हें शृंगेरी में अपने साथ ले आये। शारदा की प्रतिष्ठा की और चन्द्रमौलीश्वर लिङ्ग, जिसे रेवण महायोगी ने दिया था, रत्नगर्भ विनायक तथा शारदा की पूजा का भार सुरेश्वर पर रखकर वे काञ्ची पधारे। शिवकाञ्ची तथा विष्णुकाञ्ची को बसाया और कामाक्षी की सुन्दर मूर्ति की प्रतिष्ठा की। (३।३५) काञ्ची से आचार्य बदरी गये और वहाँ

विष्णु भगवान् ने उन्हें स्वप्न दिया कि मेरी मूर्ति जलमग्न है, आप उसे निकालिए। शङ्कर ने अलकनन्दा के भीतर से उस मूर्ति को निकाला, प्रतिष्ठित किया और वैदिक रीति से पूजन के लिये अपने देश के ब्राह्मण को नियत किया। नारायण का एक मन्दिर बनवाने के लिये अपने शिष्य पद्मपाद को रख दिया और आप काशी चले आये। (३। ३७-४०) पद्मपाद ने मन्दिर बनवा दिया। एक बार वे श्रीनगर के राजा के पास भिक्षार्थ गये। घर में श्राद्ध के निमित्त भोजन तैयार था, राजा स्नानार्थ बाहर गया था। जेठी रानी ने पद्मपाद से कहा—स्नान करके पधारिए, तब आपकी भिक्षा होगी। क्षुधा से पीड़ित पद्मपाद नदी में नहाने न गये, प्रत्युत अपने दण्ड के दो प्रहारों से जल की दो धाराएँ वहीं उत्पन्न कर दीं! जेठी रानी ने श्राद्धान्न में से इनके लिये भिक्षा दी। (३। ४४) छोटी रानी के चुगली खाने पर जब राजा ने तलवार उठाकर इन्हें मारना चाहा, तब पद्मपाद ने नरसिंह का रूप धारण कर उसके हाथ को स्तम्भित कर दिया। राजा ने प्रसन्न हो मुनि को अपना समग्र राज्य दे डाला। (३। ४७) काशी-निवास के समय एक भैरव नामक कापालिक आचार्य का चेला बन गया। उसकी इच्छा थी कि शङ्कर का सिर काटकर भैरव को बलि चढ़ाऊँ। पद्मपाद ने बदरी के पास नृसिंह-मन्दिर में ध्यान के समय इस रहस्य को जान लिया और स्वयं उपस्थित होकर उस कापालिक के मस्तक को काठ गिराया, जब वह एकान्त में शङ्कर के ऊपर प्रहार करना चाहता था। (३। ४८-५४) आचार्य अपनी शिष्यमण्डली के साथ नारायण के मन्दिर को देखने के लिये बदरी-आश्रम में गये। वे मन्दिर तथा भगवद्विग्रह को देखकर नितान्त प्रसन्न हुए और उन्होंने आज्ञा दी कि केरलदेशीय ब्राह्मण ही नारायण की पूजा किया करे। वे राजा के यहाँ गये और श्रीचक्र के क्रमानुसार उन्होंने 'श्रीनगर' का निर्माण किया तथा राजा का वहीं पट्टाभिषेक किया। (३। ५५-५८)

शङ्कर ने अपने चारों शिष्यों को भारतवर्ष की चार दिशाओं में 'निजसम्प्रदायप्रवर्तक' 'लोकगुरु' बना दिया—(१) सुरेश्वर को शृंगेरी मठ

का अध्यक्ष बनाकर दक्षिण भारत के धार्मिक निरीक्षण का कार्य उनके सुपुर्द कर दिया; (२) पद्मपाद को पूर्वी भारत के लिये जगन्नाथ मठ का अध्यक्ष बनाया; (३) हस्तामलक को पश्चिम दिशा में द्वारका क्षेत्र में मठ बनाकर रख दिया; (४) तोटकाचार्य को उत्तर दिशा में बदरी के पास ज्योतिर्मठ का अधीश्वर बना दिया (३।५९-६२)। शिष्यों को इन स्थानों पर रखकर शङ्कराचार्य 'सिद्धेश्वरी' के दर्शन के लिये स्वयं नेपाल देश में गये। सिद्धेश्वरी ने उन्हें अपनी गोद में बैठाकर स्वामी कार्तिकेय के समान उन्हें मधुर वचनों से अभिनन्दित किया। इस घटना को देखकर सिद्ध लोग रुष्ट हो गये और उन्होंने इन दोनों के ऊपर पत्थरों की वृष्टि की। आचार्य ने अपनी अलौकिक शक्ति से इस शिला-वृष्टि को रोक दिया (३।६३-६५)। शङ्कर ने अपनी प्यास बुझाने के लिये देवी से थोड़ा तक्र माँगा। तब देवी ने वहाँ तक्र की नदी उत्पन्न कर दी जो आज भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। (३।६६) मुनि ने अपना काम अब सम्पूर्ण माना। वे दत्तात्रेय के आश्रम में (जो हिमालय में कैलास के पास था) गये। उनके पास केवल दण्ड और कमण्डलु ही बच गये थे। पुस्तकों को और शिष्यों को वे छोड़ ही चुके थे। अब इन दोनों चीजों को छोड़ दिया। दण्ड तो वृक्ष बन गया और कमण्डलु का जल तीर्थ-रूप में परिणत हो गया। (३।६९) शङ्कर दत्तात्रेय से मिले और अपना समस्त कार्य कह सुनाया। दत्तात्रेय ने बड़ी प्रसन्नता प्रकट की और आचार्य के कार्य की भूरि भूरि प्रशंसा की। इस प्रकार इन दोनों सिद्ध पुरुषों ने बहुत दिनों तक एकत्र निवास किया (३।७०)।

——

परिशिष्ट (ख)

१—'कला'-विषयक टिप्पणी

दिग्विजय के प्रसङ्ग में शङ्कराचार्य के मूकाम्बिका के मन्दिर में जाने तथा भगवती की स्तुति करने का वर्णन इस ग्रन्थ के १२वें सर्ग में किया गया है। भगवती की स्तुति में निम्नलिखित पद्य आता है जिसके अर्थ को ठीक ठीक समझ लेने के लिये तन्त्रशास्त्र की कुछ बातों के जानने की आवश्यकता है। पद्य यह है—

अष्टोत्तरत्रिंशति याः कलास्तास्वर्ध्याः कलाः पञ्च निवृत्तिमुख्याः।
तासामुपर्यम्ब तवांघ्रिपद्मं विद्योतमानं विबुधा भजन्ते ॥१२।३१ ॥

तन्त्रशास्त्र के अनुसार तीन रत्न हैं—शिव, शक्ति और बिन्दु। ये ही तीनों तत्त्व समस्त तत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादान रूप से प्रकाशमान होते हैं। शिव शुद्ध जगत् के कर्ता हैं, शक्ति करण है तथा बिन्दु उपादान है। पाञ्चरात्र आगम में 'विशुद्ध सत्त्व' शब्द से जिस तत्त्व का अर्थ समझा जाता है, 'बिन्दु' उसी का द्योतक है। इसी का नाम 'महामाया' है। यही बिन्दु शब्दब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम—इन विचित्र भुवन तथा भोग्य रूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है। जब शक्ति के आघात से इस बिन्दु का स्फुरण होता है, तब उससे 'कला' का उदय होता है। 'कला' शब्द का अर्थ है अवयव, टुकड़े, हिस्से। अतः कला वे भिन्न भिन्न अवयव हैं जिनमें सृष्टि-काल में बैन्दव उपादान शक्ति के आघात से अपने को विभक्त करता है। सृष्टि-काल में मूल प्रकृति भिन्न भिन्न अभिव्यक्त रूपों को धारण करती है—अंशरूपिणी, कलारूपिणी तथा कलांशरूपिणी। दुर्गा, लक्ष्मी, सरस्वती अंशरूपिणी हैं, पुष्टि, तुष्टि और अन्य देवियाँ कलारूपिणी हैं। जगत् की समस्त स्त्रियाँ 'कलांशरूपिणी' हैं जो महामाया की साक्षात् अभिव्यक्ति होने से हमारी

बिन्दु

समधिक श्रद्धा के पात्र हैं (स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु—सप्तशती ११। ६)। इन कलाओं की उत्पत्ति वर्णों से होती है, अतः वर्ण-विषयक विचार यहाँ आवश्यक है।

मूलाधार में स्थित शब्दब्रह्ममयी विभु कुण्डलिनी शक्ति ही वर्ण-मालिका की सृष्टि करती है। इसका विस्तृत वर्णन तन्त्रग्रन्थों में उपलब्ध होता है। शारदातिलक (प्रथम पटल श्लोक १०८-११३ तथा द्वितीय पटल) और मातृकाचक्रविवेक में इस विषय का सांगोपांग विवेचन किया गया है। कुण्डलिनी शक्ति को उत्पन्न करती है जो गूढार्थदीपिका-कार के अनुसार मूलकारणभूत शब्द के उन्मुख होने की अवस्था का नामान्तर है (शक्तिर्नाम मूलकारणस्य शब्दस्योन्मुखीकरणावस्थेति गूढार्थ-दीपिकाकारः)। इसी शक्ति से ध्वनि का उदय होता है, ध्वनि से नाद का, नाद से निरोधिका का, उससे अर्धचन्द्र का, उससे बिन्दु का और इस बिन्दु से परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी-रूप चतुर्विध शब्दों का जन्म होता है। परा वाक् के उदय का स्थान मूलाधार है। आगे चलकर स्वाधिष्ठान-चक्र में उसे 'पश्यन्ती' कहते हैं, हृदय में उसे 'मध्यमा' कहते हैं और मुख से कण्ठ, तालु आदि स्थानों का आश्रय लेकर अभिव्यक्त होनेवाली वाणी को 'वैखरी' कहते हैं :—

वर्णों की उत्पत्ति

स्वात्मेच्छाशक्तिघातेन प्राणवायुस्वरूपतः।
मूलाधारे समुत्पन्नः पराख्यो नाद उत्तमः॥
स एवोर्ध्वं तया नीतः स्वाधिष्ठाने विजृम्भितः।
पश्यन्त्याख्यामवाप्नोति तयैवोर्ध्वं शनैः शनैः॥
अनाहते बुद्धितत्त्वसमेतो मध्यमाभिधः।
तथा तयोर्ध्वं नुन्नः सन् विशुद्धौ कण्ठदेशतः॥
वैखर्याख्यस्ततः कण्ठशीर्षताल्वोष्ठदन्तगः।
जिह्वामूलाग्रपृष्ठस्थस्तथा नासाग्रतः क्रमात्॥
कण्ठताल्वोष्ठकण्ठोष्ठा दन्तौष्ठा द्वयतस्तथा।

समुत्पन्नान्यक्षराणि क्रमादादिक्षकावधि ॥
आदिक्षान्तरतेष्वेषामक्षरत्वमुदीरितम् ॥

—राघवभट्ट की शारदातिलक टीका में उद्धृत पृष्ठ ६०

वर्ण तीन प्रकार के हैं—(१) सौम्य (चन्द्रमासम्बन्धी), (२) सौर (सूर्यसम्बन्धी) तथा (३) आग्नेय (अग्निसम्बन्धी)। स्वर सौम्य वर्ण हैं जो संख्या में १६ हैं—अ आ, इ ई, उ ऊ, ऋ ॠ, ऌ ॡ, ए ऐ, ओ औ, अं अः। प्रपञ्चसार (तृतीय पटल श्लोक ४—७) के अनुसार इन स्वरों में ह्रस्व अ, इ, उ तथा बिन्दु (ँ) पुल्लिङ्ग हैं, दीर्घ स्वर आ, ई, ऊ तथा विसर्ग (:) स्त्रीलिङ्ग हैं और ऋ ॠ, ऌ ॡ नपुंसक होते हैं। ह्रस्व स्वरों की स्थिति पिङ्गला नाड़ी में, दीर्घ स्वरों की इडा में तथा नपुंसक स्वरों की स्थिति सुषुम्ना नाड़ी में रहती है—

वर्णप्रकार

पिङ्गलायां स्थिता ह्रस्वा इडायां सङ्गता परे ॥
सुषुम्नामध्यगा ज्ञेयाश्चत्वारो ये नपुंसकाः ॥

—शारदातिलक २।७

स्पर्श व्यञ्जनों को सौर वर्ण कहते हैं। ककार से लेकर मकार तक के २५ वर्ण तत्तत् स्थानों को स्पर्श कर उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हें स्पर्श कहते हैं।

व्यापक वर्ण आग्नेय हैं। ये संख्या में दस हैं—

य र ल व, श ष स ह, ळ, क्ष

इन्हीं तीन प्रकार के वर्णों से ३८ कलाओं की उत्पत्ति होती है। स्वरों से सौम्य (चन्द्र की) कला (१६), स्पर्श युग्मों से सूर्यकला (१२) तथा यकारादि व्यापक वर्णों से अग्निकला (१०) का उदय होता है :—

कलाओं के प्रकार

तत् त्रिभेदसमुद्भूता अष्टात्रिंशत् कला मताः।
स्वरैः सौम्याः स्पर्शयुग्मैः सौरा याद्याश्च वह्निजाः ॥११॥
षोडश द्वादश दश संख्याः स्युः क्रमशः कलाः।

—प्रपञ्चसार, ३ पटल

सौम्य कलाएँ षोडश हैं और उनका जन्म अलग अलग षोडश स्वरों से होता है। उसी प्रकार १० आग्नेय कलाएँ १० व्यापक वर्णों से पृथक् पृथक् उत्पन्न होती हैं, परन्तु सौर कलाओं का उदय एक एक स्पर्श वर्ण से नहीं होता, प्रत्युत दो स्पर्शों को मिलाकर होता है। यह एक विचारणीय विषय है। रवि स्वयं अग्नि-सोमात्मक है। "शिवशक्ति का वह सामरस्य है। साम्यावस्था में जो सूर्य है वही वैषम्यावस्था में अग्नि तथा चन्द्रमा है। क्षोभ होते ही सूर्य एक ओर अग्नि-रूप बन जाता है तथा दूसरी ओर चन्द्र बन जाता है। 'योगिनीहृदय तन्त्र' की दीपिका में (पृष्ठ १०) अमृतानन्दनाथ ने इसे स्पष्ट कर लिखा है—अग्निषोमात्मकः कामाख्यो रविः शिवशक्ति-सामरस्य वाच्यात्मा जातः। तदुक्तं चिद्गगनचन्द्रिकायां—

भोक्तृभोगमयगोविमर्शनाद् देवि मां चिदुदधौ दृढां दशाम्।
अर्पयन्ननलसोममिश्रणं तद् विमर्श इह भानुजृम्भणम्॥

अतः सौर कलाओं में अग्नि तथा सोम उभय कलाओं का मिश्रण है। दो स्पर्शों से मिलकर एक एक सूर्यकला का उदय मानना युक्तियुक्त है। मकार स्वयं रविरूप है (तदन्त्यश्चात्मा रविः स्मृतः—प्रपञ्चसार ३। ८) अतः मकार को छोड़ देने पर २४ स्पर्शों से १२ कलाएँ उत्पन्न होती हैं। क्रम से स्पर्शों का योग नहीं किया जाता, प्रत्युत एक अक्षर आरम्भ का और दूसरा अक्षर अन्त का लिया जाता है। इस प्रकार १२ सौर कलाएँ उत्पन्न होती हैं।

अब इन ३८ कलाओं के नाम शारदातिलक (२।१३-१६) तथा प्रपञ्चसार (३। १५-२०) के अनुसार नीचे दिये जाते हैं—

१६ चन्द्रकलाएँ (कामदायिनी)

(१)	अँ	अमृता	(५)	उँ	पुष्टि
(२)	आँ	मानदा	(६)	ऊँ	रति
(३)	इँ	पूषा	(७)	ऋँ	धृति
(४)	ईं	तुष्टि	(८)	ॠँ	शशिनी

(९)	लृँ	चन्द्रिका	(१३)	ओँ	प्रीति
(१०)	लॄँ	कान्ति	(१४)	औँ	अंगदा[१]
(११)	एँ	ज्योत्स्ना	(१५)	अं	पूर्णा
(१२)	ऐँ	श्री	(१६)	अः	पूर्णामृता

१२ सौर कलाएँ (वसुदा)

१ कं भं—तपिनी	७ छं दं—सुषुम्ना
२ खं बं—तापिनी	८ जं थं—भोगदा
३ गं फं—धूम्रा	९ झं तं—विश्वा
४ घं पं—मरीचि	१० ञं णं—बोधिनी
५ ङं नं—ज्वालिनी	११ टं ढं[२]—धारिणी
६ चं धं—रुचि	१२ ठं डं[३]—क्षमा

१० आग्नेय कलाएँ[४] (धर्मप्रदा)

१ यं—धूम्रार्चि	६ षं—सुश्री
२ रं—ऊष्मा	७ सं—सुरूपा
३ लं—ज्वलिनी	८ हं—कपिला
४ वं—ज्वालिनी	९ ळं—हव्यवहा
५ शं—विस्फुलिङ्गिनी	१० क्षं—कव्यवहा[५]

१—धनपति सूरि की टीका में निर्दिष्ट 'गदा' नाम अशुद्ध है।

२-३—टीका में 'रं ह' तथ 'षां वं' अशुद्ध हैं। इनके स्थान पर टं ढं तथा ठं डं होना चाहिए।

४—प्रपञ्चसार की अँगरेज़ी भूमिका (पृष्ठ २१) में लेखक ने 'धूम्राचि' को दो नाम मान लिया है तथा मूलग्रन्थ में (पृष्ठ ४१, श्लोक १६) 'हव्यकव्यवहे' द्विवचनान्त होने पर भी उन्होंने इसे एक ही (दसवीं) कला का नाम निर्देश किया है। यह ठीक नहीं है।

५—धनपति सूरि की टीका में इन कलाओं के नाम देने में बड़ी भारी ग़लती की गई है। ७वीं कला का नाम 'सूपाया' नहीं, सुरूपा है। ८वीं

श्रीविद्यार्णवतन्त्र (भाग २, पृष्ठ ८९४) में इन कलाओं के नाम तथा रूप का उल्लेख भी ठीक इसी प्रकार से किया गया है। माधव ने मूकाम्बिका की जो स्तुति लिखी है वह श्रीविद्या के सम्प्रदाय से ही मिलती है। श्रीविद्यार्णवतन्त्र में उसका उपलब्ध होना नितान्त पोषक प्रमाण है। अतः इस श्लोक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राचीन परम्परा के अनुसार आचार्य शङ्कर 'श्रीविद्या' सम्प्रदाय के साधक माने जाते थे। एतद्विषयक अन्य प्रमाणों में इस प्रमाण का भी उल्लेख होना आवश्यक है।

का नाम 'कविता' नहीं, कपिला है; ९वीं कला का नाम ही बिल्कुल छोड़ दिया गया है। १०वीं कला की उत्पत्ति 'ह' से न होकर 'त्त' से होती है। इन अशुद्धियों को शुद्ध करके पढ़ना चाहिए।

परिशिष्ट (ग)

१—टिप्पणी के विशिष्ट पदों की सूची

—

परिशिष्ट (घ)

मठाम्नायसेतु

श्री शङ्कराचार्य के द्वारा विरचित एक विशिष्ट ग्रन्थ है जिसका नाम 'मठाम्नाय', 'मठाम्नायसेतु' या मठेतिवृत्त है। ग्रन्थ मठों की स्थापना, मठाधीशों की व्यवस्था आदि अनेक आवश्यक विषयों का वर्णन करता है और इस विषय में इसका प्रामाण्य सबसे अधिक है। परन्तु खेद है कि इसकी कोई शुद्ध तथा पूर्ण प्रति उपलब्ध नहीं होती। गोवर्धन मठ के अधिकारी के द्वारा प्रकाशित पुस्तक अशुद्ध है तथा अपूर्ण भी है। इसमें चारों आम्नायों का वर्णन तो है, परन्तु 'शेषाम्नाय' का वर्णन बिल्कुल छोड़ दिया गया है। इससे अधिक शुद्ध 'मठाम्नाय' का वह संस्करण है जिसे उज्जयिनीनिवासी दाजी नागेश धर्माधिकारी ने निर्णयसागर प्रेस में छापकर १९४८ विक्रमी में प्रकाशित किया था। परन्तु इसमें कतिपय श्लोक अधूरे हैं। हस्तलिखित प्रतियाँ भी उपलब्ध हैं। इन्हीं सब प्रतियों की तुलना कर यह ग्रन्थ अनुवाद के साथ छापा जाता है। मिलाकर अशुद्धियों को शुद्ध करने का भी उद्योग किया गया है। आशा है मठों की व्यवस्था से परिचय पानेवाले व्यक्तियों के लिये यह नितान्त उपयोगी सिद्ध होगा।

परिचय

शारदामठाम्नाय

प्रथमः पश्चिमाम्नायः शारदामठ उच्यते।
कीटवारः सम्प्रदायस्तस्य तीर्थाश्रमौ शुभौ ॥ १ ॥

द्वारकापुरी के शारदामठ का आम्नाय यहाँ प्रारम्भ किया जाता है। पहला आम्नाय पश्चिमाम्नाय है जहाँ के मठ का नाम शारदा मठ है। सम्प्रदाय का नाम कीटवार है। तीर्थ और आश्रम वहाँ के अङ्कित पद हैं ॥ १ ॥

द्वारकाख्यं हि क्षेत्रं स्याद्द देवः सिद्धेश्वरः स्मृतः।
भद्रकाली तु देवी स्यात् हस्तामलकदेशिकः ॥ २ ॥

क्षेत्र का नाम द्वारका है, वहाँ के अधिष्ठातृ देव का नाम सिद्धेश्वर है। देवी का नाम भद्रकाली है। आचार्य का नाम हस्तामलक है ॥ २ ॥

गोमतीतीर्थममलं ब्रह्मचारी स्वरूपकः।
सामवेदस्य वक्ता च तत्र धर्म्मं समाचरेत् ॥ ३ ॥

तीर्थ का नाम गोमती तीर्थ है। ब्रह्मचारी का नाम स्वरूपक है जो सामवेद के वक्ता हैं। वहाँ पर धर्म का आचरण करना चाहिए ॥ ३ ॥

जीवात्मपरमात्मैक्यबोधो यत्र भविष्यति।
तत्त्वमसि महावाक्यं गोत्रोऽविगत उच्यते ॥ ४ ॥

यहाँ का महावाक्य 'तत्त्वमसि' (छान्दोग्य उपनिषद् ६।८।७) है जो जीवात्मा और परमात्मा में एकता को बतलानेवाला है। गोत्र का नाम अविगत है ॥ ४ ॥

सिन्धुसौवीरसौराष्ट्रा महाराष्ट्रास्तथान्तराः।
देशाः पश्चिमदिक्स्था ये शारदामठभागिनः ॥ ५ ॥

सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र (काठियावाड़), महाराष्ट्र तथा इन देशों के बीच में होनेवाले देश जो भारत की पश्चिम दिशा में विद्यमान हैं वे सब शारदा मठ के शासन के अन्तर्गत आते हैं ॥ ५ ॥

त्रिवेणीसङ्गमे तीर्थे तत्त्वमस्यादिलक्षणे।
स्नायात्तत्त्वार्थभावेन तीर्थनाम्ना स उच्यते ॥ ६ ॥

शारदा मठ के दो अङ्कित पद हैं—तीर्थ और आश्रम। यहाँ इन दोनों पदों के अर्थ का विवेचन किया जा रहा है। तत्त्वमसि आदि महावाक्य त्रिवेणी-सङ्गम रूप हैं। ये तीर्थ रूप हैं। इस तीर्थ में जो स्नान करता है अर्थात् पूर्वोक्त महावाक्य के अर्थ को भली भाँति समझता है उसे तीर्थ कहते हैं॥ ६॥

आश्रमग्रहणे प्रौढ आशापाशविवर्जितः।
यातायातविनिर्मुक्त एष आश्रम उच्यते॥ ७॥

जो आश्रम (संन्यास) के ग्रहण करने में दृढ़ है, जिसे संसार की कोई भी आशा अपने बन्धन में बाँध नहीं सकती, जो इस संसार में आवागमन, जन्म-मरण से बिलकुल मुक्त है ऐसे विशिष्ट व्यक्ति को आश्रम कहते हैं॥ ७॥

कीटादयो विशेषेण वार्यन्ते जीवजन्तवः।
भूतानुकम्पया नित्यं कीटवारः स उच्यते॥ ८॥

यहाँ की सम्प्रदाय का नाम कीटवार है। उसकी यहाँ विशिष्ट व्याख्या की जा रही है। जो व्यक्ति प्राणियों के ऊपर नित्य दया करता है तथा कीट आदिक जीव-जन्तुओं को विशेष रूप से हानि नहीं पहुँचाता, अपने व्यवहार से इन क्षुद्र जीवों को भी जो तनिक भी क्लेश नहीं पहुँचाता उसका नाम है कीटवार॥ ८॥

स्वस्वरूपं विजानाति स्वधर्मपरिपालकः।
स्वानन्दे क्रीडितो नित्यं स्वरूपो वटुरुच्यते॥ ९॥

जो अपने स्वरूप को भली भाँति जानता है, अपने धर्म का सदा पालन किया करता है, और अपने स्वरूप का ज्ञान कर आनन्दरूप ब्रह्म में सदा रमण किया करता है उसका नाम है स्वरूप ब्रह्मचारी॥ ९॥

शारदामठाम्नाय समाप्त

गोवर्धन मठाम्नाय

पूर्व्वाम्नायो द्वितीयः स्याद् गोवर्द्धनमठः स्मृतः ।
भोगवारः सम्पदायो वनारण्ये पदे स्मृते ॥ १ ॥

दूसरे आम्नाय का नाम है पूर्वाम्नाय जहाँ गोवर्धन मठ है। यहाँ के सम्प्रदाय का नाम भोगवार है और वन तथा अरण्य यहाँ के अङ्कित पद हैं ॥ १ ॥

पुरुषोत्तमं तु क्षेत्रं स्याज्जगन्नाथोऽस्य देवता ।
विमलाख्या हि देवी स्यादाचार्य्यः पद्मपादकः ॥ २ ॥

क्षेत्र का नाम पुरुषोत्तम है और यहाँ के देवता जगन्नाथ हैं। यहाँ की देवी विमला है। आचार्य का नाम पद्मपाद है ॥ २ ॥

तीर्थं महोदधिः प्रोक्तं ब्रह्मचारी प्रकाशकः ।
महावाक्यं च तत्र स्यात् प्रज्ञानं ब्रह्म चोच्यते ॥ ३ ॥

यहाँ का तीर्थ महोदधि (समुद्र) है। प्रकाशक ब्रह्मचारी है। यहाँ का महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐतरेय उपनिषद् ५) है ॥ ३ ॥

ऋग्वेदपठनं चैव काश्यपो गोत्रमुच्यते ।
अङ्गवङ्गकलिङ्गाश्च मगधोत्कलबर्ब्बराः ।
गोवर्द्धनमठाधीना देशाः प्राचीव्यवस्थिताः ॥ ४ ॥

ऋग्वेद यहाँ का वेद है। गोत्र का नाम काश्यप है। अङ्ग (भागलपुर), वङ्ग (बङ्गाल), कलिङ्ग (उड़ीसा तथा मद्रास के बीच का प्रान्त), मगध (बिहार), उत्कल (उड़ीसा), बर्बर (जङ्गली भाग) पूरब के ये देश गोवर्धन मठ के शासन के अधीन हैं ॥ ४ ॥

सुरम्ये निर्जने स्थाने वने वासं करोति यः ।
आशाबन्धविनिर्मुक्तो वननामा स उच्यते ॥ ५ ॥

वन की विशिष्ट व्याख्या की जा रही है। जो सुन्दर, एकान्त, निर्जन वन में वास करता है तथा आशा के बन्धन से विलग है उसे 'वन' कहते हैं ॥ ५ ॥

अरण्ये संस्थिते नित्यमानन्दे नन्दने वने ।
त्यक्त्वा सर्व्वमिदं विश्वमारण्यं परिकीर्त्यते ॥ ६ ॥
भोगो विषय इत्युक्तो वार्य्यते येन जीविनाम् ।
सम्प्रदायो यतीनाञ्च भोगवारः स उच्यते ॥ ७ ॥

जो सम्पूर्ण संसार को छोड़ देता है उसे आरण्य कहते हैं। यहाँ के सम्प्रदाय भोगवार की व्याख्या की जा रही है। जो प्राणियों के भोग अर्थात् विषय को सब प्रकार से निवारण करता है उस यतियों के सम्प्रदाय को भोगवार कहते हैं ॥ ६—७ ॥

स्वयं ज्योतिर्विजानाति योगयुक्तिविशारदः ।
तत्त्वज्ञानप्रकाशेन तेन प्रोक्तः प्रकाशकः ॥ ८ ॥

प्रकाशक का विशिष्ट अर्थ—जो ज्योतिःस्वरूप अपने आत्मा को भली भाँति जानता है, योग-साधन करने में युक्तियों को जानता है, तत्त्वज्ञान से प्रकाशित हो रहा है ऐसे व्यक्ति को प्रकाशक कहते हैं ॥ ८ ॥

गोवर्धनमठाम्नाय समाप्त

ज्योतिर्मठ

तृतीयस्तूत्तराम्नायो ज्योतिर्नाम मठो भवेत् ।
श्रीमठश्चेति वा तस्य नामान्तरमुदीरितम् ॥ १ ॥

तीसरे आम्नाय का नाम ज्योतिर्मठ है जो उत्तर में स्थित है। इसका दूसरा नाम श्रीमठ भी है ॥ १ ॥

आनन्दवारो विज्ञेयः सम्प्रदायोऽस्य सिद्धिदः ।
पदानि तस्य ख्यातानि गिरिपर्व्वतसागराः ॥ २ ॥

सम्प्रदाय का नाम आनन्दवार है जो सिद्धि को देनेवाला है। यहाँ के अङ्कित पद का नाम गिरि, पर्वत तथा सागर है॥ २॥

बदरीकाश्रमः क्षेत्रं देवो नारायणः स्मृतः।
पूर्णागिरी च देवी स्यादाचार्य्यस्तोटकः स्मृतः॥ ३॥

यहाँ के क्षेत्र का नाम बदरिकाश्रम है। देवता का नाम नारायण है। देवी का नाम पूर्णागिरि है। यहाँ के आचार्य तोटक हैं॥ ३॥

तीर्थं चालकनन्दाख्यं आनन्दो ब्रह्मचार्य्यभूत्।
अयमात्मा ब्रह्म चेति महावाक्यमुदाहृतम्॥ ४॥

यहाँ के तीर्थ का नाम अलकनन्दा है तथा ब्रह्मचारी का नाम आनन्द है। यहाँ का महावाक्य 'अयं आत्मा ब्रह्म' (माण्डूक्य उपनिषद्) है॥ ४॥

अथर्ववेदवक्ता च भृग्वाख्यो गोत्रमुच्यते।
कुरुकाश्मीरकाम्बोजपाञ्चालादिविभागतः।
ज्योतिर्मठवशा देशा उदीचीदिगवस्थिताः॥ ५॥

यहाँ का वेद अथर्व वेद है। गोत्र का नाम भृगु है। कुरु (दिल्ली का प्रान्त), काश्मीर, काम्बोज (पञ्जाब), पाञ्चाल (संयुक्त प्रान्त का पश्चिमी भाग) आदि ज्योतिर्मठ के अन्तर्गत देश हैं जो उत्तरीय भाग में स्थित हैं॥ ५॥

वासो गिरिवने नित्यं गीताध्ययनतत्परः।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥ ६॥

गिरि का विशिष्ट अर्थ—जो पहाड़, वन में सदा निवास करता है, गीता के अध्ययन में सर्वदा लगा रहता है, जिसकी बुद्धि गम्भीर और निश्चल है उसे गिरि कहते हैं॥ ६॥

वसन् पर्व्वतमूलेषु प्रौढं ज्ञानं बिभर्त्ति यः।
सारासारं विजानाति पर्व्वतः परिकीर्त्यते॥ ७॥

पर्वत का विशिष्ट अर्थ—पहाड़ के मूलों में रहकर जो दृढ़ ज्ञान धारण करता है, संसार की वस्तुओं के सार और असार को भली भाँति जानता है, वह 'पर्वत' कहलाता है ॥ ७ ॥

तत्त्वसागरगम्भीरो ज्ञानरत्नपरिग्रहः ।
मर्य्यादां न वै लङ्घेत सागरः परिकीर्त्यते ॥ ८ ॥

जो तत्त्वरूपी समुद्र की गम्भीरता को जानता है, उसमें डुबकी लगाकर ज्ञानरूपी रत्न को ग्रहण करता है तथा अपने आश्रम की मर्यादा का कथमपि लङ्घन नहीं करता वह 'सागर' कहलाता है ॥ ८ ॥

आनन्दो हि विलासश्च वार्य्यते येन जीविनाम् ।
सम्प्रदायो यतीनां च नन्द्वारः स उच्यते ॥ ९ ॥

आनन्द का अर्थ है सांसारिक भोग और विलास । जिसके द्वारा यह आनन्द निवारण किया जाता है अर्थात् जो इस जगत् के भोग-विलासों को सदा छोड़ देता है संन्यासियों के उस सम्प्रदाय को 'आनन्दवार' कहते हैं ॥ ९ ॥

सत्यं ज्ञानमनन्तं यो नित्यं ध्यायेत् तत्त्ववित् ।
स्वानन्दे रमते चैव आनन्दः परिकीर्त्तितः ॥ १० ॥

ब्रह्म सत्य, अनन्त तथा ज्ञानरूप है। तत्त्वों को जानकर जो व्यक्ति ऐसे ब्रह्म का सदा ध्यान करता है तथा अपने आत्मा के आनन्द में सदा रमण करता है उसे 'आनन्द' कहते हैं ॥ १० ॥

ज्योतिर्मठाम्नाय समाप्त

शृङ्गेरी मठ

चतुर्थो दक्षिणाम्नायः शृङ्गेरी तु मठो भवेत् ।
सम्प्रदायो भूरिवारो भूर्भुवो गोत्रमुच्यते ॥ १ ॥

चौथा आम्नाय दक्षिण में स्थित है जिसे शृङ्गेरी मठ कहते हैं। यहाँ के सम्प्रदाय का नाम भूरिवार है तथा गोत्र का नाम भूर्भुवः है ॥ १ ॥

पदानि त्रीणि ख्यातानि सरस्वती भारती पुरी ।
रामेश्वराह्वयं क्षेत्रमादिवाराहदेवता ॥ २ ॥

यहाँ के अङ्कित पद तीन हैं जो सरस्वती, भारती, पुरी के नाम से विख्यात हैं। यहाँ का क्षेत्र रामेश्वर है। आदिवाराह यहाँ के देवता हैं ॥ २ ॥

कामाक्षी तस्य देवी स्यात् सर्वकामफलप्रदा ।
सुरेश्वराख्य आचार्यस्तुङ्गभद्रेति तीर्थकम् ॥ ३ ॥

यहाँ की देवी कामाक्षी हैं जो सम्पूर्ण इच्छा को देनेवाली हैं। यहाँ के आचार्य सुरेश्वर हैं। तीर्थ का नाम तुङ्गभद्रा है ॥ ३ ॥

चैतन्याख्यो ब्रह्मचारी यजुर्वेदस्य पाठकः ।
अहं ब्रह्मास्मि तत्रैव महावाक्यं समीरितम् ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी का नाम चैतन्य है तथा यहाँ का वेद यजुर्वेद है। यहाँ का महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' (बृहदारण्यक उप० १।४।१०) है ॥ ४ ॥

आन्ध्रद्राविडकर्णाटकेरलादिप्रभेदतः ।
शृङ्गेर्यधीना देशास्ते ह्यवाचीदिगवस्थिताः ॥ ५ ॥

शृङ्गेरी मठ के अधीन आन्ध्र, द्रविड़, कर्णाटक, केरल आदि देश हैं जो दक्षिण दिशा में स्थित हैं ॥ ५ ॥

स्वरज्ञानरतो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः ।
संसारसागरासारहन्तासौ हि सरस्वती ॥ ६ ॥

सरस्वती का विशिष्ट अर्थ—जो व्यक्ति स्वर के ज्ञान में निरत है, जो स्वर के विषय का विशेष रूप से विवेचन करता है, पण्डितों में श्रेष्ठ है, संसाररूपी सागर की असारता को दूर करनेवाला है अर्थात् असार संसार में रहकर भी सारभूत ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला है उसे सरस्वती कहते हैं ॥ ६ ॥

विद्याभारेण सम्पूर्णः सर्वभारं परित्यजन् ।
दुःखभारं न जानाति भारती परिकीर्त्यते ॥ ७ ॥

भारती का विशिष्ट अर्थ—जो विद्या के भार से सम्पूर्ण है, संसार के सब अन्य पुत्र-कलत्रादि के भारों को छोड़कर, दुःख के बोझ को नहीं जानता है उसकी संज्ञा भारती है ॥ ७ ॥

ज्ञानतत्त्वेन सम्पूर्णः पूर्णतत्त्वपदे स्थितः ।
परंब्रह्मरतो नित्यं पुरीनामा स उच्यते ॥ ८ ॥

पुरी का विशिष्ट अर्थ—जो ज्ञान के तत्त्व से पूर्ण है, जो ब्रह्म के पद में स्थित है अर्थात् पूर्ण ब्रह्मज्ञानी है, जो परम ब्रह्म में सदा रमण करता है उसे पुरी कहते हैं ॥ ८ ॥

भूरिशब्देन सौवर्ण्यं वार्यते येन जीविनाम् ।
सम्प्रदायो यतीनां च भूरिवारः स उच्यते ॥ ९ ॥

भूरि शब्द का अर्थ है अधिकता, सुवर्ण को या धन-धान्य को अधिकता। जो व्यक्ति सम्पत्ति की अधिकता को छोड़ देता है अर्थात् संसार की धन-दौलत से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखता, नितान्त विरक्त रहता है उस सम्प्रदाय का नाम 'भूरिवार' है ॥ ९ ॥

चिन्मात्रं चेत्यरहितमनन्तमजरं शिवम् ।
यो जानाति स वै विद्वान् चैतन्यं तद्विधीयते ॥ १० ॥

ब्रह्म चिन्मात्र है। अनुभूयमान विषयों से वह सदा रहित है। उसका अन्त नहीं है। वह जरा-मरण आदि विकारों से हीन है, स्वयं जगत् का कल्याण करनेवाला शिवरूप है, ऐसे ब्रह्म को जो विद्वान् जानता है उसे चैतन्य कहते हैं ॥ १० ॥

मर्यादैषा सुविज्ञेया चतुर्मठविधायिनी ।
तामेतां समुपाश्रित्य आचार्याः स्थापिताः क्रमात् ॥ ११ ॥

चारों मठों को स्थापित करनेवाली इस मर्यादा को भली भाँति जानना चाहिए। इसी मर्यादा के अनुसार इन मठों में आचार्य लोग नियुक्त किये गये हैं ॥ ११ ॥

शृङ्गेरीमठाम्नाय समाप्त

शेषाम्नाय

अथोर्ध्वं शेषआम्नायास्ते विज्ञानैकविग्रहाः ।
पञ्चमस्तूर्ध्व आम्नायः सुमेरुमठ उच्यते ।
सम्प्रदायोऽस्य काशी स्यात् सत्यज्ञानभिदे पदे ॥ १ ॥

इसके अनन्तर शेषाम्नायों का वर्णन है। वे संख्या में तीन हैं और उनका शरीर केवल विज्ञान ही है। पञ्चम आम्नाय का नाम ऊर्ध्वाम्नाय, मठ सुमेरु, सम्प्रदाय काशी। सत्य और ज्ञान—ये दो पद हैं ॥ १ ॥

कैलासो क्षेत्रमित्युक्तं देवताऽस्य निरञ्जनः ।
देवी माया तथाचार्य ईश्वरोऽस्य प्रकीर्तितः ॥ २ ॥

क्षेत्र का नाम कैलास, यहाँ के देवता 'निरञ्जन' हैं, देवी का नाम माया, आचार्य का नाम ईश्वर है ॥ २ ॥

तीर्थं तु मानसं प्रोक्तं ब्रह्मतत्त्वावगाहि तत् ।
तत्र संयोगमार्गेण संन्यासं समुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥

तीर्थ का नाम मानस तीर्थ जो ब्रह्मतत्त्व का भली भाँति अवगाहन करनेवाली है। उसके संयोग होते ही पुरुष संन्यास को ग्रहण कर लेता है ॥ ३ ॥

सूक्ष्मवेदस्य वक्ता च तत्र धर्मं समाचरेत् ।
षष्ठः स्वात्माख्य आम्नायः परमात्मा मठो महान् ॥ ४ ॥

यहाँ सूक्ष्म वेद के वक्ता हैं। वहाँ धर्म का आचरण करना चाहिए। छठे आम्नाय का नाम 'आत्माम्नाय' है, मठ है महान् परमात्मा ॥ ४ ॥

सत्त्वतोषः सम्प्रदायः पदं योगमनुस्मरेत् ।
नभः सरोवरं क्षेत्रं परहंसोऽस्य देवता ॥ ५ ॥

सम्प्रदाय का नाम सत्त्वतोष है। पद का नाम योग है। क्षेत्र का नाम नभःसरोवर है। इसके देवता परमहंस हैं ॥ ५ ॥

देवी स्यान्मानसी माया आचार्यश्चेतनाह्वयः ।
त्रिपुटी तीर्थमुत्कृष्टं सर्वपुण्यप्रदायकम् ॥ ६ ॥

यहाँ की देवी का नाम मानसी माया है। आचार्य का नाम चेतन है। सब पुण्यों को देनेवाला उत्कृष्ट तीर्थ त्रिपुटी है ॥ ६ ॥

भवपाशविनाशाय संन्यासं तत्र चाश्रयेत् ।
वेदान्तवाक्यवक्ता च तत्र धर्मं समाचरेत् ॥ ७ ॥

संसार के क्लेशों—बन्धनों को दूर करने के लिये उस तीर्थ में संन्यास का ग्रहण करना चाहिए। वेदान्त के वाक्यों का उपदेश देते हुए धर्म का आचरण करना चाहिए ॥ ७ ॥

सप्तमो निष्कलाम्नायः सहस्रार्कद्युतिर्मठः ।
सम्प्रदायोऽस्य सच्छिष्यः श्रीगुरोः पादुके पदे ॥ ८ ॥

सातवें आम्नाय का नाम है निष्कल आम्नाय। मठ का नाम है सहस्रार्कद्युति मठ। सम्प्रदाय का नाम है सत्‌शिष्य। गुरु की दोनों पादुकाएँ ही पद हैं ॥ ८ ॥

तत्रानुभूतिः क्षेत्रं स्याद् विश्वरूपोऽस्य देवता ।
देवी चिच्छक्तिनाम्नी हि आचार्यः सद्गुरुः स्मृतः ॥ ९ ॥

वहाँ पर अनुभूति नामक क्षेत्र है जिसके देवता विश्वरूप हैं। देवी का नाम चिच्छक्ति है। आचार्य स्वयं सद्‌गुरु हैं ॥ ९ ॥

सच्छास्त्रश्रवणं तीर्थं जरामृत्युविनाशकम् ।
पूर्णानन्दप्रसादेन संन्यासं तत्र चाश्रयेत् ॥ १० ॥

अच्छे शास्त्रों का श्रवण ही तीर्थ है, जिसके सेवन करने से वृद्धावस्था और मृत्यु दोनों का नाश हो जाता है। वहाँ पर पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होती है। वहाँ पर पूर्णानन्द के प्रसाद से संन्यास का आश्रय लेना चाहिए ॥ १० ॥

शेषाम्नाय समाप्त

महानुशासनम्

आम्नायाः कथिता ह्येते यतीनाञ्च पृथक् पृथक् ।
ते सर्वे चतुराचार्या नियोगेन यथाक्रमम् ॥ १ ॥
प्रयोक्तव्याः स्वधर्मेषु शासनीयास्ततोऽन्यथा ।
कुर्वन्तु एव सततमटनं धरणीतले ॥ २ ॥

संन्यासियों के लिये ये आम्नाय पृथक् पृथक् कहे गये हैं। यहाँ चार आचार्यों को क्रम के अनुसार अपने धर्मों में लगाना चाहिए। यदि ये लोग अपने धर्मों का विधिवत् पालन न करें तो इन्हें दण्ड देना चाहिए—इनके ऊपर शासन करना चाहिए। इनका धर्म है कि ये पृथ्वीतल पर सदा भ्रमण किया करें ॥ १-२ ॥

विरुद्धाचरणप्राप्तावाचार्याणां समाज्ञया ।
लोकान् संशीलयन्त्वेव स्वधर्माप्रतिरोधतः ॥ ३ ॥

मठ के इन आचार्यों को चाहिए कि अपने धर्म का विधिवत् पालन करें। किसी प्रकार अपने धर्म का निषेध न करें। लोग विरुद्ध धर्म कितना कर रहे हैं, इस बात की जानकारी के लिये उन्हें चाहिए कि अपने निर्दिष्ट प्रान्तों में सदा भ्रमण किया करें ॥ ३ ॥

स्वस्वराष्ट्रप्रतिष्ठित्यै संचारः सुविधीयताम् ।
मठे तु नियतो वास आचार्यस्य न युज्यते ॥ ४ ॥

अपने राष्ट्र की प्रतिष्ठा करने के लिये उन्हें भ्रमण अच्छी तरह करना चाहिए। मठ में आचार्य को नियत रूप से कभी निवास नहीं करना चाहिए ॥ ४ ॥

वर्णाश्रमसदाचारा अस्माभिर्ये प्रसाधिताः ।
रक्षणीयास्तु एवैते स्वे स्वे भागे यथाविधि ॥ ५ ॥

हम लोगों ने वर्णाश्रम के जिन सदाचारों को शास्त्र के द्वारा उचित सिद्ध कर दिया है उनकी रक्षा अपने अपने भाग में विधिपूर्वक किया करें ॥ ५ ॥

यतो विनष्टिर्महती धर्मस्यात्र प्रजायते ।
मान्द्यं संत्याज्यमेवात्र दाक्ष्यमेव समाश्रयेत् ॥ ६ ॥

इस लोक में धर्म का नाश विशेष रूप से होता जा रहा है। इसलिये आलस्य को छोड़कर उद्योगशील होना चाहिए ॥ ६ ॥

परस्परविभागे तु प्रवेशो न कदाचन ।
परस्परेण कर्त्तव्या आचार्येण व्यवस्थितिः ॥ ७ ॥

एक दूसरे के विभाग में आचार्यों को कभी भी प्रवेश न करना चाहिए। आपस में मिल-जुलकर धर्म की व्यवस्था कर लेनी चाहिए ॥ ७ ॥

मर्यादाया विनाशेन लुप्येरन्नियमाः शुभाः ।
कलहाङ्गारसम्पत्तिरतस्तां परिवर्जयेत् ॥ ८ ॥

मर्यादा यदि नष्ट हो जायेगी तो समस्त अच्छे नियम लुप्त हो सकते हैं और सर्वत्र कलह की वृद्धि होने लगेगी। अतः कलह की वृद्धि को हमेशा रोकना चाहिए ॥ ८ ॥

परिव्राड् चार्यमर्यादां मामकीनां यथाविधि ।
चतुःपीठाधिगां सत्तां प्रयुञ्ज्याच्च पृथक् पृथक् ॥ ९ ॥

संन्यासी को चाहिए कि मेरी इस मर्यादा को भली भाँति पालन करें तथा चारों पीठों की सत्ता और अधिकार अलग-अलग बनाये रक्खें ॥ ९ ॥

शुचिर्जितेन्द्रियो वेदवेदाङ्गादिविशारदः ।
योगज्ञः सर्वशास्त्राणां स मदास्थानमाप्नुयात् ॥ १० ॥

पवित्र, इन्द्रिय को जीतनेवाला, वेद और वेदाङ्ग का विद्वान्, योगज्ञ, तथा सब शास्त्रों को भली भाँति जाननेवाला व्यक्ति ही मेरे स्थान को प्राप्त करे। अर्थात् मठ के अधीश्वरों को इन गुणों से युक्त होना चाहिए ॥ १० ॥

उक्तलक्षणसम्पन्नः स्याच्चेन्मत्पीठभाग् भवेत् ।
अन्यथा रूढपीठोऽपि निग्रहार्हो मनीषिणाम् ॥ ११ ॥

इन लक्षणों से सम्पन्न होनेवाला पुरुष मेरे पीठ का अधिकारी हो सकता है। यदि इन गुणों से विहीन हो तो यद्यपि वह पीठ पर आरूढ़ हो गया हो तो भी विद्वानों को चाहिए कि उसका निग्रह करें अर्थात् गुणहीन व्यक्ति को मठाधीश होने पर भी स्थान से च्युत कर देना चाहिए ॥ ११ ॥

न जातु मठमुच्छिन्द्यादधिकारिण्युपस्थिते ।
विघ्नानामपि बाहुल्यादेष धर्म्मः सनातनः ॥ १२ ॥

अधिकारी के उपस्थित होने पर मठ का उच्छेद कभी भी न करना चाहिए। यद्यपि बहुत से विघ्न उपस्थित हों तो भी उनका तिरस्कार कर इस नियम का पालन करे। यह धर्म सनातन है ॥ १२ ॥

अस्मत्पीठसमारूढः परिव्राडुक्तलक्षणः ।
अहमेवेति विज्ञेयो यस्य देव इति श्रुतेः ॥ १३ ॥

उक्त लक्षण से युक्त यदि संन्यासी मेरे पीठ पर अधिष्ठित हो तो उसे मेरा ही रूप समझना चाहिए ॥ १३ ॥

एकोऽभिषेच्यः स्याद्न्ते लक्षणसंमतः ।
तत्पीठे क्रमेणैव न बहु युज्यते क्वचित् ॥ १४ ॥

संन्यासी के अन्त हो जाने पर लक्षण से युक्त एक ही व्यक्ति को पीठ पर अभिषिक्त करना चाहिए। किसी स्थान पर बहुत आदमियों को नियुक्त करना उचित नहीं है ॥ १४ ॥

सुधन्वनः समौत्सुक्यनिवृत्त्यै धर्महेतवे ।
देवराजोपचारांश्च यथावदनुपालयेत् ॥ १५ ॥

राजा सुधन्वा के औत्सुक्य की निवृत्ति के लिये तथा धर्म के लिये, इन्द्र के उपचारों को यथाविधि पालन करना चाहिए ॥ १५ ॥

केवलं धर्ममुद्दिश्य विभवो बाह्यचेतसाम् ।
विहितश्चोपकाराय पद्मपत्रनयं व्रजेत् ॥ १६ ॥

धर्म के उद्देश्य से वैभव का प्रदर्शन न्याय्य है। बाहरी वस्तुओं में जिनका चित्त रहता है ऐसे व्यक्तियों के उपकार के लिये ऐसा किया गया है। स्वयं संन्यासी को पद्म-पत्र के समान वैभव में रहने पर भी निर्लेप रहना चाहिए ॥ १६ ॥

सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वराः ।
धर्मपारम्परीमेतां पालयन्तु निरन्तरम् ॥ १७ ॥

इन नियमों का पालन करना केवल संन्यासियों का ही काम नहीं है बल्कि महाराजा सुधन्वा तथा दूसरे नरेश भी इस धर्म-परम्परा का विधिवत् पालन करें ॥ १७ ॥

चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं वाङ्मनःकायकर्मभिः ।
गुरोः पीठं समर्चेत विभागानुक्रमेण वै ॥ १८ ॥

चारों वर्णों को चाहिए कि यथायोग्य विभाग के अनुसार वाणी, मन, काय के कर्मों के द्वारा गुरु के पीठ की भली भाँति पूजा करें ॥ १८ ॥

धरामालम्ब्य राजानः प्रजाभ्यः करभागिनः ।
कृताधिकारा आचार्या धर्मतस्तद्वदेव हि ॥ १९ ॥

जिस प्रकार राजा लोग पृथ्वी की रक्षा करते हुए अपनी प्रजाओं से मालगुजारी लेने के अधिकारी होते हैं उसी प्रकार पीठ पर रहनेवाले आचार्य का यह धार्मिक अधिकार है कि वह भी अपनी प्रजाओं से कर वसूल करें ॥ १९ ॥

धर्मो मूलं मनुष्याणां स चाचार्यावलम्बनः ।
तस्मादाचार्यसुमणेः शासनं सर्वताधिकम् ॥ २० ॥

धर्म मनुष्यों का मूल है और वह धर्म आचार्य के ऊपर अवलम्बित रहता है। इसलिये श्रेष्ठ आचार्य का शासन ही सब शासनों से बढ़कर है ॥ २० ॥

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन शासनं सर्वसम्मतम् ।
आचार्यस्य विशेषेण ह्यौदार्य्यभरभागिनः ॥ २१ ॥

इसलिये सर्वसम्मत शासनों को प्रयत्नों के द्वारा पालन करना चाहिए, विशेष करके उस आचार्य का जो अतिशय उदार हो ॥ २१ ॥

आचार्य्याक्षिप्तदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ।
निर्म्मला स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥ २२ ॥

पाप करनेवाले मनुष्य भी आचार्य के द्वारा दण्डित होने पर निर्मल होकर उसी प्रकार स्वर्ग में जाते हैं जिस प्रकार पुण्यकर्मों को करनेवाला सज्जन पुरुष ॥ २२ ॥

इत्येवं मनुरप्याह गौतमोऽपि विशेषतः ।
विशिष्टशिष्टाचारोऽपि मूलादेव प्रसिद्ध्यति ॥ २३ ॥

यह बात मनु ने भी कही है और विशेषकर गौतम ने कहा है, विशेषकर शिष्ट लोगों का आचार भी मूल से ही प्रसिद्धि पाता है। आशय

है—यदि आचार्य सदाचारों का पालन करनेवाला होता है तो उसके शासित-देश की प्रजा भी निश्चय ही सदाचारी होती है ॥ २३ ॥

तानाचार्य्योपदेशांश्च राजदण्डांश्च पालयेत् ।
तस्मादाचार्यराजानावनवद्यौ न निन्दयेत् ॥ २४ ॥

प्रजाओं का पालन दो ही वस्तुएँ किया करती हैं—एक तो आचार्य का उपदेश और दूसरा राजा का दण्ड । यही कारण है कि राजा तथा आचार्य ये दोनों सम-भाव से माननीय तथा श्लाघनीय हैं ॥ २४ ॥

धर्मस्य पद्धतिर्ह्येषा जगतः स्थितिहेतवे ।
सर्ववर्णाश्रमाणां हि यथाशास्त्रं विधीयते ॥ २५ ॥

यह धर्म की पद्धति है । संसार की स्थिति के लिये तथा वर्ण और आश्रमों की रक्षा के लिये शास्त्र के अनुसार यह पद्धति बनाई गई है । इसका पालन करना प्रत्येक आचार्य का धर्म होना चाहिए ॥ २५ ॥

कृते विश्वगुरुर्ब्रह्मा त्रेतायामृषिसत्तमः ।
द्वापरे व्यास एव स्यात् कलावत्र भवाम्यहम् ॥ २६ ॥

सत्ययुग में संसार के गुरु थे स्वयं ब्रह्मा, त्रेता में थे ऋषि सत्तम, द्वापर में थे व्यासजी और कलियुग में स्वयं मैं (शङ्कराचार्य) हूँ ॥२६ ॥

महानुशासन समाप्त

———

टिप्पणी—भगवान् आचार्य शङ्कर ने अपने पीठों के आचार्यों के लिये यह महानुशासन की व्यवस्था की है कि पीठाध्यक्ष लोग इसके अनुसार व्यवहार करें ।